श्रीरामचरितमानस

सुन्दरकाण्डम्

0152,1J3:2:9,L
N9

भावार्थ (रामचन्द्रस्मृति) शास्त्रीय व्याख्या (हरिप्रिया दातार) समेतम्

0152,1J32:g,1
N9 5758

Datar, Vishwanath
Shastri
Shreeram charit
manasi : Sundar
Kand

0152,1J32:81
N9

5758

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR
(LIBRARY)
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

* * * * *

Please return this volume on or before the date last stamped
Overdue volume will be charged 1/- per day.

श्रीविश्वेश्वरः शरणम्

श्रीरामचरितमानस

सुन्दरकाण्डम्

भावार्थ (रामचन्द्रस्मृति) शास्त्रीय व्याख्या (हरिप्रिया दातार) समेतम्

व्याख्याता
श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार
(विद्याभूषण, राष्ट्रपतिपुरस्कृत, महामहोपाध्याय)
(शास्त्ररत्नाकर, न्यायप्रभाकर, न्यायकेसरी, नीतिशास्त्रप्रवीण, राजनीतिविशेषज्ञ)

सम्पादक
चि० आञ्जनेय (सन्तोष) दातार

सह–सम्पादक
चि० रामकिशोर मुन्धड़ा

श्रद्धेय गुरुद्वय, पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ एवं पण्डित हरिराम शास्त्री शुक्ल 'न्यायसार्वभौम' द्वारा आशीर्वादप्राप्त, शान्ति का अग्रदूत (भारतीय राजनीति का दिग्दर्शन) के प्रकाशनक्रम में अष्टम पुष्प।

प्रकाशक
दातार परिवार
के. २२/८१, ब्रह्माघाट, वाराणसी

प्रकाशक :
दातार परिवार
के. २२/८१, ब्रह्माघाट, वाराणसी

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : १५०.००
(एक सौ पचास रूपये मात्र)

0152,1J32:g.1
N9

प्राप्ति स्थान :
दातार निवास
के. २२/८१, ब्रह्माघाट
वाराणसी

प्रथम संस्करण : ५०० प्रति
माघ शुक्ल ५ (वसन्त पञ्चमी)
सं० २०५६

अक्षर संयोजन :
ग्राफिक्स लाइन
ए. १५/१५-सी, सेवईं मण्डी
भदऊँ, वाराणसी

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 5758

मुद्रक :
मॉडर्न दीपक प्रेस, नदेसर, वाराणसी। ☎· ३४००४८, ३४२८९०

॥ श्रीविश्वेश्वरः शरणम् ॥

गुरु कृपा का संबल

परमादरणीय श्रद्धास्पद गुरुवर्य कै० पं० श्रीराजेश्वर शास्त्री द्रविड़ महोदय ने ब्राह्मणकर्तव्य को ध्यान में रखकर आन्वीक्षिकीप्रभृति विद्यासमेत राजनीतिविद्या का अध्ययन पूर्ण कर उत्तरायुष्य में महानैयायिक भक्तशिरोमणि नीतिविद्यानिपुण गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीरचित श्रीरामचरितमानसका अध्ययन प्रारंभ कर यह अनुभूत किया कि इस ग्रन्थमें यथार्थ भक्ति सरल भाषामें प्रस्तुत है। ऐसा सुनकर मैंने गुरुद्वारा प्राप्त राजविद्याका लवलेशनिर्दिष्ट कौशल से श्रीरामचरितमानस पर विचार करके यह पाया कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाभाग ने भक्ति को महारानी पद पर अभिषिक्त किया है जो पूर्वप्रकाशित अयोध्याकाण्ड की शास्त्रीय व्याख्या में उक्त है।

उक्त प्रकाशन में राजनीति की दृष्टि से आधुनिक अनेकविध नैतिक समस्याओं का समाधान पूर्ण करने का प्रयास किया गया है। साथ ही भक्ति का राज्ञीत्व भी स्थिर रखा है। उसी कड़ी में अभी सुन्दरकाण्ड के प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है यह केवल गुरुकृपा का ही फल है।

अयोध्याकाण्ड एवं सुन्दरकाण्ड का लेखन होने के अनन्तर उन दोनों को पुण्याहवाचन व नामकरण से संस्कृत किया गया। उस समय इन दोनोंकी व्याख्या करते समय अयोध्याकाण्ड की शास्त्रीय व्याख्या 'अन्नपूर्णा' व सुन्दरकाण्ड की व्याख्या 'हरिप्रिया' नाम से संकेतित हुई।

श्रीरामचरित्र के अन्तर्गत गाए काण्डों में इस पंचमकाण्ड को सुन्दर पद से कवियों ने सुशोभित किया है उसका कारण भक्ति का अनूठा राज्ञीत्व है; क्योंकि सुन्दरकाण्ड में जिन-जिन पात्रों ने श्रीराम-सेवा की है उन्होंने भक्तिमहारानी को राजनीति में वर्णित सप्त प्रकृतिक अंगोंसे विभूषित करते हुए सर्वाङ्गोपसंहार कर एक छोटा-सा प्रयोग पूर्ण कर जिज्ञासु भक्तों के हृदयपटल में रहा आन्ध्य हटाया है। सुन्दरकाण्डमें अनयवर्जनपूर्वक नयनैपुण्य से पुष्ट भक्ति से ही श्रीराम की कृपा पाने का वर्णन करने से राजनीति का भक्ति के साथ अतिसन्निकट साहचर्य समझ में आता है। अत: राजविद्या को मन्त्रिणी कहा जाय तो उसके फलरूप में भक्ति महारानी के राज्य में अपेक्षित अमात्यपद की आकांक्षा का शमन पूर्ण है। भक्ति के पूर्णतार्थ राज्ञीत्व होने में दूसरी आकांक्षा राष्ट्र की है उसकी पूर्ति इस प्रकार है—

निगमागम की पारस्परिक एकवाक्यता में जो भी निगमसेवी या आगमसेवी हैं वे सभी व्यावहारिक जगत् में भक्ति महारानी के जानपद हैं उनकी निवासभूमि परस्परैकवाक्यतापन्न, स्व-स्वदेश में सानन्द विचरनेवाली निगम-आगम विद्या है। यत: निगमागमस्नेह में रहनेवालों का शिवजी के स्नेहमय निगमागम में निवास करना ही श्रीरामभक्ति का लक्षण है।

यद्यपि संपूर्ण विद्याएँ आपसमें संघर्ष करती दिखायी देती हैं तथापि श्रीरामसेवा में रहते भरतजी ने उन्हीं विद्याओं का बलाबल सोचकर त्रयी व आगम की यथावत् स्थापना स्वशासित देश में की। फलत: उनका संघर्ष निरस्त है। अत: निगमागम का राष्ट्रत्व निर्विवाद है।

इसके अनन्तर राज्य की पूर्णतार्थ दुर्ग अपेक्षित होता है भक्तिरानी ने अपने निवास के लिये आन्वीक्षिकी को दुर्ग मान कर उसमें निवास किया है। उस दुर्ग के माध्यम से भक्ति कोश व दण्ड का रक्षण करती रहती है। उसी दुर्ग के प्रभाव से बिभीषणजी, हनुमान्जी, भरतजी, शबरीजी प्रभृति भक्तमण्डली नि:शंक हो स्व व परराष्ट्र में निवास करती पाई जाती है।

दुर्गनिवासी राजा विना कोश-दण्ड के असत्प्राय होता है अत: दुर्ग के बाद कोश का क्रम है वह भक्ति महारानी को अति सुलभ है। यत: भक्ति से संतुष्ट प्रभु अन्तरिक्ष भूमि या दिव्य पद्धति से अचानक कोश सुलभ कराते हैं जो साधारण जनों के लिये भक्ति का कोश अतीन्द्रिय है।

कोश के अनन्तर उसके रक्षण हेतु प्रहरी के रूपमें राज्य का छठवाँ अङ्ग दण्ड माना गया है। वह श्रीराम तत्त्व के परिचायक आयुध हैं। ये आयुध निस्तेजस्क न होकर सदा तेजस्वी रहते हैं जो भक्ति के द्वारों पर अंकित रहते हैं। उपर्युक्त रीति से राजपदाभिषिक्त भक्ति के प्रभाव से श्रीरामायुध सभी तेजस्वी हो शत्रु की बुद्धि को हतप्रभ करते रहते हैं यही भक्ति रानीका दण्डबल है।

इसके बाद अवशिष्ट है सप्तम मित्रप्रकृति उसके अन्तर्गत गिने गए हैं परराष्ट्राधिपति। परराष्ट्रीय राजाओंको मित्ररूप से राज्यांग बनाने से पार्ष्णिग्राह आदि पर अंकुश सहजतया सिद्ध होता है। भक्ति महारानी अपने राज्य में अध्यात्मरूप परराष्ट्र में रहे ब्रह्माजी, शिवजी को मित्ररूप में स्वीकारती हैं। उस स्वीकृति का परिणाम सुन्दरकाण्ड में स्पष्ट है।

मित्रराष्ट्र ने भक्ति महारानी को दिया साहाय्य सुन्दरकाण्ड में स्फुट है। जैसे आन्वीक्षिकीकुशल भक्ति से रक्षित हनुमान्जी की निःशंकता सूक्ष्मदर्शी रावण ने परीक्षित की वही अर्हता माताजी ने रावण को सुनाए उत्तर से भी निर्विवाद है। फलतः सुहृद्रूप में रहे ब्रह्मादि मण्डल ने रावण को उपेक्षित कर हनुमान्जी का साथ दिया जो ५।२३।८ में प्रसिद्ध है। इतना ही नहीं किंबहुना बिभीषण-संपर्क में रही श्री (कोश) ने स्वयं होकर रावण के राष्ट्र को त्यागना सर्वविदित है। आगम राष्ट्र ने स्वदेशवासी रावण के अत्याचारों से त्रस्त होकर उसे लंका में निगमागमवासी शास्त्रप्रमाणाश्रित श्रीराम के पहुँचते ही त्यागना सर्वविदित है। इस रीति से राजविद्या में भक्ति महारानी का मंत्रित्व निर्विवाद है।

ये उपर्युक्त तथ्य सुन्दरकाण्ड के पूर्वापर वचनों से प्रकट करने का निष्कर्ष यही कि रामायण के पंचम सोपान में रहा उक्त सौन्दर्य प्रगट होने से पंचमकाण्ड 'सुन्दर' नाम से व्याख्यात हुआ।

पूर्वोक्त राज्यस्थापना की सफलता यही है कि जब राजनीति के पुरस्कर्ता संपूर्ण विद्याओं को शत्रु के पाश से हटाकर उनको व अपने-अपने राष्ट्र में धर्म व नीति को विचरण करने का अवकाश प्राप्त हो। यह नैसर्गिक प्रयोग पूर्णरूपेण साधने में जो साधक कृतसंकल्प हैं उनका भक्ति रामायण मनोनीत भक्ति है। गोसाईंजी ने तथाविध भक्तिरानीको हृदयंगम कर उसी को सुन्दरकाण्ड में गूथा है। इस प्रकार श्रीरामभक्तिलक्षण ग्रन्थ (बालकाण्ड) व श्रीरामभक्तिरूप लक्ष्य की एकवाक्यता स्मरणीय है। यदि उपर्युक्त भक्तिसंबंधी रहस्यरूप नेत्र से प्रस्तुत काण्ड सोचा जाय तो समुद्र देव के तुष्ट्यर्थ कुलगुरु कहकर श्रीराम को सागरतीर पर तीन दिनों तक संकल्प लेकर व्रत में रहने हेतु बिभीषणजी ने दिया संकेत एवं लक्ष्मणजी के सामने श्रीराम के द्वारा दैववाद की एकवाक्यता में अपनाये पुरुषार्थ का समन्वय ढोल-गँवार आदि समुद्र ने सुनाना—इत्यादि का यथार्थ अर्थ समझने में काठिन्य किसी को अनुभूत नहीं होगा।

पुण्याहवाचन के अनन्तर दीर्घातिदीर्घकाल के अनन्तर सुन्दरकाण्ड का प्रकाशन होने के कारण बहुत हैं। उनमें प्रथम कारण स्व की असंतुष्टि है। यतः गुर्वध्यापित भक्तिसमन्वित राजनीतिक आन्तरिक प्रकाश प्राप्त करने में विलंब हुआ है।

दूसरा कारण है कलाविद् लेखक का अभाव। यद्यपि लेखकों की उपलब्धि समय-समय पर होती रही परन्तु कोई प्रकाशनार्ह नहीं ठहरे। तीसरा कारण था अर्थसञ्चयाभाव। अनेकविध अर्थश्रेष्ठियों, महात्माओं एवं मठाधिपतियों से आश्वासन प्राप्त हुआ पर वह खपुष्पके समान प्रतीत हुआ फिर भी हताश होना उचित नहीं समझा यतः श्रीराम की सेवा निष्प्रकंप होगी तो प्रभु ही सामग्री एकत्रित करेंगे ऐसा विश्वास रहने से उक्त सभी अभाव स्वयं ही निरस्त हो गये।

मेरे आयुष्य की अन्तिम घड़ी में शतायु चि० आञ्जनेय दातार (सन्तोष) व चि० रामकिशोर मुन्धड़ा ने अतिविपुल सहायता दी है। भूरिशः दोनों का सर्वतः अभ्युदय होने में प्रभु श्रीराम अनुग्रह करें यही मेरी शुभकामना है।

श्री अनिल कुमार सिंह महोदय ने प्रस्तुत व्याख्या के प्रकाशन में अतीव स्वल्प पारिश्रमिक लेकर संपादकद्वय का उत्साह बढ़ाते हुए कार्य पूर्ण किया अतः उनका भी मैं हार्दिक धन्यवाद देते हुए उनके अभ्युदय के प्रति प्रभु से प्रार्थना करता हूँ।

अन्त में मेरे सर्वस्व कै० श्रीगुरुवर्य एवं कै० मातृ-पितृचरणों को कोटिशः प्रणाम कर अपनी लेखनी को विश्राम दे रहा हूँ।

प्रभुकृपाकांक्षी

विश्वनाथ शास्त्री दातार

शिक्षा से प्राप्त सन्तोष

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं,
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः,
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो! तवाराधनम्॥

प्रात:स्मरणीय कै० पं० श्रीराजेश्वर शास्त्री द्रविड़जी के चरणकमलों के सान्निध्य में एकचित्त हो अध्ययन करने के बाद पितृचरणों (म०म० पं० श्रीविश्वनाथ शास्त्री दातारजी) के द्वारा श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीरचित श्रीरामचरितमानस के अन्तर्गत 'सुन्दरकाण्ड' में वर्णित तत्त्वों के प्रकाशनानुकूल श्रम से भक्तिमहारानी के नेतृत्व में राजनीतिविद्या के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर भक्ति के गूढ़ रहस्य का प्रकाशन प्रस्तुत शास्त्रीय व्याख्या में किया गया है।

अति स्वल्पायु में जन्मदाता पितृचरण कै० नारायण शास्त्री दातारजी के देहावसान के पश्चात् मुझ अबोध बालक को यथाव्याख्यात (भावप्रकाशन) 'नाथ' की तरह ही लालन-पालन कर बड़ा करनेवाले गुरु-पितृचरणों के सान्निध्य में लेखन व श्रवण का जो थोड़ा अवसर प्राप्त हुआ उसमें श्रीरामचरितमानस के संबंध में गई गूढ़ रहस्य इस अल्पमति को समझ में आए। उनमें से कुछ शिक्षारूप में गृहीत विषय विद्वान् पाठकों के लिए विचारणार्थ प्रस्तुत हैं। ऐसे विषय निम्नलिखित हैं—

(१) हनुमान्‌जी की श्रीरामभक्ति का माता सुरसाजीद्वारा परीक्षण एवं प्रकाशन।

(२) लंका में हनुमद्विभीषणसंवाद से बिभीषणजी की शंकाओं का समाधान।

(३) खलमण्डली में सन्तों के लिए वास की शिक्षा।

(४) बिभीषणजी (दैववाद) एवं लक्ष्मणजी (पुरुषार्थवाद) के वचनों का समन्वय करने की शिक्षा।

(५) शुक-सारणद्वारा अप्रतारणापूर्वक रावण को दिए हुए उपदेश।

(६) शरसन्धानवैयर्थ्य की आपत्ति प्रगट कर नम्रता के साथ प्रभु श्रीराम को शरवेधन से निवृत्त करानेकी प्रवृत्ति से शिक्षा। आदि।

आदरणीय पितृचरणों ने शास्त्रवचन एवं सत्यसन्ध पितृवचन की प्रमाणता प्रगट करने के साथ भक्ति का राज्ञीत्व प्रगट करना विद्वानों के लिए स्पृहणीय होगा।

इस पुस्तक के लेखन में ज्येष्ठ भ्रातृतुल्य श्रीरामकिशोर मुन्धड़ाजी (सह-सम्पादक) ने जो सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनका अपार आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्त में पूज्य पिता (कै० पं० श्रीनारायण शास्त्री दातार) एवं पूजनीया माता (कै० हरिप्रिया दातार—जिनके नाम पर शास्त्रीय व्याख्या का नामकरण हुआ है) के चरणों में प्रणाम करते हुए इस पुस्तक के प्रकाशन के क्रम में जिन्होंने जो भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग दिया है उन्हें भूरिशः धन्यवाद देते हुए विराम लेता हूँ।

विनीत
आञ्जनेय दातार 'सन्तोष'

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जो पाई॥

श्रीगोस्वामीजी का उपरोक्त वक्तव्य मेरे जीवन में अक्षरशः सत्य उतरा है। मुझे जो जो मति प्राप्त हुई है उसके मूल में सद्‌गुरु श्रीदातारजी हैं। उनकी प्राप्ति पूज्य माताजी (कै० रामकुवारि देवी) चे बचपन में कराई। अतः इस अवसर पर मैं उनको स्मरण कर प्रणाम करता हूँ।

सुन्दरकाण्ड में जगह-जगह हनुमान्‌जी, जानकीजी, श्रीरामजी आदि के वचनों पर प्रश्न करना और उनका समाधान पाने से पूज्य गुरुजी ने इस काण्ड को तर्कोपबृंहित 'भक्तिकाण्ड' कहकर संबोधित किया जो शास्त्रीय व्याख्या के अनुरूप लगता है।

सुन्दरकाण्ड की शास्त्रीय व्याख्या में सत्तर्क, सिद्धान्त व उच्चादर्शों को इस प्रकार पिरोया गया है कि उनके कारण लिखने में अत्यन्त उत्साह व आनन्दानुभूति बनी रही। इस महान् कार्य के सम्पादन की योग्यता न होते हुए भी गुरुजी के आशीर्वाद से यह पूर्ण हुआ जो मेरी यशोवृद्धि करनेवाला होने से पुनः उनके चरणकमलों में नमन करता हूँ और आशा करता हूँ कि आप अपना वात्सल्य इसी प्रकार निरन्तर मेरे ऊपर बनाये रखेंगे।

गुरुचरणरज

रामकिशोर मुन्धड़ा

श्री विश्वेश्वरश्शरणम्
श्री गुरुश्शरणम्

सुन्दरकाण्डम्

भावार्थ (रामचन्द्रस्मृति) शास्त्रीय व्याख्या (हरिप्रिया) समेतम्

सुन्दरकाण्ड-प्रसंग

अयोध्या से चलकर चित्रकूट में पहुँचने के बाद प्रभु ने स्वराष्ट्र की यथावत् स्थापना की। तदनन्तर वे पंचवटी में आये। वहाँ से सीताशोध को निमित्त बनाकर आगे बढ़ते हुए किष्किन्धा में पहुँचे। उसके पश्चात् उन्होंने स्वराष्ट्र के प्रति आक्रामक रावण व तत्सम-कंटकशोधन के लिए अपेक्षित मित्ररूप में सुग्रीवजी का अर्जन किया। अतः किष्किन्धाकाण्ड को मित्रकाण्ड भी कह सकते हैं, अन्यथा कंटकशोधन नहीं होता एवं परराष्ट्र को स्वाधीन न करने पर रघुवंश का चक्रवर्तित्व पूर्ण न होने से सीतोक्ति (२।९८।३) का अप्रामाण्य होता। तदर्थ परराष्ट्र में रहे गूढ़ तथ्य, सैन्यबल, देशकालानुरूपता व कार्यशक्ति को समझने हेतु राजनीत्युदित उपायों के साथ सर्वाङ्गपूर्ण सरलभक्ति का निरूपण करना सुन्दरकाण्ड का लक्ष्य है। उसकी पूर्णता सत्तर्ककुशल चर (भक्त) के माध्यम से होगी ऐसा सोचकर भक्ति-सुरक्षित तर्कात्मक सुन्दरकाण्ड का प्रारम्भ हो रहा है।

सुन्दरकाण्ड का नामकरण

इस काण्ड के प्रकरणार्थविवेचन से स्पष्ट है कि चरत्व व दूतत्वाभिमान में रहे हनुमान्जी के लिए मंत्रणापूर्वक सत्तर्कयुक्त परामर्श तथा उत्साहशक्ति सहायक बनी थी। फिर भी प्रभु के द्वारा नियुक्त होकर उनके आदेश को पूर्ण करने हेतु प्रभु की स्वतन्त्र कर्तृताशक्ति का बल नैरन्तर्येण प्राप्तव्य था, ऐसा सोचकर पग-पग पर हनुमान्जी प्रभु का स्मरण कर उनको हृदय में बैठाये रखते देखे गये हैं। उसी माध्यम से चरकार्यरत हनुमान्जी, परराष्ट्रस्थ गूढ तथ्य को समझने के लिये प्रतिक्षण अनुमिति करते पाये जाते हैं जो अनुमेय साध्य एवं अनुमापक हेतु के परामर्श का सहारा लेने से स्फुट हो चुका है। अतः यह कहना होगा कि हनुमान्जी ने प्रत्येक प्रयोग में तर्क का पूर्ण सफल उपयोग किया है। भक्तिरक्षित तर्क के साथ उन्होंने धृति, मति, बोध, स्मृति आदि भाव भी समय-समय पर अपेक्षानुसार प्रगट किये हैं। अतः यह काण्ड कवियों की परम्परा में सुन्दर (तर्क)-काण्ड के नाम से व्यवहृत है।

अथवा—सांसारिक सर्वविधस्पृहाशून्यता के साथ भक्ति की आकांक्षा का शामक होने से इस काण्ड का नाम सुन्दरकाण्ड है।

अथवा—हनुमान्जी ने श्रीरामभक्ति के लिये अपेक्षित पूर्वापर तथ्यों को अपने चरित्र से समझाया होने से यह सुन्दरकाण्ड है।

अथवा—श्रीरामजी के प्रति निगम-आगम सम्मति को यथावत् दृष्टिगोचर कराना इस काण्ड का ध्येय होने से यह सुन्दरकाण्ड है।

अथवा—आन्वीक्षिकीसम्पुटित निगमागम का बलाबल प्रगट करते हुए परिणाम में श्रीराम के प्रति श्रुत्यनुगत आगमानुयायिता का प्रकाशक होने से यह काण्ड सुन्दरकाण्ड है। इसी प्रकार टिप्पणिस्थ सुन्दरकाण्डीय चौपाईयों में सुन्दरकाण्ड के नामकरण की सार्थकता द्रष्टव्य हैं।[१]

श्लोक- शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं।
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्॥
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं।
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम्॥

भावार्थ—स्थायिधृतिसम्पन्न, विघ्नों से अनुच्छेद्य, इदंप्रथमतया लौकिक प्रमाऽविषय, मोक्षसुखके प्रदाता, ब्रह्मा, शिव व शेष के लिये सदा सेव्य, वेदान्तैकवेद्य, सर्वसमर्थ, जगत्के स्वामी, सुरगुरु, स्वेच्छा से मानवरूप धारण करने वाले, भूपालशिरोमणि रघुवर श्रीराम को मैं प्रणाम करता हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

शान्तं : आभासशून्य, नीतिप्रधान चरित्रात्मक प्रयोगविशेष को सर्वांगोपसंहार रूप से प्रकाशित करने हेतु अवतीर्ण श्रीरामजी ने सदा निर्विकार रहना ही 'शान्तं' का निष्कर्ष है।

शाश्वतम् : उपचयापचय (वृद्धि-क्षय) न होना शाश्वतत्त्व है।

अथवा—विघ्नों से अनुच्छेद्य नीति में स्थित श्रीराम कालत्रय में समान रूप से विराजमान हैं। वे ही सब के लिये आदर्श हैं। अत: 'शाश्वत' हैं।

अप्रमेयम् : 'अयं राम:' व उनके प्रति 'इदं-इत्थम्' इस प्रकार किसी भी प्रमा का विषय न होना 'अप्रमेयम्' है

अनघम् : मिथ्याज्ञान व अनीति का स्पर्श न होने से श्रीराम प्रमाणत्रय की दृष्टि से 'अनघ' अर्थात् निष्पाप हैं।

निर्वाणशान्तिप्रदम् : दु:खासंस्पर्श ही 'निर्वाण' है। उसमें रहते हुए पूर्ण सुखानुभव करना शान्ति है। उसकी प्राप्ति का एकमात्र स्थान श्रीराम होने से वे 'निर्वाणशान्तिप्रद' हैं।

ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं : ब्रह्माजी रजोगुणावच्छिन्न चेतन हैं। शिवजी अविमुक्त-क्षेत्रवासी हैं। फणीन्द्रजी तमोगुणावच्छिन्न हैं। ये सभी श्रीरामसेवा में रत हैं; क्योंकि वे श्रीराम के नीति-विलास को पाकर पूर्ण सुखानुभूति करते रहते हैं। उन्हें श्रीरामसेवा में रहते हुए हित की पूर्णोपलब्धि होती रहती है। यही श्रीराम की ब्रह्मादिसेव्यता है।

'अनिशं' 'सेव्यम्' से अन्वित है। अर्थात् नैरन्तर्येण रही ब्रह्मादि की एकाग्रता 'अनिशं' है।

---

[१] श्रीरामचरितमानस ८।२, ११।२, ११।७, १२।६, १२।११, १३।७, १४, १५।७, २३।६, २४।४, २५, २६।५, २६।७, २७।४, २९।७, ३०।८, ३५ (छन्द), ४१।२, ४१।७, ४२।३, ४२।९, ४३।९, ४३, ४६।६, ४७, ४९।७, ४९।१०, ५२।६।

वेदान्तवेद्यं : श्रीराम का वृत्यभास्य स्वरूप समझाने की योग्यता वेदान्त (उपनिषद्) में ही है। वेदान्त में निरूपित 'तत्वमसि' इस महावाक्यार्थ का उपदेश गुरु से अधिकारी को प्राप्त होने पर ही वह मुमुक्षु, विषयावच्छिन्न व वृत्यवच्छिन्न से रहित ब्रह्म का अनुभविता होता है। इस प्रकार श्रीराम वेदान्तवेद्य हैं।

ज्ञातव्य है कि वेदान्तवेद्य तत्व (श्रीराम) सुखात्मक है जो 'ज्ञानमानन्दं' इत्यादि श्रुति से प्रमित है। वे स्वयं जब नीति में परिनिष्ठित व उपायविकल्प में सावधान प्रयोक्ता-वक्ता के रूप में अवतीर्ण होते हैं तब राजनीति सफल होती है। क्योंकि उसके मत में प्रत्यक्षादि प्रमाणत्रयप्रमितत्व के साथ देशकालानुगुण्य व शक्ति को अपनाना शासक का स्वभाव होता है। फलतः वे नीतिमान् अनुच्छेद्य हो सुखी ही रहते हैं। उनके सान्निध्य में चपला लक्ष्मी अनुच्छेद्य होकर स्थिर रहती हैं। इसके साक्षी भानुवंश, चन्द्रवंश, मनुवंश, निमिवंश आदि प्रसिद्ध हैं।

विभुम् : सभी जड़-चेतन प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले प्रभु 'विभुम्' हैं।

रामाख्यम् : ज्ञातव्य है कि भक्तों की स्वस्व रुचिभेदेन ब्रह्मदर्शन की उत्कट इच्छोपशमनार्थ ब्रह्म विभिन्न-विभिन्न रूप में सगुण हो दृश्य होते हैं। इसकी सत्यता भी पुराणों में आचार्य-सम्प्रदायभेदेन स्वीकृत है। अतः वे सभी उपादेय हैं। प्रकृत में गोस्वामीजी पुष्ट (पोषण) भक्ति पर रुचि रखने वाले होने से इष्टदेव के रूप में श्रीराम का अति आदर करते हुए जीवन को सफल बना रहे हैं। तदनुसार वे अपने उपास्य का अभिधान रामनाम से व्यक्त कर रहे हैं।

जगदीश्वरम् : जगत् से वर्णाश्रम व तदविरोधी अवैदिक (आगमानुयायी) समाज विवक्षित है; क्योंकि यही ऐसा समाज है जो अपने को विद्यावृद्धजनों के प्रति प्रयोज्यवृद्ध मानने में गौरव का अनुभव करता हुआ श्रीरामसेवी के रूप में परम्परा से प्रसिद्ध हो चुका है। इसमें हेतु यह है कि श्रीराम के अतिरिक्त ब्रह्मादि अपने को जीवकोटि में मानते हैं। अतः वे उपादान-गोचर, अपरोक्षज्ञान-चिकीर्षा-कृतिमान् व कारक चक्रान्तर के प्रयोक्ता नहीं है। ऐसा होने से ही उक्त समाज ने उपादानगोचर ज्ञान आदि विशेषणों से सम्पन्न श्रीराम को स्वामी के रूप में स्वीकारना 'जगदीश्वरं' का भाव है।

सुरगुरुं : असुरादि से पीड़ित होने पर श्रीराम असुरेतरों को फलदायी सुझाव के प्रकाशक होने से 'सुरगुरु' हैं।

माया मनुष्यम् : कश्यप-अदिति एवं स्वायम्भुव मनु-शतरूपाजी की प्रार्थना तथा प्रतापभानु पर रही अनुकम्पा से सत्वगुणात्मिका माया का आवरण अपने पर लेकर प्रभु ने प्रगट हो मनुष्यचरित्र से मानवता को स्फुट करना 'माया मनुष्यं' का भाव है।

हरिम् : मन्वाद्युपदिष्ट पद्धति से न्यायतः सबके पालक व निगमागमधर्मविरोधी के संहर्ता होने से श्रीराम 'हरि' हैं।

इस प्रकार अभी तक पारमार्थिक रूप में स्थित श्रीराम की वन्दना कवि ने की है। आगे श्रीराम का व्यावहारिक रूप गायेंगे।

वन्देऽहं : 'वन्दे' का अन्वय मध्यमणिन्यायेन पारमार्थिक एवं व्यावहारिक रूप में स्थित श्रीरामरूप कर्मकारक के साथ ज्ञातव्य है।

करुणाकरम् : प्रभु के आदेशपालन में सावधानता (अप्रमाद) न रखने वाले असंख्य जीवों को दण्डित कर न्यायमार्ग पर रहने की प्रेरणा देने वाले होने से श्रीराम को 'करुणाकरम्' कहा है जो धर्मविजयी नेता के लिए लोकसंग्राहक है।

दीनमात्र का संरक्षण करते हुए उनके अपराधचिन्तन का अभाव 'आकर' से स्पष्ट है।

रघुवरम् : रघुवंश के स्मरण से रामान्तर (परशुरामादि) की व्यावृत्ति व शासनाधिकारोक्त नियम-पालन स्मर्तव्य है।

भूपालचूडामणिम् : श्रीराम का व्यावहारिक रूप आत्मगुणसंपत्तिसहकृत नरदेवत्व है। अतएव वे इतिहासप्रसिद्ध भूपालों के चूड़ामणि हैं।

श्रीराम के नमन की उपयोगिता

लंकाकाण्ड में परराष्ट्रविजय निरूपणीय है। तदर्थ विजिगीषुपक्ष में नायक की उत्साहशक्ति का सम्बल शास्त्रों में विहित है। वह सत्वगुणावच्छिन्नवृत्ति में ही पूर्णतया स्थायीरूप में अधिष्ठित रहती है फिर भी श्रीराम उससे अभिन्न हैं। इस प्रकार अपने स्वामी की सर्वोत्कृष्टता के समक्ष अपने को निकृष्ट समझना नमन की उपादेयता है।

इष्टदेव का नमन

उत्साह, प्रभु की स्वतंत्रकर्तृता, भक्ति व तर्क से सहकृत चरकार्यनिरूपण में आभास न हो इस हेतु से अपने ऊपर प्रभुप्रसाद की प्राप्ति के उद्देश्य से गोस्वामीजी ने इष्टदेव का स्मरण किया है।

संगति—नीतिरूप में की हुई प्रभु की वन्दना का विशेष फल ग्रन्थकार समझा रहे हैं। यत: उसकी ओर ध्यान न देने पर सुन्दरकाण्ड शब्द की अन्वर्थता समझ में नहीं आ सकती।

श्लो०-नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥ २॥

भावार्थ—मेरे (निराशिष्) जैसे भक्तों के हृदय में भक्ति के अतिरिक्त फल की कामना नहीं है। आप अखिल जीवों के अन्तरात्मा-साक्षी होने से उक्त तथ्य के प्रति मेरी सत्यता (अप्रतारणा) से परिचित हैं। हे रघुपुङ्गव! मुझे वैसी भक्ति दें जिससे मेरा अन्त:करण भक्ति से ओत:प्रोत हो जाय व मानस कामादि दोषों से रहित एवं निर्मल हो।

शास्त्रीय व्याख्या

नान्यास्पृहा : मानस में उत्कट वैषयिक इच्छा रहने पर वह कामिनिजिज्ञासा की तरह प्रतिबन्धक होकर सुन्दरकाण्ड के आशय को दुर्ज्ञेय बनायेगी। फलत: अन्वयव्यतिरेक-संपृक्त सत्तर्क भक्ति का उद्भव न होने से कुण्डलिनी जागृत नहीं होगी न तो श्रीराम व उनके आदेश पर सही रीति से विश्वास ही उदित हो पायेगा। इसके उदाहरण में अङ्गदादि कपि हैं। जो समुद्र पार करने में शंकित हो गये। अत: 'नान्या स्पृहा' से प्रतिबन्धकभूत, रामभक्त्यतिरिक्त मनोरथ का अभाव व्यक्त किया है। अतएव इस काण्ड की सुन्दर संज्ञा सार्थक है। इसका विशेष विवेचन दोहा ४९। ५-७ में द्रष्टव्य है।

'स्पृहा' शब्द आशिष् का समानार्थक है।

हृदये : स्पृहाभाव समझाने के लिये 'हृदये' से स्वहृदय की अन्तर्वाणी बतायी गयी है।

अस्मदीये : ज्ञातव्य है कि मैं और तुम इत्यादि भेद उसी संकुचित हृदय में जगते हैं जिनमें भागवतनिर्देशानुसार वैकृत बुद्धि उदित होती है उसके व्यावृत्यर्थ 'अस्मदीये' कहना उपपन्न है।

सत्यं वदामि : गोस्वामीजी ने 'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये' कहना दु:साहस कहा जाय तो उसका उत्तर वे 'सत्यं वदामि' से दे रहे हैं। उसका प्रत्यक्ष फल यह है कि तर्कशक्तिसम्पन्न गोस्वामीजी कुण्डलिनी को जगाए हुए मालूम होते हैं। जैसा कि 'नान्या स्पृहा' शीर्षक में उक्त है।

भवानखिलान्तरात्मा : साक्षी के अभाव में स्व को साक्षी बनाना न्यायशास्त्राभिमत असाधारण दोषतुल्य है। उसके उत्तर में 'अखिलान्तरात्मा' कहा है। आशय यह कि प्रभु जीवमात्र के अन्तरात्मा हो साक्षीरूप में विराजते हुए सबकी मनोगति से पूर्ण परिचित हैं। अत: यह कहना होगा कि गोस्वामीजी का 'नान्या स्पृहा' दम्भ नहीं है न तो असाधारण दोष ही है।

भक्तिं प्रयच्छ : 'नान्या स्पृहा' कहने से अन्यपदबोध्य भेद प्रतियोगी की आकांक्षा होना स्वाभाविक है। उसका शमन 'भक्तिं प्रयच्छ' से कर रहे हैं।

निश्छल हो, स्वार्थ न रखते हुए प्रीतिपूर्वक श्रीरामादेश का पालन करना भक्ति है।

अथवा—पौन:पुन्येन आदेशपालन करने की प्रवृत्ति के प्रति आशिष् 'प्रयच्छ' से स्फुट है।

रघुपुङ्गव : ईश्वरप्रसाद से निग्रहानुग्रहसामर्थ्य प्राप्त कर प्रजापालन में समर्थ रघुवंश में चूड़ामणि के रूप में अवतीर्ण हुए श्रीराम को 'रघुपुङ्गव' कहा गया है।

अथवा—तुलसीदासजी ने अपने हृदय में श्रीरामभक्ति का उच्छलन अन्य देवताओं से होना श्रीरामसेवात्मक भक्तिशास्त्रसम्मत नहीं ऐसा सोचकर 'रघुपुङ्गव' सम्बोधन का प्रयोग किया। उसकी सार्थकता यह कि भक्तों के हृदय में साक्षीरूप में विराजमान हो श्रीराम उनकी प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

निर्भरां मे : सर्वदैव भक्ति ने हृदय में ओत:प्रोत होकर रहना 'निर्भरां' का भाव है।

अथवा—भक्तिशास्त्रात्मक शब्द के प्रति अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित ज्ञान का निरन्तर प्रवाह होते रहना 'निर्भरां' का भाव है।

कामादिदोषरहितम् : भक्ति की पूर्णता में कामादि दोष, प्रतिबन्धक का काम करते हैं। उसके निरास में 'कामादिदोषरहितम्' कहा है। कामादि दोष यदि 'भक्तिं' शीर्षक में उक्त परिष्कृत भक्ति में रुकावट करते हों तो वे दोष हैं अन्यथा नहीं।

ज्ञातव्य है कि गोस्वामीजी जैसे भक्तों के हृदय में कामादि दोष प्रसक्त ही नहीं हैं तो 'दोषरहितं' की उक्ति में असमंजसता लक्षित होती है। उत्तर में कहना यह है कि उच्चतर भक्तों के हृदय में भी पूर्ववासनावशात् कामादि दोषों की प्रसक्ति देखी गयी है। जैसा कि प्रतापभानु ने गुरु से जन्मगत मृत्युव्याप्तिबोधक शास्त्र को अप्रमाण करने हेतु हठ करने के फलस्वरूप रावणजन्म तथा उक्त राजा के अनुयायी वर्णाश्रम समाज ने राक्षसजन्म पाया। इस प्रकार कामादिका आनुगुण्य भी इष्ट होने से 'दोषरहितं' कहा है।

कुरु : 'कुरु' प्रार्थना से 'बड़ रखवार रमापति'[१] स्मर्तव्य है।

मानसं : शास्त्रों ने कामादिकों को मनोधर्म के रूप में माना है। मनस् में उनकी प्रसक्ति की दृष्टि से 'मानसं' कहा है। इसको हृदयङ्गम किया जाय तो सुन्दरकाण्ड व उसके परिशीलन की पूर्णता समझनी है।

संगति—तर्कोच्छलनसमवहितभक्ति, प्रीति, नीति को दर्शाने वाले हनुमान्जी श्री शिवजी हैं। वे सुन्दरकाण्ड में प्रतिपाद्य होते हुए सर्वदा विद्यमान हैं। गोस्वामीजी श्रीरामभक्त हनुमान्जी के रूप में शिवजी को नमस्कार कर रहे हैं।

श्लोक-अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहम् दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशम् रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥ ३॥

भावार्थ—रावणादि को परास्त करने वाले हनुमान्जी अतुलित बलात्मा हैं। उनका देहवर्ण स्वर्णशैल के समान है। दानव (लंका)-वन के लिए वे आग हैं। ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं। नैतिक आत्मसंपत्ति की खान हैं। वानरों के स्वामी, रघुपति के श्रेष्ठ दूत, वायुपुत्र को हम प्रणाम करते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

अतुलितबलधामं : 'न रावण सहस्त्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्' का स्मरण 'अतुलितबलधामं' से करना है।

स्वर्णशैलाभिदेहम् : शास्त्रकारों ने शक्तियों को तेजोरूप माना है। हनुमान्जी ने श्रीरामोपासना, गुरुवचनपालन, नीतिनिपुण राजा सुग्रीव की सेवा आदि से समस्त शक्तियों को स्वायत्त किया है। ये शक्तियाँ तेजोमयी होकर हनुमान्जी को तेजस्वी बना रही हैं। उसी आभासमूह को कवि ने 'स्वर्णशैलाभदेहम्' से व्यक्त किया है।

दनुजवनकृशानुं : हनुमान्जी ने दूत बनकर लंकादाह करना अद्वितीय कार्य है। उसी का स्मरण 'दनुजवनकृशानुं' से कर रहे हैं।

ज्ञानिनामग्रगण्यम् : हनुमान्जी नीतिप्रभृति शास्त्रों के प्रयोक्ता, वक्ता, ऐश्वर्यसम्पन्न विद्वान् होने के कारण उनमें दैवीसम्पत्ति, मंत्रशक्ति, उत्साहशक्ति एवं प्रभुशक्ति पूर्ण होने से श्रीतुलसीदासजी ने उन्हें 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' से सम्बोधित किया है।

ज्ञातव्य है कि यद्यपि अर्थशास्त्रानुसार भीष्मादि बहुत-से ज्ञानी हनुमत्तुल्य हैं तथापि गोस्वामीजी ने दासभक्ति की पूर्णता को समझाने हेतु सर्वांगोपसंहाररूप में मीमांसाभिमत प्रकृति कहकर हनुमच्चरित्र को ऐतिहासिक रूप में देखना 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' से सूचित है।

सकलगुणनिधानम् : पूर्वमंत्रिपरिषद् व उत्तरमंत्रिपरिषद् में प्रवेशार्ह, मैत्रीसम्बन्धी गुण, चरदूतोभय गुण, श्रीरामकीर्तिविस्तारक, इन्द्रियजय, विनय, शील, शास्त्रार्थानुष्ठान इत्यादि गुण 'सकलगुण' से ज्ञातव्य हैं।

वानराणामधीशम् : हनुमान्जी ने बुद्धि-पौरुष से श्रीराम का कार्यसम्पादन कर सम्पूर्ण वानरों को अनेकों आपत्तियों में जीवनदान किया है अतः 'वानराणामधीशम्' कहा है।

---

[१] श्रीरामचरितमानस १। १२६। ८

रघुपतिवरदूतं : श्रीराम के द्वारा सेवक हनुमान्‌जी ने परराष्ट्र में जाने की आज्ञा प्राप्त कर ही वहाँ जाने का निर्णय लिया परन्तु शत्रु के बल एवं दुर्ग की अभेद्यता पर ध्यान न देकर श्रीरामाज्ञा को शिरोधार्य करना हनुमान्‌जी का वरदूतत्व है। इसमें भक्तिसिद्धान्त स्मर्तव्य है कि सेव्य श्रीराम नीतिमान् होने से उन्होंने भविष्यत् में कार्य की सफलता, अनिष्टनिवारण कृतिसाध्यता, सत्यसंकल्प यथावत् समझकर ही आज्ञा मुझे दी है। इस तर्क के ज्ञाता हनुमान्‌जी ने श्रीरामादेश सुनकर उत्साहित होना 'रघुपतिवरदूतं' का भाव है।

वातजातं : 'वातजातं' कहकर हनुमान्‌जी में वातपुत्रत्वात् विशेष बलप्राप्ति समझाई है।

नमामि : 'नमामि' का प्रयोजन 'भक्तिं प्रयच्छ' और 'कामादिदोषरहितम् कुरु मानसं' है।

हनुमान्‌जी की निष्कामता व तर्कसंपृक्त दौत्यप्रवृत्ति की सफलता को देखकर हर्ष में तुलसीदासजी ने नमन किया है। इसकी सार्थकता उनके मनोरथ की पूर्ति में समझनी है।

संगति—किष्किन्धाकाण्ड दोहा ३० चौपाई ११-१२ से सम्बन्ध जोड़ते हुए जाम्बवान्‌जी के वचन सुनकर कवि हनुमान्‌जी की प्रतिक्रिया सुना रहे हैं।

चौपाई— ***जामवन्त के बचन सुहाए । सुनि हनुमन्त हृदय अति भाए॥ १ ॥***

भावार्थ—जाम्बवान्‌जी के शोभनीय वचन हनुमान्‌जी के हृदय को भा गए।

शास्त्रीय व्याख्या

जामवन्त के बचन : किष्किन्धाकाण्ड के अन्त में जाम्बवान्‌जी की दूरदर्शिता व श्रीरामादेशपालनात्मक भक्ति के प्रकाशक वचन 'जामवन्त के बचन' हैं। जो ४।३०।११-१२ में निरूपित हैं।

सुहाए : मङ्गलाचरण में 'भक्तिं प्रयच्छ' कहने के बाद किष्किन्धाकाण्डोक्त विषय को याद कर उसका पर्यवसान गोस्वामीजी ने श्रीरामादेशोपासना में किया जो जाम्बवान्‌जी के बचन (एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई)[१] से सुस्पष्ट है इसलिए जाम्बवान्‌जी के वचनों में दूरदर्शितापूर्वक श्रीरामादेशपालन रूप भक्ति प्रगट होने से उनके वचनों को 'सुहाए' कहना उपपन्न है।

हनुमन्त हृदय अति भाए : दास्यभक्ति में पुष्टहृदय 'हनुमन्त हृदय' से चिन्त्य है। शिवजी हनुमद्हृदय को परखकर 'अति भाए' कह रहे हैं; क्योंकि हनुमान्‌जी सदैव श्रीरामादेशपालन में प्रवृत्त हैं। उसके प्रति वृद्धानुमोदन प्राप्त होना महान् शकुन है।

संगति—सुग्रीवशासन की पूर्ति संपातिवचन से हो गई। अब प्रभु का आदेशपालन आरब्धव्य है। उसके पूर्व हनुमान्‌जी वानरसेना को सम्बोधित कर रहे हैं।

चौपाई-तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई । सहि दुख कन्द मूल फल खाई॥ २ ॥
जब लगि आवौं सीतहि देखी । होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी॥ ३ ॥

भावार्थ—हर्षविशेष से अनुमित कार्यसिद्धि पूर्ण होने के बाद लौटकर आनेतक शौच सम्पत्ति को समृद्ध करते हुए आप यहाँ मेरी प्रतीक्षा करें एवं कन्द-मूल-फलाहार

---

[१] श्रीरामचरितमानस ४।३०।११

करते दु:ख सहें जिससे कि कार्यसिद्धि पूर्ण हो सके। मैं सीताजी को देखकर लौटूँगा, शकुन से मुझे कार्यसिद्धि अवश्य होने का अनुमान हो रहा है।

शास्त्रीय व्याख्या

तब : 'तब' से प्रतीक्षणीय कालावधि विवक्षित है। उसका निरूपण 'जब लगि आवौं' है।

परिखेहु : 'परिखेहु' कहने से वानरों को साथ में लाने का प्रयोजन स्पष्ट है; क्योंकि उन्होंने कन्द आदि खाकर व्रत करना होगा जो हनुमान्जी के लिए सफल होकर लौटने में सहायक होगा। इससे वानर व ऋक्षों की शुचिता अवगत होती है।

तुम्ह भाई : 'तुम्ह भाई' से भ्रातृसंघात समझना है। अर्थात् शुचिसम्पन्न वानर यदि समूह में तपस्या करते हैं तो हनुमान्जी को भ्रान्ति या मोह नहीं होगा तथा उन्हें बल प्राप्त होता रहेगा जिससे कार्य की सफलता असंदिग्ध रहेगी। जैसे पतिव्रता के संकल्प से पति ने भ्रान्ति या मोह में न फँसकर, विजेता हो लौटकर आना शास्त्रमर्यादित है।

सहि : वानरसमूह की हनुमान्जी पर तीव्र प्रीति है। फलतः हनुमान्जी को न देखने पर वानरों को दु:ख होना स्वाभाविक है परन्तु विपत्ति को बाँट लेने पर दु:ख सह्य होता है। अत: 'सहि' कहा गया है।

कन्द मूल फल खाई : ज्ञातव्य है कि जिसने उपोषण स्वीकृत किया है वह यदि उपोषण करने में असमर्थ है तो उसने अपोषण के प्रतिनिधि रूप में कन्द-मूल-फल खाना उपोषण ही है। कन्द आलू के समान गोल होता है। मूल सकरकन्द के समान लम्बा होता है। फल प्रसिद्ध है।

ध्यातव्य है कि कन्दादिभोजन से वानरादि सुखी होंगे ऐसा कहना कठिन है; क्योंकि विरहदु:खज्वालासंस्पर्श बने रहने पर कन्दादिभोजन भी दु:खमय प्रतीत होंगे। अत: कंन्दादि का भोजन वानरों का जीवनाधार मात्र है न कि उनके लिए सुखपरक है।

आवौं देखि : उपोषणसमाप्ति का काल 'आवौं' है।

आगमन में सीतादर्शनपूर्वत्वाभाव 'आवौं देखि' से ज्ञातव्य है। परिणाम में सीतादर्शनानन्तर्य के प्रति आगमन में रही साधकता सन्देहास्पद नहीं होगी।

होइहि काजु : 'अहं सीतादर्शनानन्तरं आगन्ता (सीता दर्शनं विना न आगन्ता)' ऐसी हनुमत्कृतप्रतिज्ञा 'होइहहि काजु' का अर्थ है।

प्रतिज्ञानिर्देश

ज्ञातव्य है कि यहीं से तर्क का प्रारम्भ है। उसके अन्तर्गत अपेक्षित प्रतिज्ञा हेतुवाक्य में से यहाँ 'होइहहि काजु' प्रतिज्ञावाक्य है। इसमें आकंक्षित हेतुवाक्य 'हरष-बिसेषी' शीर्षक में कहा जायेगा। भक्तिसंपृक्त तर्ककाण्डात्मक सुन्दरकाण्ड में यह प्रथम तर्क है। ऐसा ही आगे ऊह करना होगा।

मोहि : 'होइहहि काजु' शीर्षकोक्त प्रतिज्ञा के अन्तर्गत कहा अहं शब्दार्थ यहाँ 'मोहि' से बोध्य है। वही प्रतिज्ञान्तर्गत (न्यायभाषा में) पक्ष है।

हरष बिसेषी : 'हरष बिसेषी' 'होइहि' प्रतिज्ञातार्थ का साधक होने से हेतुवाक्य है। निष्कर्ष यह कि लंका जाने के समय में ही हर्ष होना 'हरष-बिसेषी' है वही उत्साह का

वाचक है। इसको हनुमान्जी अनुभूत कर कार्यसिद्धि का अनुमान कर रहे हैं। उसके मूल में कार्यसिद्धि व 'हरष बिसेषी' की व्याप्ति का स्मरण हनुमान्जी को हो रहा है। इस व्याप्ति को नीतिसारीय शकुनात्मक निमित्तज्ञानप्रकरण का बल प्राप्त है। हर्ष विशेष हेतु को देखकर 'अहं कार्यं साधयित्वा अवश्यमागन्ता हर्षविशेषात्' ऐसी अनुमिति होते ही तत्क्षण में आलस्याभाव, उत्साह, सत्व, धृति, निश्शंकता, अव्यसनिता, दैवानुकूलता भी अनुभूत हुई। इसका पर्यवसान सात्विकवृत्तिप्रयोज्यत्व, दैवानुकूल्यविशिष्टशक्तिमत्व आदि से युक्त हर्ष के अनन्तर कार्यारम्भ में है।

चिन्त्य है कि यद्यपि हनुमान्जी ने हर्षविशेष हेतु से किये उक्त अनुमान में असाधारण दोष और पक्षेतरत्व उपाधिदोष न्यायमत से आशंकित हो सकते हैं तथापि वे 'यन्नैवं तन्नैवं' इस व्यतिरेक व्याप्ति से निरसनीय हैं।

अथवा—हनुमान्जी को स्वीय पूर्वेतिहासों से कार्यसिद्धि की अन्वयव्याप्ति हर्षविशेष से निर्णीत हो चुकी है। अतः यह अनुमानप्रणाली निर्दुष्ट है।

संगति—'यत्किंचानूचानोभ्यूहति आर्षं तद्भवति' उक्ति के अनुसार हनुमान्जी ने अग्रिम योजना को प्रतिभात कर कार्यारम्भ के पूर्व उन्होंने मङ्गलाचरण करना सुना रहे हैं।

चौपाई—यह कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा । चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा॥ ४॥

भावार्थ—ऐसा कहकर सबको माथा टेककर श्रीरघुनाथजी को हृदय में रख हनुमान्जी हर्ष में चले।

शास्त्रीय व्याख्या

यह कहि : 'यह कहि' से पूर्व चौपाई में उक्त विषय बोध्य है। तत्कर्मक कथन 'कहि' है।

नाइ : सत्त्वप्रचुर मनोविकार का स्वभाव 'नाइ' से परिचित होता है। उसका फल वानरसमूह की प्रीति बने रहने में है।

चलेउ : लंकाभिमुख होकर उस शिखर की ओर जाना समझना है जहाँ से हनुमान्जी को कूदना है, वह 'चलेउ' से बोध्य है।

हरषि : उक्त अनुमानप्रणाली के अन्तर्गत कहे हेतु का स्मारक 'हरषि' है जो उनकी दास्यभक्ति का सूचक है।

हियँ धरि : कामादि विकार से बचने हेतु 'हियँ धरि रघुनाथा' ही एकमात्र अवलम्ब है; क्योंकि उसके माध्यम से ही रघुपति रक्षक होते हैं। भाव यह कि कार्यारम्भयोजना के पूर्व हनुमान्जी या तत्सम भक्त स्वहृदय में इष्टदेव को देखते हैं यदि वे प्रसन्न दीखते हैं तो वे उनका अवलम्ब समझते हैं अन्यथा नहीं।

रघुनाथा : 'रघुनाथा' से हनुमत्स्वामी मायामय रामाख्य हरि बोध्य हैं।

संगति—'चलेउ' शीर्षक में प्रस्तावित शिखर पर हनुमान्जी के चलने का क्रम सुना रहे हैं।

चौपाई— सिन्धु तीर एक भूधर सुन्दर । कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर॥ ५॥

भावार्थ—सिन्धुतीर पर एक (व्यक्ति) सर्वलक्षणसम्पन्न सुन्दर पर्वत था। उस पर हनुमान्जी श्रमानुभव न करते हुए कौतुकपूर्वक कूदकर चढ़ गये।

सिन्धु तीर : लंका में कूदकर जाना है तदनुगुण स्थान की अपेक्षा का उत्तर दर्शाने के लिए 'सिन्धु तीर' कहा है।

एक भूधर सुन्दर : पर्वत का सौन्दर्य 'अभिलक्ष्यं स्थिरं पुण्यं ख्यातं सद्‌भिर्निषेवितं'[१] लक्षण से तथा प्रकृतिवैचित्र्य से होता है। 'एक' शब्द व्यक्तिविशेषबोधनार्थ है जहाँ चन्द्रमा मुनि का आश्रम है वहाँ संपाती निवास करते हुए अशोकवाटिका में सीताजी का दर्शन करते रहते हैं।

कौतुक कूदि : पर्वतशिखर पर मार्ग से जाने हेतु समय नहीं है अतः तीर से कूदकर शिखर पर जाना कहा है।

चढेउ ता ऊपर : विना श्रम के शिखर पर चढ़ना 'चढेउ ता उपर' है। 'ता' से वह शिखर बोध्य है जिसे हनुमान्‌जी ने देखा है।

संगति—उत्साह व हर्ष होने मात्र से कार्य पूर्ण नहीं होता उसके लिए बल की भी अपेक्षा होती है। उसका निरूपण करते हुए 'हिय धरि' (चौपाई ५-१-४) के निर्देशानुसार रघुनाथजी का स्मरण करते हुए हनुमान्‌जी का चलना भी साथ-साथ कह रहे हैं।

चौपाई— बार बार रघुबीर सँभारी । तरकेउ पवनतनय बल भारी॥ ६॥

भावार्थ—पुनः-पुनः रघुवीरजी को स्मरणकर अपना बल बढ़ाया और वहाँ से चले।

शास्त्रीय व्याख्या

बार बार रघुबीर सम्भारी : 'हिय धरि' शीर्षक (५-१-४) में स्मृति का प्रयोजन स्पष्ट होने पर भी वारम्वार स्मरण की उपपत्ति यह है कि पर्वत पर खड़े हो कूदकर लंका में जाने तक मार्ग में विघ्न की सम्भावना होने से तन्निवारणार्थ श्रीरामस्मृति कारण होने से वे पुनः-पुनः श्रीराम का स्मरण कर रहे हैं।

अथवा—'भक्तिं प्रयच्छ' (श्लोक ५-६) के अनुसार श्रीराम के भक्त तत्सदृश हो चिदात्मा की सेवा का शुद्ध संकल्प लेकर श्रीरामदासता का आचरण करते हैं। तब सत्त्वगुणावच्छिन्ना प्रकृति वैसे भक्तों के संकल्प को पूर्ण करने में सहायिका[२] होती है। ऐसा समझने वाले भक्तों के लिए प्रधानकर्म के रूप में श्रीराम का वारम्वार स्मरण अपेक्षित है।

तरकेउ : बलपूर्ण होते ही विलम्ब न करके आगे बढ़ना 'तरकेउ' का भाव है।

बल : शब्दकल्पद्रुम के अनुसार हरिभक्तों का बल इस प्रकार निरूपित है—

'अबलस्य बलं राजा, हरौ भक्तिर्हरेर्दास्यं वैष्णवानां बलं हरिः'

संगति—'बल भारी' की स्थिति दर्शा रहे हैं।

चौपाई— जेहि गिरि चरन देइ हनुमन्ता । चलेउ सो गा पाताल तुरन्ता॥ ७॥

भावार्थ—जिस पर्वत पर हनुमान्‌जी चढ़े थे वह पर्वत बोझ से दबकर पाताल में चला गया।

शास्त्रीय व्याख्या

जेहि : 'जेहि' शब्द पूर्वपरामृष्ट पर्वत का बोधक है।

---

[१] नीतिसार-५।१०

[२] श्रीरामचरितमानस २।२०४।१, २।२१६।८

चरन देइ : चलने के पूर्व हनुमान्जी में जो नैसर्गिक बल प्राप्त था उससे पर्वत दबा नहीं। उस समय भी रघुपति हनुमान्जी के स्मृतिविषय थे। अभी तक वह स्मृति अपेक्षाकृत बल ही हनुमान्जी को दे रही थी इसलिए पर्वत का न दबना उपपन्न है।

चलेउ सो गा पाताल : अभी लंका की ओर चलने के समय संकल्पपूर्वक रघुपति का स्मरण हुआ तो हनुमान्जी में बलसमृद्धि आ जाने से पर्वत इतने झटके से धँसा कि उसका वेग अधोभाग की जमीन में छिद्र करता हुआ तलपर्यन्त धँस गया। एतावता हनुमान्जी में प्राप्त बलभारी की स्थिति 'चलेउ सो गा पाताल' से स्पष्ट है।

तुरन्ता : सम्भव है कि रावण की ओर से इस तीर पर पर्वत की कन्दराओं में धर्मविरोधी राक्षसवंश को बसाया गया होगा एवं पर्वतनाश के बहाने उनका भी नाश हुआ होगा। जैसे गेहदर्शनार्थ समाहूत राजा चन्द्रगुप्त के रक्षणार्थ आचार्य चाणक्यजी ने गेहदाह कराकर तदन्तर्वर्तिशत्रुसैन्य को नष्ट किया जो इतिहास से प्रसिद्ध है। यह हनुमान्जी का दूसरा पराक्रम है।

अथवा—हनुमान्जी ने कूदनेहेतु कुम्भक करके शरीर में वायु को पूरित कर अपने पैरों पर बल को इस प्रकार केन्द्रित किया कि उसके परिणाम में पर्वत ने भार न सहन कर नीचे की तरफ जाना 'तुरन्ता' का भाव है।

संगति—हनुमान्जी का तीसरा पराक्रम सुना रहे हैं।

चौपाई— जिमि अमोघ रघुपति कर बाना । ऐही भाँति चलेउ हनुमाना॥ ८॥

भावार्थ—जिस प्रकार श्रीराम का बाण विना रोक-टोक के चलता है वैसे ही हनुमान्जी वक्ष्यमाण प्रतिबन्धों को दूर करते हुए विना रुके चले।

शास्त्रीय व्याख्या

जिमि : हनुमान्जी की गति समझाने हेतु श्रीरामबाणगति को उपमान रूप में गाया है।

रघुपति कर बाना (उपमानोपमेय भाव) : श्रीराम के संकल्पानुसार तदधीन बाण का निर्बाध रूप में लक्ष्य तक पहुँचना उपमान है इसलिए कि वह प्रसिद्ध है। स्व को श्रीराम के चरणों में समर्पित करने वाले हनुमान्जी का लक्ष्य तक पहुँचना उपमेय है।

संगति—प्रतिबन्ध का निरूपण करने के साथ तर्कोपबृंहित प्रमाण के अवलम्ब में स्थित हनुमान्जीके पराक्रम को पूर्णतया न जानने वाले समुद्रजी को सौ यौजन तक विना विश्राम के हनुमान्जी का निर्बाध जाना संदिग्ध हो रहा है। तदर्थ अपेक्षित विश्रमानुरूपस्थली के हेतु समुद्रजी मैनाकजी से सहायक होने की प्रार्थना कर रहे हैं।

चौपाई— जलनिधि रघुपतिदूत बिचारी । तैं मैनाक होइ श्रमहारी॥ ९॥

भावार्थ—यह रघुपतिदूत विना विश्राम के जा रहे हैं ऐसा सोचकर हनुमान्जी के विश्रामार्थ जलनिधि मैनाकजी से श्रमपरिहार कराने की प्रार्थना कर रहे हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

जलनिधि : जलशरीरानवच्छिन्न तदभिमानी देवजातिविशेष दोहा ५।६०।३ उक्ति के कार्यान्वयिता समुद्रदेव 'जलनिधि' से समझने हैं। 'जलनिधि' कर्तृतया 'बिचारी' से

अन्वित है। आशय यह कि निरालम्ब आकाशमार्ग से चले हनुमान्‌जी की गति को मध्य में रोककर उन्हें आलम्ब देने की व्यवस्था सोचना ही जलनिधि का कर्तृत्व है।

आलम्ब के प्रति भक्तों की दृष्टि

लोकदृष्टि में हनुमान्‌जी निरालम्ब हैं किन्तु यह तर्कदृष्टि से ठीक नहीं है। वे तर्कोपबृंहित प्रमाण के आलम्ब में हैं वही उनके लिए पर्याप्त है। इससे नीतिसिद्धान्त चिन्त्य है कि लोकोपयोगी हितकार्यकर्ताओं के प्रति प्रभु स्वयं आलम्ब हो जाते हैं। उनसे पृथक् होकर प्रभु के अनुयायी भक्त अपने जीवन के आलम्ब के विषय में चिन्ता नहीं करते। वैसे भक्तों के प्रतिकार्य में आत्मगुणसम्पन्न अणिमादि शक्ति को अपनाकर प्रभु स्वयं ही उनके सहायक होते हैं उसी के बलपर सेवकों का भविष्यत् नियत रहता है। यह सिद्धान्त नीत्युपबृंहित तर्कसम्मत होने से हनुमान्‌जी निरालम्ब नहीं सालम्ब हैं।

ज्ञातव्य है कि यदि सेवक उक्त तर्क के प्रति शंका व विस्मृति करेंगे या देहाभिमान में आकर लौकिकप्रमाण को ही मूर्धन्य मानेंगे तब तो सेवक ने निरालम्ब होना ध्रुवसत्य है इसलिए कि लौकिक प्रमाणाश्रितों को प्रभु रक्षक के रूप में प्राप्त होंगे ही, कहा नहीं जा सकता। समुद्रजी ने की हुई हनुमद्विश्रामव्यवस्था को हनुमान्‌जी प्रारब्धकृत व्यवस्था मानेंगे तो हनुमान्‌जी को भ्रान्त कहना होगा। फलतः वे अपने को तर्कच्युत कराकर अभक्त श्रेणी में पहुँचेंगे। इस दोष से बचने हेतु अनन्य सेवकों ने तर्कोपबृंहित शब्दप्रमाण पर ही बराबर ध्यान देना भक्तदृष्टि है।

रघुपति दूत : समुद्रजी जिसे सहायता देना चाहते हैं वे रघुपतिदूत हैं। उनकी सेवा होने से रघुपति की सेवा होना 'रघुपति दूत' से व्यक्त है।

तैं मैनाक होहि : तच्छब्द से मैनाक ज्ञातव्य है उसको हनुमद्विश्रामार्थ समुद्रजी ने प्रवृत्त करना हनुमान्‌जी की भक्ति में विघ्न करना है। जैसे महर्षि भरद्वाजजी ने भरतजी की पहुनाई के लिए ऋद्धि-सिद्धियों को प्रेरणा देना।

ज्ञातव्य है कि उक्त विघ्नरूप तथ्य के ज्ञाता होने पर भी मैनाकजी ने दीनोपगतरक्षक समुद्रजी के सामने हनुमद्विश्रामव्यवस्थाहेतु कार्य करना अपने में प्रयोज्यवृद्धकर्तृत्व स्वीकार करना है।

श्रमहारी : समुद्रजी का यह कार्य प्रतिबन्धक रूप में विघ्न न होकर श्रीरामकार्यानुगुण्य के पूर्णतार्थ 'श्रमहारी' कहा गया है। अर्थात् हनुमान्‌जी को यदि श्रम हो तो उसका हरण वे पर्वत का सहारा लेकर कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

ध्यातव्य है कि समुद्रजी के यह 'श्रमहारी' वाक्य मीमांसामत में हेतुमन्निगदाधिकरणन्यायेन स्मर्तव्य है। इसकें अन्तर्गत विश्रामात्मक पूर्व भाग पूर्ण हुआ।

संगति—उक्तनिगदाधिकरणन्याय का उत्तर भाग हनुमत्क्रियामुखेन निरूपित हो रहा है।

दोहा— हनुमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
रामकाज कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥ १॥

भावार्थ—अश्रान्त हनुमान्‌जी ने पर्वत को स्पर्श कर प्रणाम कर चलते हुए कहा कि श्रीरामकार्य पूर्ण किये विना मुझे विश्राम नहीं है।

शास्त्रीय व्याख्या

हनुमान : हेतुमन्निगदाधिकरण न्याय के उत्तरभाग का ज्ञातृत्व समझाने के लिए कर्तृ रूप में हनुमान्‌जी का निर्देश है।

तेहि : 'तेहि' से मैनाकजी समझने हैं जिन्होंने समुद्रजी के कहने से हनुमान्‌जी को विश्राम के लिए कहा है।

परसा कर : हनुमान्‌जी स्पर्श से पर्वताभिनन्दन कर रहे हैं। उसमें करणकारकतया 'कर' (हाथ) अन्वित है। यह हनुमान्‌जी का प्रथम सामप्रयोगात्मक उत्तर है; क्योंकि मैनाकजी कल्याणबुद्धि हैं। तात्पर्य यह कि आलम्बनभूत पर्वत में रही पूर्व निर्दिष्ट श्रमहरोपधायकता को समझकर हनुमान्‌जी सोच रहे हैं कि यद्यपि प्रकृति ने मेरे लिए विश्राम की व्यवस्था की है तथापि मुझमें श्रम नहीं है। इसलिए आलम्बनभूत पर्वत में अभी श्रमहरोपधायकता बाधित होने से विश्राम अनुष्ठेय नहीं है। इस प्रकार संगति में सूचित हेतुमन्निगदाधिकरण का दूसरा भाग पूर्ण हुआ।

कीन्ह प्रनाम : अनुष्ठानतः कर्तव्यत्वेन अस्वीकृत विश्राम रूप अप्रामाण्य के बहाने कल्याणबुद्धि, परमसख्यैकनिष्ठ, महात्मा मैनाकजी का अभिनन्दन न होगा तो उनकी उपेक्षा होगी तदपमान से भक्तिविलोप प्रसक्त होगा एवं श्रीरामकार्य पूर्ण नहीं होगा। इस निमित्त के बहाने यदि विश्राम किया जाय तो यह विश्रान्ति, आलस्य या स्वाम्युपेक्षा—इन दोनों में से एक का अनुमापक होगा। इस सन्देह के उत्तर में 'कीन्ह प्रनाम' कहा है अर्थात् प्रणाम करने से मैनाकजी की उपेक्षा नहीं होगी एवं आलस्य या स्वाम्युपेक्षा की अनुमिति होने का अवसर भी प्राप्त नहीं होगा।

रामकाजु कीन्हे बिनु : श्रमहरोपधायकत्वार्थ समुद्रजी ने मैनाकजी से 'होउ श्रमहारी' कहा है। उसमें बाधिततत्व रूप अप्रमाणत्व 'रामकाजु कीन्हे बिनु' से समझा रहे हैं। चिन्तनीय है कि हनुमान्‌जी को बल, शरीराकृति एवं उत्साह प्राप्त हो चुका है। उसका उद्देश्य सीतादर्शन है तन्नान्तरीयकतया विश्राम प्रसक्त नहीं है; क्योंकि हनुमान्‌जी को श्रम नहीं है। ऐसी स्थिति में विश्राम करने पर प्रयोगप्राशुभाव का अनुसरण नहीं होगा।

कहाँ बिश्राम : 'कहाँ बिश्राम' से योगनिपुण हनुमान्‌जी ने मनोव्यापारनिरोध दर्शाया है। इस प्रकार विघ्नपरिहार के अन्तर्गत दूसरा चरित्र पूर्ण हुआ।

संगति—तीसरे चरित्र के अन्तर्गत बल-बुद्धि के परीक्षार्थ हनुमान्‌जी के सामने पूर्वपक्षोपस्थापन होना है उसका उपक्रम निरूपित हो रहा है।

चौपाई— जात पवनसुत देवन्ह देखा । जानै कहुँ बल बुद्धि बिसेषा ॥ १ ॥
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता । पठइन्हि आइ कही तेहि बाता ॥ २ ॥

भावार्थ—देवों ने हनुमान्‌जी को लंका दुर्ग की ओर जाते हुए देखा तो उन्होंने हनुमान्‌जी के बलविशेष व बुद्धिविशेष को परीक्षित कर वास्तविक स्थिति को समझने हेतु

सर्पमाता सुरसाजी को भेजा उसने हनुमान्जी के सामने पूर्वपक्षोपस्थापन किया जो देवों ने उससे कहा था।

शास्त्रीय व्याख्या

जात : विश्राम न करते हुए जाना 'जात' का अर्थ है।

देवन्ह : चित्रकूट से भरतजी के लौटने के बाद[1] देवों ने प्रभु से जो पार्थना की उसके कार्यान्वयन का प्रथम बिन्दु हनुमत्प्रस्थान है। उसमें देवों को कार्योपधायकता इसलिए जिज्ञासित है कि वनवासावधि के अन्तर्गत कतिपय मास ही अवशिष्ट हैं। उसी मध्य में लंकाविजय तक सभी कार्य पूर्णकर अवध में लौटकर राजपदाभिषिक्त हो अवधवासियों, ऋषियों व देवों के नयनों की प्यास बुझानी है।

अथवा—हनुमान्जी में रही श्रीरामभक्ति में वाद नहीं है पर वे निगमागमसम्मत बल से पूर्णतया पुष्ट होंगे तो शत्रु को परास्त करेंगे। इस तथ्य की परीक्षा करने की अपेक्षा होने से देवों ने परीक्षण का उपक्रम करना संगत है।

देखा : यद्यपि पवनसुत की यह यात्रा सत्यसन्ध श्रीरामवचनप्रमाणप्रमित होने से सफल होगी ऐसा सोचकर उसके प्रति देवों का असत्वापादक आवरण निवृत्त है तथापि दूत के बलबुद्धिविशेष के प्रति रहा अभानापादक व अनानन्दतापादक आवरण निवृत्त न होने से देवों ने हनुमान्जी के बुद्धि-बल का दिदृक्षु होना 'देखा' का निष्कर्ष है।

बल बुद्धि बिसेषा : 'बल' ५।१।६ में व्याख्यात है उसके अन्तर्गत बल उत्साह, अध्यवसाय, सत्व, चेष्टा, दाढर्य प्राप्त करने में सहायक है।

अथवा—कुंभक के सहारे आकाश में विचरने की शक्ति 'बल' है।

सूक्ष्मार्थग्राहिणी प्रतिभा के बोधनार्थ 'बुद्धि' का उल्लेख है। प्रतिभा से ही सुरसाजी को माता समझना 'बुद्धि बिसेषा' है। जैसा कि सीताजी के रूप में उपस्थिता सतीजी को श्रीराम ने माता के स्वरूप में देखना बालकाण्ड में वर्णित है।

आगमानुगृहीत रावणाधिष्ठित सैन्य की अपार शक्ति से भी अत्यधिक निगमागमसम्मत शक्ति होना बल विशेष है। निगमागमानुगृहीत श्रीराम के द्वारा निष्कपट, निस्स्वार्थ दूत को जो शक्ति प्राप्त है वह परोक्ष्य है। इसमें नीतिसिद्धान्त यह है कि उपधाशुद्ध होने पर भी सेवकों के गुण पुनः-पुनः परीक्षणीय होते हैं। जैसा कि 'चित्तानित्यत्वान्मनुष्याणां अश्वसधर्माणो हि मनुष्याः कर्मसु नियुक्ता विकुर्वते' आदि से अर्थशास्त्र में उक्त है।

सुरसा : जन्मतः आत्मालम्बनज्ञानसम्पन्न शिवस्वरूप हनुमान्जी श्रीराम के वास्तविक दास हैं तो, सुरसाजी के समक्ष बल-बुद्धि में अभिभूत नहीं होंगे अन्यथा वे निगृहीत होंगे ही—ऐसी तेजस्विनी का नाम 'सुरसा' है।

अहिन्ह कै माता : 'अहिन्ह' से सर्प जाति विवक्षित है। वे भक्ष्य को दूर से ही खींचकर अपने मुख में रख लेते हैं। हनुमान्जी वायु के सहारे अतिवेग में जा रहे हैं। उसके प्रतिरोध में भक्ष्य को खींचना अजगर का स्वभाव होने से देवों ने अहिमाता से प्रार्थना करना

---

[1] श्रीरामचरितमानस २।३२१।६-७

उपपन्न है। इस प्रार्थना से 'यो यद्वस्तु विजानाति तं तत्र विनियोजयेत्, अशेषविषय प्राप्ताविन्द्रियार्थेष्विवेन्द्रियम्' यह नीतिसारीय वचन समन्वित होगा।

पठइन्हि : ज्ञातव्य है कि सरस्वतीजी ने देवताओं के द्वारा प्राप्त संकेत से अपने में प्रयोज्यवृद्धता न मानकर वनवासहेतु श्रीरामराज्यारोहण में बाधा करने का औचित्य सोचकर कैकेयीजी में मतिभ्रम कराकर देवों का कार्य पूर्ण किया है। वैसी अर्हता सुरसाजी में न होने पर भी उन्होंने अपने में प्रयोज्यवृद्धत्व मानकर परीक्षणार्थ आना 'पठइन्हि' का भाव है।

आइ : हनुमान्‌जी की गति को कार्यतः प्रतिरुद्ध करने में अनौचित्य समझते हुए बातों से ही बुद्धिपरीक्षा करनी होगी सोचकर सुरसाजी ने हनुमान्‌जी के सामने आना मात्र 'आइ' का भाव है।

कही तेहि बाता : 'कही' शब्द अनुवाद का बोधक है। 'तेहि' से वक्ष्यमाण विषय परामर्शनीय हैं। 'बाता' से पूर्वपक्ष का आरम्भ स्पष्ट है।

संगति—शिवजी पूर्वपक्ष आरम्भ के साथ उसका अनुवाद सुना रहे हैं।

चौपाई— आज सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा । सुनत बचन कह पवनकुमारा ॥ ३ ॥

भावार्थ—देवों ने आहार भेजकर आज मेरी भूख को शान्त करना सोचा है। इतना सुनकर हनुमान्‌जी वक्ष्यमाण वचन बोले।

शास्त्रीय व्याख्या

आज : सूर्योदय से अभी तक का समय 'आज' से विवक्षित है।

सुरन्ह : देवन्ह न कहकर 'सुरन्ह' कहने से उपस्थित व्यक्ति (हनुमान्‌जी) के प्रति सुरसोक्ति में प्रीतिप्रयुक्त पदलालित्य स्फुट हो रहा है। उसका पर्यवसान 'अहारा' शीर्षक में व्यक्त है। 'सुरन्ह' को 'दीन्ह' से अन्वित करने पर सुरसाजी के प्रति हनुमान्‌जी के हृदय में शत्रुत्वाभाव जगा। यही हनुमान्‌जी का बुद्धिवैभव है।

मोहि दीन्ह : पूर्वपक्षोपस्थापयित्री सुरपक्षानुयायिनी मित्रभूता सुरसाजी मत्पदार्थ हैं। सुरकर्तृक आहारदान के उपस्थान से सुरसाजी में तेजस्विता होना 'दीन्ह' से ज्ञातव्य है।

अहारा : 'अहारा' शब्द गलविलाधस्संयोगानुकूलव्यापार का बोधक है। उसका कर्तृत्व हनुमान्‌जी में रहेगा तो वे सुरसामुख में स्वयं प्रवेश करेंगे। यदि यह कहा जाय कि आहारकर्तृत्व सुरसाजी में है तो वे हनुमान्‌जी को मुखप्रवेशार्थ बाध्य करेंगी जिससे शत्रुभाव प्रगट होगा। इन दो पक्षों में से उत्तर पक्ष हनुमान्‌जी को स्वीकार्य न होना उनका बुद्धिविशेष है। इस प्रकार आभासपूर्वक पूर्वपक्ष पूर्ण है।

सुनत बचन : 'सुनत बचन' से पूर्वपक्षोक्त आहारकर्तृत्व रूप द्वितीय कोटि व उसमें रहा आभासमात्र समझना है। फलतः 'सुनत' से श्रीरामदूत के अन्तर्नाद में उच्छलित तर्क ध्येय है। वह यह कि 'उपस्थितेयं सुरसा भक्ष्य-भक्षकभावेन नोपस्थिता भक्षकस्वभावानुरूपं मां बलात्कारेण गृहीतुं प्रवृत्तिमत्वाभावे सति वचनोच्चारणकर्तृत्वात्' अर्थात् 'यदीयं राक्षसी सम्भवेत् तर्हि मद्भक्षणार्थं भक्षकत्वात् न विलम्बेत'। किं बहुना यह पूर्वपक्षोपस्थापन से मुखप्रवेशकर्तृत्व की अर्हता मुझमें सोच रही है। तस्मात् मंत्रयुद्ध से मेरी बुद्धि को प्रतिहत कर विजिगीषु होने की चाल चल रही है।

'बचन' से उक्त उच्छलन में सहायता प्राप्त होना स्पष्ट है।

कह पवन कुमारा : 'कह' से उत्तरपक्षारम्भ ज्ञातव्य है। वेगपूर्वक आकाशमार्ग से जाते हुए हनुमान्‌जी ने भक्ति के अनुबन्ध में उत्तर देने की प्रसक्ति सोचकर अपने को वायु के आधार में स्थिर रखना 'पवन कुमारा' का आशय है। एवंच स्व में मुखप्रवेशकर्तृत्व स्वीकार कर सुरसाजी के प्रति अभिनन्दनात्मक उत्तर में हनुमान्‌जी का भक्तिमत्व प्रगट होगा जो उनका बुद्धिविशेष कहा जायेगा।

संगति—उक्त तर्क से निश्शंक हनुमान्‌जी मुखप्रवेशकर्तृत्व अपने में ही है ऐसा निश्चय कर तदनुगुण काल सुना रहे हैं। अन्यथा भक्तिच्युति आपाद्य होगी जो इष्ट नहीं है।

चौपाई— राम काजु करि फिरि मैं आवौं । सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं ॥ ४ ॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई । सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ॥ ५ ॥

भावार्थ—श्रीरामादेशपालन पूर्ण कर उनको सीताजी का अस्तित्व सुनाना प्रथम कर्तव्य है जो कर्तव्यता की दृष्टि से बलवान् एवं उपेक्ष्यतानर्ह है उसके अनन्तर आपके मुख में प्रवेश करूँगा। यही सुव्यवस्था है। सत्यव्रत के वचन यथार्थ होते हैं। हे मात: ! अभी आगे बढने की अनुमति दें।

शास्त्रीय व्याख्या

राम काजु : 'राम काजु' से हनुमान्‌जी का आशय यह है कि श्रीराम सत्यसंकल्प हैं उनके प्रति जो बाधक हैं वे सुरानुयायी नहीं हो सकते। आप देवपक्ष से प्रेषित हैं। (वस्तुत: श्रीराम कर्मादिकारकान्तरानपेक्षी हैं तथापि उन्होंने मुझपर सीताशोधकार्य सौंप कर अनुग्रह किया है।) आप उससे मुझे वंचित न करें।

हनुमान्‌जीका बुद्धिवैभव

ज्ञातव्य है कि श्रीरामकार्य पूर्ण करने में मुखप्रवेश नान्तरीयक न होने से तत्काल के लिए उसे हनुमान्‌जी ने नहीं स्वीकारा। फलत: उनका प्रयोगप्राशुभाव अबाधित रहेगा। अभी मुखप्रवेश अपेक्षित है तो तदर्थ श्रीरामकार्यपूर्ति के प्रति मुखप्रवेश को नान्तरीयक बनाने की योजना में सुरसाजी प्रतिभू होंगी। इस विचार का अवसर हनुमान्‌जी ने सुरसाजी को देना उनका बुद्धिवैभव है।

बुद्धिविशेष की परीक्षणीयता

यदि सुरसाजी हनुमदाशय को समझकर भी श्रीरामकार्य के प्रति मुखप्रवेश को नान्तरीयक नहीं बनाती हैं तो उनके कहे 'आज सुरन्ह' के अनुसार हनुमान्‌जी को एक दिन में ही सीताशोध पूर्णकर, सीताजी का अस्तित्व श्रीरामजी को बताकर लौटना होगा परिणाम में लंकादाहादि कार्य न होने से सुरसाजी रावणानुयायिनी कहलायेंगी। फलत: उनमें सुरपक्ष मे च्युति आपाद्य होगी। उस दोष से आत्मत्राण करना व 'आज' उक्ति के समन्वयार्थ मुखप्रवेश में श्रीरामकार्यपूर्ति के प्रति नान्तरीयकता सोचने के लिए सुरसाजी को बाध्य करना हनुमान्‌जी की बुद्धिविशेषता है जो सुरसाजी से परीक्षित है।

फिरि आवौं : मुखप्रवेश नान्तरीयक न होने की स्थिति में एक प्रयोजकवृद्ध (श्रीराम) के विपरीत दूसरे प्रयोजकवृद्ध (सुरसाजी) आदेश सुनाते हैं तो उन दोनों आदेशों में बलाबलविचार कर प्रयोज्यवृद्ध ने आदेश का पौर्वापर्य निर्णीत करना होता है। प्रकृत में

सर्वज्ञ श्रीराम सत्यसन्ध होने से तदादिष्ट कार्य में प्राथमिकता व अनुष्ठेयता सिद्ध होने से उसमें विलम्ब होना आदेशपालन का विरोध है अतः 'फिरि आवौं' उच्चरित है।

सीता कै : लंका से लौटते हुए हनुमान्जी यदि सुरसामुख में प्रवेश करते हैं तो श्रीराम को सीतावृत्तान्त न सुनाने से उनमें श्रीरामभक्ति का विलोप प्रसक्त होगा। वह विलोप हनुमान्जी को सह्य नहीं है अतः 'सीता कै' कहा है। अर्थात् सीताजी की लंका में वासस्थिति श्रीराम को सुनाना ही 'सीता कै सुधि' का निष्कर्ष है।

प्रभुहि सुनावौं : यद्यपि प्रभु से सीताशोध सुनाना आदिष्ट नहीं है तथापि दूतकार्य की पूर्ति उसी पर है समझाने हेतु 'प्रभुहि सुनावौं' कहा है।

तब तव बदन : सुरसावचनादेशपालन करने का अवसर पाना 'तब' का भाव है। श्रीरामकार्यपूर्ति के प्रति वर्तमान समय में मुखप्रवेश को नान्तरीयक न बनाने वाली, पूर्वपक्षोपस्थापिका भक्ष्य-भक्षकभावरहिता, सुरपक्षग्राहिणी सुरसाजी 'तव' से बोध्या हैं। 'बदन' की एकवाक्यता 'मोहि दीन्ह अहारा' से स्मर्तव्य है।

पैठिहउँ आई : सुरसाजी के गलविलाधस्संयोगानुकूल व्यापार का कर्तृत्व हनुमान्जी ने अपने में स्वीकारा होने से 'पैठिहउँ' कहा है। यदि हनुमान्जी सुरसामुख में प्रवेश करने का कर्तृत्व नहीं स्वीकारते तो सुरसावचन अप्रमाणित होता व हनुमान्जी का 'आई' कहना औपचारिकमात्र होता जो त्रेतायुगानुकूल नहीं होता।

कहउँ : स्वामिकार्य पूर्ण होने पर सुरसाजी के मुख में प्रवेश करने की प्रतिज्ञा करना 'सत्य' से व्यक्त है जो अनुष्ठानतः प्रमाणपरक है। एवंच हनुमान्जी ने स्वभक्ति की प्रतिष्ठार्थ अभ्यर्हित सत्यता की प्रतिज्ञा करना यहाँ मननीय तथ्य है। इसकी एकवाक्यता में शिवचरित्र चिन्त्य है जिसमें सतीजी के त्याग से शिवजी ने असत्यसंग से दूर हो भक्तिरहस्य को प्रगट किया है। जो सब भक्तों के लिए अनुकरणीय है।

मोहि जान दे : 'सत्य कहौं' बुद्धिविशेष के प्रदर्शक हनुमान्जी 'मोहि' शब्दार्थ हैं। 'जान दे' प्रार्थनाबोधक है अर्थात् सुरसाजी यदि प्रार्थना स्वीकार करती हैं तो वे सत्यसन्ध के कार्य में अंगभूता हो भक्तिमती मातृश्रेणी में सबके लिए गेय होंगी।

इस प्रकार उत्तरपक्ष पूर्ण है।

संगति—सीताशोधार्थ आगे बढ़ने में विलम्ब करना इष्ट है तो मुखप्रवेशात्मक नान्तरीयक कर्म की योजनार्थ हनुमान्जी ने सुरसाजी को तत्कर्तृत्व की ओर प्रेरित करना सुना रहे हैं।

चौपाई— कवनेहुँ जतन देइ नहिं जाना । ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना ॥ ६ ॥

भावार्थ—मंत्रयुद्ध में पराजित होकर भी माता सुरसाजी के द्वारा स्वयं (हनुमान्जी) को रोकने हेतु नान्तरीयकतया प्रवेशात्मक कर्म की योजना देखकर हनुमान्जी ने कहा कि यदि आप बलवती हैं तो मुझे क्यों नहीं ग्रसतीं हैं?

शास्त्रीय व्याख्या

कवनेहुँ जतन : बुद्धिविशेष की परीक्षोत्तीर्णता हेतु अपनाए सामदानोपाय 'जतन' से बोध्य हैं। उनसे गति का अवरोध करना 'कवनेहुँ' से व्यक्त है। फलतः हनुमान्जी स्वगत मुखप्रवेशकर्तृताहेतु प्रस्ताव रखेंगे। उस पर सुरसाजी की अप्रीति 'ग्रससि न मोहि' प्रश्न से व्यक्त होगी।

देइ नहिं जाना : 'देइ नहिं' से हनुमान्जी का कहना यह है कि 'त्वं मे आहारयोग्यः देवैः प्रेर्यत्वे सति बुभुक्षासमये एवोपस्थितत्त्वात्' इस प्रकार की अनुमानप्रणाली के अनुसार हे सुरसे मातः! आप स्वयं को अप्रमाण मानने को तैयार नहीं हैं; क्योंकि आप अपने को बलवती मानती हैं। अतः आप मुझे अपना ग्रास बना लीजिये। उससे बचने हुत सीतासुधिकार्य के प्रति जो विलम्ब होगा वह नान्तरीयक होगा फलतः प्रयोगप्राशुभाव की स्थिरता में सामंजस्य बना रहेगा।

ग्रससि न : 'देइ नहिं जाना' से सूचित अनुमान में उक्त आहारयोग्यत्व साध्य का बाध आप क्यों प्रसक्त कर रही हैं। यह रहस्य 'ग्रससि न' प्रश्न से हनुमान्जी ध्वनित कर रहे हैं।

अथवा—ग्रासाप्रसिद्धिरूप साध्याप्रसिद्धि प्रगट कर साध्यप्रसिद्धि का भार सुरसाजी पर सौंपना प्रश्न का आशय है।

अथवा—'ग्रससि न' कहते ही भक्ति महारानी ने हनुमान्जी के शरीर व तत्परिमाण की दीर्घता को संचरित कराकर हनुमान्जी को बलबुद्धिविशेष में परिक्षोत्तीर्ण करने का क्रम आरम्भ किया है जो अग्रिम चौपाइयों में क्रमशः प्रगट होगा।

संगति—बुद्धिपरिक्षोत्तीर्ण हनुमान्जी के शरीरपरिमाण को देखकर सुरसाजी ने तदनुपात से अपने मुख का विस्तार करना ग्रन्थकार सुना रहे हैं।

चौपाई— *जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा । कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा ॥ ७ ॥*

भावार्थ—सुरसा माता ने हनुमान्जी की शरीरदीर्घता देखकर उसके अनुपात में अपना मुख फैलाया तो हनुमान्जी ने दुगुनी मात्रा में शरीर को बढ़ाया।

शास्त्रीय व्याख्या

जोजन भरि : 'जोजन' क्रोशचतुष्टय का वाचक है इसकी सार्थकता यह कि एक ही बार में सुरसाजी ने हनुमान्जी को मुख के भीतर समाविष्ट करना चाहा है। इसलिए कि संवाद के समय हनुमच्छरीर सुरसाजी के समक्ष ह्रस्व परिमाण में था उसी को देखकर सुरसाजी ने माया से अपने मुख का परिमाण एक योजन तक करना 'जोजन भरि' है।

दुगुन बिस्तारा : योजनविस्तृत मुख को हनुमच्छरीर के बड़े आकार ने बाधित किया जो 'दुगुन बिस्तारा' का भाव है।

संगति—परिमाण की वृद्धि को देखकर पराजयाभाव हेतु से माता व पुत्र ने की बलातिशयपूर्वक मुखपरिमाणवृद्धि सुना रहे हैं।

चौपाई— *सोरह जोजन मुख तेहिं ठयऊ । तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ ॥ ८ ॥*
जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा । तासु दून कपि रूप देखावा ॥ ९ ॥
सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा । अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा ॥ १० ॥

भावार्थ—सुरसाजी ने १६ योजन तक मुख का विस्तार किया तब वायुपुत्र ने ३२ योजन का शरीर बनाया। इस प्रकार दोनों पक्षोंद्वारा शरीरपरिमाण में वृद्धि होती रही। तब सुरसाजी के सौ योजन मुखविस्तृति को देखकर हनुमान्जी अति लघुरूप हो गए।

शास्त्रीय व्याख्या

सोरह जोजन : षोडशस्वरमातृकारूप में कुण्डलिनी का ध्यान करते ही मुखाकृति ने १६ योजन का होना 'सोरह जोजन' से ज्ञातव्य है।

तुरत : सुरसाजी व हनुमान्‌जी एक दूसरे पर प्रहारेच्छु नहीं हैं माया व कलामात्र के दिदृक्षु हैं। उसमें कालविलम्ब सह्य न होना 'तुरत' का भाव है।

बत्तिस : सुरसाजी को पृष्ठरूप में देवबल व हनुमान्‌जी को श्रीरामभक्ति का बल प्राप्त है। भक्ति ने देवमाया के प्रयोग को देखकर हनुमच्छरीर को बत्तीस योजन का बना दिया।

जस जस : जिस पक्ष में ईश्वरप्रसादवैपुल्य रहेगा उसका विजय होना है। अभी उसका दोनों पक्षों पर समान रूप में दृष्टिगोचर होना 'जस-जस' का भाव है।

दिखावा : दोनों पक्षों में शत्रुभाव उदित न होने से सुरसाजी व हनुमान्‌जी की यह क्रीड़ा कौतुकमात्र है इसे समझाने हेतु 'दिखावा' कहा है।

सत जोजन : अन्त में सुरसाजी ने अपना मायातिशय दिखाकर हनुमान्‌जी के वृद्धि की प्रतिक्षा किये विना सौ योजन का स्वरूप धारण कर लिया जिससे हनुमान्‌जी ने तत्काल समझ लिया कि सुरसाजी ने उनकी ग्रासप्रसक्ति स्वीकार की और 'ग्रससि न' का उत्तर दिया। अर्थात् तुम्हारा ग्रासकर्तृत्व अब असम्भव नहीं है।

शतयोजन पर विचार

द्विगुण योजन की परम्परा में शरीर धारण करने के अनन्तर हनुमान्‌जी की दृष्टि में समुद्र की दूरी उसी परिमाण में कैसे दृष्टिगोचर हुई? इसके समाधान में कहना यह है कि जैसे आँखों पर उपनेत्र आनेपर अक्षरों की विशालता के साथ कागज की विशालता भी दिखती है वैसे ही समुद्र का विस्तार भी ज्ञातव्य है।

संगति—ह्रस्व परिमाण का प्रयोजन गाते हुए हनुमान्‌जी ने सुरसाजी के प्रति किया हुआ आदर शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— बदन पइठि पुनि बाहेर आवा । मागा बिदा ताहि सिरु नावा ॥ ११ ॥

भावार्थ—हनुमान्‌जी ने नान्तरीयकतया प्राप्त मुखप्रवेशकर्म पूर्ण करते हुए लघुरूप में ही बाहर निकलकर मस्तक नवाते हुए विदा की याचना की।

शास्त्रीय व्याख्या

बदन पइठि पुनि : हनुमान्‌जी ने अपनी ह्रस्वपरिमाणता दिखाते हुए सुरसामुख में प्रवेश करना 'बदन पइठि' है। भीतर से बाहर आने में देर न होना 'पुनि' का भाव है।

मागा बिदा : मार्ग में विघ्नाभावस्थिति बने रहने हेतु पूतात्मा से आशिष् की उपादेयता नीतिशास्त्र में गाई गई है। उसके अनुगमन में मस्तक झुकाकर सुरसाजी से अनुमति लेना 'मागा बिदा' से व्यक्त है।

अथवा—सुरसाजी के द्वारा परीक्षित हनुमान्‌जी में बुद्धि-बल के अभिमान की प्रसक्ति होने पर भक्ति महारानी की असन्तुष्टि हो सकती है। अतः हनुमान्‌जी ने विदा माँगी है।

सिरु नावा : 'सिरु नावा' से विनय सूचित है जो आशिष्प्राप्ति की सहजता के बोधनार्थ है। इस प्रकार 'अश्वसधर्माणो हि मनुष्याः कर्मसु नियुक्ता विकुर्वते' सिद्धान्त उत्तरित हुआ।

संगति—महान् आगमसेवी रावण के प्रतिष्ठान में जाना है जहाँ बुद्धि-बल की तीव्रता अपेक्षित है उसमें तभी सफलता प्राप्त होगी जब आगम-निगमसम्मत विनयसम्पन्न

भक्ति को अपनाया जाय। उसकी पूर्णतारूप इस आशिष् के पूर्व सुरसाजी अपने आने का हेतु हनुमान्जी को सुना रही हैं।

चौपाई— मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा । बुधि बल मरमु तोर मैं पावा ॥ १२ ॥

भावार्थ—निगमागमानुवर्धित विनयमिश्रित भक्त्यनुगृहीत बुद्धि-बलरहस्य को समझने हेतु देवों ने मुझे भेजा था वह मैंने आपमें पाया।

शास्त्रीय व्याख्या

मोहि : निगमागमसम्मत बुद्धि-बलविशेष के भारीपन की विशेषज्ञा देवप्रेषिता सुरसाजी मत्पदार्थ हैं।

सुरन्ह : आगमसेवी (विनयाशील) शत्रुपक्ष (रावण) के सामने खड़े होने पर बुद्धि-बलउभयाभाव के अनुभवी देवों ने आपकी बुद्धि-बलोभयसंयुक्त विनयसम्पन्न भक्ति की परीक्षा के लिए मुझे विवश करना 'सुरन्ह' से सूचित है।

नीति सिद्धान्त

प्रभुद्वारा परीक्षित होने पर भी शिवजी ने हनुमत्सुरसा-संवाद सुनाकर निम्न नीत्युक्त सिद्धान्त दर्शाया जो गुण-परीक्षण सम्बन्धी है। जो '......प्रागल्भ्यं प्रतिभां तथा। कथायोगेषु बुध्येत वाग्मित्वं सत्यवादिताम्। धृतिं चैवानुरागं च स्थैर्यं चापदि लक्षयेत्'[१] से स्पष्ट है।

बल मरमु : यद्यपि बुद्धि से बल अलग व्याख्यात है तथापि सम्भव है कि दूसरे विकल्प में बुद्धि ही यहाँ बलरूप में विवक्षित हो जो देवों को भी अज्ञात थी।

'मरमु' से समय-समय पर तत्काल नवीन-नवीन प्रयोग की सूझ होना चिन्त्य है।

मैं पावा : 'मैं', 'मोहि' शीर्षक में व्याख्यात है। निस्संदिग्धता व अप्रामाण्य-ज्ञानानास्कंदितत्वपूर्वक बल-बुद्धि के गूढ़ तथ्य का हृदयङ्गम होना 'पावा' से समझना है।

संगति—हनुमान्जी का आशिष् पाना तथा अनन्तर जाना कवि सुना रहे हैं।

दोहा— राम काजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान॥ २॥

भावार्थ—हनुमान्जी को श्रीराम के अशेष कार्य पूर्ण करने का आशीर्वाद देकर भक्तिरूपा सुरसाजी लौट गयीं एवं हनुमान्जी हर्षित हो आगे (लंका की ओर) बढ़े।

शास्त्रीय व्याख्या

रामकाजु : हनुमान्जीद्वारा संपादयिष्यमाण कार्य श्रीराम कार्यत्वेन गृहीत हैं।

सब : दूतसम्बन्धी एक भी कार्य का अवशिष्ट न होना 'सब' से व्यक्त है।

ज्ञातव्य है कि वनवासारम्भ में गंगावचन से वनवास की सफलता जैसे प्रमित हुई वैसे ही हनुमत्प्रस्थानारम्भ में भी भक्ति महारानी ने श्रीरामकार्य का विस्तार करने की अनुमति उन्हें देना 'सब' से चिन्त्य है।

करिहहु : सगुण ब्रह्मसम्बन्धित भक्ति ने भक्तों को स्वकार्य के प्रति अवसर देना 'करिहहु' से ज्ञापित है। आशय यह कि श्रीरामकार्यपूर्तिहेतु प्रकृति की अभ्यनुज्ञा 'करिहहु' से अनुमेय है।

---

[१] नीतिसार-४। ३४-३५

बल बुद्धि निधान : सन्तुष्टा सुरसाजी ने बुद्धि-बलपरीक्षोत्तीर्ण हनुमान्‌जी में वाग्मिता, प्रागल्भ्य, धैर्य, स्थैर्य, स्वाम्यनुरक्ति, कर्तव्यतत्परता, तर्कबृंहित अवधानता, विनय आदि का होना 'निधान' से ध्वनित है। इसके साथ-साथ सत्व, बुद्धि, उत्साह—ये तीनों गुण विशेष रूप से 'निधान' से ज्ञातव्य हैं। अन्यथा बुद्धि के बिना हिताहितसाधनता का परिचय, उत्साह के बिना योगक्षेम, सत्व के बिना फलाध्यवसान प्राप्त नहीं हो सकते।

आसिष : 'आसिष' से श्रुतिसम्मति एवं आगमसम्मति की पुष्टि होना स्मर्तव्य है।

अथवा—'माँगा बिदा' के उत्तर में आगमनिगमानुमत विनयदर्शिनी भक्ति ने सुरसाजी के माध्यम से आशिष् देना 'आशिष' से ज्ञातव्य है।

सो हरषि चलेउ हनुमान : निगम-आगमसम्मति प्राप्त कराने वाली सुरसाजी 'सो' से बोध्या हैं। 'सो', 'हरषि' 'चलेउ' से भी अन्वित है। जो हनुमान्‌जी से भी सम्बद्ध है।

कश्यपमुनिपत्नी तपस्विनी सुरसाजी के वचन भीष्मजी की तरह सत्य हैं। उनको उपेक्षित कर हनुमान्‌जी आगे नहीं बढ सकते थे। यतः भक्तिशास्त्रानुसार भक्त के वचन सर्वत उपरि बलवान् माने गये हैं। अतः हनुमान्‌जी ने युक्ति से मुखप्रविष्ट हो गलविलाधस्संयोग प्राप्त कराकर सुरसाजी को प्रसन्न किया। वैसे हनुमान्‌जी यहाँ 'हनुमान' से बोध्य हैं।

संगति—हनुमान्‌जी को सुरसासम्मति प्राप्त होने का फल छायाग्राहचरित्र से आरम्भ होगा। उसी का उपक्रम अगली चौपाइयों में कवि कर रहे हैं।

चौपाई— ***निसिचरि एक सिन्धु महुँ रहई । करि माया नभ के खग गहई॥ १॥***
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं । जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं॥ २॥
गहइ छाहँ सक सो न उड़ाई । एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥ ३॥

भावार्थ—एक राक्षसी समुद्र में रहती थी। वह आकाश में उड़ने वाले जीवों की छाया को जल में देखकर आकर्षणीय विद्या से उन्हें पकड़कर खा जाती थी।

शास्त्रीय व्याख्या

निसिचरि एक : राक्षसी लवणसागरवासिनी थी। उसे रावण ने किसी बाहरी व्यक्ति को आकाशमार्ग से लंका में आने से रोकने हेतु शासित किया था।

करि माया : राक्षसी के भोजन की व्यवस्था माया रूप आकर्षणीय विद्या के द्वारा विहित है जो आकाशचरों को पकड़ने में सहायक है। यह यथावन्निगमागमानुयाइयों से इतरों के लिए सहजसाध्य है। उसके प्रतिशोध में सुरसाजी से प्राप्त आशिष् हनुमान्‌जी के लिए सार्थक सिद्ध हुआ।

नभ के खग : 'नभ के खग' से आकाश में उड़नेवाले खचरमात्र स्मर्तव्य हैं।

जे गगन उड़ाहीं : ज्ञातव्य है कि यद्यपि छाया के माध्यम से उड़ते हुए जीवों को पकड़ना राक्षसी के लिए जीवनोपाय होने से वह दण्ड्या नहीं है तथापि लोकहित में रत श्रीरामसंकल्प में बाधक होने से तत्काल में वह हनुमान्‌जी से वध्या हो गई तो इसमें विस्मय नहीं है।

परिछाहीं : जीवों को खाने का माध्यम छाया को पकड़ना है उसके द्वारा जीवाकर्षण होना मायाप्रयोग है।

सो : छायाकृष्ट जीव 'सो' से बोध्य हैं।

एहि बिधि : उपरोक्त विधि से राक्षसी अपनी जीविका चलाती थी। अर्थात् मायाधिपति (ईश्वर) द्वारा प्रदत्त जीविका से ही वृत्ति चलाना 'एहि बिधि' है। यह भी एक प्रकार से तपस् है। उसका महान् फल श्रीरामभक्त हनुमान्जी से भेंट है।

सदा : 'सदा' से जीविकान्तरव्यावृत्ति ज्ञेय है।

खाई : राक्षसी के समान अनेकों भक्षक प्रत्यन्त देश के वासी होने से उनसे वध्य न होने हेतु वर्णाश्रमी मानवसमाज को समुद्रपार जाने से धर्मशास्त्र ने रोकना चिन्तनीय है।

संगति—हनुमान्जी के द्वारा राक्षसीवध होने के साथ उनका समुद्र पार जाना कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा । तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा॥ ४॥
ताहि मारि मारुतसुत बीरा । बारिधि पार गयउ मतिधीरा॥ ५॥

भावार्थ—पूर्वाभ्यस्त राक्षसी ने छलप्रयोग से ज्यों ही हनुमान्जी को अपनी ओर खींचा त्यों ही वायुनन्दनजी ने उसकी माया को समझ लिया। फिर उन्होंने राक्षसी को मारकर सागर पार किया।

शास्त्रीय व्याख्या

सोइ छल : छिपकर छायाकर्षण करना छल है। राक्षसों के प्रदेश में वह स्तुत्य व अनिग्राह्य है। ईश्वर ने जो संस्कार प्राणियों के पास उद्बुद्ध कर रखे हैं उसी पर जीव रुचि बनाये रखता है अन्यत्र वह सोया रहता है वही स्वभाव 'सोइ छल' से प्रगट है।

हनूमान कहँ कीन्हा : हनुमान्जी पर राक्षसीमाया का प्रयोग होना 'हनूमान कहँ कीन्हा' से ज्ञेय है।

तासु कपटु : हनुमदाकर्षण करने वाली राक्षसी तच्छब्दार्थ है। 'कपटु' से पूर्वोदित छल संकेतित है।

तुरतहिं चीन्हा : अपने आकर्षण को समझने में हनुमान्जी को विलम्ब न होना 'तुरतहिं' का भाव है।

हनुमान्जी के लिए 'चीन्हा' होना सुरसाशिष् से प्राप्त है। फलत: राक्षसी हनुमान्जी के सामने हतप्रभा हो गई।

मारि : प्रकारान्तर से निर्जीव राक्षसी को मारने में हनुमान्जी को विलम्ब न होना 'मारि' है।

बीरा : बल-बुद्धिविशेषनिधान होने से स्थायी उत्साह बने रहना 'बीरा' का भाव है। उसी प्रभाव में रहे श्रीरामसेवासंपृक्त हनुमान्जी ने सुरसाद्वारा प्रदत्त आशिष् के प्रभाव से राक्षसी की माया में न फँसना व सूक्ष्मतत्व के बारे में प्रकाश पाना 'बीरा' से स्पष्ट है।

बारिधि पार गयउ : विघ्नों को निरस्त कर दक्षिण ध्रुव में स्थित लंकादेश की प्राप्ति होना 'बारिधि पार' है।

लंकास्थ उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापार की समाप्ति 'गयउ' से बोध्य है।

मतिधीरा : किष्किन्धा में राजा सुग्रीवजी ने कहे 'मतिधीरा'[1] की स्मृति यहाँ 'मतिधीरा' से व्यक्त है।

'मति' से अपूर्व प्रतिभान, भयास्खलन व भ्रम की शून्यता दर्शाई है। जैसा कि

अपूर्वप्रभिानं स्यात्स्मृतिस्तांस्तु विभावयेत्।
अन्वयव्यतिरेकोत्यैः प्रत्ययैश्शास्त्रचिन्तनैः॥
ऊहापोहैश्च विविधैरथ तामनुभावयेत्।
संदंश - चतुराद्यैश्च करैरुत्क्षेपणैर्भ्रुवोः॥
नानाशास्त्रार्थनिष्पन्नैः शिष्याणामुपदेशनैः।
तर्काख्यौ प्रत्ययावूहापोहौ विधिनिषेधयोः॥

(संगीत रत्नाकर) से निर्णीत है।

'धीरा' से धृतिमान् हनुमान्जी बोध्य हैं। धृति रहते जो भी अनुष्ठेय होता है वह औचित्य की परिधि में ही रहता है। जैसा कि भावप्रकाशन में व्यक्त है—

शौर्याद्विज्ञानतः शौचाचाराच्च गुरुभक्तितः।
श्रुतप्रभावतो व्रीडान्मनोर्थाप्तेर्भवेत् धृतिः॥[2]

धृति भाव में प्रियाप्रियाविकारिता होना निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

प्रियाप्रियाविकारित्वं तदात्वोचितकारिता।
अप्राप्तातीतनष्टानामलाभेऽनभिशोचनम् ॥[3]

इन अनुभावों से धृति व मति जिसमें स्थिर रहती है वही वीर कहा जाता है। अभी शिवजी हनुमान्जी की मतिधृति का आस्वाद लेते हुए 'मतिधीरा' से उनकी प्रशंसा कर रहे हैं।

अथवा—'मतिधीरा' से '**यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वेर्गुणैस्तत्र समासते सुराः**' इस वचन के अनुसार हनुमान्जी में शिवसान्निध्य होना भी निर्णीत है।

संगति—कार्य पूर्ण होने के अनन्तर थोड़े समय के लिए श्रमकर्ता विश्राम लेते हैं। वैसा न करते हुए दाक्ष्यगुणसम्पन्न हनुमान्जी मतिधीर होने से लंकाप्रवेशोपाय देखने लगे जो उनकी दक्षता का परिचायक है। उसी के मध्य में उन्होंने वहाँ की वनशोभा देखी जिसे शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— तहाँ जाइ देखी बन सोभा । गुंजत चंचरीक मधु लोभा॥ ६॥
नाना तरु फल फूल सुहाए । खग मृग बृन्द देखि मन भाए॥ ७॥

भावार्थ—समुद्र पार करने के बाद सर्वप्रथम जनपदनिवेशानुसार वनशोभा दृष्टिगत हुई जहाँ फूलों के गंध से लुब्ध भ्रमर गूँज़ रहे थे। पेड़ फल-फूलों से लदे थे। खग-मृग कूद रहे थे।

शास्त्रीय व्याख्या

तहाँ जाइ देखी : गमनव्यापारजन्यफल (दक्षिणध्रुव-हनुमत्संयोग) का आश्रय तच्छब्दार्थ है।

---

[1] ४।२३।१
[2] भावप्रकाशन १।२०।१
[3] भावप्रकाशन १।२०।२-३

'देखी' का अन्वय 'सोभा' से है। यह देखना 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' के जैसा है। अर्थात् लंकाप्रवेशार्थ स्थानविशेष प्राप्तव्य है उसे देखने के पूर्व जो देखा वही तृर्णस्पर्शसम 'देखी' है।

बन सोभा : रावण के शासन में वहाँ रहे वृक्षों से फूलों को हवा पृथक् नहीं करती थी। अतः वनशोभा स्थिर है जो विषयभोगियों के लिए इन्द्रियाकर्षक है।

संगति—शोभावर्णन के अनन्तर लंकाप्रवेशयोग्य देश का शोध करना कवि बता रहे हैं।

चौपाई— *सैल बिसाल देखि एक आगें । ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागें॥ ८ ॥*

भावार्थ—लंकाप्रवेशार्ह शैल देखकर हनुमान्‌जी उसपर विना अहितशंका के कूदकर चढ़ गए।

शास्त्रीय व्याख्या

सैल बिसाल : 'सैल बिसाल' से त्रिकूट संकेतित है। यह स्वयं दुर्ग है जो लंकापुरी को अगम्य बना रहा है।

देखि एक : दिदृक्षा के अनुसार मारुतनन्दन लंका की ओर आँखें घुमा रहे थे तो सामने त्रिकूट पर्वत का एक शिखर दिखा जो 'देखि एक' से समझना है। एकत्वपर्याप्ति के बोधनार्थ 'एक' कहा है।

चिन्त्य है कि हनुमान्‌जी ने सोचा होगा कि यह पर्वत लंका के लिए दुर्ग का काम कर रहा है। इस पर चढ़ा जाए तो दुर्गस्थ लंका दृश्य होगी। यही हनुमान्‌जी की प्रतिभा-यथार्थ है जो तर्कसंपृक्त मति का उदाहरण है।

ता : स्वाभिमुखवर्ती लंकादेश को घेरने वाला पर्वत 'ता' से बोध्य है।

धाइ चढ़ेउ : अब्धितीरवर्तिदेशकर्मक गति की तीव्रता 'धाइ' है। इससे हनुमान्‌जी में शीघ्रता ज्ञात होती है। जो अविश्रान्तिसहचरित कर्मान्तर का सूचक है।

राजमार्ग से न जाकर विषम मार्ग का अवलम्बन करना 'चढ़ेउ' से समझना है।

भय त्यागें : परराष्ट्र में अमार्ग से चढ़ना मृत्यु को निमन्त्रण देना है उसकी सम्भावना भय है, उस भय के त्याग को 'त्यागे' से कहा है। प्रश्न है कि मतिधीर हनुमान्‌जी को भय है ही नहीं तो भय का त्याग कैसा? उत्तर में कहना होगा कि भय के सभी आलम्बन उपस्थित थे तो दृष्टविधया भय निर्णीत था वह न होना 'त्यागे' है।

संगति—'भय त्यागे' की उपपत्ति शिवजी कह रहे हैं जिसके पीछे अदृष्ट न होकर औपनिषद् पुरुष से प्राप्त निगमागमसम्मत कृपा का होना ज्ञातव्य है।

चौपाई— *उमा न कछु कपि कै अधिकाई । प्रभु प्रताप जो कालहि खाई॥ ९ ॥*

भावार्थ—हे उमे! आलम्बनों के रहते भय त्यागना कपि की शक्ति के बाहर है। एकमात्र प्रभुकृपा से ही हनुमान्‌जी भय त्यागने में समर्थ हो सके हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

उमा : भयत्याग की यथार्थता सबकी समझ के बाहर है। अतः 'उमा' सम्बोधन है। अर्थात् हे उमे! तुम औपनिषद् पुरुषशक्तिकृपासाधक शास्त्रशरणागति महिमा को जानती हो।

इसलिए हनुमच्चरित्र से दर्शित अन्वयव्यभिचार के प्रति विस्मय न करने का संकेत 'उमा' सम्बोधन का तात्पर्य है।

न कछु कपि कै अधिकाई : हनुमच्चरित्र को सुनकर उस दृष्टि से स्वतन्त्र कार्य-कारणभाव कल्पित न होना 'न कछु कपि कै अधिकाई' से स्पष्ट है, अन्यथा अन्य व्यक्तियों ने किए अनेकों अन्वयव्यभिचार देखकर कोई कार्य-कारण भाव निर्णीत न होने से असर्वज्ञ के लिए कोई कार्य आरम्भ करना अशक्य होगा।

प्रभु प्रताप : 'प्रभु प्रताप' से शिवजी ने भय और उसके आलम्बनादि कार्य-कारणभाव समझकर असर्वज्ञों को शिक्षा दी है। जैसे 'ईश्वरीय कार्यं प्रति प्रीतिमत्तया ईश्वर (शास्त्र)-शरणागतेन कृतः संकल्पो न फलशून्यः ईशसंकल्पसमानाकारकत्वात्' इस अनुमान-पणाली में निर्दिष्ट व्याप्ति लोक व वेदानुमोदित है। इस अनुमान वाक्य से बोध्य व्याप्ति के पीछे उदाहरणरूप में ऐतिहासिक पुराणोक्त राजा एवं भक्तों के चरित्र स्मरणीय हैं। निष्कर्ष यह कि शरणागतों के सम्पूर्ण संकल्प में फलशून्यता नहीं रहती; क्योंकि वैसे संकल्प सत्यसन्ध, सर्वज्ञ, ईशसंकल्प से अभिन्न होते हैं; क्योंकि ईशशरणागतों (नान्या स्पृहा में रहने वाले) के अपने स्वतन्त्र कोई संकल्प नहीं होते। इसलिए उक्त अनुमानप्रणाली में लोकवेदानुमोदितत्व निरपवाद है। यही 'प्रभु प्रताप' है।

संगति—मतिधीर वीर के चरित्र की सफलता के प्रति कार्य-कारणभाव सुनाकर शैलारोहण के बाद का चरित्र शिवजी सुना रहे हैं।

चोपाई— गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी । कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी ॥ १० ॥
अति उतंग जलनिधि चहु पासा । कनक कोट कर परम प्रकासा ॥ ११ ॥

भावार्थ—त्रिकूट पर चढ़कर लंका देखी जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता वह अति ऊँची है। चारों ओर समुद्र है व उसके चारों ओर स्वर्ण से मढ़ी हुई अति प्रकाशमान् दीवारें है। अतः लंका की अगम्यता है।

शास्त्रीय व्याख्या

गिरि पर चढ़ि : 'ता पर धाइ चढ़ेउ' के बाद 'गिरि पर चढ़ि' उक्ति विच्छिन्न सन्धान हेतु है, यतः पूर्व चौपाई की मध्योपस्थिति से पूर्वचारित्र्यस्थिति विच्छिन्न हो गयी है।

लंका : 'लंका', 'देखी' शब्द से कर्मकारकतया अन्वित है वह पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर नहीं हो सकती तथापि अवयवी का भेद अवयवों में स्वीकृत होने से पृथक्द्रव्यरूप में यहाँ 'लंका' कहकर अवयवी समझना है।

तेहिं : शैलारोही हनुमान्जी के प्रति तच्छब्दार्थ आदरसूचक है।

अति दुर्ग बिसेषी : लंका ब्रह्मनिर्मित होने से पृथुगोपुरादिलक्षणसम्पत्ति दर्शाने में 'अति' का तात्पर्य हैं।

'दुर्ग' से नगर ध्वनित है। राक्षसातिरिक्तों के लिए विना अनुमति के लंकाप्रवेश की असम्भाव्यता 'बिसेषी' है जो हनुमत्प्रवेश करते समय व्यक्त होगा।

अति उतंग : लंका की ऊँचाई 'अति उतंग' से ज्ञातव्य है। जो अर्थशास्त्रोक्तरीत्या प्रथम कल्प में परीगृहीत है।

जलनिधि चहु पासा : 'जलनिधि' पर्वत एवं वनादि का उपलक्षक है। 'चहु पासा' से चारों ओर से समुद्र का घेराव समझना है।

कनक कोट : नगर के सुरक्षार्थ चारों ओर से स्वर्णमय वप्रादि लगे हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्रोक्त व्यवस्था भी पूर्ण है। ज्ञातव्य है कि उपरोक्त अपार सम्पत्ति का मालिक पिछले जन्म का प्रतापभानु है यह सब उसके धर्मविशेष का परिपाक है। रावण भाग्यवान् होते हुए भी पूर्वजन्म में कृत अकर्म से व्यापृत महाअभिमानी, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होकर राक्षसजन्म में आया जो औपनिषद पुरुष से वध्य होने की योग्यता रखता है।

संगति—दुर्गवर्णन कर्तव्य है जिसमें नानाविध राजकीय व्यवस्था के साथ-साथ अनेकविध दृश्यों का वर्णन भी गोसाईंजी कर रहे हैं।

छन्द— *कनक कोट बिचित्र मनि कृत सुन्दरायतना घना।*
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु पुर बहु बिधि बना॥
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरुथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनै॥ १॥
बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।
नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं॥
कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अतिबल गर्जहीं।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहुबिधि एक एकन्ह तर्जहीं॥ २॥
करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं॥
एहि लागि तुलसीदास इन्ह की कथा कछु एक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही॥ ३॥

भावार्थ—लंका में अति विचित्र मणिरचित दीवारों से बने सुन्दर सघन मकान हैं। चौराहे, बाजार, मार्ग, गलियाँ सजावट से भूषित हैं। हाथी, घोड़े, खच्चर आदि चतुरङ्गिणी सेना के घटक सैनिकों को गिना नहीं जा सकता। बहुत-से निशिचरयूथ अनेकविध वेष पहिने छद्म चरकार्य में रत हैं। सेना अतिबलशालिनी है। तालाब, नदी, झरने, बगीचे देखते नहीं बनते। देवकन्या, नागकन्या, गंधर्वकन्या मुनिमनस् को लुभा रही हैं। मल्ल गरज रहे हैं। योद्धाओं के अनेकों अखाड़े हैं उसमें वे एक-दूसरे को ललकारते हैं। भट नगररक्षण में सन्नद्ध हैं। दुधारी पशु व मनुष्यादि भक्ष्य रूप में खड़े हैं। दुर्गस्थ जनों के बारे में गोसाईंजी गा रहे हैं कि श्रीरामशरतीर्थ (धारा) में शरीर छोड़कर सभी अपना परलोक सुधार लेंगे।

शास्त्रीय व्याख्या

कनक कोट : हनुमान्जी इतनी ऊँचाई पर चढे हैं जहाँ से ब्रह्मनिर्मित दुर्ग दृष्टिपथारुढ़ हो रहा है। उसका आरम्भ बिन्दु 'कनक कोट' है। उसी के अनुसरण से हनुमान्जी जो देख रहे हैं वह गेय हो रहा है।

घना : मकानों के बीच की दूरी दूर से न दीखना 'घना' है।

चउहट्ट : राजप्रासाद के बाहर की स्थिति को देखते हुए चौराहों पर जो बाजार दृष्टिविषय हुए वे हट्ट हैं। जहाँ पशुमार्ग, वाणिज्यमार्ग व उसके बाद गलियों को देखना ज्ञातव्य है।

सुबट्ट : 'सुबट्ट' से राजमार्ग समझना है जिनसे दुर्गनिवेशानुसार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशा से तीन-तीन राजमार्ग जुड़े हैं उनसे जुड़ी गलियाँ हैं।

बीथीं : 'बीथीं' रथ्या चत्वर का उपलक्षक है। गोपुर व गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ भी हैं। फलतः दुर्ग की अजेयता स्वलक्षणसंपत्ति से ज्ञातव्य है।

पुर बहु बिधि : अवान्तरनगर 'पुर' से बोध्य है।

हनुमान्जी की दृष्टि और भीतर पहुँची तो उन्होंने नगर का सौन्दर्य देखा जो 'बहु बिधि' से समझना है।

निकर : कृषिप्रधान देश न होने से सप्तप्रकृति के अन्तर्गत राष्ट्र का प्रधानतया उल्लेख न कर प्रथमतः दुर्ग उल्लिखित है।

गज बाजि रथ आदि पैदल सैनिकों के व्यूह से दुर्ग सुरक्षित होने से चेतन प्राणियों का उल्लेख है यतः वे सुरक्षित हैं तो दुर्ग भी सुरक्षित है।

'निकर' के अन्तर्गत विष्टि, फल्गु (कमजोर) बल भी ज्ञातव्य है।

को गनै : प्रजामात्र को सैनिकशिक्षा अपरिहार्य होने के परिणाम में उनकी संख्या अगणित होने से 'को गनै' कहा गया है।

बहुरूप : 'बहुरूप' से स्व एवं परमण्डलों में चरों का होना ज्ञातव्य है।

अथवा—'बहुरूप' शब्द अमानुषी व मानुषी मायानैपुण्य का द्योतक है।

अतिबल : रावण के राज्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्र चिन्ता न होकर स्वदेशव्यवस्था ही चिन्तित है। उसमें दण्डनीति ही प्रधान होने से उसकी प्रतिष्ठामात्र होना 'अति बल' से व्यक्त है।

बन बाग बाटिका : रक्षण की व्यवस्था बताकर श्रेष्ठत्वात् नागरिक विहारस्थली बताना 'बन बाग' का भाव है। साधारणों के विहारस्थल वन हैं। राजमहिषियों के लिए तदनुरूप बाग हैं। वे स्थलविहार भी कहे जाते हैं। कृत्रिम वन उपवन हैं। 'बाटिका' वेश्म-भू का बोधक है।

सर कूप बापीं : अति दीर्घ जलस्थान 'सर' है। कूप के भीतर सोपान मार्ग होने से वह वापी कहा जाता है अन्यथा कूप कहलाता है।

मुनि मन मोहहीं : वरप्रभाव (भाग्य) से लंका में गन्धर्वादि कन्याएँ विराजित हैं। 'मन मोहहीं' का सारांश यह कि सर्वेन्द्रियार्थानुभूति के लिए रमणीय चित्रण साधारण स्त्रियों के सान्निध्य में रहता है। वह लंका में सुलभ है। इस पर नीतिसिद्धान्त स्मर्तव्य है—

अधिकांश राज्यवासी अर्थप्रधान या कामप्रधान होते हैं। उनकी प्रवृत्तियाँ धर्म, विद्या, गुरु आदि की ओर से दूसरी ओर मुड़ती हैं। फलतः वे शनैः-शनैः अविनीत हो आलस्य के पाश में फँसकर अज्ञता से आवृत होते हैं एवं आगे चलकर वे परिवार व देश को विनाश

की ओर ले जाते हैं। उस दोष से बचने हेतु अर्थशास्त्र में विद्यास्थापन विहित है उसका ध्येय सात्विकता, शक्ति, विनय, शास्त्रनिष्ठा आदि को स्थिर रखना है। यह तथ्य म्लेच्छ भूमि में विहित नहीं है; क्योंकि वहाँ अदृष्ट नाम की वस्तु नहीं है। सभी एक समान हैं। यही समता लंकावासियों में है। उसी में कामप्रधानता 'मुनि मन मोहहीं' से स्फुट है जो चरमसीमा पर चढ़ी है तथापि व्यसनातिशय के रूप में विषयभोग पाना ही लक्ष्य है तो उस अवस्था में देश सर्वनाश को प्राप्त होता है लंका अभी उसी श्रेणी में पहुँची है।

अथवा—प्रसंख्यान समर्थ मुनियों को भी लुभाने वाली होने से 'मुनि मन मोहहीं' कहा है।

माल देह : दण्डप्रधान राज्य में मल्लों का सम्मान विद्यामान से अधिक है जो 'परेषां परिपीडनाय' प्रस्तुत हैं। दण्डनीतिप्रधानता में भोगसिद्धि ही पुरुषार्थ है तदर्थ मल्लों का आश्रय लेना अपेक्षित है अतः 'माल देह' कहा है।

अतिबल गर्जहीं : रौद्रप्रकृति स्वभाव 'अतिबल गर्जहीं' से सूचित है।

तर्जहीं : युद्धोपस्थिति होने पर बुद्धि में मोह न हो। अतः नित्यमल्लयुद्ध कर्तव्य है। उसके प्रति अंगता 'तर्जहीं' से स्फुट है।

रच्छहीं : सीताप्रवेश होने के बाद लंकापति ने नगर के चारों दिशाओं के रक्षक मल्लों को विशेषतया सावधान रहने का आदेश देना 'रच्छहीं' से व्यक्त है।

खल : 'मुनि मन मोहहीं' शीर्षकोक्त कामप्रधान दण्डनीति में बताया स्वभाव 'खल' से सूचित है।

'विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय' से 'खल' परिभाषित है।

भच्छहीं : झपट कर भक्ष्य को मारना राक्षसों की जीविका है। वे भारतभूमिवासियों को भक्ष्य समझकर येन केनापि प्रकारेण भारतीय प्राणियों के शिकार में प्रवृत्त रहते हैं। इसी का परिणाम है कि वध्यस्थल में महिष, मानुष आदि आबद्ध हैं। धेनु व मानुष कहने से निशाचरों की दृष्टि भारत पर होना सूचित है। असुरराज्य में अमुक अभक्ष्य है कहना कठिन है। उसके उत्तर में भक्षणनीति से भीत देवों, मानवों व सन्तों ने सर्वज्ञ की शरण ली जो सीताराम रूप में अवतीर्ण हैं। जिन्हें आगममंत्रसिद्ध रावण जीत न सका।

भक्ष्य-भक्षक कहकर आगमोपासना का दुरुपयोग ध्वनित किया है अर्थात् आगमोपासना अपने सेवकों को आपाततः फल वितरित करती दिखती है तथापि वह निगमवत् आगम को अन्तः सम्मत नहीं है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर बालकाण्डारम्भ में 'निगमागमसम्मतं' कहा है।

एहि लागि : खलकथा के निष्प्रयोजनता की शंका का उत्तर 'एहि लागि' है अर्थात् 'एहि लागि' से खलवर्णन के प्रति अवैयर्थ्य समझाया।

सुन्दरकाण्ड की अनुपेक्ष्यता

ज्ञातव्य है कि परराष्ट्र की समृद्धि व उनकी व्यसनातिशयितता देखकर निगमागमानुयाइयों ने उनका अनुकरण करना उचित नहीं समझाने हेतु अन्तिम चरण में व्यसनसंपृक्त समृद्धि का परिणाम स्फुट करने के साथ 'कामादिदोषरहितं' पर ध्यान दिलाने से सुन्दरकाण्ड की

अनुपेक्ष्यता स्फुट है। जो गोसाईंजी का अपना अन्तर्नाद है।

तुलसीदास : 'तुलसीदास' का संकेत तुलसीदासजी ने कही प्रसंगविच्छेदकोक्ति में शिवजी, काकभुशुण्डीजी, याज्ञवल्क्योक्ति की व्यावृत्ति को समझाने के लिए है उसकी विशेषोपयोगिता 'सुन्दरकाण्ड की अनुपेक्ष्यता' शीर्षक में ज्ञातव्य है।

इन्ह की : श्रीरामशरतीर्थातिरिक्त प्रायश्चित्तानपनोद्य पापसंस्पर्श के संसर्ग से उद्धरिष्यमाण खल एतच्छब्दार्थ हैं।

कथा कछु : तथाविध खलों के प्रति अधिक बोलने में अनौचित्य 'कथा कछु' से समझाया है। 'कथा' से खलचरित्र समझना है।

एक है कही : प्रभु ने बनाई मर्यादा व मनीषियों का वध सुनना अपराध हो सकता है उसका समाधान 'एक है कही' में है।

सर : अति दुराचारी अवतीर्ण होते हैं तो उनके लिए श्रीरामशररूप तीर्थ ही शरण माना गया है। फलतः श्रीरामावतार की लोकोपयोगिता स्पष्ट है।

सही : दुःखासंस्पृष्ट सुखमय सगुण या निर्गुण ब्रह्म 'सही' से बोध्य है।

संगति—छन्द ३ में उक्त 'दिसि रच्छहीं' से सन्धि जोड़ते हुए बौद्धिक हनुमच्चरित्र का प्रारम्भ सुना रहे हैं।

दोहा— पुर रखवारे देखि बहु कपि मन कीन्ह बिचार।
अति लघु रूप धरौं निसि नगर करौं पइसार॥ ३॥

भावार्थ—लंका के चारों ओर कुशल रक्षकवृन्द देखकर पर के लिए अदृश्य लघुरूप धारण कर हनुमान्‌जी ने लंकाप्रवेशानुकूलता में रात्रि का समय निर्णीत किया है जो आसन्न है।

शास्त्रीय व्याख्या

पुर रखवारे : पुर में जन्मे प्राणी जो बुद्धि-पौरुषहीन हैं उन सभी को नौकरी देकर जीवित रखना राजकर्तव्य है। वैसे व्यक्ति दास होते हैं उनकी व्यावृत्ति 'पुर रखवारे' से स्फुट है।

देखि बहु : पुर के चारों ओर एक भी ऐसा स्थान नहीं है जो रक्षकशून्य हो अतः 'देखि' कहा है।

मन कीन्ह बिचार : लंकाप्रवेशानुकूल समय व तदनुकूल शरीरधारण का विचार 'मन कीन्ह बिचार' है।

अति लघुरूप : रखवारों की दृष्टि से संयुक्त होने पर भी तद्विषय न होना व स्वल्पातिस्वल्प स्थानों से द्रुतगति में निकल जाना 'अति लघुरूप' से ही सम्भव है। जिसके अपेक्षया दूसरा लघुरूप नहीं हो सकता वह 'अति' से बोध्य है। 'रूप' से शरीर बोध्य है।

धरौं : 'धरौं' से ऐच्छिक दैवीमाया की नियामकता रूपधारण में हेतु बताकर हनुमान्‌जी ने स्व में रावण के समीप में पहुँचने की कुशलता व्यक्त की है। यहाँ हनुमान्‌जी की अप्रकाशचरता स्फुट है।

निसि : मदिरापायी स्व-स्वभावानुरूप ये रखवारे मध्यरात्रि में सोयेंगे। फलतः लघुरूप में छिपा हनुमान्‌जी का वैधर्म्य उनकी दृष्टि में तिरोहित रहेगा। अतः कपि ने

लंकाप्रवेशार्थ मध्यरात्रि को निर्णीत करना उनकी सूक्ष्म बुद्धि का द्योतक है।

पइसार : हनुमान्जी सोच रहे हैं कि नगर में सब नगरवासी मध्यरात्रि में सोयेंगे उस समय सीताशोध करने में बाधक तत्त्व उपस्थित नहीं होंगे। अतः लंकाप्रवेशार्थ मध्यरात्रि का अनुकूल समय 'पइसार' से ध्वनित है।

संगति—बुद्धि के द्वारा ऊहापोह पूर्ण होने के बाद विलम्ब ठीक नहीं सोचकर हनुमान्जी ने लघुरूप धारण किया। उस स्वरूप का चरित्र शिवजी आगे सुना रहे हैं जिसमें उनका अति लघुरूप भी व्याख्यात होने के साथ दोहा ३।४।१ में प्रारम्भ की हुई लीला के प्रथम चरण की पूर्णता सुना रहे हैं।

चौपाई— मसक समान रूप कपि धरी । लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥ १॥

भावार्थ—कपि (हनुमान्जी) सैनिकों के लिये अगोचर मच्छर रूप में श्रीराम का स्मरण कर लंका की ओर चले।

शास्त्रीय व्याख्या

मसक समान रूप : सबसे लघु रात्रिचर शरीर मशक का है अतः 'मसक समान' कहा है।

अथवा—'अति लघुरूप' का व्याख्यान 'मसक समान' है। यह शरीर रात्रि में इस प्रकार भ्रमण करेगा कि किसी के कानों के पास जाने पर भी अपने पंख की आवाज नहीं करेगा। इस प्रकार मच्छरान्तर वैधर्म्य स्मर्तव्य है। 'रूप' से शरीर विवक्षित है।

कपि : हनुमान्जी ने परराष्ट्र में पहुँचकर अदृष्टसम्बन्धी (लंकिनी) विचार न करना, राजा के द्वारा की अपूर्व रचना या अपूर्व रक्षण पर ध्यान न देना 'कपि' से संकेतित है जो उसके फँसने का मर्म है।

सुमिरि : द्वितीय दिन का कार्यारम्भ मध्यरात्रि के अनन्तर हो रहा है। अतः मङ्गलाचरण के रूप में 'सुमिरि' कहा है।

अथवा—(रावण) राजाद्वारा कल्पित अपूर्व रक्षण के प्रतीकार करने में बुद्धि विचलित न होने हेतु 'सुमिरि' उक्ति है।

नरहरी : नरलीला[१] की प्रतिज्ञा करने वाले प्रभु की नरलीला का द्वितीय चरण प्रारम्भ होना 'नरहरी' है।

अथवा—हनुमान्जी ने दृष्टिविषयता से बचकर नगरप्रवेश करना सोचा। इस विचार में यदि कोई अदृश्य (लंकिनी) तत्व प्रकट होगा उसका लाभ शत्रु को प्राप्त होगा। ऐसी सामयिक आपत्ति से बचने हेतु नररूप हरि का स्मरण रक्षक का काम करेगा।

संगति—'मसक समान' शीर्षक में उक्त वैधर्म्य देखकर मशकप्रवेश को रोकने में सक्षम अदृश्य पहरेदार ने अपनाया कर्तव्य कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— नाम लंकिनी एक निसिचरी । सो कह चलेसि मोहि निन्दरी॥ २॥

भावार्थ—लंकिनीपदाभिधेया राक्षसी ने कहा कि मेरा निरादर कर कौन मध्यरात्रि में नगरप्रवेश कर रहा है।

---

[१] श्रीरामचरितमानस ३।४।१

शास्त्रीय व्याख्या

नाम लंकिनी : नगररक्षिका निशाचरी 'लंकिनी' से बोध्या है। सोया जीव जब अकर्मण्य व चेष्टानुकूलप्रवृत्यभाववान् होता है तब शरीरान्तर्वर्ती सर्वज्ञ शरीरचेष्टा का चालक होकर शरीर को स्वस्थ बनाकर उसे जागृत करता है। वही कार्य लंकिनी लंकारक्षण हेतु कर रही है।

एक निसिचरी : 'एक' से लंकिनी की निद्राशून्यता व्यक्त है तथा अन्य सभी पहरेदारों का सोना निर्णीत है।

अधिदैवत होने पर भी लंकिनी लंका नगरशरीराभिमानी होने से 'निसिचरी' है। उसने मशक की शंकिता दृष्टि व प्रागुक्त वैधर्म्य को पहिचाना है; क्योंकि हनुमान्जी मुझे कोई देख तो नहीं रहा है? इस प्रकार की साशंक दृष्टि से प्रवेश कर रहे थे।

सो कह : स्वतन्त्र होकर रावण ने किए सुकृत कर्म से कैद में आई देवभूता राक्षसी लंकिनी 'सो' से परामृष्ट है। राक्षसी ने नगर में प्रविविक्षु मशक को रोकने हेतु कहना 'कह' है।

मोहि निन्दरी : लंकारूप भौतिक देहाभिमानिनी स्त्री 'मोहि' पदार्थ है।

जब कोई बाहरी भक्ष्य प्रवेश करता है तो उसी समय लंकिनी बुभुक्षिता होती है। उसी हेतु से वह भक्ष्य का अनुमान करती है जैसे प्रेतादि। तस्मात् हनुमान्जी का प्रवेश लंकिनी को बुभुक्षित कर रहा है जिसका समुचित उत्तर दिए विना प्रवेश करना 'निन्दरी' है।

संगति—लंकिनी का उक्त अनुमान स्वार्थानुमान है वह आभासशून्य है फलतः लंकिनी राक्षस स्वभाववती होने से मशकरूप को खाने का उपक्रम कर रही है।

चौपाई— जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा । मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥ ३ ॥

भावार्थ—हे धूर्त! मेरी बुभुक्षा का रहस्य नहीं जानते हो मैं निरादर करने वाले चोरों को खाकर उनका सफाया करती हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

जानेहि नहीं : 'त्वं चोरः लंकां प्रवेष्टुमशक्तः बुभुक्षितायाः आहारयोग्यत्वे सति दृष्टिविषयत्वात्' इस अनुमानप्रणाली को न समझना 'जानेहि नहीं' है।

मरमु : 'मरमु' शब्द रहस्य का बोधक है। वह रहस्य इस प्रकार है—जब पहरेदार जगते हैं तब लंकिनी अवधान नहीं रखती। जब वे सोते हैं तब वह सावधान हो भौतिकी लंका की रक्षा करती है। यह सब ब्रह्मकल्पित अभेद्य व्यवस्था है।

सठ मोरा : 'सठ' से परातिसन्धानचतुर हनुमान्जी ज्ञेय हैं। इसी दोहे के दूसरी चौपाई में 'मोहि' शीर्षक से मच्छब्दार्थ व्याख्यात है।

अहार : जागृत दशा में चौर्यातिरिक्त सभी अनय कर्म राक्षसधर्मान्तर्गत होने से लंकिनी के लिए सुखकर प्रतीत हो रहे थे। अतः वह क्रुद्ध न होने से किसी को भक्ष्य नहीं समझती थी और बली के नाम पर जो आहार प्रचलित था उसी पर संतुष्ट थी। अभी चोरी से मशक को नगरमें प्रवेश करते देखकर भूख लगते ही उसे भक्ष्य करना 'अहार'

से ज्ञातव्य है।

जहाँ लगि : 'मोर अहार' की उपपति 'जहाँ लगि' है जो कालिकव्याप्ति की सूचक है अर्थात् 'यदा चौर्येण प्रवेशस्तदा बुभुक्षा' यह व्याप्ति चिन्तनीय है।

संगति—मंत्रयुद्ध से परास्त न होना देखकर बल से लंकिनी को पराजित करना कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— मुठिका एक महा कपि हनी । रुधिर बमत धरनी ठनमनी ॥ ४॥

भावार्थ—मशकशरीर त्यागकर हनुमान्जी ने उसे मुष्टि से मारा तो वह राक्षसी रक्त बहाते पृथ्वी पर गिर पड़ी।

शास्त्रीय व्याख्या

मुठिका : सुरसाजी का वैधर्म्य लंकिनी में समझाने के साथ उसी आहार के प्रति चेष्टा देखकर प्राणरक्षणार्थ अपेक्षित आयुध के रूप में अपनायी मुष्टिका करना 'मुठिका' से वर्णित है।

महा कपि : राक्षसी को व्याकुल करने में सक्षम शरीर 'महा कपि' से लक्षित है।

हनी : प्रहार में शीघ्रता इस प्रकार की कि हनुमत्कार्यविशेषता समझने में लंकिनी असावधाना ही रह गई।

बमत : चोट की असहिष्णुता में नसों का फटना 'बमत' से सूचित है।

ठनमनी : पृथ्वी पर गिरते ही वह राक्षसी भौतिक लंकाशरीराभिमान से विलग हुई। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मप्रदत्त आयुर्मर्यादा की समाप्ति होते ही अधिदैवत लंकिनी पुनः प्राचीन बोध के प्रभाव में मग्ना हो गई।

संगति—अधिदैवत लंकिनी ने हनुमान्जी के समक्ष विनय प्रगट करते हुए बोलना कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— पुनि संभारि उठी सो लंका । जोरि पानि कर बिनय ससंका ॥ ५ ॥

भावार्थ—राक्षसभाव से हटी लंका सम्भलकर उठी पश्चात् अंजलि बाँधकर सशंका हो विनयपूर्वक बोली।

शास्त्रीय व्याख्या

पुनि संभारि : रक्तवमन से चक्कर आने पर भी अपने को सम्भालना 'पुनि संभारि' है।

अथवा—लंकारूप भौतिकदेहाभिमानध्वंसरूप मृति का आनन्तर्य 'पुनि' से बोध्य है। स्व स्वरूप को स्मृत करना 'संभारि' है। लंकिनी के उक्त चरित्र से ब्रह्मदत्त वचन की प्रमाणता सूचित हो रही है।

अथवा—हनुमान्जी के करस्पर्श ने राक्षसी देवी को पवित्र बना दिया जिससे उसके पूर्व संस्कारों ने उद्बुद्ध होना 'संभारि' से कहा है।

सो लंका : लंकिनी का देह छूटकर तत्काल देहान्तरप्राप्ति होने में क्षणविलम्ब न होना 'सो' से सूचित है।

रावण के संरक्षणार्थ लंका देवी को जितने दिनों के लिए भौतिक शरीर प्राप्त हुआ

था उसकी पूर्णता से विशिष्टा देवी 'लंका' से बोध्या है।

आरम्भ में लंकिनी कहकर उसके दोष ध्वनित किए अभी लंका कहकर उसका जन्मान्तर व गुण व्यंजित किए हैं।

जोरि पानि : शरणागत होने पर धर्मविजयी वैरभाव त्यागते हैं। वही अंजलिबन्धन से दर्शाया है।

बिनय : रौद्रभाव न रहना 'बिनय' है। पूर्वेतिहास से संबद्ध घटना यथार्थ होना 'बिनय' का कारण है।

ससंका : शत्रुभाव में उपस्थित होकर जो भी अपराध हुआ उसको याद कर पुनः प्रहार होगा ऐसी भीति 'ससंका' है। ज्ञातव्य है कि संत हनुमान्जी धर्मविजयी होने से तत्काल निष्क्रोध हो गए उसका प्रभाव आगे स्पष्ट होगा।

संगति—लंकिनीजी सावधिक के रूप में स्थित पूर्वाभिमान की उपपत्ति समझाते हुए अपनी निर्दुष्टता विनयपूर्वक व्यक्त कर रही है।

चौपाई— *जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा । चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा ॥ ६ ॥*
बिकल होसि तैं कपि कें मारे । तब जानेसु निसिचर संघारे ॥ ७ ॥

भावार्थ—रावण को वर से अजेय बनाकर ब्रह्माजी ने मुझे रावणवध का संकेत दिया कि जब कपि के हाथों से तुम विकला होगी तब रावणकुल के संहार का समय समझना वही आज हुआ।

शास्त्रीय व्याख्या

रावनहि: जन्मान्तरीय शापभ्रष्ट प्रतापभानु 'रावनहि' से बोध्य है।

ब्रह्म बर दीन्हा : शरणागत न होते हुए अपने में स्वतन्त्र कर्तृत्व रखकर, आगमोक्त उपासना को यथावत् पूर्ण करने का फल 'ब्रह्म बर दीन्हा' से सूचित है। स्वतन्त्रता में रावण ने बह्माजी को उपकारक न समझा तो उसके प्रति विस्मय नहीं है।

बिरंचि कहा मोहि चीन्हा : ब्रह्माजी ने रावण को आयुस्समाप्ति न सुनाकर लंकिनी को सुनायी थी फलतः रावण का उन्मत्त होना सिद्ध है। यह एक प्रकार से ब्रह्माजी की असन्तुष्टि का बोधक है।

लंकाविकलताधिकरण क्षण 'चीन्हा' है जो रावणकृत योजना की विफलता का व्याप्य है।

बिकल होसि : 'चीन्हा' का व्याख्यान 'बिकल होसि' है अर्थात् विकलता हुए विना रावण का पराजय न होना स्पष्ट है।

तब जानेसि : 'जब' व 'तब' सम्बन्ध से दो प्रकार की व्याप्ति स्मृत है। जैसे 'यदा-यदा लंका पराजिता भवति तदा तदुत्तरकाले रावणस्य समूलस्य विनाशः' एवं 'यदा-यदा रावणो ब्रह्मदत्तवरो भवति तदा-तदा लंकाधिपतिर्भवति।'—इन दोनों प्रकार की व्याप्ति को याद में लाकर व्याप्य को न देखने से लंकिनी रावण के उत्कर्ष के प्रति निःशशंक थी किन्तु जब उक्त स्व पराजयरूप व्याप्त दृश्य हुआ तब रावणविनाश अनुमित होना स्पष्ट है।

'जानेसि' से उक्त द्विविध व्याप्ति का प्रतिभात होना दर्शाया है तद्व्याप्तिमान् भी इस समय के पूर्व तक अप्रतिभात होने से लंकिनी ने रावण की विश्वासपात्रा होना निर्विवाद है।

संगति—रावण के पराजय का निर्णय सुनाकर लंकिनी सत्संग का फल कह रही है।

चौपाई— *तात! मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥ ८॥*

दोहा— *तात! स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।*
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥ ४॥

भावार्थ—मेरा पुण्य बहुत है। हे तात! उसी प्रभाव से श्रीरामदूत को देख रही हूँ। स्वर्ग व अपवर्ग के सुख तुला के एक ओर रखे जाएँ तो वे सत्संग सुख की तुलना में कम ही होंगे।

शास्त्रीय व्याख्या

तात! : 'तात' की द्विरुक्ति अति स्नेहार्थक है।

मोर अति पुन्य बहूता : मुष्टिप्रहार से व्याकुल होने वाली व सत्संग से सुख पाने वाली लंकिनी 'मोर' शब्दार्थ है।

ब्रह्मवाक्यप्रमाणानुयायिनी लंका ने स्वामिद्रोह न करना नैतिक पुण्य है। नैतिक पुण्य का संचय अखण्ड रूप में बने रहना 'अति पुन्य बहूता' है।

देखेउँ नयन : स्वर्गापर्गाभाव होने की आसन्नता 'देखेउँ' से स्फुट है। अर्थात् कालनदी में प्रवाही जीव कालवेग में जब कभी संसार से हटने की ओर मुड़ने की स्थिति में आता है तभी सन्तदर्शन होता है। वैसा योग लंकिनी को प्राप्त हुआ है। अतः 'देखेउँ नयन' कहा है।

राम कर दूता : धर्मविजयी हनुमान्‌जी के सत्व का संक्रमण लंकिनी पर जैसे-जैसे हुआ वैसे-वैसे लंकिनी ने ब्रह्मोक्त वरप्राप्ति व सीताहरण की पारस्परिक साकांक्षता को ध्यान में रखकर कपि को श्रीरामदूत समझा उसे 'राम कर दूता' से गाया है। वह 'देखेउँ' से अन्वित है।

तात : धर्मविजयी के सत्व का संक्रमण विद्याशमसुख में होता है वह सुख लंकिनी को प्राप्त हुआ तो उस हर्षातिरेक में स्वाभाविकतया उसके मुख से 'तात' उद्गार निकल पड़ा।

स्वर्गापवर्ग एवं सत्संग में तुलना

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥[1]

से वर्णित सुख 'स्वर्ग' सुख है। मनस् को प्रयत्न से पूर्णतया निरुद्ध कर निरालम्बन स्थिति तक पहुँचाना 'अपबर्ग सुख' है। किन्तु लंकिनी के अनुभव में स्वर्ग और अपवर्ग इन दोनों सुखों से भी अधिक सर्वश्रेष्ठ सुख धर्मविजयी की सात्विकता के संक्रमण से प्राप्त सत्संग में हो रहा है जो स्वर्गापवर्ग की स्थिति को वह समाप्त कर रहा है।

धरिअ तुला : उक्त दोनों सुखों को तुला के एक तरफ रखना 'धरिअ तुला एक अंग' है।

तूल न ताहि : तौल में दोनों सुख सत्संगसुख की बराबरी पर नहीं आते; क्योंकि

---

[1] मथुरानाथ तर्कवागीशकृत मङ्गलवाद।

स्वर्गसुख में पतन का भय रहता है। अपवर्ग में कामादि तत्वों का समूल उच्छेद होने के साथ भगवत्सेवा से वंचित होने का प्रसंग होता है। अतः सुन्दरकाण्ड के मंगलाचरण के अन्तर्गत कहे 'कामादिदोषरहितं कुरु मानसं' में दोष की सार्थकता स्पष्ट है।

लव सतसंग : लंकिनी के साथ सन्त हनुमान्जी का संग अधिक न होकर क्षणभर का होने से 'लव सतसंग' कहा है; क्योंकि अब वह अपने स्थान पर पहुँच जायेगी। इससे लंकिनी की कृतार्थता व भगवत्परायणता स्फुट है। चिन्त्य है कि यद्यपि बिभीषणजी का संग लंकिनी को प्राप्त था तथापि ब्रह्माजी के निर्देशानुसार उसका संकल्प प्रतिबन्धक होने से स्व स्थान पर जाने में सामग्री की कमी थी। अतः बिभीषणसत्संग कारणान्तरविहीन होने से कार्यकारी न हो सका।

'लव सतसंग' से प्राप्त हुआ समाधान सही मार्ग की ओर ले जाते हुए सत्संगकर्त्ता को पूर्ण सुखी कर मति, कीर्ति, गति, भूति, भलाई आदि देता है जिससे 'लव' की सार्थकता भी सुस्पष्ट है।

संगति—रावणपक्ष से अननुरक्ता हो द्वारपाल लंकिनी ने हनुमान्जी को लंकाप्रवेशार्थ अनुमति देना बता रहे हैं।

चौपाई— ***प्रबिसि नगर कीजे सब काजा । हृदयँ राखि कोसलपुर राजा॥ १॥***

भावार्थ—श्रीराम को हृदय में धारण कर नगर में प्रविष्ट हो आप सभी कार्य पूर्ण करें।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रबिसि नगर : 'प्रबिसि' अनुमत्यर्थक है। इससे सम्भावित प्रतिबन्धकभूत संशय का अभाव अपनाने को कहा गया है।

'नगर' दुर्ग का वाचक है जो राजधानी है उसका स्वरूप अर्थशास्त्रीय नगरप्रणिधि में चर्चित है।

सब काजा : 'सब काजा' से सीताशोधन से लौटने तक के सभी कार्य की उपधेयता भी कही है।

हृदयँ राखि : लंकिनी ने 'हृदयँ राखि' से प्रतिद्वन्द्वी की चर्चा की है। इससे लंकिनी में श्रीराम के प्रति तत्त्वाभिनिवेशात्मक बुद्धिगुण का निवेश स्पष्ट है। ज्ञातव्य है कि आगम से प्राप्त शक्ति लंका में प्रचुर है उसका प्रतिद्वन्द्वी हो यहाँ कोई भी कार्य नहीं कर सकता उसी शक्ति के बल पर रावण अशंक व निर्भय है।

'राखि' से स्मृतिविषयतासम्बन्धावच्छिन्न स्व (हनुमद्)-वृतित्व ज्ञेय है।

कोसलपुर राजा : निगमागमपालक क्षत्रिय जब नैतिक युद्ध में अधिकृत हो अपना कार्य कर रहे हों तब उनके राजकार्य में प्रत्येक ने सहयोगी होना समझाने हेतु 'कोसलपुर राजा' कहा है। अतएव लंकिनी ने श्रीरामकार्य में सहायक होना उपपन्न है।

अथवा—यहाँ से श्रीराम को कोसलाधीशत्वेन स्मृत करना है। यतः श्रीराम अपने पूर्वजक्लृप्त चक्रवर्तित्व के अर्जन में प्रवृत हैं; क्योंकि उक्त प्रवृत्तिसंपन्न मानवतासंस्थापक क्षात्रतेजस् से रावण का वध होना निर्णीत है।

सन्तों का स्वभाव

लंकाजी का यह उपदेश हनुमान्जी के लिए यद्यपि अज्ञातज्ञापक नहीं है तथापि इस

उपदेश से सन्तों का स्वभाव प्रदर्शित है। वह यह कि सन्त प्रभु के प्रति उपदेशों को सुनकर उनके प्रति कभी नहीं अघाते किंबहुना प्रभुप्राप्त उपदेश को स्वीकार कर जहाँ-तहाँ सम्भावित स्वप्रमाद से प्राणी को बचाते हैं।

संगति—दोहा ३। ९ में शिवजी के कहे सिद्धान्त को काकभुशुण्डीजी परिष्कृत कर रहे हैं।

चौपाई— *गरल सुधा रिपु करहिं मिताई । गोपद सिन्धु अनल सितलाई ॥ २ ॥*
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही । राम कृपा करि चितवा जाही ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे गरुड़ जी! विष का अमृत होना, शत्रु ने मित्रवत् व्यवहार करना, समुद्र ने गोखुरवत् होना, आग ने शीतल होना, सुमेरु ने धूलिकण सदृश होना उन सन्तों के लिए है जिन्हें श्रीराम आत्मीयत्वेन देखते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

गरल सुधा : चौपाई ३ में 'राम कृपा करि चितवा' कहा है उसे 'गरल सुधा' आदि पाँच उदाहरणों से समझाया उनका निष्कर्ष भोजराजकृत शृंगारप्रकाशोक्त वाक्य के आधार पर विवेचित है। 'गरल' उदाहरण से प्रसाद, 'रिपु' उदाहरण से नीति, 'सिन्धु' उदाहरण से द्रुति, 'अनल' उदाहरण से ओजस्, 'सुमेरु' उदाहरण से लघिमा स्पष्ट है। उक्त गुणों के रहने पर प्रभुशरण में रहे सेवक के संकल्प में प्रकृति ने प्रतिबन्धक न होना सुचिन्त्य है।

गरुड़ : शिवरचित श्रीरामचरितमानस के वक्ता काकभुशुण्डीजी ने गरुड़जी को सम्बोधित करना 'गरुड़' से ध्वनित है।

ताही : तच्छब्द से चित्तद्रुति आदि गुणसम्पन्न सन्त बोध्य हैं वैसे सेवक 'ताही' से परिगृहीत हैं।

रामकृपा : आत्मीयत्वेन दृष्टिविषयतानुकूल कृपाप्रयोजक कृतिमत्ता श्रीराम में चिन्त्य है जो पूर्वकर्मज अदृष्ट शक्ति के प्रति उत्तेजकतया या प्रबिन्धकतया साधक है।

चितवा : साधारणतया श्रीराम दीनों के रक्षक हैं तथापि उन्होंने आत्मीयत्वेन प्रसन्नतापूर्वक देखना 'चितवा' है। यह 'प्रभु प्रताप' (दोहा ३। ९) का भाष्य है। अयोध्याकाण्ड में सीतादृष्टि, लोकपालकताप्रयोजकशक्तिमत्वेन वर्णित की। यहाँ प्रकृतिनियमपरिवर्तन चर्चित है ऐसा लाभ उसी को होता है जो शास्त्रपरतन्त्रता को प्रयोज्यवृद्ध के रूप में रहकर निष्काम व निष्कपट हो स्वीकारते हैं। यही सुन्दर भक्तियोग है।

संगति—प्रभुकृपाप्राप्ति के प्रति सिद्धान्त स्पष्ट कर दोहा ४ से कड़ी जोड़ते हुए अग्रिम चरित्र (लंकाप्रवेशसम्बन्धी) सुना रहे हैं।

चौपाई— *अति लघु रूप धरेउ हनुमाना । पैठा नगर सुमिरि भगवाना ॥ ४ ॥*

भावार्थ—प्रभुस्मरण कर अति लघु रूप धारणकर हनुमान्‌जी लंका के अन्दर प्रविष्ट हुए।

शास्त्रीय व्याख्या

अति लघु रूप : प्रति मन्दिर में प्रवेशानुरूप लघिमावान् (ह्रस्वातिह्रस्वरूप बनाना) होना 'अति लघुरूप' है।

ज्ञातव्य है कि अति लघुरूप होने का परिणाम यह हुआ कि भवनों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म

स्थान पर पहुँचना हनुमान्‌जी के लिए असम्भव नहीं हुआ। फलत: सीताशोध में कोई मन्दिर अवशिष्ट न होने के कारण सीताभाव का प्रत्यक्ष होने में वांछित योग्यानुपलब्धि होने में बाधा नहीं पहुँची।

अथवा—एक समय में अनेकों लघुरूप लेना हनुमान्‌जी की दूसरी अमानुषी माया है उसका प्रतिरोध न होना लंकिनी के वर का परिणाम है। इसमें लंकिनी की सर्वातिशयित सहायता निर्विवाद है।

'रूप' से शरीर विवक्षित है।

पैठा : 'पैठा' से कपि का लंकाप्रवेश ज्ञातव्य है।

सुमिरि : दोहा ४। १ आदि में पौन:पुन्येन उक्त 'सुमिरि' की उपयोगिता पूर्वकार्यविच्छेद-पूर्वक उत्तरकार्यान्तर प्रारम्भ के बोधनार्थ है। 'सुमिरि' हृदय में प्रभु के दर्शनोपधायकता का बोधक है। यह कल्पना 'इषेत्वोर्जेत्वा' इत्यादि मंत्रों एवं रुद्र मंत्रों में '**त्वां**' व '**नमः**' उक्ति के पौन:पुन्य से क्लृप्त मंत्रभेदनिर्णय मीमांसा से स्मर्तव्य है।

संगति—लंकाप्रवेशानन्तर नानाविध घरों को देखते हुए रावणमन्दिर में हनुमान्‌जी का पहुँचना सुना रहे हैं।

चौपाई— *मन्दिर मन्दिर प्रति कर सोधा । देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ॥ ५ ॥*
गयउ दसानन मन्दिर माहीं । अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं ॥ ६ ॥
सयन किएँ देखा कपि तेही । मन्दिर महुँ न दीखि बैदेही ॥ ७ ॥

भावार्थ—रावणमन्दिर के समीपवर्ती अनेकों भटों के प्रतिमन्दिरों में सीताजी को देखने का प्रयत्न किया तदनन्तर दशाननमन्दिर में पहुँचकर लोककल्पनातीत भोग्यसंपत्ति देखी जिसकी विशेषता कहनी सम्भव नहीं। वहाँ रावण को सोते हुए देखा किन्तु वहाँ भी वैदेहीजी नहीं दिखीं।

शास्त्रीय व्याख्या

मन्दिर-मन्दिर : 'मन्दिर-मन्दिर' की पुनरुक्ति से एक भी मन्दिर का दृष्टि से न बचना ज्ञातव्य है।

करि सोधा : 'करि' से प्रति मन्दिर में सीताभावप्रत्यक्षार्थ अपेक्षित योग्यानुपलब्धि समझाई। जिसमें 'यदि स्यात् सीता माता तर्हि सोपलभ्येत' इस प्रकार से प्रतियोगिसत्व-प्रसंजनप्रसंजित दर्शनाभाव से हनुमान्‌जी ने सीताजी को न देखना 'करि सोधा' का न्यायशास्त्र-परिभाषित भाव है।

सर्वत्र लघुरूप धारण कर 'अत्र स्याद्वा सा' इस शंका से देखना 'सोधा' है।

देखे जहँ-तहँ : 'करि सोधा' में उक्त योग्यानुपलब्धिसहकृत चक्षुस्संयोग से सीताभाव को यथार्थतया देखने का अधिकरणस्थल 'जहँ-तहँ' है।

अगनित जोधा : लंकाप्रवेश के बाद एक रात्रि में ही आटविक, द्विषत्, सुहृद्, श्रेणी व भृतसैन्य के बाद मौलबल आदि क्रम से दिखाई दिए सैनिक 'अगनित जोधा' से बोध्य हैं।

चिन्त्य है कि संपातिवचन को प्रमाण मानकर भी अशोकवन की ओर न जाने का कारण वन के सामीप्य में जाने पर भी हनुमान्‌जी को वह वन न दीखना बिभीषण-

हनुमद्संवाद से स्पष्ट है।

अथवा—शत्रुभय से रावण ने अनेक योद्धाओं से घिरे मन्दिर में ही रात्रि के समय सीतानिवास की व्यवस्था की होगी ऐसा सोचकर प्रथमतः योधगणों पर दृष्टि देने के कारण अशोकवन की ओर न जाना सम्भव है।

गयउ दसानन : हनुमान्‌जी को अपनी माता (सीताजी) पर विश्वास है कि वे दशानन के भुलावे में आ ही नहीं सकतीं। यह तथ्य रावणभवन देखने से यथार्थ हो रहा है जिसे 'गयउ दसानन' से व्यक्त किया है।

अति बिचित्र : लंका की शोभा कामिनियों के लिए प्रिय है न कि सीताजी के लिए; क्योंकि सीताजी को लोकभोग्य ब्रह्मकल्पित विषयों में जड़ता, अपवित्रता एवं माया का सम्बन्ध त्याज्यतया दीख रहा है। अतः वैसी पतिव्रताओं से भिन्नों के लिए 'अति बिचित्र' कहा है।

सो नाहीं : पूर्व जन्म में प्रतापभानु ने किए अतिशयित पुण्य और वर्तमान जन्म में रावण के पास जो तपस् है उसका फल है कि आटविक होते हुए भी रावण के पास अथाह संपत्ति आयी जिसका पार न पाकर शिवजी का मौन होना उनका कौशल है।

सयन किएँ : सीताभावसामानाधिकरण्य देखना 'सयन किएँ' से ध्यातव्य है यह अभाव विश्वास के साथ तभी कहा जा सकता है जब रात्रि में गुप्तरूप से अचानक पहुँचकर सीताजी की दृष्टि का विषय नहीं होना चाहिए। वही कार्य हनुमान्‌जी ने किया। इस तरह खोजते-खोजते रात्रि का पश्चिम (ब्राह्म) मुहूर्त आसन्न हो गया।

तेही : विचित्र वर्णनातीत मन्दिर का स्वामी रावण 'तेही' शब्दार्थ है।

न दीखि बैदेही : योग्यानुपलब्धिपूर्वक सीताभावप्रत्यक्ष होना 'न दीखि बैदेही' का ध्वनितार्थ है।

संगति—संपातिवचन के अनुसार अशोकवन दृष्टिगत होना चाहिये था किन्तु वैसा न होने से श्रमवैयर्थ्य देखकर हनुमान्‌जी मंदिर के बहिर्देश में लघुरूप हो विचरण करने लगे तो उन्हें राक्षसमन्दिराननुरूप एक विजातीय मंदिर देखकर उसकी दिदृक्षा होना कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— भवन एक पुनि दीख सुहावा । हरि मन्दिर तहँ भिन्न बनावा॥ ८॥

दोहा— रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृन्द तहँ देखि हरष कपिराइ॥ ५॥

भावार्थ—हनुमान्‌जी ने एक प्रासादविशेष को देखा जो अन्य प्रासादों से विजातीय था उसमें श्रीरामचरणचिह्न सुशोभित थे। आस-पास हरे-भरे तुलसी के पेड़ों की बहुतायत थी जिन्हें देखकर हनुमान्‌जी को हर्ष हुआ।

शास्त्रीय व्याख्या

रामायुध अंकित : जो ईश्वरशरणागत है उनके पहरेदार अगणित योधंस्थानापन्न श्रीरामायुध हैं। उनकी शोभा विलक्षण है। सजीव तेजोयुक्त श्रीरामायुधों से बिभीषणजी में सत्व, बल, आरोग्य, शील, अस्तब्धता आदि गुणों को हनुमान्‌जी ने समझना 'रामायुध अंकित' का प्रयोजन है।

सोभा बरनि न जाइ : शुचि सेवक के द्वारा विधि-विधान से स्थापित आयुधों में श्रीरामतेजस् आविर्भूत है यह शिवजी को आल्हादकर होने से सुशोभित प्रतीत हो रहा है ऐसे स्वसंवेद्य तथ्य को शब्दों से वर्णित न किया जाना 'बरनि न जाइ' है।

नव तुलसिका : तुलसीजी के पेड़ बहुतायत प्रसादविशेष में से यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं जो पूर्णतया विकसित हैं। रावण के यहाँ शासन बलात् सभी देव रहते हैं पर तुलसीजी के रहने का वर्णन नहीं है। बिभीषणजी को तुलसीजी का विशेष सहारा प्राप्त है। तुलसीजी व श्रीरामायुध मिलकर बिभीषण को भय, भ्रम, अरति, उचाट से बचा रहे हैं।

तहँ देखि : 'तहँ' से बिभीषणमन्दिर स्मर्तव्य है। लंका में मणियों व सोने से इतना प्रकाश था कि उससे सभी कुछ प्रकाशित हो रहा था पर स्वप्रकाशसम्पर्क में हनुमान्जी ने प्रसादविशेष को स्व (श्रीरामायुध व तुलसीजी) तेजस् से विशिष्ट रूप में देखना 'देखि' है।

हरषि : सीताशोधकार्य में श्रमवैयर्थ्य से होने वाले विषाद का निरसन होना 'हरषि' से सूचित है जो शुभ शकुन है।

कपिराइ : 'कपिराइ' कहने से राजत्वप्रयोजक देवतेजस् की प्राप्ति हनुमान्जी में ज्ञातव्य है। वह दिव्य तेजस् श्रीरामायुध व तुलसीजी के रहस्य को प्रकाशित कर रहा है।

बिभीषण मन्दिर में जाने की उपपत्ति

संपाति के द्वारा पता लगने पर भी अशोकस्थलरूप कारागार में हनुमान्जी का प्रवेश नहीं हो सका; क्योंकि वह आगार अदृश्यात्मक माया के पिंजरे से वेष्टित था उसको जब रावण दूर करता तभी अशोकवाटिका के भीतर जाया जा सकता था। इस तथ्य को बिभीषणजी जानते थे। अत: हनुमान्जी ने बिभीषणमन्दिर में पहुँचना उपपन्न है।

अथवा—किष्किन्धाकाण्ड दोहा २८।१२ में संपातिजी ने 'जहँ रहई' से यच्छब्दार्थ सुनाया अर्थात् 'यत्र-यत्र चिन्ताविशिष्टा सीता तत्र-तत्र अशोकवनं' ऐसा समझाया तदनुसार हनुमान्जी को यत्र सीताजी कहने वाले की अपेक्षा थी उसका उत्तर बिभीषणातिरिक्त से प्राप्त नहीं है अत: बिभीषणमन्दिर में जाना उपपन्न है।

संगति—भोग-विलास के साथ लंका में सकल दल सहित कामदेव मूर्तिमान् हो उपस्थित हैं उसके वैपरीत्य में द्वार पर श्रीरामायुध होना देखकर सज्जनवास होना हनुमान्जी को अनुमित होते हुए भी तर्क की अनुपलब्धि से शंका होना कवि कह रहे हैं।

चौपाई— *लंका निसिचर निकर निवासा । इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ॥ १ ॥*
मन महुँ तरक करैं कपि लागा । तेहीं समय बिभीषनु जागा ॥ २ ॥

भावार्थ—श्रीरामायुधअंकित मन्दिर को देखकर सज्जननिवास की कल्पना हनुमान्जी को हो रही थी। परन्तु यह लंकापुरी राक्षसों का निवास स्थान है। ऐसा विचार मन में आते ही तर्काभाव से शंका हो रही थी। उसी समय बिभीषणजी जग गए।

शास्त्रीय व्याख्या

लंका निसिचर निकर : 'लंका' नगरी शापभ्रष्ट भाग्यसम्पन्न निशाचरवासस्थली है।

लंका में सर्वत्र सज्जनताऽसमानाधिकारण निशाचरनिवास देखते-देखते रात्रि बीतने का समय आ पहुँचा। फलत: हनुमान्जी को फलोपलब्धि के अभाव में उदासीनता

और घृणा होना स्वाभाविक था उसी को 'लंका निसिचर निकर निवासा' से व्यक्त किया है।

इहाँ कहाँ? : 'इहाँ' शब्दार्थ लंकादेश है। कहाँ? प्रश्नार्थक है जो आश्चर्य का सूचक है।

सज्जन कर बासा : 'सज्जन कर बासा' से हनुमत्प्रसन्नता व्यक्त है; क्योंकि हनुमान्‌जी को अभीष्ट (सज्जन) वस्तु के निर्णय की कल्पना हो रही है। इस अभीष्ट सज्जन से प्रश्न पूछा जाय तो उनसे सीतामाता के स्थान का शोध लगेगा; क्योंकि ये सत्यभाषी निर्दंभ सन्त मालूम पड़ते हैं।

मन महुँ तरक : 'तरक' शब्द जिज्ञासा या सन्देहार्थकतया प्रचलित है। जैसे 'अत्र सज्जनवास: कथं? सज्जनश्च क:?' ऐसी उत्कट इच्छा या सन्देह 'तरक' से स्फुट है।

अथवा—यह राक्षसों की माया तो नहीं है ऐसा विचार भी यहाँ ज्ञेय है; क्योंकि यह परराष्ट्र है।

तेहीं समय बिभीषनु जागा : 'तेहीं समय' से उष:काल के पूर्व का ब्राह्ममुहूर्त बोध्य है। यह समय सज्जनों के उठने व भोगियों के सोने का है।

ब्राह्ममुहूर्त में बिभीषणजागृति, सज्जननिवास का अनुमापक है। हेतुतावच्छेदक (अनुमापकतावच्छेदक) अग्रिम चौपाई में द्रष्टव्य है। ब्राह्ममुहूर्त में जागकर बिभीषणजी ने—

एकं स्वयं ज्योतिरनन्तमव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम्।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम्॥
(श्रीमद्भागवत १०।७०।५)

की चरितार्थता व्यक्त की है।

चिन्त्य है कि व्याप्तिपक्षधर्मतायुक्त हेतु के रूप में ध्यानादिवृन्द निम्नलिखित रूप से ज्ञेय हैं जो 'तेहीं समय बिभीषनु जागा' शीर्षक से सूचित हैं जैसे—

ब्राह्ममुहूर्त में उठकर ध्यान करना, प्रसन्नचित्त से कीर्तन करना, पंचम स्वर में ही गाना, अचिन्ता, मधुर शब्द, विना किसी आज्ञा के बोलना, श्रीरामायुध की तेजस्विता, तुलसीवृन्दसमूह आदि।

संगति—बिभीषणरूप सज्जनवास का श्रीराम कीर्तनपूर्वक अनुमान कह रहे हैं जिससे हनुमान्‌जी की जिज्ञासा-संशय निरस्त हो गए।

चौपाई— राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा । हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा॥ ३॥

भावार्थ—ब्राह्ममुहूर्त में जगकर बिभीषणजी ने श्रीरामस्मरण किया जिसे सुनकर कपि के हृदय में सज्जनवास की पूर्ण अनुमिति होने से उन्हें हर्ष हुआ।

शास्त्रीय व्याख्या

राम राम तेहिं : प्रथम 'राम' शब्द श्रीरामार्थक है एवं दूसरा श्रीरामनामार्थक है एवंच स्मरण व कीर्तन उपपन्न है।

ब्राह्ममुहूर्त में जागृत बिभीषणजी तच्छब्दार्थ हैं।

सुमिरन कीन्हा : भक्तिशास्त्र सुनते अथवा पूर्वजन्मकृत पुण्यसंस्कारोद्बोध से आजीवन श्रीराम स्मरण होना 'सुमिरन' है। एवंच श्रीरामनामकीर्तन में रहा श्रीरामबोधक पंचमस्वर-वैचित्र्योच्चारणकर्तृकत्व हेतु बिभीषणजी की सज्जनता का अनुमापक है। 'कीन्हा' शब्द कर्तृत्व का वाचक है।

हृदयँ हरष : हनुमान्‌जी को प्राप्त समाधान, सन्देहनिरसन व विषयसिद्धि ऐसे तीन तथ्य कवि ने 'हरष' कहकर सूचित किये हैं।

सज्जन चीन्हा : 'सज्जन' शब्द सत्त्वगुणवत्ता का बोधक है। सत्त्वगुण का स्वरूप

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचः।
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानं च निर्दंभता॥
कर्मानिन्दितमस्पृहं च विनयो धर्मस्सदैवादरात्।
एते सत्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणाः कोविदैः॥

से भावप्रकाश में उक्त है।

'अयं निर्दंभी, सत्यवक्ता, शमप्रकृतिः, शास्त्रपरतन्त्रः, प्रयोज्यवृद्धः, ब्राह्मे मुहूर्ते स्वाभाविकतया सततं स्मरणपूर्वकं नामकीर्तनकर्तृत्वात्' इस अनुमानप्रणाली से सज्जनत्व अनुमित करना 'सज्जन चीन्हा' से ध्यातव्य है।

संगति—माता सीताजी के वासस्थलज्ञानार्थ उत्सुक हनुमान्‌जी बिभीषणजी से भेंट करने के प्रति अग्रिम कर्तव्य सोच रहे हैं।

चौपाई— ***एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी । साधु ते होइ न कारज हानी॥ ४॥***

भावार्थ—हनुमान्‌जी सोच रहे हैं कि मंगलकीर्तनकर्त्ता के साथ हठपूर्वक परिचय प्राप्त किया जाय तो कार्य हानि नहीं होगी किंबहुना सीताजी रूप हेतु (दोहा ५ में उक्त बिभीषणमन्दिर में जाने की उपपत्ति) का पता उनसे लग सकता है।

एहि सन : मन्दिरान्तर्वर्ती, कीर्तयिता, नामस्मर्ता साधु बिभीषणजी 'एहि' से बोध्य हैं। 'सन' सम्बन्धार्थक है।

हठि : 'हठि' से बिभीषणभेंट के प्रति अवश्यकर्तव्यता बोध्य है।

साधु ते : दुष्कर अर्थ की प्राप्ति के साधक साधु होते हैं। वे सदा जिज्ञासु की कार्यसंपत्ति के प्रति सहायक होते हैं।

संगति—शंकाकुल हो लघुरूप में बोलना सम्भव नहीं, वानररूप में बोलने पर गृहस्वामी को अमंगल शंका हो सकती है, अतः हनुमान्‌जी ने भेंट लेने हेतु मंगलवेष बनाया है।

चौपाई— ***बिप्र रूप धरि बचन सुनाए । सुनत बिभीषन उठि तहँ आए॥ ५॥***

भावार्थ—विप्ररूप में हनुमान्‌जी के वचेन सुनकर बिभीषणजी बाहर निकलकर आए।

शास्त्रीय व्याख्या

बिप्र रूप : अपने प्रति बिभीषणोपेक्षा न हो इस हेतु से 'बिप्र रूप' है। 'रूप' से वेषमात्र समझना है।

बचन सुनाए : 'भिक्षां गृहीतुं अहं अतिथिरस्मि कोस्ति गृहे? श्रीरामोदासोऽहं' इत्यादि वचन 'बचन' से बोध्य हैं।

सुनत : बिभीषणजी सोच रहे हैं कि लंका में कोई याचक तो नहीं है। ब्राह्ममुहूर्त भोगियों के लिए निद्राहेतुतया उपस्थित है। यह स्वर भेंट करने के प्रति इच्छुक श्रीरामके दास का मालूम होता है। इत्यादि विचार का उदित होना 'सुनत' का ध्वनितार्थ है।

उठि तहँ : प्रियश्रवणज आवेग 'उठि' का कारण है। 'तहँ' से वह स्थान विवक्षित है जहाँ से हनुमान्जी बोल रहे हैं।

आए : 'आए' से उपेक्षा न करना ध्वनित है। इससे हनुमान्जी की एक इच्छापूर्ति वर्णित है।

संगति—उपेक्षा न करते हुए बिभीषणजी ने आने का कारण समझने हेतु प्रथमत: नाम व कुशल पूछा। तदनन्तर भक्त्यनुगमन में प्रश्नान्तर कर रहे हैं। उससे बिभीषणजी की आर्यता प्रगट है।

चौपाई— ***करि प्रनाम पूँछी कुसलाई । बिप्र कहहु निज कथा बुझाई ॥ ६ ॥***
की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई । मोरें हृदय प्रीति अति होई ॥ ७ ॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी । आयहु मोहि करन बड़भागी ॥ ८ ॥

भावार्थ—बिभीषणजी ने हनुमान्जी से कुशल पूछा व अपनी कथा सुनाने को कहा जिसमें देश 'जाति' कुल आदि जिज्ञासित हैं। क्या आप हरिदासों में से कोई हैं? मेरे हृदय में आपके प्रति अतिप्रीति हो रही है। क्या आप स्वयं दीनों के नाथ श्रीराम हैं? जो मेरे महत्तर भाग्य का परिणाम है।

शास्त्रीय व्याख्या

करि प्रनाम : विप्ररूप सामने होने से कुशलोच्चारण है; क्योंकि ब्राह्ममुहूर्त में जिस स्वर से ब्राह्मण के आगमन की सूचना प्राप्त है वह याचनाविशेष का बोधक है। उसके पूर्त्यभाव में अकुशल भी ध्वनित हो रहा है।

निज कथा बुझाई : यह पुरोवर्ती उपस्थित व्यक्ति लंकानिवासी मालूम नहीं होता। बाहरी व्यक्ति का राजानुमति के विना आना सम्भव नहीं अत: पथिक से कथा समझने की इच्छा व्यक्त है। 'कथा' के अन्तर्गत नाम, देश, काल, निवास आदि ज्ञातव्य होंगे। 'बुझाई' शब्द जिज्ञासार्थक है।

की तुम्ह? : 'की' शब्द से पक्षान्तर सूचित है जो सर्वश्रेष्ठ भक्तिपरक है। 'तुम्ह' से श्रीरामसमशील अथवा श्रीरामदास के रूप में उपस्थित व्यक्ति बोध्य है।

हरिदासन्ह महँ कोई : जब हरिसेवक पूर्णता प्राप्त करते हैं अर्थात् वे शरीर व लोक को सर्वथा भूलकर प्रभु में आनन्दमग्न होते हैं तब वे हरिदास की कोटि में आते हैं ऐसा सोचकर भक्तिपक्ष से हरिदास उच्चरित है ये सभी श्रीरामकिंकर प्रभुआदेश के विरोधी न होकर नीतिमर्यादा के पालक ही होते हैं जो हनुमदुक्ति से स्पष्ट होगा। 'कोई' से ज्ञातपूर्व की व्यावृत्ति समझाई है।

मोरे हृदय प्रीति अति होई : पूर्व की चौपाइयों में हनुमत्परीक्षित साधु बिभीषणजी 'मोरे' से बोध्य हैं।

'हृदय' से शास्त्रप्राप्त उभयविकल्पनिरासक आत्मतुष्टिस्थल समझना है। वैसे हृदय में 'प्रीति अति' को प्रमाणतया परिगृहीत किया है वही शुद्ध आर्यता का सूचक है।

ज्ञातव्य है कि हरिदासों की कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के लिए विषय वे ही होते हैं जो हरिमूर्ति व तद्दास हैं। अतएव हनुमान्जी को देखते ही उनको बिभीषणजी ने 'हरिदासोऽयं' ऐसा समझना उपपन्न है।

चिन्त्य है कि भक्तों की इन्द्रियाँ विषयों के प्रति आकृष्ट होती हैं तो वह आकर्षण कामप्रयुक्त न होकर भगवत्प्रेरणामात्रप्रयुक्त होता है जैसे राजा जनकजी ने मिथिला में[1] प्रभु को पहिचानना प्रसिद्ध है।

अभी बिभीषणजी अभ्यागत के प्रति उभरी प्रीति का अनुराग में पर्यवसान देखकर अतिविस्मित हो रहे हैं। जिसे 'अति' से व्यक्त किया है।

की तुम्ह? : 'की तुम्ह' पक्षान्तर है। अर्थात् बिभीषणजी ने शुद्धहृदय होने से हनुमच्छरीर में श्रीराम को देखा है। जैसा कि लंकिनी ने 'हृदय राखि' कहा है। फिर भी शरीर की दृष्टि से 'तुम्ह' कहा है।

राम : जैसे भरतजी को आते देख कौसल्याजी ने उनमें श्रीरामत्व को देखा[2] व सन्तोष व्यक्त किया वैसी ही स्थिति अभी बिभीषणजी को प्राप्त है।

आयहु : जीव अपने पुरुषार्थ से प्रभु के समीप पहुँचने में असमर्थ है पर प्रभु को पाये विना सुखी भी नहीं है। अत: वह दीन है। कभी प्रभु स्वयं ही उसके पास आ जाते हैं ऐसा सोचकर बिभीषणजी का अनुमान चिन्त्य है—'त्वं श्रीरामत्वतद्दासत्वान्यतरवान् मत्प्रीतिविषयत्वात्।' जैसा कि बालकाण्ड में मिथिला में पहुँचे श्रीराम के प्रति जनकजी ने प्रीतिविषयत्व से श्रीराम में ब्रह्मत्व को अनुमित करना प्रसिद्ध है।

करन बड़ भागी : साधुओं की भेंट का कारण वही है जो श्रीरामदर्शन का कारण है। अन्तर इतना ही कि किसी से पहले प्रभु भेंट करते हैं तो किसी से साधु की भेंट होती है। इस प्रकार अतिथिसम्बन्धी प्रश्न पूर्ण है। यह बिभीषणोक्ति हनुमान्जी की उपधाशुद्धिपरीक्षणार्थ है।

संगति—बिभीषणोक्ति से सन्दिग्धकोटि से हटकर हनुमान्जी प्रकारान्तर से उत्तर दे रहे हैं जो भक्तिपक्ष के लिए शोभनीय है न कि अर्थान्तर से ग्रस्त है।

दोहा— ***तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।***
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥ ६ ॥

भावार्थ—हनुमान्जी ने उत्तर में श्रीरामकथा सुनाई व निजनाम प्रसंगात् सुनाया तब दोनों साधु पुलकित व श्रीराममग्न हो गए।

शास्त्रीय व्याख्या

तब : 'तब' से बिभीषणप्रश्नानन्तर्य बोध्य है।

हनुमन्त : उत्तरदाता होने से साधुत्वेन 'हनुमन्त' यहाँ कीर्तित हैं।

रामकथा : श्रीरामजन्म से लेकर सीताहरणान्त कथा 'रामकथा' से बोध्य है।

निजनाम : श्रीरामकथांगत्वात् 'निजनाम' कीर्तित है। उससे हनुमान्जी में श्रीरामदासत्व स्पष्ट हो गया।

---

[1] श्रीरामचरितमानस १।२१६।२

[2] श्रीरामचरितमानस २।१६५।१

सुनत जुगल : प्राय: कीर्तयिता नटवत् सहृदय नहीं होते तथा श्रोता विषयरसिक होने से उनमें ईशरति नहीं होती। यह दोष बिभीषणजी व हनुमान्‌जी दोनों में नहीं है दर्शानेहेतु 'सुनत जुगल' कहा है।

तन पुलक : श्रीरामप्रीति का अनुभाव रोमांच है उसकी स्थिरता दोनों भक्तों में समान है। इस प्रकार साधुत्वेन स्थित वक्ता व श्रोता का समागम विषयभोक्तृसमाज में दुर्लभ होना 'तन पुलक' से ज्ञातव्य है।

मन मगन : 'मय्यावेश्य मनः कृत्स्नम्'[१] में सूचित मनोवृत्ति होना 'मनमगन' है।

गुन ग्राम : दास की श्रेणी में गिने जाने वाले रसिक भक्त प्रभु के गुणों को कहते-सुनते हुए पूर्ण तृप्त नहीं होते; क्योंकि जैसे प्रभु अनन्त हैं वैसे ही उनके गुण भी अनन्त हैं वे ही साधुओं के जीवनाधार हैं। उसका तात्पर्य प्रभु में रहा करुणासहकृत वात्सल्य है।

संगति—बिभीषणजी अपने में श्रीरामकृपाऽपात्रता समझते हुए भी अपने प्रति हुई श्रीरामकृपा के प्रति विस्मय प्रगट कर रहे हैं।

चौपाई— *सुनहु पवनसुत! रहनि हमारी । जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी॥ १॥*
तात! कबहुँ मोहि जानि अनाथा । करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥ २॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं । प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥ ३॥

भावार्थ—श्रीरामायुधचिन्हयुक्त घर में रहना राक्षसरूपी दन्तों के बीच जीभ का रहना है। हे तात! आप मुझे यहाँ सदा अनाथ ही समझें। यत: मैं (तामस तनु) लंका में रहकर खलसंसर्ग में आगममात्रोक्त कर्म का अधिकारी रहा। अत: श्रीरामकृपापात्रता की योग्यता मुझमें है ऐसा कह नहीं सकता।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनहु पवनसुत! : 'सुनहु' धातु वक्ष्यमाण वचन कर्मक है। 'निजनाम' रूप उत्तर में पवनसुत सुनकर 'पवनसुत' सम्बोधन किया है।

रहनि हमारी : कर्मकाण्डप्रोक्त कर्मज अदृष्ट शक्ति से प्राप्त प्रबलतम शासन में बसे भोगरसिकों के मध्य अकेले व्यक्ति ने आगमसम्मत औपनिषद पुरुषवचनमात्र के विश्वास में रहना 'रहनि' है। श्रीरामायुध, तुलसी, ध्यान व कीर्तनसहकृत श्रीरामकथा में विभोर बिभीषणजी अस्मच्छब्दार्थ हैं।

दसनन्हि : दन्तों की कठोरता, अदयालुता जैसे प्रसिद्ध है वैसे ही यहाँ के सभा एवं परिकर से राजा तक ने कठोर, हिंसालु, निर्दयी होना प्रसिद्ध है।

जीभ : जिह्वा कोमला रसवती है उसका साधर्म्य बिभीषणजी में है उनके पास भक्तिरस है जिससे वे रावणादि से यथास्थान रहते उपेक्ष्य हैं यदि वे प्रमादी होते हैं तो राजशासन से तत्काल ही दण्ड्य होते हैं; क्योंकि राजशासन का ही बहुमत है उनका ही शासन है कोई भी ऐसी धर्मशक्ति अवशिष्ट नहीं जो रावण की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ी हो सके।

कबहुँ मोहि : 'कबहुँ' प्रश्न कृपाप्राप्तिकाल का बोधक है। प्रश्न होने का कारण प्रभुकृपा के प्रति स्वयं में अयोग्यता समझनी है। 'मोहि' का अन्वय 'अनाथा' से है। इससे

---

[१] श्रीमद्भागवत १०।४७।३६

अनाथ, दया के पात्र बिभीषणजी समझने हैं।

अनाथा : 'अनाथा' इसलिए कि प्रभु ने चौरासी लाख योनियों में से एकमात्र आगम-निगमसम्मतअनुष्ठाना मानव पर ही दया की है उन्हें ही अधिकारिभेदेन वेदों व आगम के माध्यम से विधि-निषेध सिखाकर कृपापात्र होने का क्रम समझाया है। अत: कुलादिदृष्ट्या प्रभु हम जैसों के लिए नाथ न होने से 'अनाथा' कहा है।

करिहहिं कृपा : लंकावास से मनोवृत्ति निवृत न होने से लंका के बाहर जाना भी असम्भव है अत: 'करिहहिं कृपा' कहा है। रावणपारतन्त्र्यप्रयुक्त पीड़ा से नैगमिक धर्म अनुष्ठेय नहीं हो रहे हैं न तो राक्षसोचित आगमोक्त कर्म ही अनुष्ठित हो रहे हैं। अत: कर्म को विधिवत् संन्यस्त कर श्रीरामादेशानुबन्ध में दास कर्म करने की योग्यता भी प्राप्त नहीं है। वह तभी प्राप्त हो सकती है जब अनाथ 'बिभीषणजी' पर श्रीराम वत्सलभाव से कृपा करेंगे।

तामस तनु : भक्तिरूप धर्म सर्वाधिकारिकतया स्वीकृत है तथापि वह इस शरीर में सम्भव नहीं; क्योंकि यह तामस शरीर है। इसने श्रीरामादेश की स्व में परतन्त्रता न मानकर स्वतन्त्रता ही लक्षित की है। फलत: 'तामस तनु' के पास भक्ति न होना 'तामस तनु' का भाव है।

कछु साधन नाहीं : 'कछु साधन नाहीं' से पूर्वोक्त विधेयभूत साधनविशेषाभावकूट समझाकर साधनसामान्याभाव समझाया है।

प्रीति न : धर्मसाधनाभाव होने पर भी यदि प्रभु के प्रति प्रीति जन्मत: प्राप्त है तो साधनाभावकूट अखरता नहीं है। 'इदमेव सुखं' यह प्रतीति 'प्रीति' है। वह भी चिन्तित होती रहे तो श्रीरामकृपा का पात्र बना देती है परन्तु बिभीषणजी अपने में वह अव्यभिचरितप्रीत्यभाव 'न' से दर्शा रहे हैं। उसका निष्कर्ष विश्वासाभाव में है न कि श्रद्धाभाव में। इस प्रकार से बिभीषणजी की निर्वेदस्थिति व दीनतासहचरित भक्ति ध्वनित है। यह दीनतासहचरित भक्ति इसलिए कि रावण व उनके जनों के समान बिभीषणजी भोग में रुचि नहीं रखते हैं।

पद सरोज : जब मेरे (बिभीषण) मनस् ने प्रभुपदधूलि को आलम्बित नहीं किया तो मोहापसारण कैसे होगा? यह प्रश्न बिभीषणजी को त्रस्त कर रहा है।

ज्ञातव्य है कि बिभीषणजी की यह पीड़ा कृष्णविरहपीड़ित गोपियों के समान है।

संगति—अप्रत्याशित वत्सलतासहचरितकृपा होना अभी बिभीषणजी अनुमित कर रहे हैं।

चौपाई—अब मोहि मा भरोस हनुमन्ता! । बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता ॥ ४॥

भावार्थ—हे हनुमान्जी! अभी मुझे विश्वास हो रहा है कि मुझ पर श्रीराम की कृपा है। उसके विना सन्त नहीं मिलते।

शास्त्रीय व्याख्या

अब मोहि भा भरोस : अभी एक रसिक के सामने पूर्वोक्त दीनतासंवलित श्रीरामकृपा को प्रकाशित करने का अवसर 'अब' से विवक्षित है।

'मोहि' से साधनभूत धर्म व साध्यभूत प्रीति से विरहित दीनताविशिष्ट बिभीषणजी समझने हैं।

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 5758

'भरोस' विश्वासवाचक है वह 'कृपा' से अन्वित है अर्थात् 'अहं श्रीरामदयापात्रं' यह दृढ़ विश्वास ही 'भरोस' है, जो आजतक नहीं हुआ था कारण यह कि वे श्रीरामकृपापात्रता के प्रति सन्दिग्ध थे।

हनुमन्ता : हनुमान्‌जी की पूज्यता पवन (पितृ) आदिसम्बन्ध से न होकर उनके निजी व्यक्तित्व से समझना 'हनुमन्ता' का लक्ष्य है।

बिनु हरि कृपा : 'भरोस' में ज्ञापित प्रतिज्ञातार्थ (अहं श्रीरामकृपापात्रं) का साधक कहकर व्यतिरेकव्याप्ति व व्यतिरेकसाहचर्य 'बिनु हरि कृपा' से दर्शा रहे हैं। आशय यह कि उक्त रीति से साधन के अभाव में भी प्रभु व्यक्तिविशेष पर दया करके किसी व्याज से सन्तों से भेंट होने हेतु कई बानक बनाते हैं। एवंच यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति में हरिकृपा का अभाव बताकर व्यापकाभाव समझाया। व्याप्याभाव 'मिलहिं नहिं सन्ता' में स्पष्ट होगा।

मिलहिं नहिं सन्ता : 'मिलहिं नहिं' से भेंट का अभाव ज्ञातव्य है, तत्प्रतियोगीकोटि में सन्त आते हैं जो दोहा ६ में व्याख्यात हैं। सन्त शुचि होते हैं तथा अशुचि स्थान से दूर रहने में ही सुखानुभवी होते हैं अतएव एकान्तसेवी होते हैं फलतः सन्तों से भेंट नहीं होती। अतः बलवत्तर कारण के रूप में औपनिषद् पुरुष की इच्छाशक्ति की अभ्यर्हितता बताकर 'मिलहिं नहिं' होना समझाया है।

संगति—व्यतिरेकमुखेन प्रभुकृपा में सन्तमिलन के प्रति अनन्यथासिद्धत्व दर्शाकर उसमें अवश्यक्लृप्त पूर्ववृत्तित्व दर्शा रहे हैं जो प्रभुकृपाप्राप्ति का अबाधित अनुमापक है।

चौपाई— *जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा । तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा ॥ ५ ॥*

भावार्थ—मुझ पर रघुपति की कृपा ज्ञात होती है जो पूर्ववृत्ति है। अतः आपने मुझे अपेक्षापूर्वक दर्शन दिया है।

शास्त्रीय व्याख्या

जौ : 'जौं' का अर्थ यस्मात् है। फलतः रघुपतिकृपा में अवश्यंभावितया फलनियत-पूर्ववृत्तिता स्फुट की है, इस प्रकार साधुसंगति के महत्व को समझाने हेतु साधनान्तर से श्रीरामकृपापात्रता की सामग्री एकत्रित करने में कठिनाई बताई गई है।

रघुबीर : मायामनुष्य रूपों में अवतीर्ण मानवसम्राट् 'रघुबीर' से बोध्य हैं।

अनुग्रह : स्व दुष्टता से प्रसक्त पीड़ा व नरकभीति से अपने को सन्त की भेंट बचाती है। इसकी उपपत्ति यह कि विधिनिषेधातिक्रमणप्रयुक्त पापप्रायश्चित्ताभाव सुनकर ग्लानि न रखते हुए सन्तोपदेश से भागवतोपदिष्ट सामान्य व विशेष धर्म पर अपराधी यदि आरूढ़ होते हैं तो वे भी अनुग्रह के पात्र होते हैं उसके उदाहरण बिभीषणजी शबरीजी आदि हैं।

कीन्हा : 'अनुग्रह' शीर्षक में उक्त सन्तमिलनस्थ व्यतिरेक व्याप्ति 'कीन्हा' शब्द से दर्शाई है। उस दृष्टि से सीताहरणादि सभी कार्य अनुग्रह के अन्तर्गत हैं।

तुम्ह : भूतानुकम्पा, धर्मपालन, दया, विद्याप्रकाश, साधुता व सात्विकता से सम्पन्न, हनुमान्‌जी 'तुम्ह' से बोध्य हैं। ऐसे साधु संसार से स्वयं दूर हो 'त्वं तव अहं मम' की माया से अनावृत हो सुखी होते हैं व दूसरे साधुओं को भी उपाय समझाकर उनको वही सुख प्रदान करते हैं।

मोहि दरसु : प्रभुसाधुअन्यतरदर्शनार्थी 'मोहि' से व्याख्यात हैं। उसका अन्वय कर्मकारकतया 'दरसु' से है। 'दरसु' का भाव यह नहीं कि हनुमान्‌जी को बिभीषणजी से कोई अर्थ प्राप्तव्य था जो दर्शन के प्रति स्वतन्त्रकर्तृताप्रयुक्त स्वार्थप्रसक्ति का कारण होता।

हठि दीन्हा : 'बिभीषणदर्शनं विना प्रभुकार्यं न संपत्स्येत' ऐसी अनुपपत्ति 'हठि' से बोध्य है।

अथवा—'दसनन्हि महुँ जीभ' जैसी स्थिति से आक्रान्त बिभीषणजी का उद्धार करने का निश्चय करना 'हठि' है। अतएव प्रस्तुत दर्शनकर्तृत्व हनुमान्‌जी में उपपन्न है जो 'दीन्हा' से सूचित है। इस प्रकार सन्तशिरोमणि हनुमद्दर्शनकार्यानुमित श्रीरामकृपा समझकर भी तदुत्पादक धर्म स्व में न देखकर बिभीषणजी ने आश्चर्य प्रगट किया; क्योंकि वे पवनसुत को विप्र समझ रहे हैं।

संगति—कृपोत्पादकतया श्रीराम का निरपेक्ष सहज वात्सल्य समझाने हेतु हनुमान्‌जी स्वयं में श्रीरामकृपाननुकूल ग्राम्यत्व का निरूपण कर श्रीरामप्रीति (वात्सल्य) विषयता वर्णित कर रहे हैं।

चौपाई— ***सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीति। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥ ६॥***

भावार्थ—हे बिभीषणजी! प्रभु की यह रीति है कि वे सदैव सेवक पर प्रीति ही करते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनहु : हनुमान्‌जी ने बिभीषणजी से भक्ति व श्रीरामवात्सल्य के मध्य में स्थित कार्य-कारणभाव सावधानपूर्वक समझने हेतु 'सुनहु' कहा है।

बिभीषन प्रभु कै रीती : 'बिभीषन' सम्बोधन सावधानतार्थक है; क्योंकि उन्हें उपदेश देकर शंकानिवृत्त करना है।

प्रभुकृपा को प्राप्त करने की प्रक्रिया 'प्रभु कै रीती' है।

सदा : जीव यदि जन्मान्तर में सेवक रहा है तो उस पर प्रीति (वत्सलता) का अविच्छेद रहना 'सदा' का भाव है। भले ही वह अधःपतित हो या शुभ कर्म से उच्चपदाधिष्ठित हो उभयथापि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' का सिद्धान्त स्थिर है।

सेवक पर प्रीती : श्रीराम ने आत्मीयत्वेन स्वीकार करना ही 'प्रीती' है।

ज्ञातव्य है कि सेवकत्व प्राणिमात्र के लिए स्वीकृत है अतः सर्वसाधारण्येन श्रीरामप्रीति प्राप्त करने में सभी अधिकृत हैं। यह सेवकत्व जातिविशेष, कुलविशेष, तनविशेष पर आधारित न होकर प्रभु के उपदिष्ट वेदागमान्यतरशास्त्रानुमोदित आज्ञापालन करने पर आधारित है। यह उपदेश अपरिवर्तनीय है; क्योंकि प्रभु वेद व आगम की सार्वभौमता पर आँच नहीं आने देते। सत्वगुणसम्पन्न ब्रह्म-क्षात्रतेजस्, पतिव्रततेजस् व विद्यातेजस् से प्राप्तव्य लोकयात्रा को स्थिर रखने के लिए प्रभूपदिष्ट निगमागमविधान ही एकमात्र साधन समझाना है; क्योंकि इसीके माध्यम से बिभीषणजी को निश्शंक बनाना हनुमल्लक्ष्य है।

प्रकृत संवाद में निर्दिष्ट अनुमिति की निर्दुष्टता विचारणीय है। उसके अन्तर्गत 'अहं श्रीरामकृपाऽपात्रं तामसतनुत्वात्' एवं 'अहं श्रीरामकृपापात्रं साधुदर्शनविषयत्वात्'—इन दो

प्रकार की विरुद्ध अनुमानप्रणाली से बिभीषणजी संदिग्धावस्था में आए। उस पर हनुमान्जी का शब्दप्रमाणाधीन समाधान मननीय है जैसा कि शब्दप्रमाणप्रमित होकर नीत्यनुष्ठान से बिभीषणजी कृपापात्र होने से उनमें कृपाऽपात्रत्व बाधित है अन्यथा हनुमान्जी को कृपाऽपात्र कहना होगा जो बिभीषणजी को अमान्य है। यदि ऐसा कहा जाय कि बिभीषणोक्ति के अनुसार हनुमान्जी साधु नहीं तो साधुदर्शनविषयता बिभीषणजी में न होने से वह हेतु पक्ष वृत्ति नहीं होगा जो दोनों पक्षों को मान्य नहीं है इत्यादि तथ्य हनुमान्जी अग्रिम उक्ति में स्वयं समझायेंगे। अत: 'सुनहु बिभीषन' कहकर शब्दप्रमाण को उपस्थापित कर बिभीषणजी में कृपापात्रता बताते हुए उन्हें निस्संदिग्ध किया है। इस प्रकार शब्द की प्रधानता में द्वितीय अनुमान प्रणाली को निर्दुष्ट बनाना हनुमान्जी का बुद्धिवैशारद्य व कृपा साधनत्व स्पष्ट है।

संगति—शब्दप्रमाण से कृपासम्बन्धी सिद्धान्त सुनकर उसको उपेक्षित न करने हेतु विशिष्ट जातिवर्णभेदेन तत्तन्निष्ठ कृपासाधनता को याद कर जात्यादिद्वारक हुई कृपाऽपात्रत्वानुमिति को अप्रमाणित करने हेतु जात्यादि में कृपासाधनतावच्छेदकत्वाभाव समझा रहे हैं।

चौपाई— ***कहहु कवन मैं परम कुलीना ? । कपि चंचल सबहीं बिधि हीना ॥ ७ ॥***
प्रात लेइ जो नाम हमारा । तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ॥ ८ ॥

दोहा— ***अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।***
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥ ७ ॥

भावार्थ—मैं भी क्या कुलीन हूँ। वानरों का स्वभाव अविमृश्य कार्य करना है। इस हेतु से वानर किसी भी प्रकार से विधिनियुक्त नहीं हैं। जो व्यक्ति सुबह वानर का नाम लेते हैं उन्हें उस दिन भोजन नहीं मिलता है। फिर भी हे सखे! मेरे जैसे अधम पर प्रभु ने कृपा की है। ऐसा कहते-कहते हनुमान्जी के नेत्र प्रेमाश्रुओं से भर गए।

शास्त्रीय व्याख्या

कहहु : बिभीषणजी की समानधर्मता शरीरदृष्ट्या हनुमान्जी अपने में समझाकर उभयसाधारण्येन शब्दप्रमाणसिद्ध कृपापात्रता 'कहहु' से व्यक्त कर रहे हैं ताकि कृपापात्रत्वसाधक साधुदर्शनविषयताहेतु को बल प्राप्त होता रहे। फलत: साधुदर्शनविषयता में पक्षवृत्तित्व 'कीन्ही कृपा' से समझाने में सरलता प्राप्त होगी।

मैं परम कुलीना : अपनी माता का परिचय न देने से स्व में हनुमान्जी ने कुलीनत्वाभाव 'मैं परम कुलीना' प्रश्न से दर्शाया है।

चंचल : तर्कपूर्वक कार्य न करते हुए आत्मप्रकाशन करना चंचलता है जो कपिजाति का स्वभाव है।

सबही बिधि हीना : 'सबही बिधि हीना' होना लोकदृष्टि व परदृष्टि से समझना है। अर्थात् चपलता सहचरित कर्तव्यहीनता लोकदृष्ट्या प्रसिद्ध है परलोकदृष्ट्या विधिहीनता स्वयं आगे कहेंगे।

हमारा : 'हमारा' से वानरजाति विवक्षित है।

अस मैं अधम सखा : 'अस' से उक्त दोष (चपलता)-विशिष्ट कपिजातिमान् समझने हैं। 'मैं' से स्व में कपित्वजातिमान् होना समझाया है।

हनुमान्‌जी ने अपने को तनुदृष्ट्या 'अधम' कहा है। यही परलोकदृष्ट्या भी विधिहीनता है।

स्मर्तव्य है कि यद्यपि शंकारहित हनुमान्‌जी गुरु हैं उनके वचन से बिभीषणजी सन्देहमुक्त हुए तथापि हनुमान्‌जी का उपदेश सुहृद्‌सम्मत होने से उन्होंने 'सखा' कहा है।

सुनु : 'सुनहु' न कहकर 'सुनु' कहा क्योंकि यहीं से हनुमान्‌जी का कण्ठ अवरुद्ध होने से 'हु' लुप्त है।

अथवा—कृपा व सेवासम्बन्धी कार्य-कारणभाव को बिभीषणजी ने सावधानी से सुना है। अभी केवल कार्यरूपकृपाप्राप्ति को ही श्रोत्रप्रत्यक्ष से वेद्य कर सेवकत्वरूप साधनमात्र की ओर ध्यान देना है अत: 'सुनु' कहा है उसका भाव स्वेच्छामूलक कार्य न करना, असूया-मात्सर्यशून्य होना, परहितसाधन में तत्पर रहना, अधर्म, अनर्थ व द्वेष से दूर होकर विरक्त रहने में है।

मोहू पर रघुबीर : श्रीरामकृपासाधक सेवाव्रत में रहे हनुमान्‌जी मच्छब्दार्थ हैं।

श्रीराम सेवक को सम्भावित विपत्ति से बचाकर रक्षण करने वाले होने से उन्हें 'रघुबीर' कहा है।

कीन्ही कृपा : बाल्यावस्था में चंचलता से प्रयुक्त हुए कार्य पर ध्यान न देना, तारुण्य में राजसेवा करते हुए धैर्य देने में सहायक होना, लंका में आते हुए विपत्तिनिवारणोपाय सूझना श्रीरामकृपा का फल है वही श्रीरामकृपानिरूपित साध्यता का अनुमापक है।

सुमिरि गुन : 'सुमिरि' का अन्वय 'गुन' से है। अर्थात् श्रीराम व उनके गुणों की स्मृति से कंठावरोध होना पूर्ण भक्ति का लक्षण है।

'गुन' से श्रीराम में वात्सल्य का स्थायित्व आदि चिन्त्य है।

भरे बिलोचन नीर : प्रभुगुणस्मरण करते हनुमान्‌जी की आँखें डबडबाना व वाणी बन्द होना 'भरे बिलोचन नीर' है।

अथवा—पौन:पुन्येन साधन व साधक रूप में श्रीरामकृपा ही स्मृत होने से अश्रुधारा बन्द नहीं हो रही है। इस प्रकार आँखों का अश्रुयुक्त होना 'भरे बिलोचन नीर' से समझना है।

संगति—सुधि होते ही धृतिसंपृक्त मतिपूर्ण करुणा में आकर हनुमान्‌जी जगत् के प्रति खेद प्रगट कर रहे हैं।

चौपाई— जानतहूँ अस स्वामि बिसारी । फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी ॥ १ ॥

भावार्थ—स्वामी श्रीराम की कृपा से दुरितध्वंसपटुता को जानते हुए भी प्रभु को विस्मृत करने के परिणाम में जगत् दु:खी है जो महान् खेद का विषय है।

शास्त्रीय व्याख्या

जानतहूँ : आन्वीक्षिकी से मोहपटल दूरकर कृपा में सकलदुरितध्वंसनशीलता को समझना 'जानतहूँ' है।

अस : कृपापात्रता व सेवकत्व के अन्वयव्यतिरेक के अन्तर्गत रहे कारणतावच्छेदक के रूप में गुण व जन्मप्रयुक्त जाति आदि के अविरोधेन भक्ति को संकुचित न करते हुए श्रीरामादेशपालन को मानना 'अस' का भाव है। वह 'बिसारी' से अन्वित है।

स्वामि : सेवक अंगीरूप में श्रीराम को स्मृतिविषय बनाते हैं और उनके अनुशासन को स्वीकारते हैं तो श्रीराम सेवक के स्वामी होते हैं ऐसा समझाने के विचार से हनुमान्‌जी

ने 'स्वामि' कहा है।

बिसारी : जानते हुए भी आवरणभंग न होना या आवरणभंग होकर भी पुनः आवरण में आकर स्वामी को भूलना 'बिसारी' है।

फिरहिं : तृष्णा व आशा में संपत् एवं तत्पति धनिकों के पीछे दौड़ना 'फिरहिं' है।

काहे : श्रीरामातिरिक्त किसी में भी कार्यसम्पादन की कुशलता एवं विघ्नविध्वंसनिवारण की क्षमता नहीं है; क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र अदृष्ट, काल, कर्म, गुण, मनस् आदि तृष्णा के वशीभूत होने से 'काहे' प्रश्न निरन्तर उपस्थित है।

न होहिं दुखारी : श्रीरामाधीनता में सुख प्रकाशित होता है पर उसे उपेक्षित करके विषयतृष्णादि की तृप्ति हेतु किया हुआ धर्माचरण सेवा न होकर संसारबन्धन का कारण हो जाता है अतः 'दुखारी' कहना उपपन्न है। इससे हनुमान्‌जी का स्वभाव स्फुट है जहाँ धृति, मति, तर्क, सेवा व भक्ति आदि परिपूर्ण हैं एवं दुःखदायी कामादि की अधीनता का अभाव भी सतत टिका है वहाँ धर्मबाधक नहीं है। इस तथ्य को ध्यान में न लाकर धर्माचरण करना श्रीरामसेवा न होकर संसारबन्धक ही हो जाता है।

संगति—गुरु व जिज्ञासु दीन-शिष्य का संवाद प्रसंगात् सुनाकर शिवजी विपरीत धारणानिरासपूर्वक पारस्परिक संवाद से प्राप्त शमसुख सुना रहे हैं।

चौपाई— एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा । पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥ २॥

भावार्थ—पूर्वोत्तरपक्ष से श्रीरामगुणकीर्तन करते-करते हनुमान्‌जी व बिभीषणजी अनिर्वचनीय ब्रह्मसुखानुभूति में आ गए।

शास्त्रीय व्याख्या

एहि बिधि : शिष्य ने जिज्ञासापूर्वक विनय में रहना, अन्वीक्षिकीकौशल से भक्तिप्राधान्य में धर्म की स्थापना करना, वेद व आगम की सार्वभौमता पर आँच न आने देना, ज्ञान में अगर्व का पुट देना 'एहि बिधि' है।

राम गुन ग्रामा : 'राम' शब्द स्वामी के रूप में उक्त है। 'गुन' से स्वामि प्रकृतिक सर्वगुण ध्यातव्य हैं। 'ग्रामा' का प्रयोजन गुणों की अनन्तता समझाने में है। परिणाम में श्रीरामगुणस्मृति का अन्त होना ही नहीं है।

अनिर्बाच्य : हनुमान्‌जी व बिभीषणजी दोनों ही अकाम होने से विषयान्तरचर्चा से बहिर्मुख हैं। प्रस्तुत संवाद में श्रीरामकार्यविषयिणी चिन्ता हनुमान्‌जी को बनी हुई है। उस अवस्था में भी संवाद से जो सुख प्राप्त हुआ वह विद्या शम से प्राप्य विषयासंस्पृष्ट निर्विकल्पक होने से 'अनिर्बाच्य' है। ऐसे सुख को भक्तिमत में भक्तिसुख कहा जाता है। उसका वैशिष्ट्य सेव्य-सेवकभाव के स्थैर्य में है।

ज्ञातव्य है कि हनुमान्‌जी जैसे महात्माओं को प्राप्त सुख एवं श्रोत्रियों को प्राप्त सुख एकजातीय है वह स्वसंवेद्य है। इसी प्रकार भगवत्प्रसादमात्रप्राप्त्युद्देश्येन जो धर्म अनुष्ठित होते हैं उनमें धर्मानुष्ठाता को जो सुख प्राप्त होता है वह भी स्वसंवेद्य हो अनिर्वचनीय है। ऐसे सुखों की अनिर्वाच्यता 'अनिर्बाच्य' से समझायी है।

बिश्रामा : उपनिषदुक्त मानुषसुख से प्रारम्भ कर ब्रह्मसुखपर्यन्त जो भी सुख गाए गए हैं वे सभी सुख अकामहत को प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत में दोनों (हनुमान्‌जी व

बिभीषणजी) अकामहत हैं उनको प्राप्त हुआ श्रीरामगुणस्मरणसुख विश्रान्ति देने वाला होने से 'बिश्रामा' कहा है। जो दोहा ६ में उक्त 'तन पुलक' का परिपाक है।

इस प्रकार 'भक्तिं प्रयच्छ' के साथ कामादिदोषराहित्य की इतिकर्त्तव्यता व सफलता समझाना सुन्दरकाण्ड का प्रमुख सौन्दर्य है।

संगति—श्रीरामप्रीति प्राप्त करने की सहज साध्यता तर्क से समझकर भी उससे वंचित रावण के द्वारा सम्पादित सीताहरण कर्म के प्रति अतिपीड़ित बिभीषणजी खेद प्रगट कर रहे हैं जो हनुमान्‌जी के लिए सीतावासस्थलसम्बन्धी प्रश्न का कारण होगा।

चौपाई— *पुनि सब कथा बिभीषन कही । जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही ॥ ३ ॥*

भावार्थ—बिभीषणजी ने वह कथा सुनाई जिससे लंका में जनकसुता के रहने का प्रकार ज्ञात हो।

शास्त्रीय व्याख्या

कथा : लंकास्थित सीतानिवाससम्बन्धी चरित्र 'कथा' शब्दार्थ है।

बिभीषन कही : हनुमान्‌जी से प्राप्त प्रबोध तथा श्रीरामप्रीतिसाधक चरित्र के अनुष्ठाता बिभीषणजी 'बिभीषन' से बोध्य हैं।

'कही' से अपहृत जनकसुतासम्बन्धी वचन समझने हैं जो साधु बिभीषणजी के द्वारा भाषित होने से यथार्थ हैं। उनके आधार पर निर्णीत सीतास्तित्वरूप हेतु सर्वत: अदृश्य अशोक स्थल वृत्तित्वरूप साध्य का अनुमापक हो सका जो चारों ओर से रावणकृत माया से आवृत था। जैसा कि किष्किन्धाकाण्ड में दोहा २८। १२ में सम्पातिवचन से स्पष्ट है।

जेहि बिधि की उपपत्ति

श्रीराम प्रभु होते हुए भी मानव हैं। उन्होंने सोत्साह वानरों को साथ लेकर लंका में पहुँचकर रावण को धराशायी करने का कार्यारम्भ यथासमय न करना देखकर सीताजी में भड़की वेदना का परिणाम 'जेहि बिधि' की उपपत्ति है। 'जेहि बिधि' का भाष्य दोहा ९ चौपाई २ से दोहा १२ चौपाई २ तक में किया है।

जनकसुता : राक्षसियों के मध्य में रही रावण के द्वारा अपहृता सीताजी 'जनकसुता' से बोध्या हैं। वे विदेह जनकपुत्री होने से जीविता हैं इससे सीताजी के पतिव्रत धर्म के प्रति रही प्रीति पूर्णतया प्रमाणित होती है।

तहँ रही : 'तहँ' से लंकास्थलविशेष बोध्य है। धर्मप्रभाव व श्रीरामप्रीति के सम्बन्ध से सीताजी का जीवित रहना 'रही' है।

संगति—शिवजी कहते हैं कि बिभीषणजी से स्वकार्यसिद्धि देखकर हनुमान्‌जी सीतावासस्थल पूछ रहे हैं।

चौपाई— *तब हनुमन्त कहा सुनु भ्राता । देखी चहउँ जानकी माता ॥ ४ ॥*

भावार्थ—बिर्भीषणवाक्य सुनकर हनुमान्‌जी ने सीतामाता की दिदृक्षा प्रगट की।

शास्त्रीय व्याख्या

तब हनुमन्त : बिभीषणजी से सीतावेदना सुनकर सीताजी को रावण के चंगुल से छुड़ाने का आनन्तर्य 'तब' का भाव है। साधु का कार्य साधु से हत नहीं हो सकता; क्योंकि

श्रीराम के कार्य को पूर्ण करने में दोनों अपने को अंग समझ रहे हैं। इस आश्वासन में आए हनुमान्जी 'हनुमन्त' से बोध्य हैं।

कहा सुनु भ्राता : कथन का कर्म वक्ष्यमाण वचन 'कहा' है जिसमें बिभीषणाकांक्षित सिद्धि का आरम्भबिन्दु प्रगट है। साधु से स्वकार्यसाधनसहायकत्व प्रगट होने पर उन्हें भ्राता कहकर श्रीरामसेवकों के मध्य में बिभीषणजी की मौलता व्यक्त की है जो नीति में सखा से भी अधिक है।

भ्राता से नैतिक सिद्धान्त का स्मरण

श्रीराम के द्वारा प्रीति प्राप्त होने की पात्रता बताकर दोनों भाइयों (हनुमान्जी व बिभीषणजी) ने आपसी अभेद की अटूट स्थापना की है। लंका में कृत्यपक्ष के रूप में स्थित बिभीषणजी को राजा से अपमानित देखकर श्रीराम में अक्षुद्रता, प्रताप, उत्थानसौष्ठव, दाक्ष्य व कुलीनताप्रयुक्त अव्यभिचरितता ध्वनित कराकर बिभीषणजी को स्वायत्त कर हनुमान्जी ने परराष्ट्र में भेदनीति का प्रयोग पूर्ण किया है।

देखी चहउँ : दैन्यस्थितिविशिष्ट सीताजी को प्रमाणपुरस्सर आश्वासन देने हेतु उन्हें देखना अपेक्षित है ऐसा सोच कर 'देखी' कहा है। 'चहउँ' से सीतादर्शन की उत्कट इच्छा व्यक्त है जो कार्यान्तर के लिए प्रतिबन्धक है परिणाम में तदतिरिक्त विषयश्रवण का विरोध समझाया है।

जानकी माता : माता को हुआ कारागारवास पुत्र के लिए पीड़ाप्रद है उसी पीड़ा के शमनोपायचिकीर्षा में हनुमान्जी 'जानकी माता' कह रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि अभी तक अशोकवनकीर्त्तन बिभीषणजी ने नहीं किया; क्योंकि यह लंका में गूढ़स्थली है जो केवल अनुमेय थी परिणाम में सीतादर्शन के प्रति एकाग्रतापूर्वक हनुमान्जी का जानना मननीय है। इस प्रकार हनुमान्जी की उत्कट दिदृक्षा निरूपित है।

संगति—बिभीषणजी हनुमद्दिदृक्षा का प्रशमनोपाय सुना रहे हैं। जिसका परिणाम हनुमान्जी का वहाँ से प्रस्थान तथा सीतादर्शनार्थ किये जाने वाले कार्य का उपक्रम है।

चौपाई— ***जुगुति बिभीषन सकल सुनाई । चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥ ५ ॥***
करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ । बन असोक सीता रह जहवाँ॥ ६ ॥

भावार्थ—बिभीषणजी ने सीतादर्शनयुक्ति बताकर हनुमान्जी को विदा किया तब वे पुन: पूर्वरूप धारण कर चले और सीतावासस्थल अशोकवन में पहुँच गये।

शास्त्रीय व्याख्या

जुगुति : 'जुगुति' से यहाँ अशोकवाटिका में प्रवेश करने की युक्ति समझना है। रावण के संकल्पमात्र से इन्द्रजाल का हटना व रहना ये दो कार्य इसी समय होते थे। सम्भव है कि आगममर्यादा में अशोकस्थ देवता सुपूजित रही हो उन्हें रावण रोज नमन करता हो इस प्रयोग के ज्ञाता बिभीषणजी थे। यद्यपि दास-दासियाँ भी साथ में आती थीं पर वे मार्गानभिज्ञा थीं। यह युक्ति आगममर्यादित होने से अन्यों के लिए अननुज्ञात थी। इसीलिए शिवजी ने हेतु रूप में 'जुगुति' का निर्देश किया है।

अथवा—विदा कराना ही 'जुगुति' है। भाव यह कि बिभीषणजी ने ठीक उसी समय हनुमान्जी को विदा किया जब रावणकृत माया का अपसरण होने वाला था।

अथवा—सीताजी के प्रति रावणकृत दौष्ट्य को हनुमान्‌जी अशोक वन में निर्बाध हो देखें। इसलिए तदर्थ किया उपाय 'जुगुति' से सूचित है। जिससे प्रभु को अतिशीघ्र लंका में लाकर उनके द्वारा माता सीताजी को कारागार से छुड़ाकर निगमागमसम्मत धर्म की स्थापना हो सके।

अथवा—सीताजी को देखकर उनको पहिचानने की युक्ति 'जुगुति' से बोध्य है।

अथवा—बहिर्मुख इन्द्रियों से संयुक्त मनस् के द्वारा अन्तःस्थ प्रकृतिसम्बद्ध पुरुष का दर्शन सम्भव नहीं वैसे ही माया के आवरण में रही सीताजी का दर्शन सम्भव नहीं। अतः सीताजी के दर्शन की युक्ति को 'जुगुति' से क़हा है।

बिभीषणहनुमन्मिलन का प्रयोजन

बिभीषणजी से विना युक्ति समझे लंका में सीताऽभाव का निर्णय कर हनुमान्‌जी वैसी ही सूचना श्रीराम को देते हैं तो श्रीराम पराजित होते हैं; क्योंकि योग्यानुपलब्धि के अभाव में सीताभावप्रत्यक्ष प्रमात्मक नहीं होता न तो 'लंकायां सीता यदि स्यात्तर्हि उपलभ्येत' ऐसा तर्क हनुमान्‌जी सुना सकते थे उस दशा में मन्दिर-मन्दिर में जाना व्यर्थ होता। तदनुसार योग्यानुपलब्धि के अभाव को स्फुट करना बिभीषणहनुमन्मिलन का प्रयोजन है।

अथवा—ज्ञातव्य है कि आगमसम्मत तत्त्व श्रीराम में प्रयोगतः दर्शाया है अर्थात् अभी तक आगमविद्या रावण की रक्षा करती आ रही है जो सदा अपराजिता है किन्तु वह स्वतः को प्रभु के सामने पराजित ही मानती है उसके पराजय का आरम्भबिन्दु लंकिनी का पराजय (५।८।५) है व अन्तिम बिन्दु रावण में आगम के प्रति रही एकाग्रता का भंग है जिससे प्रभु श्रीराम की प्रमाणपरतन्त्रतारूप मानवता एवं त्रयीस्थापन करते हुए अराक्षसी पृथ्वी करने की प्रतिज्ञा पूर्ण होगी। यही उन दोनों संतों के मिलन का प्रयोजन है।

सकल सुनाई : सीताखोज से लेकर उन्हें पहिचानने तक की सभी युक्तियाँ 'सकल' से ज्ञातव्य हैं।

चलेउ पवनसुत बिदा कराई : हनुमान्‌जी का सीताधिष्ठित देशाभिमुख्येन गमन क्रियारम्भ 'चलेउ' है।

'पवनसुत' से अति उत्साहवत्ता समझनी है जो विजिगीषु के लिए महान् गुण है। सुमुहूर्त सोचकर कुछ दूर तक हनुमान्‌जी के पीछे जाना 'बिदा कराई' है।

सोइ रूप : बिभीषणोक्ति के अनुसार शरीर धारण करना 'सोइ रूप' है। यह रूप इतने स्वल्प परिमाण का है कि किसी के दृष्टिपथ में नहीं आ सकता। जो दोहा ५।९।१ में उक्त 'तरुपल्लव' से स्पष्ट है।

गयउ : जिस देश में गमनफलसंयोग वाञ्छित था वहाँ पहुँचना 'गयउ' है।

तहवाँ : 'तहवाँ' से दोहा ४।२८।१२ के विवेचन में उक्त व्याख्या स्मर्तव्य है।

बन असोक : सत्योपाख्यान के अनुसार मार्कण्डेय-वाल्मीकि संवाद में उक्त देववनों के अन्तर्गत अशोकवन वर्णित है जिसे रावण आगमविद्या के बल पर लंका में ले आया। वही वन 'बन असोक' से वर्णित है।

संगति—बिभीषणसूचित सीतास्थिति व तद्दर्शनप्रयुक्त हनुमद्वेदना शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— *देखि मनहि महुँ कीन्ह प्रनामा । बैठेहिं बीति जात निसि जामा ॥ ७ ॥*
कृस तनु सीस जटा एक बेनी । जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी ॥ ८ ॥

दोहा— *निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन।*
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन ॥ ८ ॥

भावार्थ—माता को देखकर हनुमान्‌जी ने मानसिक प्रणाम किया। बैठे-बैठे वे रात्रि प्रहर बिता रही हैं। शरीर कृश है केशपाश जटा में परिणत होकर केशों की एक ही वेणी स्पष्ट है। हृदय में श्रीराम के गुणों का जप चल रहा है। उनका मानस श्रीरामचरणकमल की ओर लगा है। ऐसी दुःखी माता को देखकर हनुमान्‌जी परम व्यथित हुए।

शास्त्रीय व्याख्या

देखि : हनुमान्‌जी ने समुद्रतीर से चलने का उद्देश्य सीतादर्शन माना था उसकी पूर्णता 'देखि' से स्पष्ट है।

ध्यातव्य है कि हनुमान्‌जी की इस सिद्धि में मूलकारण मुद्रिका है जो हनुमत्कल्पित कार्य पूर्ण कर सीताजी को देय थी, फलतः सीतादर्शनानन्तर उनसे प्राप्त आभूषण श्रीराम के लिए सीताशोधपूर्ति का अनुमापक होगा।

मनहिं महुँ : किष्किन्धा से ले जाई जाती हुई जिस सीताजी को देखा था अभी उन्हें देखने की द्विरावृत्ति सफल हुई है। अभी चरकार्य करने हेतु छिपना अभ्यर्हित है अतः 'मनहिं महुँ' कहना ठीक है।

चिन्त्य है कि मानसिक व्यापार इस तरह से हो रहा है जो सीतोत्कर्षावधिक बोध का उत्पादक व मानस में प्रसन्नताकारक है।

बैठेहिं : 'बैठेहिं' से चाक्षुष व्यापार का प्रारम्भ समझना है।

निसि जामा : निशा के चारों यामों में से एक का भी स्वातन्त्र्येण कीर्तन होता तो सीताजी की मानसिक एकाग्रता ज्ञात न होती वैसा न होना 'निसि जामा' है। 'निसि' दिवस का उपलक्षक है।

कृस तनु : श्रीरामदर्शनौत्कण्ठ्य में रही सीताजी का निद्रोच्छेद होना 'बैठेहि' से समझाया उसका परिणाम 'कृस तनु' है। श्रीरामगुणचिन्तनधारा के सातत्य से सीताजी का जीवन नैरन्तर्येण आप्यायित हो रहा है फिर भी विराहाग्नि से पीड़ित होने से शरीर कृश हो रहा है जो कामसूत्रोक्त विरहदशावर्णन के अनुरूप है।

सीस जटा एक बेनी : पतिविरह में मण्डनाभाव पत्नी का अलंकार है। बालों की जटा होने से उनका विशकलन होना सम्भव नहीं उस दशा में एक वेणी होना अर्थसिद्ध है।

जपति हृदयँ : उपांशु उच्चारण जप है, जप्यवस्तु श्रीरामगुण हैं तदनुबन्धितया श्रीराम नाम भी है। सारांश यह कि विवाह से लेकर पंचवटीवनवासपर्यन्त जो भी चरित्र हुए हैं वे सभी स्मृतिपटल पर अंकित हैं उनके अन्तर्गत एक-एक अभ्यर्हित गुण सीतास्मृतिविषय हो रहे हैं। इससे सीताजी की सत्पक्षता, सद्वृत्तता, सानुरागिता सिद्ध है।

रघुपति गुन श्रेनी : विजिगीषुगुण, आत्मसंपत्तिगुण, परिवार के गुण, दैवसंपत्त्यतिरिक्त लोकसंग्राहक ऐश्वर्य-ज्ञान-वैराग्य, धर्म, महर्षिसान्निध्य, प्रमाणपरतन्त्रता, नैतिक-धार्मिक

भक्ति, शुचिता, वात्सल्य, व्यापकता आदि रघुपति के गुण जानकीजी के हृदयपटल पर अंकित हैं जिनकी सीमा नहीं है।

'श्रेनी' से श्रीराम के गुणों की पंक्तिबद्धता सूचित है।

निज पद नयन : चिन्तनान्तराभाव होने से नयन का स्वभावतः स्वपद की ओर जाना भूषण है। यही सीताजी के पास एकमात्र शस्त्र है जो श्रीराम व उनके दूत के लिए आकर्षक है। इसी पर श्रीराम का विजय निर्णीत है अन्यथा पराजय होना स्वाभाविक है। जैसे सीतानयन यदि रावणचक्षुष् से संयुक्त होते हैं तो श्रीराम का पराजय निर्णीत है। निष्कर्ष यह कि यदि सीताजी क्रोध में आकर रावण को देखती हैं तो वह दग्ध होगा परिणाम में श्रीराम वीर नहीं कहे जा सकेंगे जो उनका पराजय ही कहा जाएगा। पतिव्रता होने से वह प्रसादपूर्वक रावण को देखेंगी तो वह वध्य नहीं होगा तब भी श्रीराम का पराजय माना जाएगा। पतिव्रत धर्म से च्युत होकर यदि वह देखेंगी तो सामान्य स्त्री के लिए विग्रह होने से श्रीराम की तृष्णालुता प्रसिद्ध होगी तो भी श्रीराम ने पराजित होना कहा जाएगा। अतः सीताचरित्र में कायिक, वाचिक, मानसिक व्यापार की समानता दर्शाई है।

परम दुखी : ज्ञातव्य है कि जितने समय में श्रीराम के लंका पहँचने की आशा थी वह समय व्यतीत होने से वचनप्रमाण को माननेवाली श्रीरामप्रीतिमती सीताजीको पतिविरह से दुखी देखकर हनुमान्‌जी ने अत्यन्त दुखी होना 'परम दुखी' से व्यक्त है। यह चरित्र ऐसे व्यक्तियों के लिये विशेषतया मननीय है जो उदासीन श्रीराम के द्वारा शब्दप्रमाणानुगामी की उपेक्षा होना देखकर प्रभु से पराङ्मुख होते रहते हैं, किन्तु उनकी पराङ्मुखता उचित नहीं है; क्योंकि अतिसंकट में स्थित सीताजी का रक्षण लंका में दृष्टिगोचर हो रहा है उसके पीछे उदासीन रघुपतिकृपा की कटिबद्धता परिज्ञात होने पर उपेक्षा समझना ठीक नहीं है।

पवनसुत : पवन की तरह सर्वतोदिग्गमनकर्तृत्व की निर्बाधता रखने वाले हनुमान्‌जी ने सुख-दुःख से सदा अप्रभावित होना 'पवनसुत' का ध्वनितार्थ है। परन्तु कवि ने उनको 'परम दुखी' कहा उसका कारण हनुमान्‌जी नहीं अपितु उनके हृदय में छिपी शब्दप्रमाण (भक्ति महारानी) के प्रति दैहिकवासनाकृत शंका है। जो दोहा ५।३१।८ में स्पष्ट होगी।

देखि : 'देखि' से सीताजी का वैयञ्जनिक व्यापार समझना है; क्योंकि जब आद्या सीताजी को श्रीरामवियोग प्राप्त ही नहीं है तो उन्हें तत्सम्बन्धी दुःख न होना सर्वतः सिद्ध है।

ज्ञातव्य है कि मायारूपा सीताजी वास्तविक रूप में दुःखी नहीं हैं परन्तु उनका नाट्य इतना तीव्र है कि उसको देखकर हनुमान्‌जी ने उस व्यापार की अधीनता में दुःखी होना 'देखि' का भाव है।

जानकी दीन : सीताजी विदेहकुल में प्रगट ब्रह्मज्ञा हैं उनकी दीनता अभिनयमात्र है जो विरक्त हनुमान्‌जी को भी दुःखी कर रही है। इस प्रकार दूसरा चरित्र पूर्ण है।

'दीन' की व्याख्या गोकुलनाथोपाध्यायकृत काव्यप्रकाश में इस प्रकार है—

ओजसो मनोधर्मस्य उत्साहापाटवस्य हानिरनौजस्यम्।[1]

संगति—दर्शनमात्र से चरकार्य की पूर्णता नहीं है। अतः सीताजी को सान्त्वना देना

---

[1] काव्यप्रकाश ४।३१

अपेक्षित है, अन्यथा मूलच्छेद हो सकता है ऐसा सोचकर तीसरा हनुमच्चरित्र आरम्भ हो रहा है।

चौपाई— *तरुपल्लव महुँ रहा लुकाई । करइ बिचार करौं का भाई॥ १॥*

भावार्थ—सीतादर्शनानन्तर अब क्या करूँ? ऐसा विचार कपि ने पेड़ के पल्लवों की आड़ में बैठकर किया।

शास्त्रीय व्याख्या

तरुपल्लव : 'तरु' से अशोक विवक्षित है उसका प्रयोजन सीताजी की ओर मुद्राविक्षेप के सारल्य में है।

ज्ञातव्य है कि मशकरूप में रहे हनुमान्‌जी का रहस्य किसी को ध्यान में नहीं आया। अतः वे उसी रूप में 'तरुपल्लव' की ओट में जा बैठे होंगे क्योंकि अन्य शरीर (बड़ी आकृति) में वहाँ रहते तो राक्षस अद्‌भूतशरीरगन्धमात्र से उन्हें पहिचान सकते थे। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि हंनुमान्‌जी का यह शरीर घूमनेमात्र के लिए है न कि वह बुद्धि के लिए आवरक है।

अथवा—'पल्लव' की आड़ इसलिए कि उसके माध्यम से चक्षुष् की किरणें रावणकृत व्यापार से संयुक्त होती रहे।

लुकाई : हनुमान्‌जी चर होने से उनके लिए 'लुकाई' कहा है। फलतः रावण को सीताजी से स्पष्ट वार्ता करने में कोई बाधा नहीं है।

करइ बिचार करौं का भाई : विचार में विधिनिषेध की कोटियाँ खड़ी होती हैं जैसे—'सीतासम्भाषणमकृत्वैव इतः परावर्तितव्यं न वा, सीता विश्वासपूर्वकं सान्त्वयितव्या न वा, अस्यै (सीता) मुद्रिका देया न वा' आदि।

चिन्त्य है कि यद्यपि हनुमान्‌जी को निर्णय करने में विलम्ब नहीं होता तथापि सन्देहनिरासक परामर्श होने में क्षणमात्र का विलम्ब 'करौं का' से स्पष्ट है।

'भाई' कहकर हनुमान्‌जी अन्तःसाक्षी को पूछ रहे हैं; क्योंकि जहाँ प्रमाण या शास्त्र निर्णायक नहीं ठहरते वहाँ 'प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः' सिद्धान्तानुसार साक्षी ही प्रमाण है।

संगति—जिस क्षण में विचार का आरम्भ था उसी क्षण में रावण का आना देखकर हनुमान्‌जी की वृत्ति विचार से पृथक् हो गई तब उन्होंने रावण के द्वारा अपनाए वशित्वादि नैतिकानैतिक उपाय व सीताजी का प्रत्याख्यान देखना व सुनना कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— *तेहि अवसर रावनु तहँ आवा । संग नारि बहु किएँ बनावा॥ २॥*
बहुबिधि खल सीतहि समुझावा । साम दान भय भेद दिखावा॥ ३॥
कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी । मन्दोदरी आदि सब रानी॥ ४॥
तव अनुचरी करउँ पन मोरा । एक बार बिलोकु मम ओरा॥ ५॥

भावार्थ—हनुमान्‌जी ने परामर्श हेतु विचार प्रारम्भ करना था कि उतने में बहुत-सी नारियों के साथ रावण आ पहुँचा। उस खल ने सीताजी को अनेकों उपायों से समझाया। उपायों के अन्तर्गत साम, दान, दण्ड (भय) व भेद प्रदर्शित किये। उसने कहा कि हे सुमुखि! हे सयानि! एक बार मुझे देखनेमात्र से मैं मन्दोदरीसमेत सभी रानियों को आपकी अनुचरी बना दूँगा।

शास्त्रीय व्याख्या

तेहि अवसर : हनुमदारब्धविचारसमय व रात्रि के पश्चिमप्रहरसमाप्ति का समय 'तेहि अवसर' है।

रावनु तहँ आवा : श्रीराम के लिये उच्छेदार्ह, सीताऽपहर्ता, श्रीरामपराजयेच्छु रावण 'रावन' शब्द से विवक्षित है।

अथवा—शब्द (आगम)-प्रमाणप्रमित अर्थविशेष का अनुष्ठान पूर्ण कर उसके माध्यम से त्रिलोक को आयत्तकर्त्ता, नरकयातनाभयवर्जित व लोकायतमत का पुरस्कर्त्ता रावण 'रावन' से बोध्य है।

'तहँ' से वह देश विवक्षित है जहाँ हनुमदन्तरालभूत पल्लव के माध्यम से पहुँची चक्षुष् की रेखाधिकरणता क्लृप्त हो चुकी है।

रावण ने सीताधिष्ठितदेशानुयोगिकसंयोगाश्रय होना 'आवा' का भाव है। इसकी उपयोगिता हनुमान्‌जी को उत्तर क्षण में कार्यनिर्णय करने में सहायता प्राप्त होना है।

संग नारि : अर्थशास्त्रानुसार अन्तःपुर में शयन से उठने के बाद शासक (रावण) की सर्वप्रथम भेंट नारी से होना 'संग नारि' का भाव है।

अथवा—सीताजी को तर्जनादि से भीत कराने के उद्देश्य से बहुत-सी राक्षसियों व पिशाचिनियों को साथ में लाना 'संग नारि' का भाव है।

बहु किएँ बनावा : 'बहु' से कर्मकारिणी, दासी, सुहृद् व अन्तःपुरस्त्रियाँ ज्ञातव्य हैं। 'बनावा' से स्त्रियों की व्यूहरचना लक्षित है।

बहु बिधि खल : सामादि उपायों के अन्तर्गत प्रयोगविधिभेद अनेक होने से 'बहु बिधि' कहा है। राक्षसप्रकृति, तमोगुणी, सदा निन्दित कर्म में रुचिमान्, क्रोधस्थायिभाववान्, प्राणधनापहर्ता 'खल' शब्द से बोध्य है।

सीतहि समुझावा : विजिगीषु ने अपने पराजय के प्रति दाव में लगाई ग्लह (द्यूतपण) रूपा सीताजी 'सीतहि' से बोध्या हैं। परपक्ष में दोष अथवा अपकर्ष, स्वपक्ष में गुण अथवा उत्कर्ष आदि विषय 'समुझावा' से गृहीत हैं।

ज्ञातव्य है कि अन्य स्त्रियों के लिए रावण (दुष्ट) वचन प्रमाणभूत हैं उसी प्रभाव में वे स्त्रियाँ रावण के अन्तःपुर में सुखासीना हैं परन्तु सीताजी के लिये प्रमाणरूप में गुरु वसिष्ठ, अनसूया, माता, श्वश्रू, पिता आदि के वचन गृहीत हैं। अतः उन्होंने इतर वचनों के आभास में न आना सीताजी का विवेक है।

साम : श्रीरामवचनप्रमाण में रही सीताजी अपने (रावण) वचन को प्रमाण नहीं मानतीं समझकर भी रावण ने जो-जो नैतिक प्रयोग अपनाए उनके अन्तर्गत 'साम' प्रथमतया अनुष्ठित है।

'साम' का अर्थ प्रियवचन है जो श्रोता के लिए अनुद्वेगजनक, अर्थात् त्रासजनक न हो। उसमें परस्परोपकारदर्शन, सम्बन्धाख्यान, गुणकीर्तन, सान्त्वन आदि गुण भी हों, परन्तु यहाँ वे सभी व्यर्थ हैं क्योंकि पंचवटी में सीताजी के प्रति अपनायी माया से रावण का मिथ्यात्व प्रसिद्ध हो चुका है।

दान : वह सामप्रयोग व्यर्थ होता है जो दानरहित होता है। ऐसा सोचकर रावण ने दानप्रयोग किया उसके भेद धनोत्सर्ग, गृहीतानुमोदन, स्वयंग्राहप्रवर्तन, अपूर्व एवं देयप्रतिमोक्षण–ऐसे पाँच प्रकार हैं वे सभी सीताजी को मान्य नहीं है क्योंकि रावण असुरविजयी धनप्राणहर्ता खल है।

भय : 'भय' से दण्ड समझना है जो अर्थहरण, क्लेश या वध में से किसी एक रूप में अनुष्ठेय है। उनमें से यहाँ सीताजी का अर्थहरण सम्भव नहीं, वध उचित नहीं व अवशिष्ट है क्लेश उसीको यहाँ अपनाया गया है जो 'भय' से संकेतित है। उसी को सीताहृदय में उदित करने की चेष्टा रावण ने अपनाई है।

चिन्त्य है कि भेद के पूर्व भय कहने का कारण भेदप्रधानता दर्शानी है। भाव यह कि जब तक सीताजी का श्रीराम से विश्लेषण नहीं होगा तब तक सामादि प्रयोग व्यर्थ होंगे यत: अविश्लेषणरूप पतिव्रत ही सीतारक्षक है। उसे दूर करने के लिये निर्भर्त्सनात्मक भेद उपायतया गृहीत है अत: भेद के पूर्व भय उच्चरित है।

भेद : प्रधानत्वात् अन्त में भेद का प्रयोग कहना कवि का कौशल है। उसके अन्तर्गत शंकाजनन, निर्भर्त्सन, स्नेहरागापनयन कहे हैं। श्रीरामचरणभक्तिरूप दुर्ग से सीताजी को बाहर निकालना ही भेद है। उससे बचना है तो सीताजी को परीक्षोत्तीर्णता की असह्य पीड़ा सहनी ही होगी।

देखावा : प्रत्यक्ष को प्रबल मानकर श्रीरामादि के वचनों को दुर्बल मनवाना 'देखावा' का तात्पर्य है। उसको कार्यान्वित किए विना रावण सीतास्पर्श नहीं कर सकता; क्योंकि उसे भस्म होने का भय है। यही सीताजी की तेजस्विता है।

कह रावनु : वक्ष्यमाण वचन 'कह' का कर्म है।

'रावनु' से साम, दान, भय और भेद दर्शानेवाला रावण बोध्य है।

सुमुखि सयानी : 'सुमुखि' से गुणकीर्तनात्मक सामप्रयोग का अनुष्ठान ज्ञातव्य है।

पतिव्रत पूर्ण करने में प्रेरक शास्त्रीय शब्दप्रमाण को दुर्बल बनाने हेतु तद्बाधक पण की स्वीकृति में वही निर्णायिका होने से रावण ने सीताजी को 'सयानी' कहा है।

मन्दोदरी : मन्दोदरीजी बुद्धिमती व पतिव्रता हैं। वे रावण को सदैव अनर्थ से बचानेवाली हैं। सीताजी का भी रक्षण वह सेवक के रूप में करेंगी। ऐसा समझाने के उद्देश्य से मन्दोदरीजी कीर्तिता हैं।

सब रानी : सब रानियाँ रावणसान्निध्य में जिस प्रकार अतिप्रसन्ना हैं। उसी प्रकार की प्रसन्नता की प्राप्ति का प्रलोभन 'सब रानी' से व्यक्त है।

तव अनुचरी : रावणप्रकाशित वक्ष्यमाण पणस्वीकारकर्तृत्वेन अभिमत सीताजी युष्यच्छब्दार्थ हैं।

रावणद्वारा सीताजी के लिए अनुचरी के रूप में मन्दोदरी आदि को नियुक्त करना उसका सामाद्युपायान्तर्गत दान समझना है।

ज्ञातव्य है कि रावणद्वारा पतिव्रतरूप धर्म में रही पत्नी मन्दोदरीजी को स्वदासी मानकर उसका विनियोग सीताकैंकर्य में करना बृहस्पतिमतानुसार त्रयी को गौण बनाना है।

करउँ पन मोरा : 'पन' से सन्धि अथवा प्रतिज्ञा विवक्षित है उसके अन्तर्गत 'करउँ' से उपहारसन्धि बोध्य है। यत: रावण मन्दोदरीसमर्पण कह चुका है।

'मोरा' शब्दार्थ अजेयशक्तिसम्पन्न राक्षसधर्मवान् रावण है।

एक बार : प्रतिज्ञा का स्वरूप पणात्मक है। यदि वह सीताजी के द्वारा पूर्ण होता है तो उसका मूल्य 'तव अनुचरी' है। परिणाम में रावण की ओर एक बार भी सीताजी की अलभ्य दृष्टि उठेगी तो तावन्मात्रेण श्रीराम पराजित होंगे।

बिलोकु मम : सीताजी ने पंचवटी में रावण की ओर देखना अविकृतिसहकृत होने से प्रमाणमूर्धन्यताविरोधी नहीं था। अभी वह स्थिति नहीं है यत: प्रस्तुत दर्शन प्राणसंकट-परिहारसम्बद्ध विकृतिसहकृत है। उस दशा में सीताजी ने शब्दप्रमाण पर विश्वास न करके लौकिक प्रमाण को सहायक रूप से स्वीकार करना सिद्ध होगा।

इस प्रकार रावण का पूर्वपक्ष पूर्ण है जिसमें पण (सन्धि) का उपस्थापन प्रस्तावित है।

संगति—प्रतिपक्ष दुर्बल होगा तो उसने सन्धि मानना है। यहाँ वह अवस्था न होने से सीताजी ने असन्धेयता प्रगट कर शब्दप्रमाण को अनुष्ठानत: स्थापित करना शिवजी सुना रहे हैं। उससे श्रीरामपराजयाभाव के पीछे शब्दप्रमाणात्मक पृष्ठबल की आसन्नता स्फुट होगी।

चौपाई— तृन धरि ओट कहति बैदेही । सुमिरि अवध पति परम सनेही ॥ ६ ॥

भावार्थ—स्मृतिविषय कोसलपति पर पूर्ण स्नेह रखने वाली सीताजी ने तृण की ओर देखकर रावणद्वारा प्रस्तावित उपहार सन्धि की अस्वीकृति स्फुट करने हेतु कहना प्रारम्भ किया।

शास्त्रीय व्याख्या

तृन धरि : रावण के प्रस्ताव पर सीताजी मौनमात्र हो दूसरी ओर देखतीं तो 'मौनं स्वीकृतिलक्षणं' को ध्यान में लाकर रावण सीतास्पर्श के प्रति साहस कर सकता था जिससे शब्द-प्रमाणमूर्धन्यता पर आँच आती अत: सीताजी तृण को ओट बना रही हैं। भाव यह कि शब्दात्मक पार्ष्णिक बल को पाकर सीताजी रावण से बोलना ही नहीं चाहतीं तो देखना सुतरां निरस्त है।

कहति बैदेही : सन्धि को ठुकराने वाला वचन 'कहति' का कर्म है।

ब्रह्मज्ञ राजा जनक से परीक्षित होना 'बैदेही' से ध्वनित है जैसा कि चित्रकूट में विदेहराज जनकजी ने शब्दप्रमाणस्वीकृति के प्रति सीताजी को उत्तीर्ण पाना अयोध्याकाण्ड में वर्णित है।

सुमिरि : सीताजी ने स्वतन्त्र उच्चशक्तिमान् प्रभु व शब्दप्रमाण को पृष्ठबल के रूप में अपनाकर श्रीराम के गुणस्मरण को ही स्वायत्त कर रखा है। उसकी प्रमाणमूर्धन्यता के बारे में वे निश्शंका हैं जैसे पार्वतीजी। अन्तर इतना ही कि पार्वतीजी स्वराष्ट्र में थीं सीताजी परराष्ट्र में दु:ख सहती लंकापति के कारागार में है।

अवधपति परम सनेही : 'सनेही' से श्रीराम तथा सीताजी की मानस अभेद्यता समझा रहे हैं। अर्थात् जैसे-जैसे श्रीराम के साध्वाभिगामिक गुण प्रगट हुए वैसे-वैसे सीताजी उनके प्रति प्रीतिमती होती हुईं श्रीराममानस से अभेदावस्था को प्राप्त हुईं। अर्थात् सेवा व प्रीति के कार्य-कारण भाव को समझने में कहीं से भी सशंकता, आहार्यता, अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितत्व, किंचित्कालिकत्व (प्रीति में अव्याप्यवृत्तित्व) दोषों को उदित होने का अवसर नहीं है यही श्रीसीतारामजी की मानस अभेद्यता है। उसका प्रकाशन पतिव्रतधर्मप्रचुरस्नेहसंपृक्त विश्वास से स्पष्ट है।

संगति—सीताजी के द्वारा उक्त सन्धिसम्बन्धी सिद्धान्तपक्ष स्थापित हो रहा है।

चौपाई— सुनु दसमुख! खद्योत प्रकासा । कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा ॥ ७ ॥
अस मन समुझु कहति जानकी । खल सुधि नहिं रघुबीर बान की ॥ ८ ॥
सठ सूनें हरि आनेहि मोही । अधम निलज्ज लाज नहिं तोही ॥ ९ ॥

भावार्थ—हे दशमुख! सुनो क्या कभी जुगनू का प्रकाश कमलिनी को विकसित करता है? अरे दुष्ट! तुम्हें रघुपति के बाणों का पता नहीं है तूने मुझे अकेले में हर लाया है। अरे अधम! निर्लज्ज! तुम्हें लाज क्यों नहीं आती?

शास्त्रीय व्याख्या

सुनु दसमुख : पुनः सन्धि का प्रस्ताव न रखने की चेतावनी 'सुनु' से स्फुट है। दशमुख में से किसी भी एक मुख ने सन्ध्यर्थ प्रस्ताव रखने का निषेध 'दसमुख' से ध्वनित है।

खद्योत प्रकासा : प्रत्यक्षानुमानोपमान, सम्भव, अर्थापत्ति, योग्यानुपलब्धि, प्रमाणमात्रों के आधार पर प्रवृत्त रहने वाले प्राणी 'खद्योत' अर्थात् जगुनूवत् होते हैं। उनसे प्रमित अर्थावगाहन करना 'खद्योत प्रकासा' है; क्योंकि ये सभी प्रमाण, विप्रकृष्ट, व्यवहित, अनागत, अतीत, वर्तमान वस्तु को समझाते हुए भी वे अपने माध्यम से सफल प्रवृत्ति करायेंगे ही कहा नहीं जा सकता।

कबहुँ कि नलिनी : 'कबहुँ कि' प्रश्नार्थक है उसका तात्पर्य निषेध में है।

'नलिनी' से यहाँ शब्दप्रमाणप्रमित बुद्धिरूप में लुप्तोपमेय ज्ञातव्य है।

बिकासा : शब्दप्रमित बुद्धि ने वर्तमान अनागत, अतीत, विप्रकृष्ट, व्यवहित को अवगाहित करते हुए सेवक को सफल प्रवृत्ति कराना 'बिकासा' है। उसका फल भी श्रीरामकृपा साधक गुणों को प्राप्त करने में व बुद्धि के अन्तर्गत रहे सभी गुण प्राप्त करने में पर्यवसित है जो सत्वसहकृत अध्यवसाय से साध्य होते हैं। उसकी यथार्थता प्रमाणप्रमेयगत विवेक रूपी सूर्य के अनेकविध न्यायशास्त्राभिमत प्रतियोगितादि पदार्थरूपी किरणस्पर्श से सम्भव है। वह योग्यता खद्योतात्मक रावण में कहाँ से प्राप्त होगी? क्योंकि श्रीराम के विरोधियों में अविवेकप्रचुरमानादि विकृति का वास होने से उनके हृदय में विवेक उदित नहीं होता यह युद्धकाण्डीय रावण-मन्दोदरी संवाद में उक्त है।

अस मन समुझु : उपर्युक्त व्याख्यात विषय 'अस' है।

'मन समुझु' का तात्पर्य मानसप्रत्यक्षनैरन्तर्य में है उसके प्रति प्रतिबन्धकरूप में स्पृहा समझनी है। इसका त्याग 'मन समुझु' से ध्वनित है।

कहति जानकी : विवेकपुरस्सर बुद्धि से शत्रु को नीति सिखाने के बाद भी वह अभिनिवेश नहीं त्यागता तो युद्ध अपरिहार्य होता है वही क्रम 'कहति जानकी' से ध्वनित है।

'कहति' का कर्म अग्रिम चरण है।

'जानकी' कहने से सीताजी में बुद्धि, धीरता, उत्साह का संवर्धन होने में राजा जनकजी के सम्बन्ध की सहायता प्रदर्शित है।

खल सुधि नहिं : 'खल' सम्बोधन का अर्थ दोहा ९। ३ में उक्त है उसका स्वभाव अपरिवर्तनीय रूप में यहाँ प्रदर्शित है।

'खल' की उपयोगिता 'हरि आनेहि' में व्यक्त होगी।

'सुधि नहिं' से जब तक श्रीरामबाण की आसन्नतया प्रसक्ति नहीं होगी तब तक सुधी का अभाव कहना उपपन्न है।

ज्ञातव्य है कि **'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति'** सिद्धान्त यहाँ ध्वनित हो रहा है। अर्थात् दोहा ८।७-८ चौपाई के अनुसार अनन्य सेवक की वाणी उसकी अपनी न होकर प्रभुप्रेरित होती है। यही श्रीराम का पार्ष्णिक बल है जो रिपु के लिए चिन्तनीय है। यदि सेवक (श्रीराम) ने प्राप्त किए उक्त बल को रावण नहीं सोचता तो उसका प्रमाद कहा जायेगा। यहाँ उच्चरित खल, अधम, शठ आदि शब्द सीताशापबोधक हैं उसका परिणाम शस्त्रों व अस्त्रों के साथ रावण ने निस्तेजस्क होना है।

रघुबीर बान : 'रघुबीर बान' से हनुमान्‌जी भी ध्वनित हैं वे अक्षय व सतेजस्क हैं।

सठ सूने : 'सठ' आदि से रावण के प्रति सीताजी असन्धेयता समझा रही हैं। शठ अपने स्वार्थ हेतु संघ के मध्य भेद कराने में निपुण होते हैं। वही कार्य रावण ने श्रीसीताराम के संघ को बिगाड़ने हेतु किया है। अत: उसे 'सठ' कहा है।

'सूने' से रावण की सभयता व अवीरता कही है।

हरि आनेहि मोही : 'हरि' उक्ति से तर्क स्मरणीय है—'यदि त्वं श्रीरामापेक्षया बलवान् स्या: तर्हि त्वं मां श्रीरामानुपस्थितौ छलेन न अहरिष्य:' यह तर्क इसलिए कि वीरपत्नी रावण को असन्धेय मानकर सन्धि नहीं कर सकती। इस तथ्य को समझाने हेतु खल उक्ति की उपयोगिता स्पष्ट है।

अधम : यद्यपि रावण ने राक्षसधर्म से सीताहरण किया है तथापि पद्मपुराणोक्त गोभिलनिर्देशानुसार राक्षसधर्मवान् ने पतिव्रता का रक्षक होना चाहिए। वैसा न होकर रावण ने सीताहरण करना राक्षस धर्म विरुद्ध होने से उसकी अधमता है।

निलज्ज लाज नहिं तोही : राक्षस धर्मविरोधी ने अकार्य को अकार्य न समझकर सीताहरण में उन्मनस्क होना उसकी निर्लज्जता है। लज्जाभाव की पुनरुक्ति का तात्पर्य यह कि अधर्मी को लाज न होने से वे निर्लज्जता को इष्टापत्ति रूप में मानते हैं। परन्तु रावण वैसा नहीं है पर वह अभी पुरुषार्थ के विपरीत कर्तव्य करने में अपकीर्तिमान् हो रहा है जो पुरुषार्थी कहने वालों के लिए भारी निर्लज्जता है। अत: द्विरुक्ति नहीं है। इस रीति से 'तोहि' शब्दार्थ भी स्पष्ट है। इस प्रकार सीताजी का उच्छेद्यतायोग्य असन्धेय से सन्धि न करने का आशय पूर्ण है।

संगति—रौद्र स्वभाव का होने से तर्क व मतिरूप व्यभिचारिभाव के अभाव में स्त्रियों के सामने एक स्त्री ने अपने वचन को ठुकराना समझकर उस अपमान में रावण ने जो अनुभाव दर्शाए उसका निरूपण शिवजी कर रहे हैं।

दोहा— आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानुसमान।
परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन॥ ९॥

भावार्थ—सीताजी से अपने को जुगनूसम व श्रीराम को सूर्यसमान सुना तो तलवार निकाल कर क्रोध में बोला।

शास्त्रीय व्याख्या

आपुहि : रावण के सन्धिप्रस्ताव को ठुकराने वाली सीताजी से सम्बोध्य रावण 'आपुहि' से बोध्य है।

सुनि खद्योत सम : स्त्री से अपमानजनक वाणी सुनना 'सुनि' है। 'सुनि' कर्मकारकतया 'खद्योत सम' 'रामहि भानु समान' से अन्वित है। त्रैलोक्यविजयी को 'खद्योत' कहना अपमानजनक है किंबहुना 'खद्योत सम' शब्द से बोध्य उपमेय रावण को उपमान अर्थात् खद्योत से भी नीचा कहना उसका (रावण का) महान् अपमान है।

रामहि भानुसमान : शत्रु के वश में रही सीताजी ने निर्भया हो श्रीराम को सूर्यवत् कहना रावण का दूसरा अपमान है जो शस्त्रग्रहण का प्रेरक है।

परुष बचन सुनि : अपकृष्ट की उत्कृष्ट से अथवा उत्कृष्ट की अपकृष्ट से तुलनाबोधक वचन पातक होने से 'परुष बचन' है जो अभिभर्त्सन में पर्यवसित है। अत: सीतावचन कानों को स्पृहणीय न होने से 'परुष वचन सुनि' है।

परुष वचन का सुसंगतत्व

अभी रावण राक्षसधर्म (पतिव्रतारक्षण) के विपरीत कार्य को अपनाकर आगम व तत्प्राप्त वर के बल पर यथेच्छ आचरण कर रहा है। उसी रोष में सीताजी ने आगम की वास्तविक सप्रमाणता को प्रकाशित करने के विचार से 'परुष बचन' बोलना सुसंगत है।

ध्यातव्य है कि वाग्बाण से पीड़ित रावण अमर्ष में आकर अति एकाग्र हो सीताचिन्तन करने लगा। परिणाम यह हुआ कि सीताजी ध्यान के माध्यम से रावण के हृदय में जा बसीं। जैसा कि लंकाकाण्ड में त्रिजटा-सीतासंवाद में 'एही के हृदयँ बसति बैदेही'[१] से प्रगट है।

काढ़ि असि : परुषवचनापराध के शोधन में दण्ड प्रणीत न होगा तो राजा का प्रभुत्व ही समाप्त होगा इस आपत्ति के निरासार्थ रावण ने तलवार को म्यान से बाहर निकालना 'काढ़ि असि' है।

खिसिआन : जहाँ क्रोध की स्थायिता है वहाँ दण्डप्रधानता रहती है। अत: रौद्रप्रकृति दण्ड को वश्योपाय मानते हैं। उसी वेग में 'खिसिआन' कहा है।

संगति—सीताजी में आज्ञाभंगप्रयोज्यतया दण्डप्रणयनार्हता उचित होने से रावण दण्ड सुना रहा है।

चौपाई— ***सीता तैं मम कृत अपमाना । कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना ॥ १ ॥***
नाहिं त सपदि मानु मम बानी । सुमुखि होति न त जीवन हानी ॥ २ ॥

भावार्थ—सीते! तुमने मेरा अपमान किया उसका फल राजा के हाथ से तलवारद्वारा वध है। तुम मेरी वाणी को अतिशीघ्र मानो नहीं तो हे सुमुखि! अपना जीवन समाप्त समझो।

शास्त्रीय व्याख्या

सीता : त्रैलोक्यादेष्टा रावण का अपमान करने वाली सीताजी 'सीता' से बोध्या हैं।

मम : परम्परा से न होकर साक्षात् अपमान करने से दण्डप्रणयन के निर्णयार्थ साक्षी की अपेक्षा न होना 'मम' का आशय है।

---

[१] लंकाकाण्ड ९९। १३

अपमाना : राजा का मानभंग करना नीति में महान् अपराध है उसका निष्कर्ष प्रभुत्वसमापन है यह अपराध मानी राजा के लिए असह्य है। इस वाणी के पीछे प्राचीन एवं नवीन दण्डवादियों के मत मननीय हैं।

कटिहउँ : अपमान का दण्ड शिरश्छेद है। किन्तु इन दोनों (अपमान एवं शिरश्छेद) के समानाधिकरण्य नियम में निगमागमसम्मतश्रुतिसेवकत्वाभाव उपाधि है उस पर रावण ध्यान न देते हुए 'कटिहउँ' कह रहा है।

कठिन कृपाना : विरोधीद्वारा कृपाण की अपरिहरणीयता 'कठिन' से व्यक्त है। स्मर्तव्य है कि श्रीराम की निगमागमसम्मतश्रुतिसेवकता परशुरामचरित्र में विदित है। सीताजी उनकी आद्या शक्ति हैं उनके सामने कृपाण कुंठित है फलत: सीताजी को भय आदि होना सम्भव नहीं है। यही शब्दप्रमित प्रमेय पर दृढ़ निष्प्रकंप अनुष्ठाता का तेजस् है उसी की शिक्षा सीताजी ने अनन्य निश्छल सेवकों को दी है।

रावण पक्ष से भी एक तत्व चिन्त्य है कि सीताजी रावण को अपमानित करती हैं तो इसके लिए दण्डभय आपाद्य है जो सीताजी के लिए अनिष्टकर है पर इस आपत्ति को सीताजी इष्ट मानकर आगे आपाद्यता समाप्त करेंगी। अभी रावण ने सीतोक्त 'सुधि नहिं' आपत्ति को निरस्त किया; क्योंकि वह ब्रह्मदत्तवरप्रभाव से 'श्रीरामशर निस्तेजस्क होंगे' ऐसा मानता है। इस प्रकार दोनों की आपत्ति ग्रन्थकार दूर कर रहे हैं।

इसमें औपनिषद सिद्धान्त यह है कि उत्तम प्रकृति विज्ञानमयकोश से आप्लावित विवेकसंपृक्त मान को अधिक पसन्द करते हैं तत्पश्चात् आनन्दमय कोष में पहुँचते हैं जहाँ प्रिय मोद एवं प्रमोद सदैव बना रहता है। उन लोगों की दृष्टि में प्रात्यक्षिक व आनुमानिक प्रमाणता अनधिगत अबाधित शब्दप्रमाण के समक्ष दुर्बल होती है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि आपत्काल के समय दोनों (वादी-प्रतिवादी) ओर से आपाद्यता स्फुट होने पर लौकिक प्रमाणानुयायी पर आई आपाद्यता निगमागमसम्मत श्रुतिसेवी की सतेजस्क वाणी के सामने नगण्य होती है।

नाहिं त सपदि मानु : मरने में महद्दु:ख समझकर उस आपत्ति के भय से बचने हेतु रावण के प्रति किये अपराध का दूसरा प्रायश्चित्त स्वीकार करना 'नाहिं' से कहा है।

अथवा—जितनी देर होगी उतना अपराध बढ़ता जायेगा; क्योंकि वह ज्ञानत: कृत माना जायेगा तब कृपाण ही दण्ड होगा तज्ज्ञापनार्थ 'सपदि मनु' कहा है जिससे कालविक्षेपाभाव बोध्य है।

मम बानी : सबसे ऊपर निर्णयात्मक रावणवचन 'मम बानी' से दर्शाया है।

सुमुखि : 'सुमुखि' 'मम बानी' से अभ्यर्हित सम्बोध्य के बोधनार्थ है। अर्थात् रावण ने सीताजी को सीधे अपनी ओर देखने हेतु 'सुमुखि' कहा है।

होति नत : विकल्प के अन्तर्गत प्रथम विकल्प की पूर्णता 'होति' से स्पष्ट है।

जीवन हानी : दूसरे विकल्प का भय होने पर भी प्राणहानिरूप आपाद्य ने प्रसक्त न होना 'नत जीवन हानी' है।

इस प्रकार रावण का मृत्युदण्डात्मक पूर्वपक्ष पूर्ण है।

संगति—जीवनहानिरूप आपाद्य सुनकर सीताजी उत्तर रूप में इष्टापत्ति सुना रही हैं।

चौपाई—*स्याम सरोज दाम सम सुन्दर । प्रभु भुज करि कर सम दसकन्धर ॥ ३ ॥*
सो भुज कण्ठ कि तव असि घोरा । सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे रावण! मेरे कंठ में श्याम कमलमाला और हाथि की शुण्डासदृश सुन्दर प्रभु के भुज रहेंगे नहीं तो तेरी तेज असिधारा रहेगी यही मेरी सत्य प्रतिज्ञा है।

शास्त्रीय व्याख्या

स्याम सरोज : 'स्याम' से आयुर्वेद के अनुसार शुद्ध कफप्रकृति सुस्पष्ट है। 'सरोज' से भुज में विरहदाहशामकता व्यक्त की है।

आशय यह कि प्रीतिभाजन श्रीराम मेरी उपेक्षा नहीं करेंगे इस आशय में रही निगमागमोभय की प्रमाणमूर्धन्यता मानने वाली व प्रत्यक्ष में प्राप्त भय को अप्रमाण मानने वाली सीताजी शब्दप्रमाण के आधार पर सिद्धान्तपक्ष स्थापित कर रही हैं।

सुन्दर : 'सुन्दर' से सर्वलक्षणसम्पत्ति ध्वनित है।

करि कर : 'करि कर' से सामुद्रिक शास्त्रानुसारेण श्रीरामभुज की लक्षण्यता दर्शाई है।

दसकन्धर : मनुष्यों के लिए दशकन्धरत्व (राक्षसत्व) अरमणीय है; क्योंकि वे मानवों के अनुरूप नहीं अर्थात् भक्ष्य-भक्षक की प्रीति सम्भव नहीं है यदि है तो उभयत्र कामतत्व ही प्रयोजक मानना होगा तत्पूर्त्यनन्तर दोनों विरसतावस्था में उपेक्ष्य होते हैं।

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः॥
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारेस्थितम्।
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥[१]

उक्ति के अनुसार रमणीयता तो धर्मप्रधानता में रहती है उसका रावण के पास न होना 'दसकन्धर' से स्पष्ट है।

सो भुज कण्ठ कि : सीताजी के लिए श्रीरामभुज ही लोकोत्तर व निर्दुष्ट हैं अन्य व्यक्तियों में रति की स्थायिता न होने से उनके भुज रमणीय होना 'सो भुज कण्ठ कि' का भाव है। रावण की भुजाओं से दाहशमन होना नहीं है अतः वह चिकित्सा अस्वीकार्य है।

तव असि घोरा : प्राणहानिरूप आपत्ति का उत्तर इष्टापत्ति से होना 'तव असि घोरा' का भाव है।

सुन सठ : सीताजी की वाग्मिता से सुस्पष्ट निर्णीत अर्थ को समझने वाला रावण 'सुनु' रूप लोट् लकार से बोध्य है।

सीताजी की वाणी से सूचित अधमता आदि उक्ति की चरितार्थता पूर्ण करने में रावण को हिचकिचाहट न होना 'सठ' से व्यक्त है।

प्रवान पन मोरा : 'प्रवान पन' से सत्य शपथ विवक्षित है। 'मोरा' से रावण के द्वारा अतितर्जिता सीताजी विवक्षिता हैं।

---

[१] उत्तररामचरित (नाटक)

संगति—दो पण में से प्रथमपण की पूर्ति की आशा वर्तमान में क्षीण होने से द्वितीयपणपूर्ति की प्रार्थना सीताजी चन्द्रहास से कर रही हैं।

चौपाई— *चन्द्रहास हरु मम परितापं । रघुपति बिरह अनल संजातं॥ ५॥*
सीतल निसित बहसिं बर धारा । कह सीता हरु मम दुख भारा॥ ६॥

भावार्थ—हे चन्द्रहास! मेरे ताप को हर लो। जो रघुपतिविरह में मेरे शरीर व मनस् में उदित हैं तुम्हारी धार मेरे लिए शीतल होगी अत: तुम मेरे दु:ख को हर लो।

शास्त्रीय व्याख्या

चन्द्रहास हरु : 'न त जीवन हानी' कहने पर भी रावण आगे नहीं बढ़ता है ऐसा देखकर सीताजी चन्द्रहासस्थ देवता को आगे बढकर मारने हेतु प्रार्थना कर रही हैं; क्योंकि विरहसन्ताप असह्य हो रहा है। यह प्रार्थना संस्कृतमिश्रित प्राकृत होने से सरस्वतीजी के कोप की प्रसक्ति नहीं है।

मम : सघनविरहज्वाला से सन्तप्ता सीताजी 'मच्छब्दार्थ' हैं।

परितापं : विरह की गर्मी से शरीर तप्त है उसके चिकित्सार्थ श्रीराम के श्यामसरोज भुज उपस्थित नहीं हैं। यही 'परितापं' का भाव है।

ज्ञातव्य है कि माता कैकेयीजी व उपनिषदों ने श्रीराम को उदासी कहा है उसी के आनुकूल्य में श्रीरामोदासीनता अभी प्रमित हो रही है उसका लाभ लेकर पराराष्ट्राधिपति रावण निगमागमसम्मत पतिव्रता को ध्वस्त करने पर तुला है। अत: चन्द्रहास से परिताप दूर करने की प्रार्थना है।

अनल संजातं : गर्मी का कारण विरहानल है जो रघुपतिविरह से उद्भूत हुआ है वह अचिकित्स्य प्रतीत हो रहा है।

सीतल : हे चन्द्रहास! तुम स्व और मेरी तेजस्विता के अन्तर को मत सोचो। मुझपर कृपा करोगे तो तुम अपराधी नहीं ठहरोगे; क्योंकि मैं तो अनलशमन की याचना कर रही हूँ। इस प्रकार चन्द्रहासकृत प्रहार में दु:खशमनकारणता 'सीतल' से व्यक्त है।

दुख भारा : 'दुख भारा' से विरहवेदना की असह्यता विवक्षित है।

प्रार्थना की उपपत्ति

शब्दप्रमाण के रक्षक प्रभु, प्रत्यक्षानुमानत: आततायी के चंगुल में फँसे भक्त की रक्षा हेतु अपनी ओर से किसी एक भक्त को भेज देते हैं जैसे सीताजी के समीप में हनुमान्जी को पहुँचाने की व्यवस्था प्रभु ने मुद्रिका देकर की है। जब सीताजी जैसे भक्त शब्दप्रमाण के प्रति विश्वास्यता रख कर उसके अनुगमन में स्व पर आई पीड़ा को सहते हुए अपने प्राण समर्पित करते हैं तब उसी समय अपने द्वारा प्रेषित भक्त को प्रगट होने का अवसर देकर प्रभु प्राणदान करते हैं। यही प्रार्थना की उपपत्ति है।

सीतादर्श से प्राप्तव्य शिक्षा

वस्तुतथ्य यह है कि निगमागमशब्दप्रमाण ने अपने अनुयायी को कोई कार्य पूर्ण करने हेतु भेजा है तो उसके पीछे अपनी प्रमाणता के रक्षणार्थ कोई-न-कोई व्यवस्था सोची होगी। इस तर्क के प्राबल्य में सेवक अपने ऊपर आई विपत्ति का अभिनन्दन करते हैं व

शब्दप्रमाण की मूर्धन्यता को कीर्तिमान् बनाते हैं। इससे यह समझना होगा कि प्रभु के द्वारा जिसके लिए जो कर्तव्य निर्दिष्ट हैं उनकी उपेक्षा न करते हुए सेवकों ने आदेश को अपनाते रहना ही सीताजी के प्रकृत आदर्शचरित्र की शिक्षा है।

संगति—खड्गप्रहार को इष्ट मानना सुनकर क्रोध में मारने हेतु रावण के दौड़ने के क्षण में ही शब्दप्रमाण के द्वारा हुआ सीतारक्षण शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— सुनत बचन पुनि मारन धावा । मयतनयाँ कहि नीति बुझावा॥ ७॥

भावार्थ—सीतावचन सुनकर वह (रावण) मारने दौड़ा तब उसे मन्दोदरीजी ने नीति समझाकर निवृत्त किया।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनत बचन : महती आपत्ति (प्राणवियोग) को सीताजी के द्वारा इष्ट मानना 'सुनत बचन' है जो रावण के आवेग का कारण है।

मारन धावा : 'पितु वचन मानि बन आये' से किष्किन्धाकाण्ड में कही श्रीरामोक्ति तथा वनवास की सफलता के प्रति गंगाजी की उक्ति अप्रमाण होगी तो शब्दप्रमाण (श्रीराम) का पराजय होगा ऐसा निर्णय कर रावण ने मारने की अनीति को अपनाना 'मारन धावा' का भाव है।

'धावा' से नीति का विस्मरण, मोह व आवेग स्फुट है।

मयतनयाँ कहि : मारने के लिए दौड़ने पर भी चन्द्रहास में आये शैथिल्य को सूक्ष्मता से प्रतिभात कर रावण को शान्त करने वाली मन्दोदरीजी 'मयतनया' से बोध्या हैं।

'कहि' शिववचन है जो उक्त रहस्य को समझ रहे हैं।

मयतनया की उपस्थिति का प्रयोजन

वचनप्रमाण मानने वाली सीताजी, रावणद्वारा उपस्थापित आपत्ति का प्रतीकार यदि अपनी ओर से करती हैं तो वचन में स्वतन्त्ररक्षकत्व सिद्ध नहीं होगा व मन्दोदरीजी के आगमन का वैयर्थ्य होगा। अतः रावण को निवृत्त करना ही राजनीतिज्ञा मन्दोदरीजी की उपस्थिति का प्रयोजन है जिसके पीछे प्रेरकरूप में श्रीरामवचन का रक्षकत्व चिन्त्य है।

नीति बुझावा : स्त्री हठ करती है तो भी वह वध्या नहीं मानी जाती यह नीति भी स्मर्तव्य है।

अथवा—प्रतिपक्षी (सीताजी) को एक बार शरण होने हेतु समय देने की नीति मन्दोदरीजी ने सुनाना 'नीति' है।

संगति—वधरूप दण्डप्रणयन से निवृत्त होने पर रावणद्वारा क्लेश पहुँचाने की व्यवस्था शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— कहेसि सकल निसिचरन्हि बोलाई । सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई॥ ८॥
मास दिवस महुँ कहा न माना । तौ मैं मारबि काढ़ि कृपाना॥ ९॥

भावार्थ—साथ में आई या वहाँ रही निशाचरियों को बुलाकर रावण ने सीताजी को बहुत प्रकार से त्रास देने का आदेश दिया एवं सीताजी के लिए एक मास का समय दिया कि तब तक अगर सीता वश्या न हुई तो कृपाण से मारी जाएगी।

शास्त्रीय व्याख्या

निसिचरन्हि बोलाई : श्रीराम के पराजयहेतु सीताजी को त्रास देने के लिए नियुक्ता राक्षसियाँ 'निसिचरन्हि' से बोध्य हैं।

राजा स्वयं कहीं न जाकर सेवकों को अपने पास बुलाते हैं यह नीति 'बोलाई' से चिन्त्य है।

सीतहि : रावणोक्त दण्ड को इष्टापत्ति समझने वाली व रावण के प्रस्ताव का प्रत्याख्यान करने वाली सीताजी 'सीतहि' से बोध्या हैं।

बहु बिधि त्रासहु जाई : विभीषिकोत्पादनार्थ वधातिरिक्त सभी कार्य 'बहु बिधि' से समझने हैं। उसमें तर्जनादि दण्ड भी सम्मिलित हैं।

वर्तमानकालिक वेदना 'त्रासहु' से बोध्य है।

सीतासाम्मुख्य से हटकर भवन की ओर जाते हुए रावण ने राक्षसियों को सीतासम्मुख जाने के लिए कहना 'जाई' है।

मास दिवस : श्रीराम के लंका पहुँचने के सम्बन्ध में दीर्घकालायात्रा (मार्गशीर्ष) की समयावधि प्राय: व्यतीत हो चुकी है, ह्रस्वकालायात्रा (ज्येष्ठ) होनी नहीं है क्योंकि १४ वर्ष अतिक्रान्त हो जायेगा अवशिष्ट मध्यकालायात्रा (चैत्र) का समय देखते हुए रावण ने 'मास दिवस' कहा है; उसके मध्य में यात्रा असम्भव है क्योंकि उतनी अवधि में समुद्र को पार कर युद्ध में जीतना सम्भव नहीं है। 'दिवस' से त्रिंशद्दिनात्मक सावन मास बोध्य है।

न माना : सीताजी ने मासपर्यन्त रावणवचन को अप्रमाण करना 'न माना' है।

मारबि : एक मासपर्यन्त वचन न मानने पर दण्ड के रूप में वध परिणत होकर रहेगा। अर्थात् इसके पूर्व मन्दोदरीजी के कहने से एक बार क्षमा की है। सम्भव है कि अभी तक के इतिहास में रावण ने अपनाए दण्डप्रणयन व निरसन के पीछे मयतनया की अनुमति व अननुमति भी सहायक रही हो।

कृपाना : 'कृपाना' चन्द्रहास है। रावण को उस पर विश्वास है किन्तु वह निगमागमसम्मत पतिव्रतधर्म में स्थिरा सीताजी के दर्शनमात्र से अपने तेजसादि तत्वों से दूर हो गया है।

इस प्रकार सीताजी व रावण का संवाद पूर्वपक्षोत्तरमुखेन पूर्ण हुआ।

संगति—एक भय का निरास शब्दप्रमाण से कहकर दूसरा भय कवि कह रहे हैं।

दोहा— ***भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनि बृन्द।***
सीतहि त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद॥ १०॥

भावार्थ—रावण अपने महल में गया। यहाँ पिशाचिनीसमूह ने सीताजी को त्रास देना आरम्भ किया तदर्थ अनेकों भयानक रूप धारण किये।

शास्त्रीय व्याख्या

भवन : जिस प्रासाद में हनुमान्जी गये थे वह अन्त:पुर के सामने की ओर है वही 'भवन' से ज्ञेय है।

इहाँ पिसाचिनि बृन्द : सेवकरूप में आने वाली व दुष्टता की चरमसीमा को पार करने वाली निशाचरियाँ 'पिसाचिनि' से बोध्या हैं।

अथवा—'पिसाचिनि' से त्रिजटा जैसी विदुषी की व्यावृत्ति बोध्य है। एतच्छब्दार्थ अशोक वन है।

सीतहि त्रास देखावहिं : जिनके जीवन हेतु रावण के द्वारा एक मास का निर्णय किया गया है वे जानकीजी 'सीतहि' से बोध्या हैं।

ज्ञातव्य है कि वर्तमान में भयानक रूपदर्शन ही त्रास का कारण कह रहे हैं; क्योंकि सीताजी को स्पर्श करना निशाचरियों के लिए असम्भव है।

धरहिं रूप बहु मन्द : पिशाचों के लिए रूपान्तर जन्मसिद्ध होता है ये सभी शब्दप्रमाण के द्वेष्टा व विरोधी होते हैं। इस प्रकार दूसरा भय निरूपित है।

'मन्द' से पिशाचिनियों में मूढ़ता व विवेकाभाव स्फुट है।

भूतावास में लोकस्थिति

ज्ञातव्य है कि अधर्मसमृद्धि होने से लोकनाशक भूतादि का जहाँ वास होगा वहाँ प्रकृति में क्षोभ होना निर्णीत है फलत: चारों पुरुषार्थ तेजोहीन हो जाते हैं। फिर भी लंका में लोकयात्रा के दृष्टिगोचर होने का कारण बिभीषणजी, मन्दोदरीजी व त्रिजटाजी का लंका में निवास है।

संगति—राक्षसियों को प्राप्त आदेश की अन्वर्थता व रावण की चेतावनी के अनुबन्धी माया से दृष्टिगत होने वाले भय के प्रतीकार वक्तव्य है। उसके पीछे भक्त को प्राप्त हुआ पार्ष्णिकबल (स्वप्नशास्त्रप्रमाण) सुना रहे हैं।

चौपाई— ***त्रिजटा नाम राच्छसी एका । राम चरन रति निपुन बिबेका॥ १॥***
सबन्हौं बोलि सुनाएसि सपना । सीतहि सेइ करहु हित अपना॥ २॥

भावार्थ—लंका में एक त्रिजटा नामक राक्षसी विवेकवती व श्रीरामचरणप्रीतिमती थी उसने सबको अपना स्वप्न सुनाया और कहा कि आप सीताजी की सेवा कर अपना कल्याण करें।

शास्त्रीय व्याख्या

त्रिजटा नाम राच्छसी एका : निगमागमसम्मत व्रत की सेविका सीताजी का अशोकवाटिका में कतिपय दिनों के लिये वास होगा ऐसा सोचकर प्रकृति ने उनकी सहायतार्थ एक राक्षसी को लंका में भेजा है उसका नाम 'त्रिजटा' है। वह स्वप्नशास्त्र की ज्ञात्री व अन्त:पुर की अमात्य प्रधानतमा सचिव मालूम होती है।

'एका' विशेषार्थक है।

रामचरन रति : विशेषार्थक 'एका' का निर्वचन 'रामचरन रति' है। त्रिजटा स्वभावत: पूर्वजन्मकृत पुण्यपरिपाक से श्रीरामचरणप्रीतिमती है। उसे 'श्रीरामचरणौ हितं तत्साधनं वा' ऐसा निश्चय होना 'रति' है।

निपुन बिबेका : प्रमाणों व प्रमेय का बलाबल सोचकर प्रमाणप्रमित प्रमेय के प्रति पूर्ण अभिनिविष्ट होना 'निपुन बिबेका' है।

अथवा—लक्ष्यमाण स्वप्नसूचित फल का कारण दुरदृष्ट नहीं बल्कि रावणकृत सीतापहरण है जो ऐहिक अपनय है उसे समझना 'निपुन बिबेका' से सम्भव हुआ है।

सबन्हौं बोलि सुनाएसि : सीताजी को भय दिखाने वाली राक्षसिनियाँ व पिशाचिनियाँ 'सबन्हौं' से चिन्त्य हैं।

वक्ष्यमाण 'सीतहि सेइ' वचन 'बोलि' से समझना है।

एक आश्चर्य की वार्ता सुनाना 'सुनाएसि' है परिणाम में राक्षसियाँ व पिशाचिनियाँ सुनने के लोभ में सीतातर्जनकार्य करने से विरत हो गईं।

सपना : 'सपना' से स्वप्नशास्त्र का निर्देश हो रहा है जो सत्य का बोधक है। यद्यपि शास्त्रकारों ने स्वप्नको साक्षिभास्य कहकर अप्रमाण बताया है तथापि त्रिजटा का स्वप्नदर्शन धातुदोष या पूर्व संस्कारों से न प्रकट होकर श्रीरामचरणसेवानिमित्तक है; वह रावणकृत अपनय के परिणाम का सूचक है फलतः साध्य-साधन भाव रूप में यथार्थ है। भावार्थ यह कि स्वप्न कैसा भी हो तदीय विषयता यदि ईशसमवेतज्ञान विषयतासमशील है तो वह यथार्थ ज्ञानीय ही है। अतः पवित्र त्रिजटा ने स्वप्न देखकर जो निर्णय किया वह प्रमाण है।

सीतहि सेई (स्वार्थानुमान) : सीताप्रसन्नता के आधायक कर्म 'सीतहि सेइ' से ज्ञातव्य हैं। 'सेइ' से आप्त-विदुषी त्रिजटासमवेत अभिप्राय (प्रेरणा) प्रयोज्यता सीतासेवा में ज्ञात होती है जो राक्षसियों के लिए हितसाधनता का अनुमापक है। इस निर्णय में त्रिजटा का स्वार्थानुमान भी स्मर्तव्य है—'रावणोऽयं मरिष्यते खरोष्ट्रारोहणपूर्वकं नग्ने तैलाभ्यक्ते रावणे दक्षिणा-दिगभिमुखगमनकर्तृत्वदर्शनात्' फलतः 'सह तेन (रावणेन) विनश्यति' सबको भोगना होगा। उसका परिहार 'सीतहि सेइ' है।

अथवा—प्रकरणप्राप्तत्वात् पतिव्रता सीताजी को दिया जाने वाला क्लेश ही अभी उनकी सोच का विषय है। उससे निवृत्ति 'सीतहि सेइ' से समझनी है।

हित अपना : नीत्युचित मंगल व ईशप्रसाद 'हित' से बोध्य है। वह राक्षसियों के लिए ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के लिए मान्य है जैसा कि सभी वर्ग नीतिगत तत्वों को अपनाते हैं तो सभी का मंगल होना है जो किसी को अमान्य नहीं है। सीताजी के लिए श्रीरामनामाश्रय दुर्ग है उसमें भी श्रीराम व सीताजी के अभेद्य सम्बन्ध का आश्रय तो अति सम्बल दुर्ग है। उस दुर्ग को तोड़ने का प्रयत्न करने वाले का विनाश अवश्यम्भावी है अतः श्रीसीतारामजी के आश्रयरूपी दुर्ग में शरण लेना 'हित' है।

साधुत्व की उपयोगिता

यहाँ सीताजी का उल्लेख है तथापि त्रास्य या सेव्य कोटि में सीतात्व न होकर निगमागम-सेवकत्व है। अतएव सीताजी ने प्रमाणवचन के द्वारा त्राण प्राप्त करने हेतु साधुत्व प्रगट किया है। ऐसा साधुत्व त्रिजटाजी में समझकर वे सेव्य होती हैं तो अपना हित होना साधुत्व की उपयोगिता है।

संगति—सीताजी के प्रति सेवाविधि का कारण कवि कह रहे हैं।

चौपाई— *सपनें बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥ ३॥*
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥ ४॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥ ५॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥ ६॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहिं सत्य गए दिन चारी॥ ७॥

भावार्थ—स्वप्न में देखा कि एक बन्दर ने लंका को जलाया। राक्षसों की सारी सेना मारी गई। बीसों हाथ कटे हुए रावण गदहे पर नग्न हो मुण्ड होकर दक्षिण दिशा की ओर

जा रहा है। लंका नगरी बिभीषणजी के पास आ गई। नगर में रघुबीरजी का जय-जयकार हो रहा है। उन्होंने सीताजी को बुलावा भेजा है। यह जो भी मैंने स्वप्न में देखा उसका आरम्भ चार दिन के अन्दर होने वाला है।

शास्त्रीय व्याख्या

वानर : स्वप्न के आरम्भ में सर्वप्रथम वानर देखनां रावणपक्ष से अशुभ है।

जातुधान : राक्षसी सेना का सामूहिक मरण अर्थात् प्रेत होना दूसरा अशुभ है।

खर आरूढ़ : गदहे पर सवारी करना तीसरा अशुभ है। बिना हाथ के नंगे हो दक्षिण दिशा की ओर जाना अत्यासन्न मृत्यु का लक्षण है जो कतिपय मास के भीतर सत्य होने का सूचक है।

लंका मनहुँ बिभीषन : लंका जड़ है उसमें कर्तृत्व अनुपपन्न है तथापि उसमें कर्तृत्व देखना उत्प्रेक्षित है जो 'मनहुँ' का भाव है।

उत्प्रेक्षा के परिणाम में बिभीषणजी के प्रति निम्न भागवत वचन समन्वित होना स्पष्ट है—

गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं वृद्धाश्रयं संवृणतेनुसंपदः।
प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवां च जनार्दनस्सानुचरश्च मह्यम्॥[१]

दुहाई : श्रीसीतारामोभयगत तीव्रवेदना की समाप्तिसूचना 'दुहाई' से प्राप्त है।

बोलि पठाई : लंका में श्रीराम की निर्विरोधता 'बोलि पठाई' से समझनी है।

पुकारी : स्वप्न के प्रति प्रामाण्य पर बल देने हेतु 'पुकारी' कहा है।

सत्य : ईश्वरीयज्ञानसमानाकारकज्ञानविषयता का लंकादाहप्रभृति सभी तथ्यों में रहना 'सत्य' का भाव है।

अथवा—'सत्य' से तत्प्रकारक विशेष्य में तद्वत्त्वरूप प्रामाण्य समझना है जो परतः गृहीत होकर रहेगा।

दिन चारी : अन्तिम याम का स्वप्न अतिशीघ्र फलदायक होने से 'दिन चारी' कहा है। राज्य की निर्बाधता स्वप्नदर्शन के बाद मननीय है इस अवधि में जो कुछ करना है उसमें विवेक का बल लिया जाय तो भला होगा अन्यथा विनाश निर्णीत है। एवंच स्वप्नशास्त्र के अनुयायित्व में विवेक ही रक्षक-बोधक होने से यह सुन्दरकाण्ड है। निष्कर्ष यह कि त्रिजटा के माध्यम से सीतानिमित्त से स्वप्नसूचना राक्षसियों व पिशाचिनियों को प्राप्त हुई है। चार दिन के बाद उनका विनाश होकर रहेगा जो सीताजी की सेविका नहीं होंगी।

अन्तःपुरस्थ सचिवों की नीति

ज्ञातव्य है कि त्रिजटाजी स्वप्नदर्शन के बाद रावण को सूचना दने का अवसर ढूँढ़ रही थी; क्योंकि विग्रह से हटने व हटाने का यह सुन्दर उपाय है। वह अवसर रावणादेश-पालनाधिकृत राक्षसियों के माध्यम से प्रहस्त व मन्दोदरीजीपर्यन्त सूचना देकर लंकापति के प्रति अपनी प्रीतिमत्ता दिखाकर लंकारक्षणोपायरूप सुन्दर विवेक का परिचय 'दिन चारी' से व्यक्त किया है। अर्थात् यह भी ध्वनित है कि लंकारक्षण व स्वरक्षण के लिए चार दिन अवशिष्ट हैं।

---

[१] श्रीमद्भागवत ४।२१।४४

संगति—त्रिजटाजी ने दर्शाए विवेक का फल कवि सुना रहे हैं जिससे स्वाम्यनुजीवियों का रणविश्लेषण प्रगट है।

चौपाई— *तासु बचन सुनि ते सब डरीं । जनकसुता के चरनन्हि परीं॥ ८॥*

भावार्थ—त्रिजटाजीके वचन सुनकर राक्षसियाँ डरकर सीताचरणों की सेविका हुईं।

शास्त्रीय व्याख्या

तासु बचन : विवेकपूर्वक निर्णय सुनाने वाली राक्षसी त्रिजटाजी 'तासु' से ज्ञेय हैं। अथवा—लंकारक्षणोपाय सूचित करने वाली त्रिजटाजी 'तासु' से ज्ञेय हैं।

डरीं : मोहरूप पिशाच का निरास होते ही राक्षसियों को भावी लंकानाश की कल्पना में दु:ख होना 'डरीं' का भाव है।

चरनन्हि परीं : अपराधविनाशक प्रायश्चित्त चरणवन्दना है उसकी सफलता यह कि भविष्यत् में अपराध न करना है। इस प्रकार प्रकृति ने सीताजी के प्रति द्वितीय विपत्ति के निरसनहेतु किये उपाय का वर्णन पूर्ण हुआ।

संगति—तृतीय विपत्ति व उसके निरासार्थ ईश्वरद्वारा बनाई योजना सुनाना है उसके उपक्रम में प्रथमतः सीताजी के विचार पूर्वपक्ष रूप में कवि सुना रहे हैं जिसमें विरहानलसन्ताप प्रगट होगा।

दोहा— *जहँ तहँ गईं सकल तब सीता कर मन सोच।*
मास दिवस बीतें मोहि मारहि निसिचर पोच॥ ११॥

भावार्थ—राक्षसियाँ व पिशाचिनियाँ यत्र-तत्र चली गईं तब सीताजी ने मनस् में सोचा कि एक मास बीतने पर मुझे रावण मारेगा ही।

शास्त्रीय व्याख्या

जहँ तहँ गई सकल तब : 'जहँ तहँ गई' से अपना-अपना स्थान परामर्शनीय है। त्रिजटातिरिक्त पिशाचिनियाँ 'सकल' से विवक्षित हैं। 'तब' से त्रिजटाकथनानन्तर्य अथवा राक्षसियों के स्व-स्व स्थानगमनानन्तर्य ध्वनित है।

सीता कर मन सोच : विरहानलसंतप्ता रावणपीड़िता सीताजी 'सीता' शब्दार्थ हैं। 'सीता कर मन सोच' के अन्तर्गत प्रथम सोच मास दिवसादि है जो रावण-श्रावित है। दीर्घकाला यात्रा (मार्गशीर्ष) अवधि अतीतप्राय है, श्रीराम के आने की आशा क्षीण होने के कारण विरहाग्नि भड़क रहा है, रावण को श्रीराम के न आने का निर्णय हो चुका है तभी वह निर्भीक है, इत्यादि सोचना 'सोच' है। उसके अनन्तर आत्महत्या का सोचना भी 'सोच' है।

मास दिवस : दीर्घकालायात्रा ही श्रीराम के लिए कर्त्तव्य होगी। उसी के अनुबन्ध में त्रिजटावाक्य भी श्रुत है इसी उपकृति में उसका पूजन मार्गशीर्ष मास के प्रथम में प्रचलित है। वह तिथि मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष की प्रतिपदा है।

मोहि मारिहि : श्रुति की सार्वभौमता व औपनिषद पुरुष की उदासीनता सिद्ध होने से मास दिवस पूर्ण होते ही दशकन्धर मारेगा ही। उसका प्रतीकार अपनी ओर से करना उचित नहीं; क्योंकि रावण शैव है अनेकविध शैवमंत्रों से वेष्टित है उसके विरोध में पति

की अनुज्ञा के विना कार्य करना सफल नहीं होगा ऐसी स्थिति में वह आक्रमण करेगा ऐसा निश्चय कर सीताजी 'मोहि मारिहि' कह रही हैं।

संगति—पिशाचभूत प्रतिबन्धक तत्व दूर होने के बाद अपनी महाविपत्ति के प्रतीकार-रूप में निर्णीत स्वमरण के प्रति सीताजी त्रिजटा को सहायक होने का आग्रह कर रही हैं।

चौपाई— ***त्रिजटा सन बोली कर जोरी । मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥ १॥***
तजौं देह करु बेगि उपाई । दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई॥ २॥

भावार्थ—सीताजी हाथ जोड़कर त्रिजटाजी से बोलीं कि हे मात: ! आप विपत्ति में मेरी साथी हैं दु:सह विरह अब सहना कठिन है अब तो शरीर शीघ्र त्यागना है तदर्थ उपाय करें।

शास्त्रीय व्याख्या

त्रिजटा : विपत्ति में सीतासहायिका विवेकादि गुणवती एक राक्षसीविशेष 'त्रिजटा' से बोध्या है।

बोली कर जोरी : वक्ष्यमाण वचन 'बोली' का कर्म है। यह वचन शिवजी का है जो सीताप्रार्थना के उपक्रम का सूचक है।

विरहानलसंतप्त को मारने के लिए चन्द्रहास से प्रार्थना की पर वह व्यर्थ गई तदर्थ अब त्रिजटा से प्रार्थना करना 'कर जोरी' से स्पष्ट है।

मातु बिपति संगिनि : बच्चों के दु:ख को दूर करने में माता की सहायता प्रसिद्ध है वैसी ही यहाँ सहायता प्राप्त हुई। अत: 'मातु' कहा है। इस प्रकार 'त्वं मम सुहृत् विपत्तिसहचारिणीत्वे सति अनुरागित्वात्' ऐसी अनुमानप्रणाली यहाँ स्मर्तव्य है।

तैं मोरी : त्रिजटाजी में विपत्तिसंगिनीत्व विवक्षिततत्वार्थ 'तैं' कहा है।

आत्महत्या इच्छुका सीताजी मच्छब्दार्थ हैं।

तजौं देह करु बेगि : एक मास तक पौन:पुन्येन रावण की तर्जना सुनने की अपेक्षया एक क्षण में अग्निदाह से शरीर त्यागना इष्ट मानकर 'तजौं' कहा है।

'करु बेगि' से अतिशीघ्रता में मरने का साधन जुटाने की प्रार्थना समझनी है।

दुसह बिरह अब : रावण के कठोर वचन एक मास पर्यन्त अत्यन्त दु:सह सुनने होंगे उससे भी अधिक असह्य पतिविरह है।

श्रीरामोपस्थित्यभावप्रयोजकोपेक्षासहकृत रावणघोषितसीतावधाधिकरणकाल 'अब' से उक्त है।

जब तक श्रीराम के आने की आशा थी तब तक 'विरह' दुस्सह्य नहीं था। अब वह सहिष्णुता से बाहर हो रहा है जो 'नहिं सहि' से स्फुट है।

संगति—आत्महत्या की उपपत्ति के बाद शरीर की प्रतिपत्ति का प्रकार सोचकर उसमें शरीर को हुत करने हेतु सीताजी ने त्रिजटाजी से सहायता माँगना एवं सीतावचनोपसंहारपूर्वक स्वमत शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— ***आनि काठ रचु चिता बनाई । मातु अनल पुनि देहि लगाई॥ ३॥***
सत्य करहि मम प्रीति सयानी । सुनै को श्रवन सूल सम बानी॥ ४॥

भावार्थ—हे माँ! लकड़ी की चिता बनाओ मैं उसमें बैठूँगी तब तुम उसमें आग

लगा देना। हे सयानि! मेरी प्रीति को सत्य करने के लिए ये काम करो क्योंकि शूलवत् वेध करने वाली रावणवाणी को कौन सुनेगा? दूसरे पक्ष में शिवजी कहते हैं कि सीताजी की शूल की तरह ये वाणी कौन सुनेगा?

शास्त्रीय व्याख्या

काठ रचु : अशोक वन होने से काठ मिलने में कोई सन्देह नहीं है। 'रचु' से सहायान्तरनिरपेक्षता बताई।

मातु अनल : माता की पुनरुक्ति रावणादिद्वारा दु:ख के प्रतीकार में सहायता की आशा में उपकृतिप्रयुक्त है। चितारूढ होने के बाद अग्न्युत्पत्ति करनी है उसका कर्तृत्व सम्भालने हेतु 'अनल' कहा है।

अथवा--तादात्विक विपत्ति में रक्षणात्मक उपकृति का स्मरण 'मातु' सम्बोधन से कर रही है।

सत्य करहि मम प्रीति : देहदाहादि कार्य जब अनुष्ठानत: पूर्ण होगा तभी सीताजी की उपर्युक्ति प्रमाणित होगी समझाने हेतु 'सत्य' कहा है।

यद्यपि चिताचयनादि कार्य त्रिजटाजी के लिए अप्रिय है तथापि सीताप्रीतिजनक होने से वह दोषांकुश है।

सयानी : देहि प्रार्थनात्मक होने पर भी यह सीतोक्ति विरहासहिष्णुताद्वेषप्रयुक्त है। अत: अपने वचन की प्रमाणता या अप्रमाणता का विवेक करने हेतु 'सयानी' कहा है; क्योंकि शिवजी ने उसकी निपुण विवेकता गाई[१] है।

सुनै को : विवेकसहकृतशास्त्रार्थज्ञ व तदनुष्ठाता के लिए सीताजी के उक्त प्रकृत वचन सुनना अपराध है समझाने हेतु शिवजी ने 'सुनै को' कहा है।

संगति—सयानी त्रिजटाजी सेव्या सीताजी के वचन सुनकर उसमें अनुष्ठानत: अप्रामाण्य समझकर उत्तर दे रही हैं।

चौपाई-सुनत बचन पद गहि समुझाएसि। प्रभु प्रताप बल सुजसु सुनाएसि॥ ५॥
निसि न अनल मिलि सुनु सुकुमारी। अस कहि सो निज भवन सिधारी॥ ६॥

भावार्थ—सीतावचन सुनकर त्रिजटाजी ने उनके चरणों पर मस्तक झुकाकर प्रभु का सुयशस् सुनाते हुए उसकी प्रमाणता के बहाने देहत्याग को अनुचित बताया व रात्रि में अग्नि न मिलने की बात भी कही फिर वह अपने भवन चली गईं।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनत बचन पद गहि : विना अपराध के किसी को दग्ध होने की अनुमति देना उसमें भी माँ के लिए तो अतिदुष्कर है उसकी प्रसक्ति 'सुनत बचन' से ज्ञातव्य है।

आज्ञापालन न होने से अपराध का प्रायश्चित्त 'पद गहि' है। वह 'समुझाएसि' के लिए भी सहायक है।

अथवा—'पद गहि' से त्रिजटाजी की हार्दिक आर्द्रता व भक्ति की पूर्णता अभिव्यक्त है।

समुझाएसि : 'विरहासहिष्णुर्भूत्वा विना विवेकं प्रभो: उपस्थितिमात्रेण' शीघ्र

---

[१] श्रीरामचरितमानस ५।११।१

चितारोहणकर्तव्यता का अनौचित्य 'समुझाएसि' का भाव है फलतः मरणनिवृत्ति की ओर ध्यान देने की प्रेरणा स्पष्ट है।

प्रभु प्रताप बल सुजसु सुनाएसि : जो तथ्य 'समुझाएसि' से दर्शाया उसमें अपेक्षित साधकरूप में प्रभुप्रतापादि का उपस्थापन त्रिजटाजी 'प्रभु प्रताप' से समझा रही हैं। जिसका आशय श्रीराम में उदासीनत्वाभाव का अनुमान समझाना है।

मिथिला के स्वयंवर में श्रीराम को देखते ही वहाँ आए राजाओं का संतप्त होना 'प्रताप' से स्पष्ट है।

मुनि परशुरामजी ने गुणवर्णन के साथ तपस्या समर्पित करने से श्रीराम का यशस् निर्विवाद है।

निसि न : ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार हनुमान्‌जी ने 'बेगि चलिअ प्रभु आनिअ'[१] से प्रभु को प्रेरणा देंगे वैसी ही प्रेरणा सीताजी त्रिजटाजी को दे रही हैं। उसके कार्यान्वयन में बाध 'निसि न' का भाव है।

सुनु सुकुमारी : अर्थी, समर्थ एवं विद्वान् प्रयोगविधिपालनाधिकारी माने जाते हैं उसी अनुसरण में अनल के प्रति त्रिजटाजी में सामग्र्यभावप्रयुक्त सामर्थ्याभाव 'सुनु' से ध्वनित है।

चिन्त्य है कि यदि कदाचित् अनलोत्पत्ति की जाय तथापि शारीरिक सौन्दर्य को देखकर अति प्रीति में आईं त्रिजटाजी अनलस्पर्श जैसे कठोर कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं। अतः 'सुकुमारी' कहा है।

भवन सिधारी : 'भवन सिधारी' का अभिप्राय प्रभु से अपना निर्गुण औपनिषद उदासीनत्व त्यागने हेतु प्रार्थना करने में है। नहीं तो सुकुमारी सीताजी का जीवन खतरे में है। इस प्रकार से मातृभाव में रहीं त्रिजटाजी ने प्रार्थना करने हेतु सीताजी के लिए 'भवन सिधारी' होना समयोचित उपाय है।

अथवा—उपर्युक्त स्वप्न की सत्यता के अनुसार त्रिजटाजी ने श्रीरामदूत का अशोकवाटिका में आना समझकर स्वभवन जाना 'भवन सिधारी' से व्यक्त है।

संगति—दीर्घकालायात्रारम्भ का समय अतिक्रान्त हो गया है। उस अवस्था में भड़के दुस्सह विरहाग्नि का विवरण कवि प्रारम्भ कर रहे हैं।

चौपाई- *कह सीता बिधि भा प्रतिकूला । मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला ॥ ७ ॥*
देखिअत प्रगट गगन अंगारा । अवनि न आवत एकउ तारा ॥ ८ ॥
पावक मय ससि स्त्रवत न आगी । मानहुँ मोहि जानि हतभागी ॥ ९ ॥
सुनहि बिनय मम बिटप असोका । सत्य नाम करु हरु मम सोका ॥ १० ॥
नूतन किसलय अनल समाना । देहि अगिनि जनि करहि निदाना ॥ ११ ॥

भावार्थ—सीताजी कहती हैं कि विधि मेरे प्रतिकूल है। अग्नि नहीं मिल रहा है शूल भी नहीं मिट रहा है। आसमान में बहुत-से तारे हैं सभी अंगारे हैं उनमें से एक भी मेरे ऊपर नहीं आ रहा है। मैं अभागिनी हूँ आकाशस्थ चन्द्र तो महान् अग्निगोल है वह उष्ण किरणों का स्राव क्यों नहीं करता? हे अशोक! मेरी प्रार्थना सुनकर मुझे शोक से छुड़ाओ

---

[१] श्रीरामचरितमानस ५।३१

और अपना नाम सार्थक करो तुम्हारे ये कोमल पत्ते अग्निसदृश हैं अतः आप ही अग्नि देकर मेरी चिकित्सा करें।

शास्त्रीय व्याख्या

कह सीता : विधिप्रातिकूल्य, शोक न मिटना, अंगारेसदृश ताराओं ने नीचे न आना, शशी ने आकाश से उष्ण किरणों का स्राव न करना, अपने को हतभग कहना, अशोक से प्रार्थना करना, कोमलपत्रों से अग्निसमर्पण की प्रार्थना करना आदि सात विषय 'कह' से समझने हैं।

बिधि भा प्रतिकूला : 'बिधि' से चिरंजीवित्वबोधक ज्योतिष्शास्त्रोक्त विधि ज्ञातव्य है जो 'भा प्रतिकूला' से अन्वित है। स्वेप्सित के प्रति अनुग्रह न होना 'प्रतिकूला' है।

मिलहि न पावक मिटिहि न सूला : सीतास्पर्श होते ही अग्नि की दाहकत्वशक्ति ही तिरोहित हो सकती है अतः 'मिटिहि न सूला' कहा है। अग्नि की खोज इसलिए कि पुनः शूल होने की शंका है उस शूल में श्रवणशूल भी ज्ञेय है।

प्रगट : दुस्सह विरहस्थिति को स्फुट करने हेतु 'प्रगट' आदि कहा है क्योंकि यदि अभी श्रीराम की अनुपेक्षा प्रगट नहीं होती है तो सीताजी का जीवन खतरे में आ सकता है उसके कार्यान्वित होने की आशा में 'प्रगट' कहा है।

अवनि न : गगनगत उदीयमान तारापुंज के औष्ण्य का प्रत्यक्षतः अनुभव कर सीताजी कह रही हैं कि अनाधार में रहने से उसका पृथ्वीपर आना सम्भव है यह न होना 'अवनि न आवत' आश्चर्य से व्यक्त है।

स्रवत : किसी आकर्षण शक्ति ने ताराओं को रोका है तो बड़ा अंगारा (चन्द्र) अपने उष्ण किरणों की ऐसी वृष्टि करे जिससे शरीर ही भस्म हो जाय वह भी नहीं हो रहा है यह मेरा (सीताजी) दुर्भाग्य है।

हतभागी : विरहपीड़ा से न्यून पीड़ात्मक शरीरत्याग को सम्पन्न करने में कहीं से सहायता प्राप्त न होना हतभागित्व है फलतः रावणवचन सुनने ही होंगे।

बिटप असोका : अशोकवृक्ष, चन्द्र की उष्ण किरणों को जलाने से रोक रहा है। अतः अशोक से प्रार्थना है।

सत्य नाम करु : 'न शोकः यस्मात्' इस व्युत्पत्ति को पूर्ण करने की प्रार्थना करना 'सत्य नाम करु' का भाव है।

नूतन किसलय : 'नूतन किसलय' से नये पल्लव समझने हैं। सीताजी की दृष्टि आकाश से नीचे आते हुए नूतन पल्लवों की ओर गई जहाँ हनुमान्जी अति लघुरूप में छिपे थे। परिणाम यह हुआ कि हनुमान्जी के पास रही मुद्रिका की तेजस्विता बिजली की तरह चमकी होगी। इससे उन्हें अंगार मिलने का मानो आश्वासन मिला हो।

अगिनि : किसलय की ओट में रही हेमवर्णा मुद्रिका यहाँ 'अगिनि' से लक्षित है।

करहि निदाना : दुस्सह ताप की चिकित्सा करनी है क्योंकि वह असह्य है। पतिविरहपीड़िता नायिका के द्वारा प्रलाप होना साहित्य मर्यादा का पालन है। इस प्रकार पतिव्रता का व्रत स्फुट होने से हनुमान्जी का सीताजी पर आदर सुदृढ़ होना उक्त वर्णन का प्रयोजन है।

'निदाना' कहने से रोग की सत्यता और किसलय आदि से चिकित्सा होने की सत्यता स्पष्ट है।

संगति—प्रभु ने पितृगंगोभय वचन को प्रमाणित करने हेतु निगमागम ने हनुमान्जी को यहाँ तक पहुँचाने की व्यवस्था करने में उपेक्षा नहीं की। अब हनुमच्चरित्र से श्रुति तथा आगम की सार्वभौमिक प्रमाणता की सिद्धि प्रगट करनी है उसी उपक्रम में शिवजी प्रथमतः हनुमन्मानसिक स्थिति को कह रहे हैं।

चौपाई—देखि परम बिरहाकुल सीता । सो छन कपिहि कलप सम बीता॥ १२॥

भावार्थ—विरहाकुल स्थिति में पहुँची सीताजी को देखकर हनुमान्जी को विना चिकित्सा किए स्वस्थ रहने में एक क्षण एक कल्प के समान प्रतीत हुआ।

शास्त्रीय व्याख्या

देखि परम बिरहाकुल : इस प्रसंग में सिद्धान्तपक्ष से कहना है कि श्रीरामविरह सीताजी के लिए अप्रसिद्ध है फिर भी श्रीरामविरह कहने का तात्पर्य लंकाकाण्डोक्त मानवता का पारिभाषिक परिचय देने में तथा श्रीराम को युद्धार्थ प्रेरणा कराने में है उसकी सिद्धि होना 'देखि' से स्पष्ट है। अर्थात् अभिनय के माध्यम से हनुमान्जी को दुःखी करा कर श्रीराम को लंका में आने की प्रेरणा करानी थी वह कार्य 'देखि परम बिरहाकुल सीता' से सिद्ध हुआ।

सो छन : वेदों की सार्वभौमता व वचन को प्रमाण मानकर सीताजी के समक्ष श्रीरामानुदासीनता प्रगट करने का क्षण 'छन' से समझना है।

कलप सम : जो क्षण सीताजी के सामने श्रीरामानुदासीनता साधनतार्थ प्राप्त है उस क्षण को बिताना सर्वनाश करना है। इस प्रकार 'बिपति निदाना' के विचार में जो क्षण बीते वे हनुमान्जी के लिए 'कलप सम' हो गए।

संगति—दोहा ९।१ के 'करइ बिचार' से संगति जोड़ते हुए हनुमान्जी ने 'सीता सान्त्वयितव्या' ऐसा निर्णय कर सीतोद्गारक्षण में ही मुद्रिका डालना सुना रहे हैं जो अंगार सम हो सीताजी से चक्षुस्संयुक्ता हुई।

सोरठा— कपि करि हृदयँ बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ॥ १२॥

भावार्थ—हृदय में सोचकर हनुमान्जी ने उसी समय मुद्रिका गिरायी मानो अशोकवृक्ष ने अंगारा दिया हो। उसे सीताजी ने सहर्ष उठाया।

शास्त्रीय व्याख्या

कपि करि हृदयँ बिचार : सीताजी की श्रीरामविरह एवं पितृगंगोभयवचनाप्रामाण्यस्थिति प्रयुक्त पीड़ा के द्रष्टा हनुमान्जी 'कपि' से बोध्य हैं।

दोहा ९।१ में विचार प्रारम्भ हुआ उसकी पूर्णता होने पर अग्रिम कर्तव्यसम्बन्धी प्रश्न उपस्थित हुआ उसका उत्तर होना 'करि हृदयँ बिचार' से व्यक्त है।

ज्ञातव्य है कि यह अंगूठी जानकीजी की न होकर श्रीराम की है, स्व नामांकित मुद्रा का उपयोग राजकीय शासन कार्यान्वित कराते समय शासनप्रतियों पर चिह्न लगाने में है जो व्यवस्थापकों के पास प्रेषणीय होती हैं इसी व्यवस्था की अनुरूपता में श्रीरामजी ने मुद्रिका अपने पास रखी होगी। मुद्रा का उपयोग 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' एवं 'मुद्राराक्षस' में वर्णित है।

तब : सीताजी के दुस्सहसन्तापप्रयुक्त अनर्थसम्भावना का समय 'तब' से बोध्य है।

जनु असोक : सीताजी की याचनापूर्तिहेतुतया उत्प्रेक्षा करना 'जनु' से सार्थक है। अंगारा फेंकने वाले का परिचय न होने से प्रथम क्षण में अशोक में मुद्रिकारूप अंगाराक्षेप्तृत्व समझना उपपन्न है।

दीन्ह : दीर्घकालायात्रा के आरम्भ का संकेत देने हेतु सीताजी के पास अंगारे के रूप में मुद्रिका का आना 'दीन्ह' है जो श्रीराम की अनुदासीनता का अनुमापक व तापशामक है।

हरषि उठि कर : सीताजी ने मुद्रिका को अंगार समझकर उठाया इसलिए कि अपने को अशोक होने का अवसर प्राप्त हुआ ऐसा सोचकर सीताजी को प्राप्त हुआ मनःप्रसाद 'हरषि' है। दुःख में झुलसी सीताजी को यहाँ जो सुख प्राप्त हुआ उसी का अनुभाव 'उठि कर' है।

संगति—अविवेकी को इच्छापूर्ति होते ही उसके साथ मोहप्रसक्ति भी होती है उसका अभाव सीताजी में उनके विचार (विवेकपूर्वक चिन्तन) से सुना रहे हैं।

चौपाई— तब देखी मुद्रिका मनोहर । रामनाम अंकित अति सुन्दर ॥ १ ॥
चकित चितव मुदरी पहिचानी । हरष बिषाद हृदयँ अकुलानी ॥ २ ॥

भावार्थ—हाथ में ली अंगूठी को स्व के लिए मनोहर, लक्षण्य, श्रीरामनामांकित देखकर विस्मय हुआ यतः उन्होंने मुद्रिका को ठीक से पहिचाना तब वे हर्ष व विषाद में व्याकुलहृदया हुईं।

शास्त्रीय व्याख्या

तब देखी मुद्रिका मनोहर : अशोक में अंगारे के क्षेप्तृत्व का बाध समझना 'तब देखी' का आशय है। राजकीय लेख पर श्रीराम के द्वारा छापने हेतु अंकित अक्षर होने का चिह्न 'मुद्रिका' से ज्ञातव्य है। मनोहर का अन्वय 'रामनाम' से है। अर्थात् राम नाम का खुदा रहना ही सीताजी को विशेष प्रिय है।

रामनाम अंकित अति सुन्दर : मुद्रा में चिह्न होना श्रीरामनामांकितत्त्व है। सौन्दर्य इसलिए कि मुद्रा में लक्षण्यता व तेजस्विता है।

चकित चितव मुदरी पहिचानी : कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो श्रीरामनामांकित मुद्रिका को प्रभु से छीन सके। फिर भी उसका यहाँ आना 'चकित चितव' का कारण है।

मुद्रिकागत अनितर साधारण वैलक्षण्य को सीताजी ने तत्काल पहिचानना 'पहिचानी' का भाव है।

हरष बिषाद : हर्ष-विषाद की विरोध स्थिति से सीताजी में सत्प्रतिपक्षरूप हेत्वाभास होना न्यायशास्त्रमत से चिन्त्य है।

इष्ट वस्तु की प्राप्तिप्रयुक्त मनःप्रसाद होने से हर्ष है इसी हेतु से यहाँ सीताजी का स्वार्थानुमान चिन्त्य है—'जेतुकामो रामः रावणेन सह योद्धुमुत्साही अनुदासी, दूतद्वारा मत्समीपे मुद्रिकाप्रेषण-कर्तृत्वात्'।

'विषाद' से मनःप्रसादविरोधी द्वेष समझना है।

हृदयँ अकुलानी : बल न समझते हुए हेतु के दर्शनमात्र से ठोस निर्णय करना

अनुचित है किंबहुना उसके पूर्व प्रथमतः (अनुमेय) साध्य यह विचारणीय है कि रावण ने विश्वकर्माजी से नकली अंगूठी बनवायी हो उस माध्यम से वह सीताजी को अपनी ओर देखने की चाल चल कर स्वधर्म से च्युत करा सकता है परन्तु इस शंकामात्र में आकर मुद्रिका का सर्वथा तिरस्कार करना भी मूर्खता है। यही सन्देह का कारण है। उसका निरास विशेषदर्शन से सम्भव है अभी वह न होने से 'हृदयँ अकुलानी' है।

संगति—उक्त संशयात्मक सत्प्रतिपक्षित स्थिति के निरासार्थ सीताजी ने निर्णय हेतु जो व्याप्ति पक्षधर्मतामूलक तर्क हृदय में प्रस्तुत किये उन्हें युक्तिपूर्वक कवि गा रहे हैं।

चौपाई— ***जीति को सकइ अजय रघुराई । माया तें असि रचि नहिं जाई॥ ३ ॥***

भावार्थ—कोई भी शक्ति अजेय श्रीराम को जीत नहीं सकती उन पर किसी माया का प्रभाव नहीं चल सकता तथा माया से ऐसी श्रीरामनामांकित तेजस्वी अंगूठी निर्मित नहीं की जा सकती।

शास्त्रीय व्याख्या

जीति को सकइ : 'हरष बिषाद' शीर्षकोक्त कोटिद्वय के अन्तर्गत कहे विषादप्रयोजक प्रथम कोटि का उत्तर 'जीति को सकइ' से समझना है। उसका निष्कर्ष 'श्रीरामः कर्मकाण्डशक्त्यापि न जेतुं शक्यः' में है।

अजय रघुराई : अजेयत्वप्रतिज्ञाघटक साध्य का बोधक है। 'रघुराई' पक्ष है अर्थात् 'रामाऽजेयः तस्य अशरणागतेनाप्रियेण स्वतंत्रतया अजेयत्वेन श्रुत्यैव निर्णीतत्वात्' जहाँ भी कर्मकाण्ड-सम्बद्ध निगमागम शक्ति से श्रीरामजी जीते गए हैं वहाँ शरणागति या प्रीति ही उपाधिरूप में स्मृत करनी होगी।

माया तें : ब्रह्मादिसंकल्पकल्पितत्व जगत् में होना ही 'माया' है। 'तें' से ब्रह्ममाया में कल्पित जगदुपादानता बतायी।

असि रचि नहिं जाई : उक्त मायोपादानोपादेयत्वाभाव मुद्रिका में 'असि रचि नहिं जाई' से व्यक्त किया है।

मुद्रिका में ब्रह्मादि मायाकर्तृकत्वाभाव 'नहिं' से समझना है। जिसका उदाहरण सतीचरित्र है जिसमें श्रीराम ने माया से आवृत न होना स्वीकारा है। फलतः सन्देह निवृत्त हुआ। इस प्रकार सीताजी विषाद से हर्ष में आ गयीं।

संगति—सीताजी को विषाद से हर्ष में आया देखकर हनुमान्जी ने माता से जो कहा उसको संक्षेप में कवि सुना रहे हैं जिसका फल सीताचिन्तादूरीकरण है।

चौपाई— ***सीता मन बिचार कर नाना । मधुर बचन बोलेउ हनुमाना॥ ४॥***
रामचन्द्र गुन बरनै लागा । सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥ ५ ॥
लागीं सुनैं श्रवन मन लाई । आदिहु तें सब कथा सुनाई॥ ६ ॥

भावार्थ—सीताजी जैसे ही अनेकों सत्तर्कपूर्वक परामर्श करने लगीं वैसे ही हनुमान्जी ने श्रीरामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन प्रारम्भ किया जिसे सुनते ही सीताजी चिन्ताशून्या हो कान लगाकर सुनने में दत्तचित्ता हो गईं तो हनुमान्जी ने सारी कथा सुनाई।

शास्त्रीय व्याख्या

सीता मन बिचार : मुद्रिका की यथार्थता को पहिचानने वाली माता 'सीता' शब्द से ज्ञेय हैं।

'मन' से स्वार्थानुमान समझना है। 'बिचार' से सद्धेतुक परामर्श सोचना है जो ५।१३।२-३ में स्पष्ट है।

कर नाना : 'कर नाना' के अन्तर्गत वे विचार समझने हैं जो सीताजी के लिए विषादनिरासक व हर्षसाधक श्रीराम में उदासीनत्वाभाव और तात्कालिककर्तृत्व के बोधक हैं।

मधुर बचन : सीताजी के हृदय में स्वार्थानुमान प्रयुक्त संदेहनिरास होना देखकर उनके हृदय में पूर्वानुभूत ज्वालाशामक अमृतमय वचनवृष्टि होना 'मधुर' का ध्वनितार्थ है जो कर्ण व हृदय को स्पृहणीय है। मुद्रिकाप्रत्यक्ष के माध्यम से हृदय में प्रविष्ट, प्रभु के गुण व अनुदासीनत्व के बोधक अक्षरवृन्द 'वचन' से बोध्य हैं।

हनुमाना : सीताजी के लिए अभी तक अज्ञेय कपि 'हनुमाना' शब्द से समझने हैं।

रामचन्द्र गुन : शौर्यादि गुणों को सुनते-सुनते श्रीराम के प्रति सीताजी ने आह्लादित होना 'चन्द्र' का भाव है। यह आह्लादरूप औषधवितरण ही सीताजी की चिकित्सारूप में चिन्त्य है।

बरनै : श्रीरामगुणवर्णनात्मक द्वितीय चिकित्सा है वह जैसे-जैसे हो रही थी वैसे-वैसे मुद्रिकाप्राप्ति पर असंदिग्धतापरक प्रामाण्य निर्णीत होता गया।

सुनतहिं : अशोकवाटिका में राक्षसियाँ एवं पिशाचिनियाँ न होने से सीताजी व हनुमान्जी में दूरी रहते हुए भी रामचन्द्रगुणश्रवण में कोई बाधा न आना 'सुनतहिं' का भाव है।

दुख भागा : चिकित्सा की सफलता दुःखसमाप्ति में है। दुःख इस प्रकार हैं— (१) श्रीरामविरह-सन्ताप (२) श्रीराम की उपेक्षा को ध्यान में लाना। (३) वेदों की सार्वभौमता की असिद्धिप्रसक्ति से श्रीराम का अवतरण व्यर्थ होना इत्यादि।

लागीं श्रवन : श्रवणामृत से पुष्टा सीताजी की वचनों के द्वारा शुश्रूषा देखकर पूर्ण शान्त्यर्थ श्रीरामकथा का प्रारम्भ करना व सुनना 'लागीं श्रवन' है। श्रीरामचन्द्र की कथा का प्रयोजन यही है कि उसमें त्रिविधितापोपशामकत्व तत्व निहित हैं वे कार्यकारी तब होते हैं जब भक्त असत्यादिपथ्यवर्जन व स्व स्वतन्त्रता परित्यक्त कर श्रीरामादिष्ट कार्य को करने में उत्साहित होते हैं।

मन लाई : संस्कारदार्ढ्यार्थ आदर होना 'मन लाई' है परिणाम में प्रत्यभिज्ञापर्यवसायि स्मृतिनैरन्तर्य की स्थिरता होनी है।

सब कथा सुनाई : 'सब' से शत्रुपक्ष ने या शत्रु ने दिखाए मृत्युभय की व्यावृत्ति व्यंग्य है। कथा के अन्तर्गत मुद्रिकाप्रक्षेपणपर्यन्त संभूत चरित्र ज्ञातव्य हैं।

शब्दप्रमाणसहकृत अंगूठीदर्शन से विश्वासवृद्धि होना 'सुनाई' का फल है। इस प्रकार उसी रात्रि में हनुमदुपस्थिति से सीताजीवनरक्षण, त्रिजटावचनप्रमाणता व दीर्घकाला-यात्रारम्भ का संकेत स्पष्ट हुआ।

संगति—श्रीरामकथामृतश्रावयिता के दर्शन के प्रति उद्भूत सीताकांक्षापूर्ति और वार्ता करने हेतु हनुमान्जी ने माता सीताजी से भेंट करना कवि कह रहे हैं। जिसमें

असाधुत्वासमानाधिकरण आप्तत्व परिज्ञात होगा तभी सीताजी जीवित रहने में प्रवृत्ता होंगी।

चौपाई— ***श्रवनामृत जेहिं कथा सुहाई । कही सो प्रगट होति किन भाई॥ ७॥***
तब हनुमंत निकट चलि गयऊ । फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ॥ ८॥

भावार्थ—जिसने सुन्दर श्रवणामृत सुनाया वह भाई प्रगट क्यों नहीं हो रहा है। यह सुनकर हनुमान्‌जी सीतासमीप में गए। उसी समय सीताजी विस्मित हो मुख फेर कर बैठ गईं ऐसा देखकर हनुमान्‌जी ने कहा कि हे मातः जानकीजी! मैं करुणानिधान की शपथ लेकर सत्य कहता हूँ कि मैं श्रीराम का दूत हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

श्रवनामृत : अमृत वही है जिसमें सन्ताप दूर करने की शक्ति निहित हो। वह तत्व प्रगट होने से श्रवण में सीताजी ने शिवजी के समान अमृतत्व स्वीकारना 'श्रवनामृत' है।

कथा सुहाई : संसारसन्तप्तों के लिए 'कथा' ही एकमात्र आधार है। प्रस्तुत में उसका प्राकट्य होने से शिवजी इस काण्ड को सुन्दर नाम दे रहे हैं।

श्रीरामचन्द्रकृत चरित्र में सीताजी अभी तक अभिनेत्री बनकर मंचारूढा थीं अभी वे सामाजिक बनकर रस में ओत-प्रोत हो उक्त वेदना भूल रही हैं। अतः 'सुहाई' कहना उपपन्न है।

सो प्रगट : जहाँ से यह श्रवणामृत बरस रहा है उस स्थल ने मणि कर्तृक पतन पंचम्यर्थ अपादानसम्बन्धी आकांक्षा का विषय होना 'सो' से ज्ञातव्य है।

'प्रगट' से उपस्थित वचनों आप्तविध्याभिप्रेतत्व निर्णेतव्य है।

अथवा—'प्रगट' होने के लिए कहना इसलिए कि वक्ता के उच्चरित वचन इतिहास मात्र न होकर उक्त वचनार्थ को समझकर भविष्यत् में कर्तव्य निर्णेतव्य है, परिणाम में वे वचन नीतिप्रदर्शन में परिणत होंगे।

किन भाई : 'किन' प्रश्न से दिदृक्षा में औत्कट्य दर्शाया है जो औत्सुक्य का बोधक है उसका प्रयोजन 'सो प्रगट' शीर्षक में उक्त है।

अथवा—'किन' शब्द अलौकिक संनिकर्षण प्रत्यक्ष की व्यावृत्तिपूर्वक अनुव्यवसाय-(पश्यामि) परक है।

'भाई' का आशय प्रीतिपरक है।

तब हनुमन्त निकट चलि : 'तब' से सीतासमवेत दिदृक्षौत्कट्यानन्तर्य विवक्षित है।

सीतादुःखापहर्ता भाई 'हनुमन्त' से विवक्षित हैं।

पल्लव का व्यवधान हटाकर तदपेक्षया सीताधिकरण देश का प्रत्यक्ष होना 'निकट' है।

'चलि' से सीताभिमुख गति विवक्षित है।

फिरि बैठीं : श्रोत्रज प्रत्यक्ष विषय रहे शब्दों से वाचिक व्यापार प्रगट है जिनमें श्रीरामभक्ति प्रगट हुई। उनमें वाचिक व्यापार कर्तृ मानुष देह की विजातीयता दृग्गोचर होने से वाचिक और कायिक की एकरूपता न होने से 'फिरि बैठीं' कहा है।

अथवा—यह मुद्रिकाक्षेप्ता ही है ऐसा निर्णय किए विना बोलना श्रीराम का पराजय

होगा सोचकर 'फिरि बैठी' है। आशय यह कि श्रीसीतारामानुरक्त भक्त होगा तो प्रणत होगा और यदि शत्रु होगा तो क्रुद्ध होगा।

बिसमय भयऊ : वाणी मानवी है। शरीर वानर का है। यह पारस्परिक विरोधी सम्बन्ध विस्मयकारक होने से 'बिसमय भयऊ' कहा है।

संगति—जानकीजी का पीठ फेर कर बैठना देखकर मुद्रिकाक्षेपण करने वाले हनुमान्‌जी नतमस्तक हो अपना परिचय दे रहे हैं।

चौपाई— *रामदूत मैं मातु जानकी । सत्य सपथ करुनानिधान की॥ ९॥*

भावार्थ—हे मातः जानकीजी! मैं श्रीरामदूत हूँ। करुणानिधान की शपथ लेकर सत्य कहता हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

रामदूत : 'दूत' कहने से श्रीरामगुणवर्णन करना उपपन्न है। पवनसुत आदि न कहकर प्रथमतः 'रामदूत' कहने से दूतत्व की व्याप्यवृत्तिता समझनी है।

मातु जानकी : पुत्र के सामने माता ने पीठ फेर कर बैठना उपपन्न नहीं समझाने हेतु 'मातु जानकी' कहा है।

सत्य सपथ : श्रीरामदूतत्व साधनार्थ 'सत्य सपथ' का प्रयोग है। त्रेतायुग में शपथ, दिव्य प्रयोग के अन्तर्गत माना गया है।

'सत्य सपथ' की उपयोगिता अयोध्याकाण्ड में वर्णित चित्रकूट में हुई सभा के अवसर पर श्रीराम-वसिष्ठ-भरत संवाद में द्रष्टव्य है।

सत्य शपथ की उपयोगिता

हनुमान्‌जी ने अपने श्रीरामदूतत्व की सार्वकालिक व्याप्यवृत्तिता, निष्कपटता व निस्वार्थता शपथ से परलोक के प्रति पूर्ण विश्वास्यता 'सत्य' से प्रगट की यही सत्य शपथ की उपयोगिता है।

करुनानिधान : यदि श्रीरामदूत होने की प्रतिज्ञा में मिथ्यात्व होगा तो भक्ति का सर्वथा लोप होकर हनुमान्‌जी का पतन अवश्यम्भावी है। वैसा न हो एतदर्थ 'करुनानिधान' कहा है। इस प्रकार अजेय श्रीराम के हाथों से अंगूठी लाने की उपपत्ति स्पष्ट हो गई एवंच श्रीरामदूतत्व में अंगुलीयकप्राप्तिमत्तावच्छेदकत्व बताया गया है।

संगति—हनुमान्‌जी अंगूठीप्राप्ति को न बताकर मुद्रिका क्षेपकर्तृत्व का परिचय दे रहे हैं।

चौपाई— *यह मुद्रिका मातु मैं आनी । दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहि दानी॥ १०॥*

भावार्थ—हे मातः! यह मुद्रिका मैंने लाई जो प्रभु ने आपकी पहिचान में दी है।

शास्त्रीय व्याख्या

यह मुद्रिका : ठोस असंदिग्ध प्रमाण के बिना आप्तत्व निर्णय होने के पूर्व पुरुषोच्चरित शब्दप्रमाण हो ही नहीं सकता। अतः प्रथमतः श्रीरामदूतत्व प्रमित किया। मुद्रिकारूप प्रमाण से श्रीरामानुपेक्षणीयत्व निर्णीत हुआ। अन्यथा नीति का प्रमाणत्रयप्रमितत्त्व अधूरा रहता।

संगति—श्रीराम-वानर संग कैसे हुआ? इस प्रश्न का समाधान हनुमान्‌जी कर रहे हैं।

चौपाई— *नर बानरहि संग कहु कैसें । कही कथा भइ संगति जैसें॥ ११॥*

भावार्थ—मानवों व वानरों का संग कैसे हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में हनुमान्जी ने पूरी कथा सुनाई।

शास्त्रीय व्याख्या

नर वानरहि : यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोपि सहायताम्।
अपन्थानन्तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥

इस उक्ति के कार्यान्वयन में रहे स्व राज्य की व्यवस्था चक्रवर्ती सूर्यवंशी राजाओं ने भारत के अन्तर्मण्डल में इस प्रकार निभायी जिसके प्रभाव में वानरराज्य भी स्व राज्यांग हुआ है। इस राज्य में अभिमानी वालि देवदत्तवर से दृप्त हो अनीति को अपनाकर स्वामी बना था उस समय सचिवोंसहितसुग्रीवजी धैर्य से गुणसंपत्ति को आत्मसात करते हुए सबल आश्रय की प्रतिक्षा में रत थे। वे वानर यहाँ 'वानर' से विवक्षित हैं।

संग : 'संग' से सज्जनसंगति बोध्य है उसकी जिज्ञासा इसलिए कि संधिआश्रय बना रहे। दोनों सन्धेयों में उपकार्योपकारक भाव स्पष्टा है अथवा ऐकात्म्य है।

कही कथा भइ संगति जैसें : 'संग' प्रश्न के उत्तर में पंपासरोवर आने के बाद सुग्रीवजी को राज्यप्राप्ति कराकर वार्षिक मासपर्यन्त पंपासरोवर में रहे श्रीरामवास की कथा 'कही कथा' से स्फुट है।

'संगति' सन्धिपरक है। यह सन्धि ऐकात्म्ययुक्त प्रतीकारात्मक है। इस प्रकार अनुजसहित श्रीरामजी ने स्वकार्यारम्भ के पूर्व ही किष्किन्धाराज्य की यथावत् स्थापना कर सुग्रीव को राजा बनाया। जो उनकी अनुदासीनता का प्रकाशक है।

संगति—शिवजी, हनुमत्परिचय सुनाने के बाद, सीताहृदय में उपजे सन्देह का निरसन बता रहे हैं।

दोहा— *कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।*
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥ १३॥

भावार्थ—कपि के प्रेमपूर्वक वचन सुनकर सीताहृदय में विश्वास उदित हुआ कि यह वानर मनसा, कर्मणा, वचसा करुणासागर का दास है।

शास्त्रीय व्याख्या

कपि के बचन : कपिवचन में पंचम व मध्यम स्वर की स्थिरता, अविसंवादिता, भक्ति की निश्छलता, अस्वार्थता, आप्तसंसर्गिता होने से वाणी में निर्दुष्टता व अचंचलता के साथ श्रीरामनिर्दिष्ट शब्दप्रमाणपरतत्रन्ता स्फुट है।

सप्रेम : श्रीरामजी के प्रति 'हितसाधनं अयं' ऐसा निश्चय रामदूत हनुमान्जी को श्रीराम के प्रति होना सीताजी ने परखा है जो 'सप्रेम' कहने से स्पष्ट है। श्रद्धा, सानुरागिता, पक्षवत्ता, गुणवत्ता, अनुकूलदैवता, पौरुषवत्ता का रहना इत्यादि गुण भी 'सप्रेम' से ध्वनित हैं। इसलिए कि धर्मविजयी नेता व नेत्री के समीप में वही आ सकता है जो श्रीरामादेश का पालन करने में कर्त्तव्यतया समर्पित है।

उपजा मन : 'उपजा' का अन्वय है उसकी उपादेयता तद्वत्वरूप प्रामाण्य निर्णय में है।

पीठ फेरकर बैठी सीताजी की बुद्धि यहाँ 'मन' से विवक्षित है जिसका काम निर्णय करना है।

बिस्वास : 'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरुपिणौ'[1] में विश्वास व्याख्यात है। वह श्रद्धा की उत्तरावस्था है जिसमें अप्रामाण्यज्ञान को कभी अवकाश प्राप्त नहीं होता।

आशय यह कि सत्तर्कपुष्ट प्रमाण पूर्वक विश्वासावस्था में अप्रामाण्यशंका या आहार्यता का सदा के लिए अभाव होने से विश्वास्य के प्रति 'अयं मे हितं साधयिष्यति' ऐसा निर्णय प्राप्त होना ही प्रेम की अन्तिम अनुरागावस्था है।

मन क्रम बचन : 'मन' से मानसिक (वृत्ति) 'क्रम' से कायिक व 'वचन' से वाचिक व्यापार बोध्य है।

यह : पुरोवर्ती सन्निकट रहा वानर 'यह' शब्दार्थ है।

कृपासिन्धु कर दास : हनुमद्बिभीषणोक्त संवाद में निर्णीत कृपा व सेवा के कार्यकारणभाव का स्पष्टीकरण 'कृपासिंधु कर दास' से ध्वनित है।

'दास' से निष्कपट, सत्यवक्ता, नीतिकुशल यहाँ विवक्षित हैं।

संगति—दुख भागा की मीमांसा के साथ सीताजी का प्रीतिपूर्वक बोलना सुना रहे हैं जिसमें अनुराग प्रीति के अनुभाव चर्चित हैं।

चौपाई—हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी । सजल नयन पुलकावलि बाढ़ी ॥ १ ॥
बूड़त बिरह जलधि हनुमाना । भयहु तात मो कहुँ जलजाना ॥ २ ॥

भावार्थ—हरिजन समझकर आगाढ़ प्रीति में सीताजी के नयन अश्रुपूरित हो गये व रोमावली पुलकित हो गई। विरहजलधि में डूबते हुए मुझको, तुम हे तात! जहाज के समान मिल गये हो।

शास्त्रीय व्याख्या

हरिजन : वसिष्ठोक्ति (२।१७३।४) व श्रीरामोक्ति के अनुसार रहे व्यक्ति 'हरिजन' से बोध्य है।

जानि : 'शब्दतः, जन्मतः, आप्ततः, अनुमानतः, प्रत्यक्षतः अयं हरिजनः' ऐसा निश्चय होना 'जानि' है।

प्रीति अति : हरिजन होना अत्यन्त दुर्लभ है (अयोध्याकाण्ड १७३।४-१) तथापि लक्षणों को यथावत् देखकर परीक्षकों के परिलक्षित करने के बाद ही भक्त प्रीतिमान् माने जा सकते हैं। ऐसा सोचकर 'प्रीति अति' कहा है। इसके उदाहरण में भरतजी को देखकर सीताजी के हृदय में प्रीति होना स्मर्तव्य है।

गाढ़ी : भविष्यत् में हरिजन हनुमान्जी के प्रति सीताजी की प्रीति का भंग न होना 'गाढ़ी' से समझाया है।

सजल : नेत्रों में अश्रु, शरीर पर रोमांच तथा प्रीति के अन्यान्य व्यभिचारिभाव 'सजल' से ज्ञेय हैं।

---

[1] बालकाण्ड मङ्गलाचरण श्लोक २।

बूड़त : पूर्ण नैराश्य स्थिति में सीताजी ने आना 'बूड़त' है।

बिरह जलधि हनुमाना : जिस प्रकार 'जलधि' की सीमा दिखाई नहीं देती। उसी प्रकार विरह से पार होने की आशा न होना 'बिरह जलधि' से स्मर्तव्य है।

अथवा—दीर्घकालायात्रारम्भ की सूचना न मिलने से रघुपति की उदासीनता व उपेक्षा सोचकर विरह प्रतियोगी श्रीराम से भेंट न होने की कल्पना तथा शत्रु के अत्यधिक दबाव को देखकर विरह में भड़का उष्ण समुद्र 'बिरह जलधि' है।

प्रत्यक्षतया हनु की लंबता होने से उनको 'हनुमाना' कहा है।

तात : अत्यन्त आदर व प्रीति में 'तात' सम्बोधन है।

मो कहुँ : अगाध विरहजलधि में डूबने वाली सीताजी मच्छब्दार्थ हैं।

जलजाना : हनुमान्‌जी ने यथासमय पहुँचकर मुद्रिका प्रक्षेप करने, श्रीरामचन्द्रजी की कथा सुनाने व श्रीरामदूत के रूप में आप्ततया परिचय देने से मारुतिनन्दन विरहसमुद्र में डूबने वाली सीताजी के लिए आधार होने से उन्हें 'जलजाना' कहा है।

संगति—स्वदण्डसंपत्ति पूर्ण होने पर भी यहाँ न पहुँचने से सानुज श्रीरामजी की उदासीनता याद कर स्नेह रागापनयनमूलक शंका से ग्रस्त वैदेहीजी पुनः पूर्वपक्ष उपस्थापित करते हुए पाँच प्रश्न करेंगी उनके अन्तर्गत दो प्रश्न यहाँ प्रगट हो रहे हैं।

चौपाई—अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी । अनुज सहित सुख भवन खरारी॥ ३॥
कोमलचित कृपाल रघुराई । कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥ ४॥

भावार्थ—हे कपे! मैं प्रभु के शरण में हूँ। वे तो खरारि सुखायन हैं फिर भी अनुज लक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी का कुशल कहो। वे कोमलचित्त, सात्विक, दयालु हैं उन्होंने मेरे प्रति क्यों कठोरता धरी है?

शास्त्रीय व्याख्या

अब : हनुमान्‌जी डूबने वाले के लिए सहायक हैं ऐसे निश्चय का आनन्तर्य 'अब' से द्योत्य है।

कहु : प्रश्नोत्तर देने के लिए प्रवृत्तिहेतुतया मध्यम पुरुषात्मक 'कहु' प्रयोग है।

कुसल : जबकि श्रीराम कुशल अयन हैं तब उनके सम्बन्ध में कुशल प्रश्न कैसे हुआ? समाधान में कहना यह है कि प्रिया सीताजी के स्मरण में उनको दुःखी जानकर श्रीरामजी का दुःखी होना उनके सात्विक स्वभावानुरूप है। फलतः श्रीराम में भी आरोग्य संदिग्ध है।

अथवा—मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम व जानकीजी दोनों शास्त्रीय निर्देशानुसार विरहावस्था का अभिनय कर रहे हैं। अतः कुशल प्रश्न पूछा है।

बलिहारी : कुशलचर्चा होते ही सीताजी ने इष्टदेव के शरण में जाना 'बलिहारी' है।

अनुज सहित : श्रीराम स्वरूपतः कुशली हैं परन्तु तत्संबद्ध अनुज के क्लेश से वे कुशली नहीं हो सकते। अतः 'अनुज सहित' को लेकर कुशल प्रश्न है। भाव यह कि लक्ष्मणजी को सीताजी ने पंचवटी में अपमानित किया था उससे सन्तप्त लक्ष्मणजी का सन्ताप श्रीराम को अनुभूत होता होगा। अतः कुशल प्रश्न के उपपत्त्यर्थ 'अनुज सहित' कहा है। इस प्रकार प्रथम पूर्वपक्ष उपपन्न है।

सुख भवन : उक्त पूर्वपक्ष का अनौचित्य श्रुतिसम्मत सीताजी 'सुख भवन' से प्रगट कर रही हैं। निष्कर्ष यह कि जो सुखभवन हैं वैसे प्रभु के प्रति कुशल पूछना ठीक नहीं। इस प्रकार प्रथम पूर्वपक्ष निरस्त है फिर भी कुशल पूछना प्रीति के प्राकट्य में उचित है; क्योंकि आहार्य होता हुआ भी यह प्रश्न सामाजिकों को रसरूप में आस्वाद्य है।

खरारी : 'खरदूषण मोहि सम बलवंता' इस रावणोक्ति से सिद्ध रावण के समान बलशाली खर के शत्रु श्रीराम 'खरारी' हैं।

अथवा—रावण से अधिक पौरुष (प्रभु) शक्ति का अस्तित्व रखने वाले होने पर भी श्रीराम विलम्ब क्यों कर रहे हैं? यह प्रश्न 'खरारी' का ध्वनितार्थ है।

कोमलचित : आशय यह कि जब निगमागमसम्मत तथ्य पर आघात पहुँचता है तब आत्माराम की सात्विक मनोवृत्ति पर बहुत आघात पहुँचता है उस वेदना में वे युद्धार्थ प्रवृत्त होते हैं। अन्यत्र वे दुष्ट पर भी अनुग्रह करते हैं उसका कारण आत्माराम का कोमलचित्त है। इसका उदाहरण जयंत के प्रति किया अनुग्रह है।

कृपाल : शमप्रधानधृतिसहचरित उत्साहवान् दीनदुःखासहिष्णु 'कृपाल' से व्यक्त है।

रघुराई : रघुराई में उत्साह की स्थायिता होने पर भी दीर्घकालायात्रारम्भ की सूचना न होना अनन्य सेविका, पतिव्रता, धर्मरता, रामाज्ञा में स्थिता सीताजी के लिए विस्मय-कारक है। इस प्रकार श्रीराम में क्रौर्याभाव निर्णीत होने से सीताजी 'रघुराई' का चिन्तन करती रहती हैं।

केहि हेतु : श्रीराम के आने में विलम्ब होने का कारण स्व का दोष हो सकता है जो गूढ़ हो वही उत्साह को प्रतिबन्ध कर रहा है उसको जानने की इच्छा 'केहि हेतु' से सीताजी व्यक्त कर रही हैं।

धरी निठुराई : निष्ठुरता, अकोमलचित्तता, अदयालुतारूप तत्व 'निठुराई' से बोध्य हैं। चिन्त्य है कि ये सभी अभावात्मक न होकर भावात्मक है। अतएव पाषाणादि के प्रति 'निठुराई' का प्रयोग उपयुक्त न होना उपपन्न है। अत: विलम्ब करने में 'निठुराई' प्रश्न उपस्थित है। इसका तात्पर्य दोषविशेष की जिज्ञासा में न होकर दोषाभाव को प्रगट करने में है। फलतः सीताजी का यह प्रश्न विस्मयकर मालूम होता है। इस प्रकार दूसरा प्रश्न व्याख्यात है।

काल विलम्ब की उपपत्ति

रावण ने खरवध सुनकर श्रीरामजी को प्रभु समझा उसके उत्तर में विरहाकुल श्रीरामजी ने यात्रा में विलम्ब किया उसी को देखकर 'अयं रामः न प्रभुः' ऐसा अनुमान रावण को हुआ। इसी विश्वास पर रावण ने सीताजी के प्रति और अधिक कठोरता दिखाई। इस प्रकार कालविलम्ब होना उपपन्न है।

संगति—निगमागम की सार्वभौमिक प्रमाणता के अनुबन्ध में सेवकों को सदा भजने वाले रघुपति विप्रलम्भ में मेरे प्रति उदासीन नहीं होंगे। इस विश्वास में प्रभु के ध्यान का विषयता ने स्व में संबद्ध होने का निर्णय कर सीताजी इन्द्रियों को तृप्त करने की अकांक्षा प्रगट कर रही हैं और समय के रहते प्रभो! यहाँ पर पहुँच जाय इस आशय से अवशिष्ट प्रश्न पूछ रही हैं।

चौपाई— *सहज बानि सेवक सुखदायक । कबहुँक सुरति करत रघुनायक ॥ ५ ॥*
कबहुँ नयन मम सीतल ताता । होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता ॥ ६ ॥
बचनु न आव नयन भरे बारी । अहह नाथ हौं निपट बिसारी ॥ ७ ॥

भावार्थ—सेवकों को सुख पहुँचाना जिनकी वाणी का सहज गुण है क्या वे मुझे याद करते हैं? विप्रलम्भ में तड़पने वाली आँखें उनके श्याम शरीर को देखकर क्या शैत्य का अनुभव करेंगी। प्रभो! आप कैसे भूल गए? इतना कहते-कहते वाणी रुद्ध हो गई और आँखें अश्रु से भर गईं।

शास्त्रीय व्याख्या

सहज बानि : वाणी में शमप्रधान संस्कारों का उद्‌बोध होना 'सहज' का फलितार्थ है जो 'बानि' से अन्वित है। इसमें पंचम स्वर का प्राधान्य होता है।

सुखदायक : प्रभु श्रीराम की प्रेरणा को ही हेतु समझकर जो भक्त प्रभु के आदिष्ट मार्ग को अपनाते हैं वे श्रीराम के सच्चे सेवक हैं उनके लिए श्रीराम अति सुखदायक लगते हैं उसकी अनुभूति सेवकों को निरन्तर प्राप्त होते रहना ही सुखदायक का प्रमाण है। उसके साक्षी स्वयं हनुमान्‌जी हैं।

कबहुँक : दीर्घकालायात्रारम्भ की सूचना न पाकर सुखदायक की उपेक्षा या उदासीनता को अनुभूत करती हुई जानकीजी 'कबहुँक' प्रश्न कर रही हैं।

सुरति करत : जो सेवक भरतजी की तरह निष्कपट निराकांक्ष होते हैं उनके प्रति स्वामी का अनुराग होना व सेवक की याद करना 'सुरति करत' कहा है।

रघुनायक : अभी तक रघुवंश के सभी राजा राजपदासीन व सर्वलोकनमस्कृत हो सबको आत्मीयत्वेन निरन्तर बनाये हुए हैं व सबको सुखी बनाने में सदैव सफल व सचेष्ट रहे हैं। ऐसे वंश में जन्मे श्रीराम पर सत्वगुणसंपत्तिमान् सेवक के रक्षण की जिम्मेदारी रघुनायक पर है। यह कहने की आवश्यकता न होना 'रघुनायक' से ध्वनित है।

कबहुँ : विप्रलम्भ के अन्तर्गत चतुर्थ अवस्था (निद्राच्छेद) में रही सीताजी 'कबहुँ' प्रश्न कर रही हैं। इसका अन्वय 'नयन मम सीतल ताता' से है।

नयन मम : 'नयन' से दिदृक्षाविषय बिन्दु (स्याम मृदु गाता) ध्वनित है।

रघुपतिदिदृक्षापूर्ति न होने से मछली के समान तड़पने वाली सीताजी मच्छब्दार्थ हैं।

सीतल : प्यासी आँखों को स्वविषय प्राप्त होने पर जो सुख ईप्सित है वह 'सीतल' से दर्शाया है।

जो-जो पदार्थ आरोग्यशास्त्र में विरहपीड़ित नयनों को ठण्डक पहुँचाने के लिये गिनाये गये हैं वे सभी सेवन किये जायें तो भी सीताजी के प्यासी आँखों की चिकित्सा में सफलता नहीं मिलेगी। तस्मात् वर्तमान में नयन की पिपासा दुश्चिकित्स्य होने से 'सीतल' कहा है।

ताता : जीवन लौट आने से प्रीति में आई सीताजी ने पवनपुत्र हनुमान्‌जी को बोलने की प्रेरणा देना 'ताता' सम्बोधन का भाव है।

होइहहिं निरखि : उष्णता में पीड़ित आँखों का व्यापार (चक्षुस्संयोग) 'होइअहिं निरखि' है।

स्याम : 'स्याम' से श्रीराम की शुद्ध कफ प्रकृति होने से उसमें नयनपीड़ाशामकता ध्वनित है।

मृदु गाता : 'मृदु गाता' से प्रभु के शरीर में अत्यधिक स्पृहणीयता तथा सौगन्ध ध्वनित है जो तत्तद् इन्द्रियों के लिये सुखकर है।

बचनु न आव : 'बचनु न आव' से सीताजी में ईर्ष्या, प्रणय, असूया, मात्सर्य आदि का अभाव समझना है।

नयन भरे बारी : 'नयन भरे बारी' से स्वयं ने अनुभूत सुख स्मृत होना है।

अहह : 'अहह' अत्याश्चर्य का बोधक है जो निसर्गप्राप्त स्वभाव के विपरीत चरित्र दृष्टिगोचर होने पर होता है।

नाथ : 'नाथ' शब्दार्थ भावप्रकाशन (१०७। १६। १७) में इस प्रकार व्याख्यात है—

सामदानार्थसम्भोगैः लालयन् प्रीणयन् सदा।
भजते रहसि प्रीतः स नाथ इति कथ्यते॥

निपट बिसारी : सेवक की श्रेणी से हमें (सीताजी) क्यों दूर किया? मुझे कैसे भूले? इस भूलने में दयालुताबोधक श्रुति की सार्वभौमता कैसे स्थिर रहेगी? इत्यादि रूप में सीताजी के द्वारा उत्थापित पूर्वपक्ष 'निपट बिसारी' से व्यक्त है। इस प्रकार सीताजी के पाँच प्रश्न पूर्ण हुए।

संगति—हनुमज्जानकीसंवाद में निमग्न शिवजी हनुमान्‌जी द्वारा सुनाए उत्तर पक्ष का आरम्भ करने के क्रम में रसभरी वाणी सुना रहे हैं।

चौपाई— देखि परम बिरहाकुल सीता । बोला कपि मृदु बचन बिनीता॥ ८॥

भावार्थ—परम विरहसन्तप्ता सीताजी को देखकर हनुमान्‌जी ने मृदु वचन से उत्तर देना प्रारम्भ किया।

शास्त्रीय व्याख्या

परम बिरहाकुल : सगुण, नीतिमान् दीनरक्षणकुशल के द्वारा अपनाये जाने वाले कर्तव्यबोधक निगमागम में अप्रामाण्यस्थिति प्राप्ति की सम्भावना में सीताजी ने विशेषतः श्रीरामविरहपीड़ित होना 'परम बिरहाकुल' है।

सीता : उक्त प्रश्नपंचक से अनुमित विप्रलंभरतिमती सीताजी 'सीता' शब्द से बोध्या हैं।

बोला कपि : 'बोला' के कर्म वक्ष्यमाण वचन हैं।

ब्रह्मचारी होते हुए भी रसिकताविशिष्ट अचपल वानर हनुमान्‌जी 'कपि' हैं।

मृदु बचन : सीताजी के प्रश्नों के समाधानार्थ सुनाए वर्णों में अदोष व अकटुता के साथ स्वरमाधुर्य होना 'मृदु बचन' है।

बिनीता : 'बिनीता' से हनुमान्‌जी में दौत्यगुण के साथ अनुजीविवृत्तोक्त भद्रतादि निम्नलिखित अष्टगुण भी चिन्तनीय हैं—

दक्षता भद्रता दार्ढ्यं क्षान्तिः क्लेशसहिष्णुता।
सन्तोषः शीलमुत्साहो मण्डयन्त्यनुजीविनम्॥[1]

संगति—पूर्व संगत्युक्त्यनुसार हनुमदुक्त विनयोचित मृदु वचन शिवजी अनूदित कर रहे हैं।

चौपाई— ***मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपा निकेता॥ ९॥***

भावार्थ—करुणानिधान श्रीराम अनुजसमेत कुशल हैं। हे मातः! वे आपके दुःख से व्यथित हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

मातु कुसल : 'मातु' से विनय प्रगट है।

प्रथम प्रश्न के उत्तर में 'कुसल' कहा है अर्थात् आरोग्य है। एवंच कुशल न होने में जो शंकाएँ सम्भावित हैं वे सभी 'कुसल' कहने से समाहित हो रही हैं।

अथवा—आत्मलब्धि में रहे आप्तकाम ने दुःखी न होना 'कुसल' से ध्वनित है।

अनुज समेता : कुशल के विकल्प में सीताजी ने 'अनुज सहित' कहा था उसका समाधान 'अनुज समेता' से प्राप्त है।

तव दुख दुखी : निगमागमप्रमाण की अप्रामाण्यसिद्धिसहचरित श्रीरामविरह से पीड़िता सीताजी युष्मच्छब्दार्थ हैं।

सत्वप्रधान कोमलचित्त व्यक्ति आदर्श (आइना) के समान स्वच्छ होता है। उसमें सेवक के सुख या दुःख संक्रमित होते देखे जाते हैं जैसे प्रतिबिम्ब। परन्तु प्रभु में ऐसा सुख-दुःखानुभव नहीं होता तथापि प्रतिबिम्ब को शुद्ध बनाने हेतु करुणामयदृष्टि से वे सेवक के दुःख को स्वयं दुःखी हो दूर करते हैं यही भक्ति का अनुशासन है। अतएव प्रभु के बारे में 'तव दुःख दुखी' कहा है।

सुकृपानिकेता : शुद्ध प्रतिबिम्बभूत कोमलचित्त के सामंजस्य में 'सुकृपानिकेता' कहा है। एवंच श्रीराम में अनुत्साहाभाव, निष्ठुरत्वाभाव तथा उदासीनत्वाभाव चिन्तित है।

संगति—सीताजी की श्रीरामविरहप्रयुक्त असह्य ग्लानि के समाधान में उठाए गए प्रश्न का समाधान हनुमान्जी सुना रहे हैं।

चौपाई— ***जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना॥ १०॥***

भावार्थ—हे जननि! आप अन्तः ग्लानि को न आने दीजिये। आपसे द्विगुणित प्रेम आपके प्रति श्रीरामजी के हृदय में है।

शास्त्रीय व्याख्या

जनि जननी : 'जनि' निषेधार्थक है; क्योंकि श्रीराम में 'निपट निसारी' का अभाव दर्शाया है।

वचनों में मृदुत्वस्थापनार्थ मातु के अनन्तर 'जननी' सम्बोधन सीताजी के प्रति श्रद्धेयत्व समझाने में हैं।

मानहु : 'जनि' कहने के उपादान में 'मानहुँ' आदि कहा है। जो समझाने के अर्थ में व्यवहृत है।

---

[1] नीतिसार ५।१५

तुम्ह ते : श्रीराम समवेत प्रेमावधिक न्यूनप्रेमवती सीताजी 'तुम्ह' शब्द से बोध्या हैं। 'ते' से तादृश सीतागत प्रेमाधिक प्रेमवत्व श्रीरामप्रेम में दर्शाया है।

प्रेमु : भक्तों के प्रति प्रभु की सुखमयी भावना 'प्रेमु' से बोध्य है।

ज्ञातव्य है कि निगमागमप्रमाणित उदासीनता निर्गुण या सगुण ब्रह्म में लीला के अभाव में है। लीला के आनुगुण्य में सत्वगुणादिकों का आवरण लेकर प्रगट श्रीराम ब्रह्म कैकेयीजी के निर्देशानुगमन में उदासीन व्रत अपनाए हुए थे वह चित्रकूट के निवास में पूर्ण हो चुका है। अतः श्रीराम में रही प्रीति का वर्णन अनुचित नहीं है।

दूना : सीताजी के प्रति पत्नीत्वेन तद्विषयक प्रेम एक प्रेम है तथा सीताजी भरतजी सदृश आज्ञाकारिणी हैं उनके प्रति श्रीराम ने वत्सल होना दूसरा प्रेम है अतः 'दूना' कहा है। इस प्रकार प्रथम व पंचम प्रश्न उत्तरित हुए क्योंकि वे अत्यन्त अभ्यर्हित थे।

संगति—'दूना' प्रेम को समझाने के विचार से प्रवृत्त हनुमान्जी ने श्रीराम-सन्देश सुनाने के पूर्वक्षण में ही श्रीरामप्रीति को यादकर स्वयं गद्गद होना शिवजी सुना रहे हैं।

दोहा— रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥ १४॥

भावार्थ—हे जननि! धैर्य धारण कर श्रीरघुपति का सन्देश सुनें। इतना कहते ही कपि की वाणी रुँध गई व आँखें अश्रुपूरित हो गईं।

शास्त्रीय व्याख्या

रघुपति कर सन्देसु : श्रीराम के पास मौल बल की कमी व मित्रबल की शून्यता का निरसन 'रघुपति' से समझाया; क्योंकि रघुपति जिस क्षण में कार्य करने हेतु प्रवृत्त होते हैं उसी क्षण उनके लिए सहायक रूप में मित्रबल व मौलबल का पहुँचना प्रसिद्ध है यही उनके अत्यर्थ सत्त्वगुण का महत्त्व है।

'सन्देसु' भावप्रकाशन में इस प्रकार व्याख्यात है—

'सन्देशः स्यात् स्ववार्ताभिप्रेषणं विषयान्तरे।' (भावप्रकाशन ११। ६)

ज्ञातव्य है कि निर्विकार रघुपति ने सन्देश भेजकर अपना क्षोभ सुनाया जो सीताजी की विरहचिकित्सा का उपाय है; क्योंकि सीताजी का नीतिप्रचुर पतिव्रत धर्म उनका रक्षक हो स्वामी रघुपति को भी मनस् में निर्मित हो सीताजी के प्रति आकृष्ट कर रहा है।

सुनु : प्रभु के कुशल समाचार से सीताजी ने स्वदेहत्याग के हठ को छोड़ना देखकर हनुमान्जी ने उनसे प्रभुसन्देश सुनने की प्रार्थना करना 'सुनु' से व्यक्त है।

अथवा—साहित्यमर्यादा में पत्नी के प्रीतिवर्णन के बाद नायक के प्रीति की चर्चा होती है। उसी क्रम से हुए वर्णन के श्रवणार्थ 'सुनु' कहा है।

जननी : शत्रु से सर्वथा सम्बन्ध न होना 'जननी' के पौनरुक्त्य से ज्ञातव्य है।

अथवा—निगमागमप्रमातृत्व आप ही में है ऐसी व्यंजना 'जननी' से व्यक्त है।

धरि धीर : वक्ष्यमाण सन्देश सुनकर अनुचित काम न करने का संकेत हनुमान्जी 'धरि धीर' से दे रहे हैं क्योंकि दीर्घकाला यात्रा की सफलता आसन्न है।

अस कहि : सन्देश सुनाने के क्षण के पूर्व क्षण में हनुमान्‌जी की अवस्था को कहे विना शिवजी से रहा नहीं गया। जो 'अस कहि' से सुना रहे हैं।

कपि गदगद : प्रभु के शुचि शृंगार के रसिक हनुमान्‌जी 'कपि' शब्द से बोध्य हैं।

चिन्त्य है कि निगमागम की सार्वभौम प्रमाणमूर्धन्यता की स्थापना नहीं हो रही है ऐसा समझकर श्रीरामविरह से पीड़िता प्रिय पत्नी के वियोग में श्रीराम का पवित्र शृंगार श्रुतिमान्य है। वही सबको अभिलषित है ऐसा याद कर उसका उचित स्वाद लेने में अधिकृत हनुमान्‌जी ने श्रीरामसन्देशविषयभूत अर्थ की स्मृति में गद्‌गद होना 'गदगद' का भाव है।

बिलोचन नीर : दीर्घयात्राकालातिक्रमणदर्शनप्रयुक्त उदासीनत्वशंका को सीताजी ने अभी त्यागना 'बिलोचन नीर' शब्द का गम्भीरार्थ है। तदर्थ ही बुद्धिमानों में वरिष्ठ हनुमान्‌जी समय पर पहुँच चुके हैं उसका अभी स्पष्टीकरण होना कविकौशल है।

संगति—हनुमान्‌जी प्रथमत: श्रीरामसन्देश का मुख्यांश प्रारम्भ कर रहे हैं।

चौपाई— *कहेउ राम बियोग तव सीता । मो कहुँ सकल भए बिपरीता ॥ १ ॥*

भावार्थ—श्रीरामजी ने यह कहा है कि हे सीते! आपके वियोग ने मेरे लिए सब प्रतिकूल कर दिया है।

शास्त्रीय व्याख्या

कहेउ राम : 'कहेउ' से सन्देशव्याख्यान का आरम्भ समझना है। सीताविरह में वनादि के प्रति अरमणीयता को अनुभूत करने वाले श्रीराम 'राम' से बोध्य हैं।

बियोग तव : 'बियोग तव' से विप्रलम्भ शृंगार विवक्षित है। उसके अन्तर्गत 'वियोगे' ऐसी निमित्तबोधक सप्तमी अध्याहार्य है।

सीता : सीताजी का सहज दासीधर्म, शुद्ध प्रेम, अस्वार्थता, अयाचना, कापट्याभाव व विस्मृतविषयसुख ने उदासीन श्रीराम को आकृष्ट करना 'सीता' का ध्वनितार्थ है।

मो कहुँ : सीताजी के द्वारा कल्पित 'निपट निसारी' श्रीराम मच्छब्दार्थ हैं।

अथवा—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'[१] की चरितार्थता 'मो कहुँ' से स्फुट हो गई।

सकल : 'सकल' से पंपा, तरु किसलय आदि वक्ष्यमाण तत्व समझने हैं जो अग्रिम चौपाई में व्याख्यात हैं।

बिपरीता : सीतासामीप्य में प्राप्त सुखप्रयोजक 'किसलय' आदि से सभी विषयों ने दुःखप्रद होना 'बिपरीता' का भाव है।

संगति—हनुमान्‌जी 'सकल भयउ बिपरीता' का व्याख्यान कर रहे हैं। जो सन्देशान्तर्गत हैं।

चौपाई- *नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू । काल निसा सम निसि ससि भानू ॥ २ ॥*
कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा । बारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥ ३ ॥
जे हित रहे करइ तेइ पीरा । उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा ॥ ४ ॥

भावार्थ—सुखानुभव कराने वाले पेड़ों के कोमलपत्र मेरी (श्रीराम) की दृष्टि को

---

१. श्रीमद्भागवद्गीता ४।११

अंगारा के समान लग रहे हैं। नींद न आने से रात्रि कालसम प्रतीत हो रही है। चन्द्रकिरणें सूर्यवत् उष्ण लगती हैं। कमलवन भाले के समान दिखाई देते हैं। मेघों की जलधारा तपे तेल की तरह असह्य हो रही है। पहिले जो सुखकर थे वे अभी पीड़ा पहुँचा रहे हैं। हवा मन्द सुगन्धी शीतल होने पर भी सर्पश्वास सम प्रतीत हो रही है।

शास्त्रीय व्याख्या

नवतरु किसलय : पितृवचन प्रमाणित करने हेतु वनवास में सीतासंसर्ग में श्रीराम पूर्ण सुख का अभिनय प्रगट कर रहे थे। उस सुखानुभव में अयोध्या भी स्मृत नहीं हो रही थी। अभी प्रिया के विरह में मनस् का बहलाव करने हेतु तरु किसलयों की शरण लेना 'नव तरु किसलय' का भाव है।

मनहुँ : 'मनहुँ' 'कृसानू' आदि से अन्वित है। उसका भाव 'कृसानू' न होते हुए भी 'कृसानू' की प्रतीतिपरक है। वही आगे भी ज्ञेय है।

कृसानू : नूतन पल्लवों से सीताजी की कोमल अंगुलियों का स्मरण ध्वनित है, परिणाम में विरहसन्ताप भड़कने से आँखों में उष्ण दोष उदित होता है। फलतः दोष दुष्ट नेत्र नूतन किसलयों में सर्वत्र अग्नित्वप्रकारक प्रत्यक्ष करा रहे हैं।

काल निसा : 'काल निसा' से अग्निदीपन या मृत्युस्थिति दर्शाई है।

सम : 'सम' 'मनहुँ' शीर्षक में व्याख्यात है। नूतन किसलयों का अग्नि के रूप में, निशि का कालरात्रि के रूप में अनुभव विशेषतया ज्ञातव्य है। इनमें बाधितत्व ज्ञात होते हुए भी विपरीत अनुभव होना वियोगज रोगों का प्रभाव है।

ध्यातव्य है कि निसि, किसलय आदिकों के उल्लेख से विप्रलम्भप्रसक्ति में विपरीत तत्त्व इन्द्रिय वेद्य हो रहे हैं। अर्थात् जो तत्त्व जिस रूप में थे वे शास्त्रोपसंस्कृतरीत्या प्रमा विषय थे। अभी उनमें जो वैपरीत्य प्रतीत हो रहा है वह दोषजन्य है ऐसा विवेक स्पष्ट है।

कुबलय बिपिन : विरहज ऊष्मोपशमनार्थ कमलवन में प्रवेश करना 'कुबलय बिपिन' का भाव है।

कुन्त बन : 'कुन्त बन' से शरीर पर बाह्य परिणाम ध्वनित कर रहे हैं। वह यह कि कमल-दलों के अग्रभाग शरीर में स्पष्ट होने की स्थिति में वे चुभने का अनुभव कराते हैं।

बारिद : विरह प्रतियोगिसीतास्मरण से जो वेदना हो रही थी उसका मेघवर्षा में भड़कना 'बारिद' का भाव है।

यह सब साहित्य की मर्यादा में चिन्त्य है उसका महावाक्यार्थ अति तीव्र प्रेम में है जो विप्रलम्भ शृंगार का पोषक है। व्यंजना के माध्यम से श्रोता के हृदय में स्वेष्ट विषयक संस्कारोद्बोध कराकर शब्दाभिप्रेत अर्थ व्यंजित करना इष्ट होता है वह यदि सिद्ध है तो शब्दशक्ति या लक्षणावृत्ति चिन्त्य न होकर व्यंजना ही चिन्त्य होती है। अतएव श्रीराम के सन्देश में मिथ्यात्व परिहृत है।

जे हित रहे : उभय योग से प्राप्त शृंगारोद्बोधक हित 'जे हित रहे' से बोध्य है।

तेइ पीरा : कमल वनादि में दुःख या तत्साधन में प्रतीतिविषयता रहना 'तेइ पीरा' से ध्वनित है।

'तेइ' से पूर्वोक्त नवतरु किसलय आदि सभी बोध्य हैं।

ज्ञातव्य है कि 'सकल भए बिपरीता' (५।१५।१) का व्याख्यान 'तेइ पीरा' होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

हिताहित का स्वरूप

ध्यातव्य है कि सुख-दुःख, अनुग्रह-निग्रह से हिताहित का स्वरूप समझ में आता है। प्रिया के सान्निध्य में चन्द्रादि पदार्थ मनोरथपूर्तिसहकृततया प्रतीत होने से षाडवरसन्यायेन सुखानुभूति का भास कराते हैं। अभी वे पदार्थ प्रियावियोग में भड़की अग्निज्वाला के संयोग में आकर विपरीत भान करा रहे हैं। यही हिताहित ज्ञान का स्वरूप है न कि स्वरूपतः किसलयादि में हिताहितकारिता है।

उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा : सुग्रीवादि पूतात्मा नीतिमानों के संसर्ग में रहे पवन ने उनके सौगन्ध, शीतलता व प्राकृतिक मन्दता को अपनाकर सुग्रीवजी के सन्निकट में रहे देश को सुख पहुँचाना 'त्रिबिध समीरा' से स्मर्तव्य है। अभी उसने उरगश्वासवत् उष्णता, असौगन्ध्य, अमन्दता का अनुभव कराना 'उरग स्वास' से चिन्त्य है।

रामोक्ति का निष्कर्ष

शत्रु के जाल में फँसी सीताजी की मुक्तिहेतु लंकापर चढ़ाई करने के लिए दीर्घकालायात्रा प्रारम्भ करनी थी किन्तु तदनुकूल मानवतानुरूप सामग्री संगठित नहीं हुई अतएव निगमागमाप्रामाण्य स्थिति प्राप्त हुई उस वेदना में अपने हार्दिक श्वास-प्रश्वास में उरगश्वासतुल्यता समझाकर सीतारामोभय की समानशीलव्यसनिता प्रगट करना कविकौशल है।

संगति—सीतावेदना के परिहारार्थ कही चिकित्सा सीताजी को शत्रु के जाल से छुड़ाकर सीताजी व श्रीरामसंसर्ग से होनी है। परन्तु यह कार्य दीर्घकालायात्रा के प्रारम्भ होने की स्थिति के अभाव में नहीं हो सका। यदि उदासीनताव्रत को अपनाया जाय तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि उदासीनताव्रत पूर्ण हो चुका है। ऐसी स्थिति में अपनी वेदना की चिकित्सा किसी समानशील व्यक्ति से अपनी वेदना सुनाना उपाय है वह भी प्रसक्त नहीं है। उसी को श्रीराम सुना रहे हैं।

चौपाई— ***कहेहू तें कछु दुख घटि होई । काहि कहौं यह जान न कोई॥ ५ ॥***

भावार्थ—दुःख निराकरणोपाय के अन्तर्गत दूसरे को दुःख सुनाना कहा है पर वह किसे सुनाया जाय समझ में नहीं आता।

शास्त्रीय व्याख्या

कहेहू तें : वेदना के निरास का उपाय 'कहेहू तें' से समझना है।

कछु दुख घटि होई : सम्पूर्ण वेदना तो प्रियासंसर्ग से दूर होगी। समानशील व्यक्ति से वेदना कहने पर थोड़ी शान्ति मिलना 'कछु दुख घटि होई' है किन्तु यहाँ ऐसे व्यक्ति का अभाव होना चिन्त्य है।

काहि कहौं : स्वदुःख सुनाने के लिए अन्य अधिकारी (सीतातिरिक्त) न मिलना 'काहि कहौं' का भाव है इसी की पुष्टि 'यह जान न कोई' है।

यह जान न कोई : कोई भी व्यक्ति ऐसा समझ में नहीं आता जो वेदनाश्रवण का अधिकारी हो। यद्यपि अनन्य सेवक लक्ष्मणजी व सुग्रीवजी पास में है तथापि वे निगमागम-

प्रामाण्यस्थापनानुभवाभावविशिष्ट प्रियाविरहवान् नहीं हैं। क्योंकि वेदप्रामाण्य की स्थापना का संकल्प लेने वाले प्रियाविरहवान् श्रीराम (व सीताजी) ही हैं।

संगति—'जान न कोई' को युक्ति से समझा रहे हैं जिसमें प्रीति का वास्तविक तथ्य व सुन्दरकाण्ड की सार्थकता व्यक्त होगी; क्योंकि यहाँ शुचि आत्मरतिरूप शृंगाररस व्याख्यातव्य है।

चौपाई— *तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥ ६॥*
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं । जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥ ७॥

भावार्थ—मेरे व तुम्हारे प्रेम का तत्व हे प्रिये! एकमात्र मेरा मनस् ही जानता है। वह मनस् सदा तुम्हारे पास है यही मेरा प्रीतिरस है इसी को तुम समझो।

शास्त्रीय व्याख्या

तत्व प्रेम : संविद्विश्रान्ति का मूलाधार, परस्पर में रही अन्योन्याश्रयबद्ध सघन रति ही यहाँ 'प्रेम' है।

जानत प्रिया : 'जानत' का अर्थवृत्ति है वह 'मनु' से अन्वित है।

'प्रिया' का आशय उस पत्नी से है जिसने मेरे आदेश से लंका पहुँचकर दीर्घकाला यात्रारम्भपूर्ति के अन्तिम बिन्दु तक न श्रुतिप्रामाण्यप्रतिष्ठा देख सकी न तो प्रियदर्शन ही प्राप्त हुआ। इसी वेदना में बलि होने का संकल्प लेनेवाली सीताजी प्रिया हैं।

एक मनु : गृहस्थों को संविद्विश्रान्ति की शिक्षा देने हेतु सर्वांगोपसंहारभूत प्रकृति रूप में श्रीराम का एकमात्र मनस् ही है ऐसा समझाने के लिए 'एक' कहा है।

'मनु' से मनोवृत्ति विवक्षित है उसमें भासित पदार्थ की सत्यता निर्णीत है।

सो : सीतासंसर्गजसंविद्विश्रान्तिसुख का आलम्बन 'सो' से विचार्य है।

सदा रहत : विमुक्ताशेषवृत्तिकत्वविशिष्ट सीताविषयकवृत्तिमत्व 'सदा रहत' से चिन्तनीय है; क्योंकि सीताजी सदा अनुकूला ही रहती आई हैं। इससे कामशास्त्र की प्रतिष्ठा समझना है।

तोहि पाहीं : विश्व में सतीविशेष हैं जो पवित्रा, निर्दुष्टा, प्रीत्याधायिका, प्रेमयुक्ता, सुन्दरी, ब्रह्मतत्परा, अनात्मासंस्पृष्टा, निर्भीका, शास्त्रप्रमाणमात्रपरतन्त्रा हैं। ऐसी सीताजी 'तोहि' शब्दार्थ हैं।

जानु प्रीतिरस : उपर्युक्त गुण (रति विशिष्ट) वत्तया रहे मेरे मनस् को जब हे सीते! मनोरंगमंच में आसक्ता होकर तुम जब देखोगी तब तुम्हें उसका आस्वाद मिलेगा समझाने हेतु 'जानु प्रीतिरस' कहा है। यही रस, संयोग एवं विप्रलम्भ में अनुगत है अत: यह काण्ड सुन्दरकाण्ड है।

'प्रीति' के उल्लेख से उसके आलम्बन कहे जानेवाले भक्त-सेव्य, प्रजा-राजा, पुत्र पिता, गुरु-शिष्य आदि हैं उनमें प्रीति, भक्ति एवं वात्सल्य आदि औचित्यानुसारेण चिन्त्य है।

'प्रीतिरस' से प्रीति की स्थायिता व मनस् का द्रवीभाव होना तथा दोषशून्य औचित्य ध्वनित है।

एतनेहि माहीं : प्रीतिरस में जीवनयापन करना 'एतनोहि' से समझा रहे हैं। फलत: संयोग या विप्रलम्भ में आकर प्रीतिजनित हर्ष अथवा विप्रलम्भ के समय दु:ख में प्रीति

समाप्त करना ठीक नहीं है। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम से सीताजी के प्रति की गयी चिकित्सा पूर्ण है।

संगति—यह चिकित्सा दोहा १३।५ में उक्त 'दुखभागा' व १४ में उक्त रघुपति सन्देश से चिकित्सा उपक्रान्त थी उसकी पूर्ति का परिणाम शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— *प्रभु संदेसु सुनत बैदेही । मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥ ८॥*

भावार्थ—प्रभु सन्देश सुनते-सुनते वैदेहीजी प्रेममग्ना हो विदेहस्थिति में पहुँच गईं।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रभु सन्देसु : स्वामी पतिदेव श्रीराम 'प्रभु' से बोध्य हैं।

'सन्देसु' दोहा १४ में व्याख्यात है जो दुःख धैर्यधारण में उपयोगी व जीवनरक्षक है।

सुनत बैदेही : यथावत् प्रीतिरससमन्वित बोध का उदय सीताजी में होना 'सुनत' का भाव है।

'बैदेही' से सीताजी में समाधि आदि की सहज योग्यता स्फुट है।

मगन प्रेम : विजातीयधाराप्रवाह से अस्पृष्ट सजातीयचिन्तासन्तति 'मगन' है उसका कारण प्रीति है जो हठयोग की तरह कठिन नहीं है। हठयोगानुकूल शरीर ऋषि व रावणादिसदृश राक्षसादि किसी को ही क्वचित् प्राप्त हो सकता है। अतएव भक्ति से प्राप्तव्य मनस् की एकाग्रता सर्वसाधारणों के लिए उपयोगितया स्वीकृत है। वह भी जिसे सुलभ नहीं उसे हतभग ही कहना होगा।

सुधि नहिं तेही : श्रीराम का दूना प्रेम सुनते ही सीताजी एक ओर प्रेमरसमग्ना हो गईं दूसरी ओर उन्हें अतिचिन्ता हुई। ये दोनों तथ्य 'सुधि नहिं' से हनुमान्जी ने परखे हैं। चिन्ता का कारण रावणकृत मायाक्रौर्य है। जिसके परिणाम में धैर्य के टूटने की स्थिति आसन्न है।

अथवा—प्रमाणदृष्टि से यह कहना है कि पूर्वसंजात प्रत्यक्षविषय पराक्रमादि संस्कारों को वर्तमानविषयविषयक प्रत्यक्ष ने मलिन कर देना भी 'सुधि नहिं' से व्यक्त है।

प्रेम में मग्ना व सुधी की भूल में रही सीताजी 'तेही' से बोध्या हैं।

संगति—'सुधि नहिं' देखते ही श्रीरामसन्देशवाहक का श्रीरामकथासम्बन्धी अग्रिम वाक्योच्चारण प्रतिरुद्ध हो गया। अतः उन्होंने सीताजी से धैर्य में रहने की प्रार्थना करना शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— *कह कपि हृदयँ धीर धरु माता । सुमिरु रामसेवक सुख दाता॥ ९ ॥*
उर आनहु रघुपति प्रभुताई । सुनि मम बचन तजहु कदराई॥ १०॥

भावार्थ—हनुमान्जी कह रहे हैं हे माताजी! धीरता न त्यागिये पूर्ववत् श्रीराम का स्मरण करती रहें। वे सेवकों के मनोरथपूर्ति करते ही हैं अतः आप रघुपति के पराक्रम को याद कर निर्भय होइये।

शास्त्रीय व्याख्या

कह कपि : 'कह' से प्रार्थना ज्ञातव्य है जो स्वामिनी के प्रति औषध का सूचक है।

तात्कालिक व्यवस्था को देखकर तदर्थ चिकित्सा करने वाले नवनीतहृदय हनुमान्जी 'कपि' से बोध्य हैं।

हृदय धीर धरु माता : प्रीति में श्रीराम की वियोगावस्था का नैरन्तर्य सोचकर सीताजी में भय समा गया उसकी चिकित्सा धैर्यधारण है। 'धीर' से अत्यर्थ सत्व बोध्य है जो साधुओं के हक में आत्मरक्षकरूप बल माना गया है। यदि सेवकों को आप्यावित करने वाली माता ही रागप्राप्तिवशात् धैर्यच्युता होंगी तो सेवक प्रमाण पर विश्वास कैसे करेंगे? इस आशय से 'माता' सम्बोधन है।

सुमिरु राम : सीताजी ने सुखावस्था में श्रीरामस्मरण के प्रति प्रमाद नहीं किया उसी के प्रभाव से आप निर्दंभा सेविका हुईं। अभी वे प्रत्यक्षतः अनुभूयमान, विपत्ति के दबाव में आकर तर्कसिद्ध, शास्त्रपूत, मनोरथपूर्तिसाधनतावान् के स्मरण से अपने को च्युत करेंगी तो रावण विजयी होगा। उससे बचने हेतु साधन रूप में धैर्यपूर्वक स्मरण ही अनुष्ठेय है।

सेवक सुखदाता : सेवकसुखदातृत्व बिभीषण-हनुमत्संवाद में व्याख्यात है।

उर आनहु : हृदय को प्रभुपराक्रमस्मृतिविशिष्ट बनाए रखना 'उर आनहु' का निष्कर्ष है।

रघुपति प्रभुताई : रघुपति में कोश, दण्ड, तेजस् स्थिर होना रघुपति की प्रभुता है।

सुनि मम बचन : ज्ञातव्य है कि सीताजी के लिए धीर आदि विधेयतया आह्लादकारक नहीं कहा जा सकता क्योंकि हनुमदुक्त सभी तथ्य रामवल्लभा को ज्ञात हैं, तथापि हनुमद्वचन का वैयर्थ्य नहीं है क्योंकि वह सीताजी को धैर्यादि के प्रति प्रत्यभिज्ञा कराने में सार्थक है।

तजहु कदराई : प्रमाणप्रमितवचनों व तर्कशुद्ध प्रमाणित प्रत्यक्ष को बाधित समझकर अशुद्ध एवं दुष्ट प्रत्यक्ष के बल से घबरा कर भयवान् होना 'कदराई' है। इस प्रकार पुनरुद्भूत अधैर्य की चिकित्सा पूर्णतया निरूपित है।

संगति—पूर्वानुभूत प्रमाणस्मृतिबलेन परराष्ट्रसम्बन्धि पराक्रम की उपयोगिता भविष्यत् की दृष्टि से कहते हुए चतुर्थ प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं।

दोहा— निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदयँ धीर धरु जरे निसाचर जानु॥ १५॥

भावार्थ—राक्षससमूह फतिंगे के समान हैं। रघुपति के बाण आग हैं। हे मातः! आप हृदय में धीरत बनाए रखें। सभी विरोधी निशाचर जल गये समझिये।

शास्त्रीय व्याख्या

निसिचर निकर : विजिगीषु श्रीराम अकेले हैं। अरि बहुलसैनिकयुक्त है। उसकी प्रबलता 'निसिचर निकर' से उक्त है।

पतंग सम : राक्षस फतिंगों के समान बहुत होते हुए भी निस्तेजस्क ही हैं। राक्षसगण तभी तक बलवान् माने गए हैं जबतक निगमागमसम्मत योद्धा राक्षसों के सामने उपस्थित नहीं होते।

बान : 'बान' से हनुमान्जी अपने को संकेतित कर रहे हैं।

अथवा—'बान' से निगमागमसम्मत श्रीरामसंकल्पप्रेरित कियाप्रभा स्मर्तव्य है।

कृसानु : मन्त्रपूत शुचि के द्वारा संस्कृत बाण ने सतेजस्क हो पतिव्रता के अपहर्ता, अनीतिमान् के तेजस् को पूर्ण अभिभूत करना 'कृसानु' है।

जननी : बच्चों (हनुमान्जी) में बल, पुष्ट, आरोग्य का आधान करने वाली माँ होने से हनुमान्जी सीताजी को 'जननी' कह रहे हैं।

हृदयँ धीर धरु : धीर भक्त चिन्ताचक्षुष् से प्रमाणत्वेन निगमागम को देखते हैं तो उन्हें निगमागम को अपमानित करने वाले पतंगसमत्वेन प्रतीत होते हैं; क्योंकि निगमागमसम्मत श्रीरामसंकल्पप्रेरित बाण स्वयं व धीरों की रक्षा करने हेतु असाधु को निस्तेजस्क बनाते हैं। अतः हनुमान्जी पुनः 'धीर धरु' कह रहे हैं।

निसाचर जानु : निगमागमसम्मत श्रीरामसंकल्पप्रेरित बाण के बल पर श्रीराम के पराक्रम को स्मृत कर निशाचरों का समूल नाश समझने हेतु हनुमान्जी ने सीताजी को प्रेरित करना 'निसाचर जानु' का भाव है। एवंच प्रभु का आना अर्थतः सिद्ध होने से चतुर्थ प्रश्न (५।१४।६) समाहित है।

संगति—द्वितीय प्रश्न समाहित कर रहे हैं।

चौपाई— ***जौं रघुबीर होति सुधि पाई । करतें नहिं बिलंबु रघुराई॥ १॥***
राम बान रबि उएँ जानकी । तम बरूथ कहँ जातुधान की॥ २॥

भावार्थ—हे सीते मातः! यदि रघुबीरजी को आपके वास का परिचय हो जाता तो वे शीघ्र ही यहाँ आ पहुँचते। श्रीरामबाण सूर्य हैं उनके सामने राक्षस तमोरूप होने से ठहर नहीं पाते।

शास्त्रीय व्याख्या

जौं रघुबीर : 'जौं रघुबीर' का अर्थ स्यात् है वह 'सुधि पाई' से अन्वित है। धीरोदात्त स्थाय्युत्साहविशिष्ट श्रीराम 'रघुबीर' से बोध्य हैं।

सुधि पाई : मर्यादापुरुषोत्तम दाशरथि श्रीराम ने प्रमाण को प्रथमतः समक्ष रखकर कार्य करने का संकल्प लिया है तदनुसार सीताजी के आवास का पता होना चाहिये किन्तु वैसा न होना 'सुधि पाई' का भाव है।

करते नहिं : दीर्घकालायात्रा का प्रारम्भ सीताजी को दृष्टिगोचर न होने की कारणता 'करते नहिं' का निष्कर्ष है।

राम बान रबि : (दोहा ५।१५) श्रीरामबाण को 'कृसानु' एवं निशाचरों को 'पतंग' कहकर अभी श्रीरामबाण को 'रवि' व निशाचरों को 'जातुधान' कहने का आशय श्रीराम-रावणयुद्ध के बाद विरोधी राक्षसोदय न होने में है।

जानकी : जनकराजकरस्पर्श से सीताहृदय में धीरतादि के उदित होने की सहजता समझाने हेतु 'जानकी' शब्द प्रयुक्त है।

तम बरूथ : 'बरूथ' से तमोरूप राक्षससमूह ज्ञातव्य है।

संगति—श्रीरामानुरागिणी सीताजी पर आई विपत्ति को देखकर भक्त (हनुमान्जी) ने अपने में बल रहते हुए भी उनको न बचाना क्या उचित है? इसका उत्तर प्रमाणों के बलाबलसमीक्षा से हो रहा है।

चौपाई— ***अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई । प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥ ३॥***

भावार्थ—हे मातः! मैं आपको अभी ले जा सकता हूँ किन्तु मुझे श्रीरामाज्ञा नहीं है। यह मैं प्रभु की शपथ लेकर कहता हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

अबहिं : 'अबहिं' से वर्तमान काल समझना है। इसकी अर्हता सीतादर्शन से प्रारम्भ होकर 'जातुधान' उच्चारणाधिकरण क्षण तक है।

मातु : हनुमान्‌जी ने 'मातु' कहकर अपनी सफल सेवकता व्यक्त की है।

जाउँ लवाई : सीताजी को लेकर वापस जाने की योग्यता 'जाउँ लवाई' से स्पष्ट है क्योंकि सीताजी को ले जाने में प्रतिबन्धकभूत श्रीरामोदशातिरिक्त सभी कारणों का आसन्न होना समझना है।

प्रभु आयसु नहिं : ब्रह्मदण्डहत प्रतापभानुरूप रावण के वधार्थ किये श्रीरामसंकल्प के प्रतिकूल सीतानयनादि कार्य के अतिरिक्त जो भी कार्य हैं वे सभी हनुमान्‌जी के लिए साधनीय हैं। अत: सीतानयनादि कार्य न करना 'प्रभु आयसु नहिं' से व्यक्त है।

जैसे भीष्मजी प्रभृतियों ने द्रौपदीवस्त्रापहरण के समय मौन रहना। इसमें उपपत्ति यही कि प्रभु स्वसंकल्पानुसार स्वयं उपस्थित हो युद्ध में निगमागमादिधर्मविद्वेषियों को धराशायी कर विद्याओं को स्थापित करेंगे ऐसा सोचकर भीष्मजी तूष्णीं ही रहे।

ज्ञातव्य है कि निश्छल सेवक प्रभुसंकल्प के विरोध में कोई संकल्प नहीं करते जो भी कर्त्तव्य उनके हृदय में उदित होते हैं वे आर्ष रहते हैं। उससे प्रभुसंकल्प की अनुमेयता सिद्ध है।

राम दोहाई : 'राम दोहाई' का आशय परम्पराप्राप्त निगमागम या तदतिरिक्त प्रभु के वचन जो कण्ठत: प्राप्त हैं इन्हीं को सर्वत उपरि प्रमाण के रूपमें मानने व उसके प्रमित कार्य को अनुष्ठानत: पूर्ण करने का संकल्प समझाने में है। जो सीताजी को भी अनुमत है। इस प्रकार सीताजी के सभी प्रश्नों का समाधान ज्ञातव्य है।

संगति—दीर्घकालायात्रा का आरम्भ बिन्दु ध्वनित कर, आगमसमेत श्रुतिप्रामाण्यसिद्धि के साथ सीताजी को आश्वासन देने के बाद हनुमान्‌जी, सीताजी से श्रीरामोच्चरित शब्द प्रमाणानुयायित्व को स्वीकार कर अशोकनिवास के प्रति व्याकुलता न करने की प्रार्थना कर रहे हैं।

चौपाई— ***कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥ ४॥***

भावार्थ—हे मात: ! कुछ दिन तक धैर्यपूर्वक यहाँ निवास करते हुए आप कपियोंसमेत श्रीराम के आने की प्रतिक्षा करें।

शास्त्रीय व्याख्या

कछुक दिवस : धैर्यधारणपूर्वक अशोकनिवासार्थ सीताजी को उत्साहित करने हेतु 'कछुक दिवस' कहा है जिसका अन्वय 'कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा' से है।

जननी धरु धीरा : 'जननी धरु धीरा' उक्ति पूर्वोक्त अर्थ का अनुवाद है। वह अर्थ न्यायभाषा में उद्देश्यतावच्छेदक रूप में अनूदित है भाव यह कि सीताजी ने की हुई दीर्घकालायात्रा की आशा मनोरथपूर्ति में पर्यवसित हो रही है।

कपिन्ह : वानरराज, वानरमंत्री, वानरसैनिक, वानरमित्र, वानरजानपद 'कपिन्ह' से बोध्य है। यहाँ 'छत्रिणो यान्ति' की तरह सैनिकासैनिक सभी स्मर्तव्य हैं।

अइहहिं रघुबीरा : शक्ति-देश-कालानुकूल्य, क्षमता, परव्यसनिता, शत्रुपक्ष में भेद, बलहीनता होने से यात्रा का प्रारम्भ निर्णीत होना 'अइहहिं' का भाव है।

परराष्ट्र के प्रति अभियोक्ता श्रीराम विजिगीषु 'रघुबीरा' से बोध्य हैं।

संगति—'राम दोहाई' के अनुबन्ध में 'अइहहिं रघुबीरा' के उपादान का प्रयोजन कीर्त्यात्मक है। उसे हनुमान्जी सुना रहे हैं।

चौपाई— *निसिचर मारि तोहि लै जहहिं । तिहुँ पुर नारदादि जसु गैहहिं ॥ ५ ॥*

भावार्थ—राक्षसों को मारकर आपको लेकर रघुनाथजी यहाँ से वापस होंगे तीनों लोकों में दोनों का यशस् नारदजी आदि गायेंगे।

शास्त्रीय व्याख्या

निसिचर : पतिव्रता के अपहर्त्ता, अनुमन्ता, अनुमोदिता सभी धर्म-नीति-विरोधी राक्षस 'निसिचर' से बोध्य हैं।

तोहि : धैर्य को अपनाने वाली श्रीरामसेविका, नीतिमती सीताजी युष्मच्छब्दार्थ हैं।

तिहुँपुर : त्रैलोक्य 'तिहुँपुर' है। त्रिपुरवर्ती प्राणी प्रभुस्वामिकजनपदवृत्ति हैं। धर्मविजयी राजा की द्रव्यप्रकृति के अन्तर्गत रहने वाले जनपद में भारत भी माना गया है। वह अजनाभ है उसकी रक्षा से वर्णाश्रम रक्षा मानी गयी है। अन्य देशों की रक्षा करना आगम रक्षा है। उन सबकी लोकयात्रा का प्रदर्शक नीतिशास्त्र है। उसके अनुसार वर्णाश्रम व अन्य भक्तों का पालन यथावत् होता है तो त्रिपुर स्वयं पालित होता है क्योंकि निगमागम सेवी के संयम को देखकर सब उसको गुरु मानते व झुककर निगमागम के अनुकर्त्ता होते हैं।

नारदादि : प्रभुसमाश्रित गुणों का गायन सर्वत्र करने वाले नारदजी 'नारद' हैं।

'आदि' से गन्धर्व किन्नरादि समझने होंगे।

जसु : श्रीराम के प्रति 'धार्मिकोऽयं न्यायतः पालकः' ऐसा सर्वोत्कृष्टत्वप्रकारक ज्ञान सबको होना ही यशस् है। वह मानवता अनुष्ठेयरूप में प्रमाणपरतन्त्रतात्मक होने पर ही सफल है।

संगति—सम्यक् पालन में अपेक्षाकृत अनुषंग रूप में यातुधानसंहार होना समझने पर भी सीताजी के हृदय में शरीरदृष्ट्या मौल बल के प्रति उदित शंका व उसका समाधान कवि गा रहे हैं।

चौपाई— *हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना । जातुधान अति भट बलवाना ॥ ६ ॥*
मोरें हृदय परम सन्देहा । सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा ॥ ७ ॥
कनक भूधराकार सरीरा । समर भयंकर अतिबल बीरा ॥ ८ ॥

भावार्थ—सीताजी शंकिता हो पूछती हैं कि हे पुत्र कपे! यहाँ लंका में अनेकों बलवान् भारी योद्धा हैं और कपि सब तुम्हारे समान छोटे-छोटे हैं। ऐसा सुनते ही हनुमान्जी ने अपना सुमेरु के समान विशालकाय शरीर झट से प्रगट किया जो युद्धाँगण में भयावह व अतिबलवान् तथा तर्कमतिसहचरित उत्साहसम्पन्न है।

शास्त्रीय व्याख्या

सुत : बार-बार हनुमान्जी के द्वारा माता सम्बोधन सुनकर सीताजी के हृदय में

उच्छलित प्रेमप्रवाह के फलस्वरूप में सीताजी ने हनुमान्‌जी को 'सुत' कहकर अपना वात्सल्य प्रगट कर दिया।

कपि : 'कपिन्ह सहित' के श्रवण से सीताजी ने 'कपि' कहा है क्योंकि वे श्रीराम-' कार्य साधने हेतु सहायकरूप में गाए हैं। अतः उनका कायिक बल जिज्ञासित है अन्यथा वे यातुधान के भक्ष्य हो सकते हैं।

सब तुम्हहि : 'सब' से सम्पूर्ण कपि गृहीत हैं।

'तुम्हहि' से सीतापुरोवर्ती ह्रस्वपरिमाणविशिष्टत्वेन अनुमित न्यूनबलवान् हनुमान्‌जी ज्ञेय हैं।

अतिभट बलवाना : बलवत्ता की अतुलनीयता 'अति' शब्दार्थ है। इससे शत्रु के दण्डबल की अजेयता निरूपित है। तात्पर्य यह कि थोड़े समय में ही दिवस उदित होगा और हनुमान्‌जी उनके द्वारा पकड़े जायेंगे तो कैसे बचेंगे? यदि ऐसा ही हुआ तो पुनः कार्यहानि प्रसक्त होगी।

मोरे हृदयँ : 'अतिभट बलवाना' शीर्षकोक्त विपत्ति की कल्पनावती पीड़िता सीताजी 'मोरे' से बोध्या हैं।

'हृदय' से अन्तःकरणचतुष्टय के अन्तर्गत मनस् विवक्षित है उसीमें संकल्प विकल्प प्रसक्त है।

परम सन्देहा : पुरोवर्ती प्रत्यक्षवेद्य परिमाणवत्व से जेतुमशक्यत्वरूप उत्कटैकतर कोटिकत्व 'परम' से वेद्य है! 'दूतश्चरो भूत्वा एतावद्दूरं आगतः किन्तु प्रकाशे सति जेतुं कलाविद् असि न वा' ऐसा सन्देह 'सन्देहा' का भाव है।

सुनि कपि : विदुषी सीताजी के अभिप्रायानुसारी वाक्यार्थ समझना 'सुनि' है।

माता सीताजी के वात्सल्यप्रेमालम्बन श्रीरामसेवक वानर विशेष 'कपि' से विवक्षित हैं।

प्रगट कीन्ह : पुरोवर्तिदेह में समस्त राक्षसजयसमर्थबलविशिष्टदेह को प्रत्यक्षवेद्य कराना 'प्रगट' है।

प्राकट्यकर्तृतासमानाधिकरण निमित्तकारणता 'कीन्ह' से प्रगट है।

निज देहा : वक्ष्यमाण सुमेरु देहसजातीय देह 'निज देहा' से बोध्य है।

कनक भूधराकार : सुमेरुशरीर की महाबलवत्ता की बराबरी में न राक्षस हैं न उनका यूथ ही है। 'कनक' से कपिशवर्ण का सामंजस्य ज्ञातव्य है।

समर भयंकर : राक्षसयूथ के लिए हनुमद्विशालदेहनिमित्तक मृत्युसम्भावना राक्षसों को होना भय है वह राक्षसों को युद्ध से निवृत्त कराने में भी सहायक है।

अतिबल बीरा : सीताजी ने जिनका संकेत 'अतिभट' से किया था, तत्पर्याप्त बल से अधिक बल 'अतिबल' से ज्ञातव्य है। अनुचितकार्य न करने का संकेत 'बीरा' से स्पष्ट है।

इस प्रकार से यहाँ वर्णित प्रश्नोत्तर न्यायप्रणाली में कथित संवादरूप में स्मर्तव्य है।

संगति—स्वयं ने प्राप्त आश्वासन से सीताजी का सन्देहनिरास होना कवि कह रहे हैं।

चौपाई— सीता मन भरोस तब भयऊ । पुनि लघुरूप पवनसुत लयऊ॥ १॥

भावार्थ—सीताजी का मनस् तब पूर्ण आश्वस्त हुआ। फिर हनुमान्जी पूर्ववत् लघुरूप हो गए।

शास्त्रीय व्याख्या

सीता : सन्देह समाप्त होने से पूर्ण आश्वस्ता सीताजी 'सीता' पद से यहाँ विवक्षित हैं।

भरोस : हनुमान्जी के विशाल शरीररूप हेतु से 'अयं रक्षःसेनां विशालां जेतुं शक्तः अप्रधर्ष्यः' ऐसा अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित सत्परामर्शज प्रमात्मक अनुमिति 'भरोस' शब्दार्थ है। चिन्त्य है कि सन्देह प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक होते हुए भी अनुमिति के प्रति साधक होने से सन्देहनिरास न कहकर 'भरोस' कहना कवि का कौशल है। इससे सीताजी का बुद्धिवैशारद्य एवं हनुमान्जी का क्रियावैशारद्य निर्विवाद रूप से स्फुट है।

तब भयऊ : हनुमत्कायविशालतादर्शनानन्तर्य 'तब' से स्फुट है। परिणाम में सीताजी के नेत्रों की उत्फुल्लता व मुखविकास से सीताप्रसाद हनुमान्जी की समझ में आया। एवंच दिन होने पर हनुमान्जी का प्रगट होना और युद्ध होने पर असफल न होना स्पष्ट है।

पुनि : प्रत्यक्षादित्रितयप्रमाणतः सिद्ध फल पूर्ण होने में शक्ति, देश-कालानुकूल्य होने पर ही उपायानुष्ठान का निर्णय प्राप्त होने का आनन्तर्य 'पुनि' का भाव है।

लघु रूप : अवयवों में महान् उपचय होने के अनन्तर कार्य सिध्यनुमित्युत्तर क्षण में पुनः अवयवापचय करने की कला 'लघुरूप' से समझनी है।

'रूप' से शरीरगत जातिविशेषाधिकरणता समझनी है।

लयऊ : 'लयऊ' से हनुमत्कर्तृत्व बताकर शिवजी ने हनुमान्जी में देहान्तरग्रहण कर्तृत्वरूप स्वतन्त्र अहंकारिता दर्शाई फिर भी वे साधुत्व व श्रीरामदासता के प्रति भूषण होते हुए भरतसदृश सयानापन एवं मोहाभाव से परीक्षित हैं।

ज्ञातव्य है कि साधारण जन आरम्भ में भक्तिप्रदर्शन करते हुए स्व की वाणी में जो स्वर प्रगट करते हैं कार्य पूर्ण होने के अनन्तर वही स्वर परिवर्तित (अहंकारिता में) करते हुए देखे जाते हैं। वैसा परिवर्तन हनुमान्जी में न होना 'भयऊ' व 'लयऊ' से ध्वनित है।

संगति—चौपाई ६ के प्रश्न का उत्तर कनकभूधर सदृश शरीर से होने पर भी अपने साधुत्व व सयानेपन के अनुसार हनुमान्जी अपनी बलवत्ता को कारण न मानकर श्रीरामप्रताप में ही कारणता समझा रहे हैं। फलतः उसका पर्यवसान सीताजी के हर्ष में होना आगे स्पष्ट होगा।

दोहा— सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल॥ १६॥

भावार्थ—हे माँ! सुनो, शाखामृगों में स्वभावतः बल व बुद्धि की विशालता नहीं होती। आपने जो भी चरित्र अभी देखा है वह प्रभुप्रताप का मूर्तरूप है। जैसे देखने को गरुड़ महान् है फिर भी वह प्रभु कृपा से सम्पन्न सर्प का भक्ष्य हो सकता है।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनु माता : 'सुनु' से हनुमान्जी ने आन्वीक्षिकीकुशलतापूर्वक तत्व सुनाना ज्ञातव्य है।

तत्वज्ञानात्मक गुणप्रकर्षरूप दुग्ध से आप्लावित होना 'माता' का ध्वनितार्थ है।

साखामृग : 'सुनु' का विषय 'साखामृग' आदि है। 'साखामृग' से वानरत्व-वैशिष्ट्य बोध्य है जो विशाल बुद्धिबल समवायिता की अवच्छेदकता का निषेध बताने में उपयुक्त है।

बल बुद्धि बिसाल : 'बल' से शरीरावयवोपचय की अतिघनता समझनी है उसके रहते शरीर की महत्परिमाणवत्ता समझाई जो भूधराकार से स्पष्ट है।

'बुद्धि' शब्द तर्केंगितज्ञतासहचरित विद्याप्रकाशक शुश्रूषादि अष्टविध गुण-सम्पत्ति का बोधक है तथा श्रुतविभ्रम, प्रज्ञाविभ्रम, मतिविभ्रम न होना भी स्पष्ट है। जैसा कि 'ऊहापोहासामर्थ्यात्प्रज्ञाविभ्रमः। पूर्वाधीतशास्त्रानभ्यासाच्छ्रुतविभ्रमः। भयस्खलितेषु संविधानस्य मतिविभ्रमः।'[१] से स्पष्ट है।

'बिसाल' से अप्रतिहत सामर्थ्य, अर्थवत्व, हेत्वाभासराहित्य, सफल प्रवृत्तिजनकप्रामाण्य ज्ञातव्य है।

प्रभु प्रताप : प्रभु से प्राप्त तेजस् 'प्रभु प्रताप' है वह विशाल बुद्धि बलोपादानता का उच्छेदक व शत्रु के लिए दाहक है। ध्यातव्य है कि किसी अद्भुत कार्य को सम्पन्न करने में तत्साधनतावच्छेदकता का विचार करते हुए वेदार्थानुयायी शब्दप्रमाणवादी अपने में प्रभुकृपा से प्राप्त तेजस् (शक्ति) को ही स्वीकारते हैं जो साधारण जीवों को उपलब्ध नहीं होता। भाव यह कि प्रमाणत्रयपरतन्त्र हो यदि कोई व्यक्ति प्रभु के शरण में रहे तो वह उक्त शक्ति को प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

तें : तच्छब्द श्रीरामकृपावाचक है उसका अन्वय अग्रिम चरण से है।

गरुड़हि खाइ : गरुड़ में प्रकृतिप्रदत्त शक्ति वधिकत्वेन व सर्प में वध्यत्वेन प्रसिद्ध है उसके वैपरीत्य में प्रभुकृपासम्पन्न व्याल के लिए शक्ति प्राप्त होने पर असम्भव नहीं है। नर वानर में प्रकृतिप्राप्त वध्यता की अपरिवर्तनीयता देखकर रावण ने ब्रह्मवर को उक्त वध्यता के प्रति उत्तेजक नहीं माना जैसा कि नरवानर में वध्यता की अखण्डता से स्फुट है। अभी श्रीरामकृपा से संहारशक्ति नर-वानर में विराजी है वही वैचित्र्य वानर समूह में दृष्टिगोचर होगा। उसीका एक अंश अभी दृष्टिगोचर होगा वही 'गरुड़हि खाइ' से ध्वनित है।

लघु ब्याल : रावण के सामने हनुमान्जी वचसा, कर्मणा, मनसा, तपसा स्वल्प परिमाण के हैं। तथापि रावण को देखते ही हनुमान्जी का व्यालवत् भीत न होना 'परम लघु ब्याल' से ध्वनित है।

संगति—लौकिक कार्यकारणभावसंपृक्त माया से ऊपर उठे हनुमान्जी में धृति आदि को देखकर सन्तुष्टा सीताजीने हनुमान्जी ने कहे प्रभुप्रताप आदि वचनों को सुनकर परम संतुष्ट होना शिवजी सुना रहे हैं। उसका प्रयोजन सीताजी के द्वारा अग्रिम कार्य की पूर्णता हेतु आशिष् प्राप्त करना है।

चौपाई— मन सन्तोष सुनत कपि बानी । भगति प्रताप तेज बल सानी॥ १॥

भावार्थ—हनुमान्जी के तेजस्, भक्ति, प्रताप एवं बल से मिश्रित वचन सुनकर सीताजी श्रीरामदूत के प्रति अत्यन्त हर्ष में आ गयीं।

---

[१] नीतिसारीय जयमंगला १५।६०।

शास्त्रीय व्याख्या

मन सन्तोष : दोहा १६। १० में 'भरोस' से श्रद्धा व्यक्त है अभी विश्वास के साथ हर्ष 'मन सन्तोष' से व्यक्त हो रहा है।

सुनत : सैद्धान्तिक वस्तुतथ्यरूप भावस्वभाव सुनकर भी उसका महत्व सर्वसाधारणों को समझ में नहीं आता। अतएव जगत् में हर्ष-विषाद फैला हुआ है किन्तु मनीषियों के लिए वे ही सैद्धान्तिक तथ्य महत्वपूर्ण लगते हैं उनको सीताजी ने सुनना 'सुनत' है।

कपि बानी : श्रोता को सिद्धान्त अमृत रूप में श्रुतिगोचर तब होते हैं जब वे वचन वक्ता की परावाणी से उछलकर मध्यमानाद से ओत-प्रोत हो वैखरी वाणी के रूप में श्रुत होते हैं। यहाँ पर हनुमान्जी के मूलाधार से प्रगट वैखरीवाणी से जो सिद्धान्त प्रगट हुआ है वह वाणी 'कपि बानी' है।

भगति : श्रीरामादेशपालन की निश्छल निस्स्वार्थ प्रीतिपूर्वक स्वीकारना भक्ति है।

प्रताप : उपर्युक्त परिष्कृत भक्ति से प्राप्त तेजस् शत्रुको ऊष्णता पहुँचाता हुआ दग्ध करता है वह 'प्रताप' है।

तेज : भक्ति से प्राप्त श्रीरामसमवेत तेज:प्रभा 'तेज' से विवक्षित है। जो अभिमुख आए व्यक्ति के तेजस् को अभिभूत करता है।

बल : शारीरिक अयवयों में प्राप्त परकीय मानभंगजनक महोपचय 'बल' है।

सानी : भक्त्यादि बलान्त समस्त तत्व का एक साथ प्रकाशन होना 'सानी' है। उसका अन्वय 'बानी' से है जो हनुमत्कृतचरित्र रूप अर्थ से संपृक्त होने से प्रमाण है। अतएव चरित्र होने के बाद हनुमान्जी ने वाणी सुनाना सार्थक है। अन्यथा उनकी वाणी में अप्रामाण्य आशंकित रहता।

संगति—प्रभु का आदेशात्मक सीताशोधकार्य सम्पन्न होते ही मुद्रादानसहचरित शक्ति हनुमान्जी में से तिरोहित-सी हो रही थी ऐसा देखकर आद्याशक्ति सीताजी ने अपनी ओर से कृतकशक्ति प्रदान करना निरूपित हो रहा है जो प्रत्यक्षागमसहकृत अनुमान का परिचायक है। इसमें आन्वीक्षिकीकौशल से भक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा भी सन्निहित है।

चौपाई— आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना । होहु तात बल सील निधाना ॥ २ ॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू । करहुँ बहुत रघुनायक छोहू ॥ ३ ॥

भावार्थ—श्रीरामप्रिय समझकर सीताजी ने हनुमान्जी को आशिष् दिया कि हे सुत! तुम बल एवं शक्ति की खान रहो अजर अमर गुणनिधि बने रहो श्रीराम तुमपर पूर्ण कृपा करते रहें।

शास्त्रीय व्याख्या

आसिष : पतिव्रताधर्मपरायणा जनकनन्दिनी सीताजी के सफल वचन 'आसिष' से स्पष्ट हैं।

दीन्हि : माता ने हनुमान्जी में भक्ति की यथार्थता भरतसदृशी परख कर अर्थवत् आशीर्वचन से हनुमान्जी को आप्यायित करना 'दीन्हि' है। उसकी उपयोगिता भविष्यत् में किए जानेवाले कार्य की पूर्णतार्थ है।

रामप्रिय जाना : श्रीरामवल्लभा से आशीर्वचन पाने का कारण श्रीरामप्रियता है।

होहु तात : 'होहु' 'निधाना' से अन्वित है। 'तात' सम्बोधन प्रीतिपरक है।

बल सील निधाना : सामर्थ्य का प्रदर्शन भूधराकार से हो चुका है उसका निष्कर्ष मायाप्रयोग में है। रावण जिस मायाप्रयोग में जागृत है। उसकी अपेक्षया हनुमान्जी ने अधिक बलशाली होना 'बल सील निधाना' की सार्थकता है।

अजर अमर : सदैव श्रीरामादेशपालक रहने से हनुमान्जी में देवत्व का प्रगट होना 'अमर' आशिष् से सिद्ध है। उसका विशेष चिह्न 'अजर' है। अर्थात् वे सदा त्रिदश ही रहेंगे।

गुननिधि : देवों की मनोभूमिका क्षिप्त रहती है उसका न होना 'गुननिधि' से स्फुट है।

सुत : वानरत्वजातिमत् के अवयवों को न समाप्त कर उनमें देवत्वजातिव्यंजक गुणोपचय कराना 'सुत' से ध्वनित है। इस प्रकार 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था:' स्थिति की व्याप्यवृत्तिता हनुमान्जी में बताकर उनमें स्वर्गादि प्रतिबन्धक दोषों का निरसन समझाया है।

करहुँ : उक्त वरप्राप्ति सुनकर भी भक्तिसिद्धान्ताभिमत के अनुसार सर्वथा स्वार्थशून्य हो श्रीरामादेशपालन व्रत व तत्प्रयुक्त श्रीरामकृपा से वंचित होने की प्रसक्ति का प्रागभाव हनुमान्जी में सीताजी भक्तिसिद्धान्ताभिमत वर से सदा के लिए सुरक्षित कर रही हैं।

बहुत : विस्तीर्ण विषयारण्य के प्रति मनस् की विकृति न होने का प्रतिभूत्व श्रीरामकृपा पर सौंपना 'बहुत' से स्पष्ट है।

छोहू : अध्यात्मतत्व का उपदेश अति प्रसन्न होकर उत्तरकाण्ड में श्रीराम देंगे। उसके माध्यम से हनुमान्जी को दिव्यदृष्टि प्राप्त होने का संकेत 'छोहू' से व्यक्त है। जो श्रीरामहृदय से प्रगट है।

ज्ञातव्य है कि सीताजी ने सुनाये सम्पूर्ण वचन श्रीराम ने दूत के द्वारा भेजे सन्देश से महावाक्यतापन्न है एवं हनुमान्जी की भक्ति, उत्साह आदि गुणों को समृद्ध भी बना रहे हैं। फलत: हनुमद्गतस्वभाविकभक्ति को कृतक भक्ति के रूप में परिणत करने का संकेत प्राप्त हो रहा है। इसके उदाहरणरूप में नन्दीग्रामवासी भरतजी के द्वारा हनुमान्जी को प्रदत्त स्नेह स्मर्तव्य है।

संगति—वरप्राप्ति सुनकर हनुमान्जी की कृतज्ञता के साथ शारीरिक अनुभाव व वाचिक अनुभावों का निरूपण ग्रन्थकार (शिवजी) कर रहे हैं।

चौपाई— *करहु कृपा प्रभु अस सुनि काना । निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ॥ ४ ॥*
बार बार नाएसि पद सीसा । बोला बचन जोरि कर सीसा ॥ ५ ॥
अब कृत कृत्य भयउ मैं माता । आसिष तव अमोघ बिख्याता ॥ ६ ॥

भावार्थ—'प्रभु कृपा करते रहें' ऐसा सुनकर हनुमान्जी अतिप्रेम में मग्न हो बार-बार सीताजी के पदपर मस्तक झुकाते दोनों हाथ जोड़कर वचन बोले कि हे माँ! सब प्रकार से मैं कृतकृत्य हो गया हूँ आपके आशिष् की अमोघता सर्वत्र प्रसिद्ध है।

शास्त्रीय व्याख्या

करहु कृपा प्रभु : 'करहु कृपा प्रभु' सुनते ही हनुमान्जी ने कृपा सिद्धि की निर्बाधता

होना समझा उसी पर हनुमान्‌जी का ध्यान आकृष्ट था क्योंकि एकनिष्ठ भक्तों के लिए एकमात्र श्रीरामकृपा ही उद्दिष्ट है इसलिए कवि की 'करहु कृपा' की पुनरुक्ति सार्थक है।

अस सुनि काना : भरतजी ने धनुर्धर क्षत्रिय होने से विद्यारक्षणोद्योग में सफलता पाई है। हनुमान्‌जी प्रजा होने से भक्तिमात्र के प्रतिष्ठेप्सु हैं उन्होंने स्व कृति से ही माता के द्वारा अपने में भक्तिस्थैर्य है। हनुमान्‌जी उसी के लिए लालायित थे वही माता सीताजी ने देकर सन्तुष्ट करना 'अस सुनि काना' का भाव है।

अथवा—'मा भूवं भूयासं' इस प्रकार की कतिपय ईषणाएँ जीवमात्र में देखी गई हैं। उसकी पूर्तिहेतु जीव सचेष्ट रहते हैं पर हनुमान्‌जी उन सबों से उदासीन होना चाहते थे उसकी उपलब्धि सीतोक्ति से होना 'अस सुनि' का ध्वनितार्थ है।

अथवा—यद्यपि हनुमान्‌जी ने बिभीषणजी को समझाते दोहा ७।६ में 'करहि सदा सेवक पर प्रीती' तथा दोहा ७ में 'कीन्हि कृपा' कहा है फिर भी उनमें 'बलवदपि हि शिक्षितानां आत्मन्यप्रत्ययं चेतः' का भाव छिपा था। सत्यप्रचेत का अभी सीतावचन से प्रकाशन होना 'अस सुनि' का भाव है।

निर्भर प्रेम मगन : हनुमान्‌जी ने श्रुतिप्रिय विषय को पाकर अति सुखी होना 'निर्भर' का भाव है। भक्तों के लिए प्राप्य श्रीसीतारामोभयप्रसादजहर्ष 'प्रेम' है तदतिरिक्त विषयचिन्तन-धारा का अभाव 'मगन' है। यही सुन्दरकाण्ड का विषय है जो इस काण्ड के मंगलाचरण में 'भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे' से स्फुट है।

बार बार : प्रियश्रुतिज आवेग का चिह्न 'बार बार' है।

पद सीसा : 'पद सीसा' से माताजी के प्रति पुत्र की पूर्वानुस्यूत परम विनीतता स्फुट हो रही है उसी का फल है कि अति दुर्लभ भक्ति का पूर्ण स्थैर्य आज हनुमान्‌जी को अति सुलभता से प्राप्त हो गया।

जोरि कर : स्व में अपकृष्टत्वसूचनार्थ हस्तद्वय संयोग से अहंभावरहित क्रियात्मक प्रणाम 'जोरि कर' से समझना है।

अब कृतकृत्य : 'अब' का अन्वय 'कृतकृत्य भयउ' से है। 'कृतकृत्य' कहकर हनुमान्‌जी ने विश्राम लेना सूचित किया है।

आसिष : 'आसिष' शब्द पूर्वोक्त 'होहू' आदि परक है जो विश्राम की ओर हनुमान्‌जी को मोड़ने में पूर्ण सहायक हो रहा है।

तव : बल-बुद्धि प्रदान कर पुत्र को निश्शंक बनाने वाली माता सीताजी युष्मच्छब्दार्थ हैं।

अमोघ : तत्प्रकारक विशेष्य में तद्वत्व का सातत्य 'अमोघ' से बोध्य है। ज्ञातव्य है कि स्व (हनुमत्) समेत सम्पूर्ण भक्तों की कार्यप्रणाली की पूर्णता का अवच्छेदक श्रीरामप्रताप है, ऐसा समझकर सीताजी भक्तों में श्रीरामकृपा परीक्षित करती रहती हैं। प्रकृत में भी हनुमान्‌जी में सीताजी ने श्रीरामकृपा परखी। यही आन्वीक्षिकी कुशल भक्तों के द्वारा सफल भक्ति की प्रतिष्ठा है। एवंच हनुमान्‌जी में सत्य सत्व से सम्मिलित भक्ति का आन्वीक्षिकी कौशल से प्रतिष्ठित होना देखकर सीताजी ने हनुमान्‌जी को यथार्थ आशिष देना 'अमोघ' का निष्कर्ष है।

बिख्याता : अरण्यवासार्थ जाती हुई सीताजी के प्रति गंगाजी ने कहे उद्‌गार[१] 'बिख्याता' से ज्ञातव्य हैं। इस प्रकार यहाँ तक हनुमान्‌जी का चरकार्य पूर्ण हुआ।

संगति—दूतकार्य पूर्ण तब होगा जब परराष्ट्र के राजा से भेंट होगी तदर्थ कोई लेख नहीं है न तो सरलता से राजा की भेंट सम्भव है तब हनुमान्‌जी अपराध करना सोच रहे हैं। अत: रावण के द्वारा दण्डप्रणयनसम्बन्धी विचार करने हेतु राजा से भेंट होगी उसका उपक्रम हनुमान्‌जी कर रहे हैं।

अथवा—बालकाण्ड दोहा ५२।१ में कहे सतीचरित्र के अनुसार स्त्री जाति का स्वभाव प्रत्यक्ष पर अधिक विश्वास करना होने से हनुमान्‌जी स्वअनुमित श्रीरामप्रताप सीताजी को प्रत्यक्ष कराने का उपक्रम कर रहे हैं।

अथवा—कृतकार्य हनुमान्‌जी विश्राम के इच्छुक हो गए उसका उपक्रम कर रहे हैं। जिसका फल हनुमत्समाधि होगी।

चौपाई— सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा । लागि देखि सुन्दर फल रूखा ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे मात: ! सुनो मुझे अतिशय भूख लगी है। भोज्यरूप में नानाविध फल पेड़ों पर लदे हैं। अर्थात् आपका आदेश हो तो खाऊँ।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनहु : प्राणप्रिय पुत्र की व्यथाबोधक पुकार पूर्ण न होगी तो वह माता के चिन्तनयोग (एकाग्रता) को प्रतिबन्ध करेगी इसलिए 'सुनहु' कहा है।

अथवा—माताएँ कार्यान्तर पूर्ण करने में व्यस्त होती हैं उस दशा में बच्चे माँ के समीप में भूख लगने पर याचना करते हैं उसी के अनुसरण में 'सुनहु' कहा है।

अथवा—दूतकार्य की पूर्ति के लिए आदेशप्राप्त्यर्थ माताजी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने हेतु 'सुनहु' कहा है।

मातु : प्रसंगप्राप्त कार्य पूर्ण होत ही श्रीरामचिन्तन में सीताजी के मनस् को ध्यानस्थ होने के पूर्व ही सीताजी को रोकना 'मातु' सम्बोधन का भाव है।

मोहि : संकल्पित कार्य पूर्ण होने से सीताशोधचिन्तामुक्त हनुमान्‌जी 'मोहि' पदार्थ हैं।

अतिसय भूखा : समुद्रमार्ग से गमनक्रिया का प्रारम्भ कर अभी तक रही एकाग्रता ने शरीरधारणोपयोगी भोज्य की बुभुक्षा को अप्रतीत कर रखा था वह प्रतिबन्धक समाप्त हो गया तब शरीर पर आत्मत्व भासित हुआ। फलत: 'अतिशय भूख' भासित हो गई।

सुंदर : मेध्य, भोजनार्ह होना फल की सुन्दरता है उसके साथ पुष्टता व रसपूर्णता भी स्मर्तव्य है।

रूखा : राजा से सम्भाषण कर्त्तव्य है तदर्थ अपराधरूप में फल तोड़ने होंगे। अत: 'रूखा' कहा है।

अथवा—सीताजी से परिचय का अनुमान श्रीरामजी को हो इस हेतु के लिए ठोस प्रमाण की याचना न कर भूख की शान्ति के लिए फल याचना करने से 'शतं विहाय

---

१. अयोध्याकाण्ड १०३।

भोक्तव्यं' की चरितार्थता व्यक्त की है।

संगति—आशिष् व श्रीरामप्रताप प्राप्त होने के बाद भी चरकर्म में अनैतिक अनौचित्य होगा तो सफलता नहीं प्राप्त होगी। इस आशय से सीताजी प्रश्नोपस्थापन कर रही हैं।

अथवा—भक्ति से परिपूर्ण भक्त यदि शास्त्रों का विरोध करता है तो प्रकृति असन्तुष्ट होकर भक्ति व श्रीरामप्रताप को कुण्ठित कर सकती है यत: भक्ति का राज्ञीत्व शास्त्र-विद्याओं की सन्तुष्टि पर ही चिरस्थायी रहता है। इस आशय से सीताजी हनुमान्‌जी से समाधान प्राप्त करने की अभिलाषा में उनसे पूछ रही हैं।

चौपाई— सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी । परम सुभट रजनीचर भारी ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे पुत्र! सुनो—इस वन की रखवाली भारी मात्रा में महाबली योद्धा राक्षस करते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनु सुत : जिस अपराध की आज्ञायाचना में हनुमान्‌जी ने 'सुनु माता' कहा था उसी के प्रत्युत्तर में सीताजी ने 'सुनु सुत' कहा है।

'सुत' से अनालस्यवान्, शीघ्रकारी, दक्ष हनुमान्‌जी विवक्षित हैं।

करहिं : अशोकवन रावण का प्यारा होने से तद्रक्षणार्थ भटों की नियुक्ति होना 'करहिं' है।

रक्षकों के रहते फलभक्षण कैसे सम्भव होगा? अर्थात् रक्षक फल तोड़ने पर सजग होंगे। अत: आगमभक्ति के सन्तोषार्थ (आगमानुयायी) रक्षक बलवान् होंगे।

सुभट : अपराधी हनुमान्‌जी के विरोध में युद्ध करने वाले योद्धा 'सुभट' हैं।

शंकोपपत्ति

यद्यपि भक्ति का पोषण आन्वीक्षिकीकौशल से हुआ तथापि श्रुतिविरोध होने पर कर्म में नीतिविरोध आएगा वह भक्ति को इष्ट नहीं है। इस आशय से भक्ति की ओर से सीताजी फल खाने में प्रश्न उठाकर मन्त्रिणी राजविद्या का विरोध दर्शा रही हैं यदि वह रहेगा तो राक्षसों को बल प्राप्त होगा। उस दशा में श्रीरामप्रताप रक्षक कैसे होगा?

भारी : 'भारी' से अपरिमितसंख्याक सैनिकबल बोध्य है। इस प्रकार प्रश्न व्याख्यात है।

संगति—फल तोड़कर खाने में हनुमान्‌जी नीतिविरोध न होने की कारणमीमांसा कर रहे हैं।

चौपाई— तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं । जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं ॥ ९ ॥

भावार्थ—हे मात: ! यदि फल खाने में आप प्रसन्न हैं तो मुझे रक्षकों का भय नहीं है।

शास्त्रीय व्याख्या

तिन्ह कर : 'परम सुभट' व 'बिपिन रखवारे' तच्छब्द का वाच्यार्थ है।

भय : भविष्यत् में अनिष्टसम्भावना 'भय' है।

माता मोहि नाहीं : सर्वरीति से पुत्र को कीर्त्तिकर बनाने वाली सीताजी 'माता' से विवक्षिता हैं।

श्रीरामप्रताप व सीताशिष् से पूर्ण हनुमान्‌जी 'मोहि' हैं।

'नाहीं' से भयाभाव समझना है।

जौं तुम्ह सुख : 'जौं' शब्द फल तोड़ने की मान्यताप्राप्त्यर्थ है।

ज्ञातव्य है कि परराष्ट्र में आकर राजा से युद्ध करना आप (सीताजी) इष्ट मानती हैं तो अनुज्ञा दें ऐसा कार्यकलाप करना भी राजशास्त्रसम्मत है क्योंकि लंकाधिपति रावण लोककण्टक हो निगमागमविरोधी होने से उसे उचित शिक्षा देना अपेक्षित है। यदि आप रावण का वध नहीं चाहती हैं या आपने अशोकवनरक्षण का संकल्प किया है तो फल-भक्षण का कार्य अपराध होने के साथ मेरा (हनुमान्जी) उद्धतस्वरूप व स्वतन्त्रकर्तृत्व सिद्ध होगा इस उत्तर कोटि का समाधान 'तुम्ह सुख' से ज्ञातव्य है।

अशोकवन को उजाड़कर अपने पराक्रम से रावण को निगृहीत करने में स्वप्नशास्त्र-प्रमाण की सिद्धि का बोध रखने वाली सीताजी 'तुम्ह' से बोध्या हैं।

'सुख' कहकर हनुमान्जी ने अपने बल के प्रति अंकुश दर्शाया जिसको राजशास्त्र में अवग्रह कहा जाता है। श्रीरामदूत को अवग्रह मान्य नहीं होता तो सीताजी फल खाने की अनुमति नहीं देतीं क्योंकि हनुमान्जी का सांकुशबल सीताजी को आस्वाद्य है। इसकी एकरूपता में 'बुद्धि बल निपुन' कहकर सीताजी अपना सुख ध्वनित करेंगी।

मानहु : भयाभाव का कारण स्वबल नहीं अपितु सीताजी की प्रसन्नता है क्योंकि वह संतुष्टा हैं तो फल खाने में माता की सम्मति निर्णीत हो गयी। अर्थात् हनुमच्चरित्र के उत्तरार्ध में 'मानहु' कहकर सीताप्रसाद की पृष्ठबलता को अनुमित कराया गया है।

स्मर्तव्य है कि कृपा के भरोसे पर हनुमान्जी कोई कार्य नहीं कर रहे हैं वरन् वे प्रमाण को सामने रखते हैं यही उनकी तर्ककुशलता है। श्रुत्यनुगामिनी सीताजी की आत्मतुष्टि का प्रामाण्य फल तोड़ने व न तोड़ने के विकल्पावसर पर फलभक्षणकार्य पूर्ण करने में प्रमाण सीतासन्तुष्टि है इसलिए सीतासन्तुष्टि व्यर्थ नहीं है।

मन माहीं : हनुमान्जी अपने को सेवक मानते हैं वे स्वामिनी के इंगित पर चलते हैं। अतः कार्य पूर्ण करने का प्रतिभूत्व स्वामिनी (सीताजी) पर निर्भर है। अतः स्वयं शास्त्रतः, तर्कतः, विचारतः, नीतितः, विचार विमर्श सीताजी ने करना स्वार्थानुमान है। इसलिए 'मन माहीं' कहा है। यहाँ माता सीताजी की आत्मतुष्टि पर बल दिया गया है। चूँकि विकल्प सीताजी ने ही उपस्थापित किया है तो समाधान भी उन्हें ही करना है अर्थात् जहाँ श्रुत्यनुमतत्व होता है वहीं सत्य, शील, भक्त एवं पतिव्रताओं की आत्मसन्तुष्टि रहती है। तदनुयायी सेवक भी जिन स्वामिनी की आत्मतुष्टि पर बल देते हैं वैसी सतियों का लक्षण पद्मपुराण के भूमिखण्ड (अ० ३४) में इस प्रकार है—

रूपमेव गुणस्त्रीणां प्रथमं भूषणं शुभे।
शीलमेव द्वितीयं च तृतीयं सत्यमेव च॥ ३१॥
आर्जवत्वं चतुर्थं च पंचमं धर्म एव हि।
मधुरत्वं ततः प्रोक्तं षष्ठमेव वरानने॥ ३२॥
शुद्धत्वं सप्तमं बाले! अन्तर्बाह्येषु योषिताम्।
अष्टमं हि पितुर्भावः शुश्रूषा नवमं किल॥ ३३॥
सहिष्णुर्दशमं प्रोक्तं रतिश्चैकादशं तथा।
पातिव्रत्यं ततः प्रोक्तं द्वादशं वरवर्णिनि!॥ ३४॥

इस प्रकार हनुमान्‌जी ने सीतोपस्थापित शंकासमाधान में उन्हीं की आत्मतुष्टि को प्रमाण मान कर फलभोजन के प्रति तत्प्रमितत्व होगा तो उससे सीताजी की जिज्ञासाशमन होना समझाया।

संगति—हनुमान्‌जी के प्रमाणसंयुक्त विवेकयुक्त द्वितीय चरित्र से सन्तुष्टा सीताजी अपनी आत्मतुष्टि ध्वनित कर रही हैं।

दोहा— *देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु।*
रघुपति चरन हृदयँ धरि तात मधुर फल खाहु॥ १७॥

भावार्थ—हनुमान्‌जी का बुद्धि (विवेक) बलनैपुण्य देखकर जानकीजी उन्हें अभ्यनुज्ञा (आत्मतुष्टिप्रमाण) देते हुए कहती हैं—हे तात! हृदय में रघुपतिचरण रखकर मीठे फल खाओ।

शास्त्रीय व्याख्या

बुद्धि : हनुमान्‌जी ने फल खाने की अनुमति जानकीजी से माँगने पर माताजी ने अनुपपत्ति प्रगट करते ही मात्रादेश को मातृप्रसादविशिष्टतया फल खाने के प्रति प्रवर्तक मानना 'बुद्धि' है।

निपुन : 'निपुन' से सीताजी ने हनुमान्‌जी को परीक्षा में उत्तीर्ण पाना ध्वनित है। अर्थात् अपने बल बुद्धि पर भार न देकर सीताजी के सन्तोष पर ही बल देना 'निपुन' का भाव है।

निपुणता इस प्रकार व्याख्यात है—

द्रव्यक्रियागुणादीनां हानोपादानकर्मसु।
सूक्ष्मार्थावाप्तिनिरतो धीव्यापारस्तु नैपुणम्॥ (भावप्रकाशन ३। ७५। १७)

कपि : रघुपतिचरणहृदयधारक, सीतापरीक्षोत्तीर्ण हनुमान्‌जी 'कपि' से बोध्य हैं।

कहेउ जानकी : तोष (सुख) व्यक्त करने का प्रारम्भ 'कहेउ' है जो शिवजी ने सुनाया है।

तटस्थरूप में रहे आत्माराम भी अनैतिक कार्य का प्रसारण देखकर असन्तोष व्यक्त करते हैं। उसका प्रत्युदाहरण जानकीजी से समझना है।

जाहु : रावण अधर्मिष्ठ-धर्मापकारी है उसका संहार होना धर्म्य है। तदर्थ हनुमान्‌जी को रावणसभा में पहुँचाना अनिवार्य होने से 'जाहु' कहा है।

रघुपति चरन हृदयँ धरि : फल मायाजाल से आवृत हैं। उसके रहते मधुर फल से दृष्टिसंयोग हो नहीं सकता वैसा न हो इसलिए भोजनेतिकर्त्तव्यतात्त्वेन 'रघुपति चरन हृदयँ धरि' कहा है जो आवरणनाशक है। यह उपाय कहना सीताजी की ही सूक्ष्म दृष्टि का फल है।

अथवा—राक्षसकृत सम्पूर्ण माया के प्रत्युत्तररूप में रघुपतिचरण का धारण उपाय रूप में (सत्वात्मिका विद्या) उपदिष्ट है।

अथवा—अपने सन्तोष का आधायक कहकर 'हृदयँ धरि' कहते हुए उसके प्रति प्रमाद न करने हेतु सावधानी रखने को कह रही हैं। अन्यथा बुद्धिभ्रम का भय दिखाया

है उसका निरास परराष्ट्र में शत्रु के मध्य हनुमान्‌जी के लिए अत्यपेक्षित है।

'धरि' का माध्यम सातत्येन हरिचिंतन है। उसके माध्यम से प्रतिभा प्राप्त कर कार्य करना है।

मधुर फल : मधुर विशेषण की सार्थकता आलस्यजनक दोषप्रकोप न होने में है।

खाहु : 'कहेहु' के कारक कर्म क्रमशः 'जाहु' से लेकर 'खाहु' तक के पौर्वापर्यक्रम को दर्शाने वाले वचन हैं। ऐसी परम्परा बनी रहेगी तो सीताजी 'मानहु मन माहीं' होंगी जिससे 'भय माता मोहि नाहीं' सिद्ध होगा, अन्यथा विपरीत कार्य होने पर हनुमान्‌जी को बुद्धिव्यामोह होगा। यह समझ सोचकर शिवजी ने बुद्धि बल निपुण कहना उपपन्न है। इस प्रकार हनुमान्‌जी का प्रथम-द्वितीय चरित्रात्मक पूर्वार्ध पूर्ण है।

हनुमान्‌जी के उत्तरचरित्र की विशेषता

माता से वार्ता होने के अनन्तर हनुमान्‌जी ने उनसे चिह्न नहीं माँगा। इसकी उपपत्ति में हनुमान्‌जी का समाधि में पहुँचना मालूम होता है क्योंकि श्रीरामकार्य पूर्ण होने के पूर्व विश्राम न लेने का संकल्प था। सीताजी से फल खाने की अनुज्ञा मिलते ही वे विश्राम में आ गये। विश्राम में समाधि होना असम्भव नहीं उस समाधि से हनुमान्‌जी का उत्थान जल में पूँछ बुझाने के बाद होगा। तत्पश्चात् वे जानकीजी से परिचयप्रमाण की याचना करेंगे। उस मध्यावधि में पूर्णतोभावेन भक्त हनुमान्‌जी समाधि को प्राप्त हुए। इसके पश्चात् हनुमच्छरीर के माध्यम से शिवतत्व अपनी ओर से सम्पन्न हुआ अग्रिम चरित्र प्रारम्भ कर रहे हैं। इसमें भूतावेशन्याय चिन्त्य है।

समाधि के रहस्य को समझाकर रावण हनुमान्‌जी को समाधि से विचलित करने हेतु वध करने का आदेश सुनायेगा। बिभीषणजी इस रहस्य को समझकर रावण से उस आदेश को प्रत्यावर्तित करने की प्रार्थना करेंगे; क्योंकि वध करने मात्र से अशंकता समझ में नहीं आयेगी। योगनिष्ठ रावण भी अशंकतानिर्णयार्थ हनुमान्‌जी को समाधि से विचलित करने का उपाय सोचकर बन्दर की अत्यन्त प्रिय पूँछ को जलाने का आदेश सुनायेगा। ममता के कारण यदि हनुमान्‌जी समाधि से विचलित होते हैं तो उनमें शंका सिद्ध होगी और श्रीराम पराजित होंगे पर हनुमान्‌जी (शिवतत्व) विचलित नहीं होंगे। रावण के सभी उपाय निष्फल होंगे फलतः रावण अपने से ही स्वयं ही पराजित होगा। यह कल्पना योगसिद्धान्त व हनुमद्रावणसंवाद के आधार पर उल्लिखित है।

संगति—श्रीरामचरणचिन्तनेतिकर्त्तव्यताकत्व रहेगा तो फलभोजन में सीताजी की आत्मसंतुष्टि होगी ऐसा समझकर देहरूप में रहे हनुमान्‌जी का चलना सुना रहे हैं जो उनके चरित्र का उत्तरार्ध है।

अथवा—पतिव्रतापहार का बदला लेने तथा रावण के सन्मुख सन्धिप्रस्ताव रखने के उद्देश्य से हनुमान्‌जी ने फलभक्षणापराधज विग्रह करने हेतु पेड़ों को तोड़ना कवि बता रहे हैं।

चौपाई— चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा । फल खाएसि तरु तोरैं लागा ॥ १ ॥

भावार्थ—माता को प्रणामकर हनुमान्‌जी बाग में जाकर फल खाने लगे। उसके

बाद पेड़ों को उखाड़ने लगे।

शास्त्रीय व्याख्या

चलेउ : दोहा १७। ९ चौपाई में उक्त 'जों तुम्ह सुख मानहु मन माहीं' के उत्तर को अच्छी तरह समझकर हनुमान्‌जी का चलना 'चलेउ' है।

नाइ सिरु : परस्वामिक शत्रु की वस्तु को खाने में माता सीताजी के हृदय में सन्तोष की उपपत्ति का कार्यान्वयन समझना व तदनुबंधितया कार्य सम्पादन में अपेक्षित प्रतिभा का उदय होना 'नाइ सिरु' का फल है।

पैठेउ बागा : सीतानिवासस्थल अशोकवृक्ष से दूरी पर रहे फलवृक्ष मायानिवारक रघुपतिचरण से दिखायी दिये तब हनुमान्‌जी का उनमें प्रवेश करना 'पैठेउ' है। यह उपवन रावण के लिए आरामदायक होने से अति सुरक्षित है। उसमें उत्पात व पेड़ों के फलों का आहार करना रावण स्वामिद्रव्यापहार है।

फल खाएसि : फल खाने से बुभुक्षोपशमन हो गया अर्थात् वह बाग रावण के लिए फलोपधायक होने से उच्चाटनार्ह नहीं है। फल ही वृक्ष का बल है उसको निरस्त करना हनुमान्‌जी का प्रथम कार्य है।

तरु तोरैं लागा : श्रीरामचरणचिन्तनसामर्थ्य को प्रगट करने हेतु तरु तोड़ना आवश्यक दूसरा कर्म होने से 'तरु तोरैं लागा' कहा है। यहीं से विग्रह का आरम्भ है। इससे द्रव्यपीड़नप्रयोजकामर्ष स्फुट है।

संगति—अवतारोद्देश्य के कार्यान्वयन में सीताजी ने मनस्तुष्टिकर कार्य करने के लिए कहा था। उसका आरम्भ फलभोजनात्मक अंश पूर्ण हुआ। तदनन्तर प्रतिनायक रावण से प्रणेष्यमाण दण्डप्रयोगप्रयोजक तीसरे अपराध का आरम्भबिन्दु दर्शा रहे हैं।

चौपाई—रहे तहाँ बहुभट रखवारे । कछु मारेसि कछु जाइ पुकारे॥ २॥

भावार्थ—वहाँ बहुत-से योद्धा थे उनमें से कुछ को हनुमान्‌जी ने मार डाला तब कुछ रावण से वार्ता सुनाने चले गये।

शास्त्रीय व्याख्या

रहे तहाँ बहुभट : विग्रह के आरम्भ का आलम्बन 'रहे तहाँ' है।

ज्ञातव्य है कि अभी तक रक्षकों को विश्वास था कि कोई चोर घुस नहीं सकता; क्योंकि राजा तीक्ष्णदण्डधर होने से लंका अप्रवेश्या थी फिर भी उसकी सुरक्षा में रक्षकों को रखना राजभूषण है यही 'बहुभट' का भाव है।

कछु मारेसि : हनुमान्‌जी (अन्तस्थ शिजी) ने फल खाकर राजा को चुनौती देने हेतु 'कछु मारेसि' क्रिया की है। इसमें देहात्मक हनुमान्‌जी का स्थायी उत्साहभाव दर्शाया है। आशय यह कि परस्वामिक फल खाना अपराध सफल रहा जैसा कि 'जाइ पुकारे' से स्पष्ट है।

जाइ पुकारे : बंदर अपने से दण्डित नहीं हो रहा है ऐसा विचार होते ही रक्षकों ने अविलम्ब रावण को सूचना देने हेतु जाना 'कछु जाइ पुकारे' का भाव है।

संगति—विशालकाय वानर शरीर को देखकर प्राणहरण के भय से त्राण पाने के

लिए सेवक रक्षकों ने स्वस्वामी को सूचना देना कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— ***नाथ एक आवा कपि भारी। तेहिं असोक बाटिका उजारी॥ ३॥***
खाएसि फल अरु बिटप उपारे। रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे॥ ४॥

भावार्थ—हे नाथ! एक बड़ा बन्दर अशोक बाग में घुस आया है उसने वन को उजाड़ दिया खूब फल खाए, पेड़ों को उखाड़ दिया। रक्षकों को दबोच कर भूमि पर फेंक दिया।

शास्त्रीय व्याख्या

नाथ एक : 'नाथ' से सामदानादि के माध्यम से प्रजा के प्रति प्रीणनादिक्रियाकर्तृत्व[1] रावण में ध्वनित है।

व्यक्तिविशेषबोधनार्थ 'एक' शब्द है।

आवा : 'आवा' से कपि के आने के मार्ग के प्रति अज्ञानता स्फुट की है। इसलिए कि राष्ट्रपाल, अन्तपाल, स्थानिक गोपादिकों को कपि के आने की सूचना प्राप्त नहीं है।

कपि भारी : देखने में वह कप्याकृतिमान् होने से 'कपि' कहा है। पेड़ों को उखाड़ने व सैनिकों को मारने की शक्ति दृष्टिगोचर होने से 'भारी' कहा है।

तेहि : बलवान् कपि तच्छब्दार्थ है जो बहुभटों का संहर्ता है।

उजारी : 'उजारी' कहकर दण्डार्ह अपराध व्यक्त किया है जो रावण के प्रभुत्व के लिए कलंक है। इस कथन से लंकापचय निरूपित हुआ।

खाएसि : अशोकवाटिका उजाड़ने तक सैनिकों ने प्रतीक्षा कैसे की? कपि ने क्या-क्या किया? इन प्रश्नों का समाधान 'खाएसि' से सुना रहे हैं। फल तोड़कर खाना कपि का प्रथम अपराध है जो स्तेय में संगृहीत है।

बिटप उपारे : द्वितीय भारी अपराध 'बिटप उपारे' है। सकल मूलच्छेदन अक्षम्य अपराध है।

चिन्त्य है कि शत्रु के सस्यसम्पन्न देश में पहुँचकर फल समाप्त करना विजिगीषु के लिए अर्थशास्त्र में लिखा है। वही कार्य हनुमान्‌जी ने किया है।

रच्छक मर्दि : कपि ने रक्षकों को ऐसा मर्दित किया कि वे जीवित नहीं रह सके।

मर्दि : अभी तक राक्षसों से वानर मर्दित हो रहे थे अभी वानर राक्षसों को मर्दित कर रहा है! 'मर्दि' की पुनरुक्ति इसलिए कि जो उसके चपेट में आए वे बच न सके। इस प्रकार स्थानापहरणरूप विग्रहसामग्री कहकर रावण को अति संतप्त करना मर्दन की द्विरुक्ति की सार्थकता है। परिणाम में 'तप्तेन सन्धानमुपैति तप्त:' के अनुसार उसको सन्धि हेतु प्रेरणा कराना हनुमान्‌जी का लक्ष्य ज्ञात होता है।

संगति—उक्त अनेकविध अपराध सुनते ही राजा ने उसे पकड़ने की आज्ञा सुनाना कवि कह रहे हैं।

चौपाई— ***सुनि रावण पठए भट नाना। तिन्हहि देखि गर्जेउ हनुमाना॥ ५॥***
सब रजनीचर कपि संघारे। गए पुकारत कछु अधमारे॥ ६॥

भावार्थ—सेवकों से वृत्तान्त सुनकर रावण ने अनेकविध भटों को भेजा जिन्हें

---

१. बालकाण्ड 'सुखी सकल रजनीचर कीन्हे।' (१७९।७)

देखकर हनुमान्जी गर्जना करने लगे। तावन्मात्रेण रजनीचर धराशायी हो गये कुछ अधमरे रावण को सूचना देने हेतु भाग गये।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि रावण : सेवकों से कपि का अपराध सुनकर राजा रावण ने 'बलवान् वानरो दण्ड्यः अतिशयापराधकर्तृत्वे सति फलभोजनमिषेण राजापमानकर्तृत्वात्' अनुमान किया। फलतः अपने अप्रतिहत क्रोध को प्रगट करना ही होगा ऐसा निश्चय करना 'सुनि' का निष्कर्ष है।

पठए भट नाना : नायकों के साथ भृत व श्रेणिसैनिक भेजना 'पठए' है। भृत व श्रेणी सैनिक 'भट नाना' है।

तिन्हहि : भेजे गए भृत और श्रेणी सैनिक 'तिन्हहि' से विवक्षित हैं।

गर्जेउ : शूर युद्ध करना चाहते हैं। शत्रु देखकर उन्हें उत्साहित होते देर नहीं लगती उसका अनुमापक गर्जना है।

संघारे : एक साथ सबको हत करने के उद्देश्य से कपि ने गर्जना की उसमें हनुमान्जी सफल रहे; क्योंकि निगमागम ने अन्तः एक हो रावणपक्ष को निर्बल कर रखा है। हनुमान्जी की गर्जना तो निमित्तमात्र है।

अधमारे : गर्जनामात्र से जिन पीड़ितों ने पीठ दिखाई उन्हें हनुमान्जी ने छोड़ा, वे अधमरे राजा की शरण में पहुँचे।

ज्ञातव्य है कि सीताजी के आशीर्वादात्मक वचन से हनुमान्जी अजर अमर होने के कारण शत्रु की ओर से आई शक्ति को परास्त करने हेतु जो भी संहारक कार्य करते हैं उनमें संहारिका शक्ति प्रगट होती है यही सीताजी के वचनप्रामाण्य की विशेषता है।

संगति—भृत व श्रेणी सैनिकों की असफलता सुनकर रावण ने मौल सैन्य को भेजा उसके नायक अक्षयकुमार थे।

चौपाई— *पुनि पठयउ तेहिं अच्छ कुमारा । चला संग लै सुभट अपारा ॥ ७ ॥*
आवत देखि बिटप गहि तर्जा । ताहि निपाति महाधुनि गर्जा ॥ ८ ॥

दोहा— *कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि।*
कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि॥ १८ ॥

भावार्थ—रावण ने मौल सेनानायक अक्षय कुमार को भेजा। वह बहुसंख्य मौल सैनिकों को साथ में लेकर चला तो हनुमान्जी ने उसे आता हुआ देखकर एक पेड़ उखाड़कर उसपर फेंक दिया जिससे वह तत्काल मर गया। फिर हनुमान्जी ने महती गर्जना की, कुछ को मारा, कुछ को दबोचा, कुछ को धूल में मिला दिया, कुछ पुनः राजा के पास पहुँच गये।

शास्त्रीय व्याख्या

पुनि : रावण ने सैन्य की निष्फलता देखकर युद्ध की व्यवस्था करना 'पुनि' है।

अच्छ कुमारा : हनुमान्जी के अजरत्व, अमरत्व से रावण परिचित नहीं था। अतः उसने वानरवध करने हेतु अक्षयकुमार को आदिष्ट किया; क्योंकि शत्रुवध करने में उसकी निपुणता अति प्रमाणित थी।

चला : पूर्वापेक्षया अधिक सैन्य लेकर व्यूहरचनापूर्वक चलना 'चला' का भाव है।

सुभट : 'सु' से मौल सैन्य समझना है जिनका युद्धांगण में विजेतृत्व प्रसिद्ध है।

अपारा : जितनी दूर तक हनुमान्‌जी की गर्जना सुनाई पड़ रही थी उससे अत्यधिक दूर देशपर्यन्त सैनिकों के रहने की व्यवस्था करना 'अपारा' है।

आवत देखि : अपार सैन्यस्थिति देखकर हनुमान्‌जी के हाथों में आये वृक्षों में अपार दूर तक जाने की मारिका शक्ति सीतावचन प्रमाण से समृद्ध हो गई।

बिटप गहि : ज्ञातव्य है कि शिवप्रेरित हनुमद्देह के द्वारा पेड़ों को उखाड़कर ग्रहण करते ही उनमें शक्ति उपस्थित हो जाती थी उसी को कवि 'बिटप गहि' से गा रहे हैं।

रावण स्वयं भी वरप्राप्तशक्तिमान् है परन्तु स्वाभिमान में वृद्धजनों, आप्तजनों व शास्त्रवेत्ताओं का अनादर करने वाला होने से उसे प्राप्त शक्ति धीरे-धीरे तिरोहित होने लगी। यही आगम, भक्ति व श्रुतिप्रोक्त कर्मकाण्ड की एकवाक्यता है।

ताहि : 'ताहि' से ससैन्य अक्षयकुमार समझना है।

निपाति : रावणहनुमत्संवादवर्णन सुनने की उत्कंठा अत्यधिक होने से संक्षेप में अक्षयकुमारवध गाना शिव-पार्वतीजी की भक्ति का गौरव है।

महाधुनि : वृक्षों को अपार सैन्य पर गिराते हुए वानरगर्जना व सैन्य के गिरने की धुनि दोनों मिल जाने से जो ध्वनि उत्पन्न हुई वह 'महाधुनि' है। इसका परिणाम यह हुआ कि परसैन्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया।

कछु मारेसि : अक्षयकुमार व सैनिकों के वध का विभिन्न प्रकार 'कछु' से सुना रहे हैं। उसके विस्तार की शुश्रूषा पार्वतीजी को न होना भी यहाँ सूचित है। इस प्रकार रेचन कार्य (शत्रुसैनिकों का वध) स्पष्ट है।

कछु पुनि जाइ पुकारे : लंकाधिपति रावण को सूचित कराने के विचार से जिन सुभटों को हनुमान्‌जी ने नहीं मारा वे 'कछु' से विवक्षित हैं। जिन सुभटों ने युद्ध करने हेतु संकल्प लिया था वे राक्षस युद्ध करने में प्रवृत्त हुए परन्तु अपने को अरक्षित समझकर पुकारने लगे जो 'पुकारे' से स्पष्ट है।

प्रभु : 'प्रभु' से यजमानस्थानापन्न रावण ज्ञातव्य है जो कोश, दण्डजतेजस्सम्पन्न है।

मर्कट बल भूरि : अस्त्ररहित शस्त्रों से वानर की अवध्यता निर्णीत हो गई। ऐसा अभिप्राय 'मर्कट बल भूरि' से ज्ञातव्य है।

संगति—शस्त्र से अवध्य हनुमान्‌जी को बचाने वाली शक्ति को देखने की इच्छा से रावण मेघनाद को लंका में लाने का आदेश दे रहा है।

चौपाई— ***सुनि सुत बध लंकेस रिसाना । पठएसि मेघनाद बलवाना॥ १ ॥***
मारेसि जनि सुत बाँधेसु ताही । देखिअ कपिहि कहाँ कर आही॥ २ ॥

भावार्थ—अक्षयकुमारवध से क्रोधित रावण अतिबलवान् मेघनाद को प्रेरित करते हुए कहता है कि उसे मारना नहीं बाँधकर लाना; क्योंकि मैं उसे देखना चाहता हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

लंकेस रिसाना : रावण के क्रोध का कारण सुतवध ही नहीं वरन् स्वीय प्रभुत्व एवं

तेजोवध भी कारण है। ऐसे समय में शत्रु पर विजय पाना उसका एकमात्र परम लक्ष्य है। उसी को 'लंकेस रिसाना' से दर्शाया है।

मेघनाद बलवाना : क्षय, व्ययसहिष्णु होने से मौलनायक 'मेघनाद' की नियुक्ति है।

शस्त्रास्त्रों से शत्रु को वश करने की शक्ति रखना व प्रतिपक्ष की प्रत्येक शक्ति को अभिभूत करने की क्षमता रखना 'बलवाना' से स्पष्ट है।

मारेसि जनि सुत : मेरे प्रभुत्व को तिरस्कृत कर मौलादि योद्धाओं को मारने वाला वह बन्दर मुख्यतया वध्य है, परन्तु हे पुत्र! तुम उसे मारना नहीं क्योंकि बन्दरों में मेरे योद्धाओं को मारने की कौन-सी शक्ति जागृत हो गई है अथवा बन्दर को किसका पृष्ठबल प्राप्त है उसका पता लगाना अपेक्षित है इत्यादि विचार 'मारेसि जनि' का आशय है।

अत्यन्त प्रीतिमत्ता के द्योतनार्थ 'सुत' सम्बोधन है।

बान्धेसु ताही : वानर के लिये सहायकान्तर न होने की दशा में भी वध न कर बाँधकर ले आने का आदेश 'बान्धेसु' से सुनाया। वानर ने स्वयं ही शक्तिमान् हो मेरे प्रभुत्व को समाप्त करने की चेष्टा में वृक्षोत्पाटन व सैनिकों सहित सुत को मारना समझ में आ रहा है अतः उस शक्तिमान् को देखने की उत्कट इच्छा रावण को हो रही है।

'ताही' से वृक्षच्छेत्ता अक्षयकुमारसहितमौलसन्यबलहन्ता हनुमान्‌जी ज्ञातव्य हैं।

देखिअ : बन्दर में अद्भुतता होने से मायावी शक्तिमान् रावण को उसे देखने की उत्कट दिदृक्षा होना 'देखिअ' का भाव है।

कहाँ कर : ज्ञातव्य है कि अशोकवाटिका में मेरे द्वारा सीताजी के प्रति आज किये व्यवहार को गुप्त रूप से देखकर उसी क्रोध में कपि ने [illegible] उजाड़ा है। ऐसा बोध रावण को अभी हुआ ऐसा मालूम होता है। उसी के दाढ्यार्थ वह अभी कपि के प्रति दिदृक्षु हो रहा है। यदि वह श्रीरामदूत अथवा अन्य कोई हो तो भी दण्ड्य ही है। इस प्रकार की समीक्षा 'कहाँ कर आही' से व्यक्त है।

संगति—बन्धुमृत्यु से कुपित मेघनाद बन्दर की निग्राह्यता कठिन समझकर उसे बाँधने हेतु जा रहा है।

चौपाई— चला इन्द्रजित अतुलित जोधा । बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा ॥ ३ ॥

भावार्थ—इन्द्र को जीतने वाला अतुलित बलशाली मेघनाद बन्धुनिधनप्रयुक्त क्रोध में चल पड़ा।

शास्त्रीय व्याख्या

इन्द्रजित अतुलित जोधा : मेघनाद इन्द्रविजयी होने से स्वार्जित ख्यातिसम्पन्न है। वह इतरकारणापेक्षी नहीं है। दोनों पक्षों ने वरसमता पक्षसमता में बराबर होना 'इन्द्रजित अतुलित जोधा' से ध्वनित किया है।

बन्धु निधन : अतिप्रिय बन्धु अक्षयकुमार का निधन असह्य होना 'बन्धु निधन' से ज्ञेय है।

क्रोधा : मेघनाद अति गम्भीर है वह सहसा क्रोध नहीं करता तथापि उसके गाम्भीर्य का टूटना 'क्रोध' से व्यक्त है।

अथवा—एक ओर निगमागम प्रमाण का आदर है दूसरी ओर उसका अनादर है। इस विवेकशून्यता के कारण बन्धुनिधनरूप अप्रियदर्शनप्रयुक्त आवेगसहचरित क्रोध 'क्रोधा' से ज्ञातव्य है।

संगति—प्रतिपक्ष में रहे हनुमान्जी का प्रतिक्रियानैपुण्य कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— ***कपि देखा दारुन भट आवा । कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥ ४॥***
अति बिसाल तरु एक उपारा । बिरथ कीन्ह लंकेस कुमारा॥ ५॥
रहे तहाँ भट ताके संगा । गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा॥ ६॥
तिन्हहि निपाति ताहि सन बाजा । भिरे जुगल मानहुँ गजराजा॥ ७॥
मुठिका मारि चढा तरु जाई । ताहि एक छन मुरुछा आइ॥ ८॥

भावार्थ—भयंकर योद्धा को सामने देखकर हनुमान्जी ने दाँत कटकटाते हुए गर्जना की और एक विशाल पेड़ उखाड़कर उसके प्रहार से मेघनाद को विरथ कर दिया उसके साथ जो सैनिक थे उन्हें भी कुचल दिया। फिर वे मेघनाद से गज की तरह भिड़ गये। उस समय दोनों योद्धा गजराज से लग रहे थे। तत्क्षण हनुमान्जी एक मुक्का मेघनाद को मारकर पेड़ पर चढ़ गए। फलतः लंकेशकुमार इन्द्रजित् एक क्षण के लिए मूर्च्छित हो गया।

शास्त्रीय व्याख्या

कपि : प्रतिभट की दृष्टि में तुच्छत्वभावना ज्ञापन 'कपि' से व्यक्त है। अथवा शरीरमात्र को लक्ष्य मानकर 'कपि' कहा है।

दारुन भट आवा : अक्षयकुमार से अधिक बल प्रतिभट में रहना 'दारुन' का भाव है। अर्थात् जितने प्रहार से अक्षयकुमार धराशायी हुआ उतने प्रहार को सहन करने की शक्ति मेघनाद में होना 'दारुन भट' से सिद्ध है। 'आवा' से 'देखा' अन्वित है।

कटकटाइ गर्जा अरु धावा : इसके पूर्व किए गए संहार में हनुमान्जी को क्रोध नहीं आया था क्योंकि संहृत सभी न्यूनबल थे। बराबरी में रहे भट को देखकर हनुमान्जी को क्रोध आना 'कटकटाइ' का भाव है जो क्रोध की पंचम अवस्था को दर्शाता हुआ हनुमान्जी के शौर्य का सूचक भी है।

प्रतिभट के द्वारा किये जाने वाले प्रहार को पहिचानकर अवकाश न देते हुए वेग में पहिले ही गरज कर दौड़ना 'गर्जा अरु धावा' है।

अति बिसाल तरु एक : प्रतिभट की प्रतीकारार्थ उसके शक्त्यनुरूप शक्तिमान् विशाल वृक्ष को उखाड़ना 'बिसाल तरु एक' है।

बिरथ : वृक्षप्रहार का लक्ष्य रथध्वंस था; क्योंकि मेघनाद को रथरूपी दुर्ग से बाहर निकालना था। जिसका फल मुष्टिप्रहारार्थ सौलभ्य प्राप्त करना है। इसलिए 'बिरथ' कहना उपपन्न है।

महाभट ताके संगा : अर्थशास्त्रानुसार रथ का संकेत गज, अश्व पैदल सेना समेत रथ में है। रथध्वंस से ही उसके रक्षक भटों का भी मारा जाना 'महाभट' से बोध्य है। यह क्रोध की छठवीं अवस्था है। तच्छब्दार्थ रथ है उसके रक्षक रूप में रहना 'ताके संगा' का भाव है।

निज अंगा : सम्पूर्ण भटों के फैलाव के अनुरूप हनुमान्जी ने शरीर फैलाकर भटों को एक क्षण में धराशायी कर मर्दित करना 'निज अंगा' से व्यक्त है।

तिन्हहिं निपाति ताहि सन : 'तिन्हहिं' से मर्दित सैनिक व 'निपाति' से अनुगामी सैनिकों का धराशायी होना समझना है। यहाँ 'ताहि' शब्द मेघनादवाचक है।

ज्ञातव्य है कि अलातचक्रवत् हनुमान्जी ने अपनी द्रुतगति से मेघनाद को चकाचौंध में रखना व उसे आक्रमण का अवसर न देना 'तिन्हहि, ताहि' आदि से लक्षित मालूम होता है।

बाजा : 'बाजा' से अलातचक्रवत् भ्रमणशील होने से हनुमान्जी में बाण का साम्य गाया है।

गजराजा : भिड़ने के पश्चात् दोनों पक्षों में समानता की अभिव्यक्ति 'गज़राजा' से ध्वनित की है। पक्ष प्रतिपक्ष दोनों दूसरे पर प्रहार व स्व रक्षण कर रहे थे पर हनुमान्जी ने मुष्टिका प्रहाररूप दूसरा ही उपाय सोचा जो मेघनाद के लिए अलक्ष्य व अशोच्य था। इस वर्णन से उत्साह के चारों (अमर्ष, दाक्ष्य, शैघ्र्य व शौर्य गुण) वर्णित हुए।

मुठिका मारि : हनुमान्जी ने सोचा कि सम्बल से भिड़ना व उसे परास्त करना सम्भव नहीं तब उन्होंने कूटयुद्ध करना सोचा अर्थात् विशेषरूप से हरिचिन्तन किया। उसका प्रभाव यह हुआ कि मेघनाद के अंगविशेष पर से आगम ने अपनी शक्ति को स्वल्प मात्रा में तिरोहित कर हनुमान्जी की दृष्टि केन्द्रित की। उसका लाभ लेकर हनुमान्जी ने मुष्टिका बड़े वेग से चला दी जो मेघनाद को वज्रपात के समान लगी उससे एक क्षण के लिए वह मूर्च्छित हो गया। अर्थात् मेघनाद का मूर्च्छित होना रावण की पराजय है इससे आगम ने मेघनाद को सहायता देने में कमी लाना स्पष्ट है।

चढा तरु जाइ : बल व शस्त्र से मेघनाद की दुर्बलता सिद्ध हो गई। अब वह अस्त्र से प्रहार कर मुझे बाँधना चाहेगा वह तभी सम्भव है जब मैं स्वयं गिरकर मूर्च्छित होऊँगा। उस दृष्टि से हनुमान्जी का पेड़ पर चढ़ना सार्थक है। यह बुद्धिमतां वरिष्ठ शिवचालित हनुमान्जी की बुद्धि की निपुणता है।

ताहि एक छन : 'ताहि' शब्द मेघनादवाचक है। 'एक छन' से मेघनाद के हार्दिक स्नायु की सघनता व पुष्टि ज्ञात होती है जो लंकिनी की स्नायु से कई गुना अधिक है व रावण के समान प्रतीत होती है। इस प्रकार हनुमान्जी का आक्रमणनिरूपण पूर्ण है।

संगति—हनुमान्जी के आक्रमणोत्तर में मेघनाद का प्रत्याक्रमण ग्रन्थकार कह रहे हैं।

चौपाई— उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया । जीति न जाइ प्रभंजन जाया ॥ ९ ॥

दोहा— ब्रह्म अस्त्र तेहि साँधा कपि मन कीन्ह बिचार।
जौं न ब्रह्मसर मानउँ महिमा मिटइ अपार ॥ १९ ॥

चौपाई— ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहिं मारा । परतिहुँ बार कटकु संघारा ॥ १ ॥

भावार्थ—मूर्च्छा से जागकर इन्द्रजित् ने कई मायाप्रयोग किये पर वे असफल रहे तब उसने ज्यों ही ब्रह्मास्त्र साधा त्यों ही उसकी महत्ता मारुति ने समझकर विचार किया कि ब्रह्मास्त्र का अपमान करता हूँ तो इसकी प्रतिष्ठा समाप्त होगी। अपार का पार होना प्रतिष्ठा पर आघात है अत: हनुमान्जी मूर्च्छित हो गए तब उसी क्षण मारुति को ब्रह्मास्त्र ने बाँधा

फलतः मारुति बहुतों को मारते हुए जमीन पर आ पहुँचे।

शास्त्रीय व्याख्या

उठि बहोरि : मूर्च्छा में शरीर नीचे बैठा था होश में आने पर 'उठि' कहा है। तब शत्रु के साथ शरसन्धान करने की स्मृति हुई क्योंकि हनुमान्‌जी अभी आक्रम्यता के पात्र हो चुके हैं।

बहुमाया : इन्द्रजित् मेघनाद ने मारुति पर माया चलाई जो असुरों के लिए शीघ्र साध्य है उसमें अनेकविध पर्वतादि दिखाई पड़े जो चारों ओर से हनुमान्‌जी पर प्रहार करते हैं ऐसा प्रतीत होने लगा। ज्ञातव्य है कि यह सब कल्पित होने पर भी उन्हें मारक रूप से सामने रखना यह मेघनाद का कौशल है।

जीति न जाइ प्रभंजन जाया : मायानिर्मित पर्वतादि हनुमान्‌जी तक आते-आते तिरोहित हो जाते थे इसका कारण रघुपतिपदचिन्तन है जो सीताजीके द्वारा उपदिष्ट होने से मन्त्ररूप में परिणत हो रक्षक हो गया।

अथवा—ब्रह्माजी ने जार्गतिक प्रपंच में वायु को युवराज बनाया है उनके पुत्र हनुमान्‌जी विनयसम्पन्न शूर हैं। उन्हें किसी की माया स्पर्श नहीं कर सकती।

अथवा—वायु के समान हनुमान्‌जी अतीन्द्रिय सूक्ष्म हो गए फलतः वे मायाप्रयुक्त पर्वतादि की चपेट में नहीं आए। उसके पीछे बलरूप में सीतावचनप्रामाण्य स्थित है।

ब्रह्म अस्त्र : माया का स्पर्श न देखकर मेघनाद ने रावण की आज्ञा को याद में लाकर हनुमान्‌जी को बाँधने हेतु ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना 'ब्रह्म अस्त्र' से स्पष्ट है।

साधा : मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र को उपयुक्त समझकर उसका प्रयोग आरम्भ करना 'साधा' है।

बिचार : हनुमान्‌जी शस्त्रास्त्र के प्रति अभिज्ञ होने से जैसे ही मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र साधा वैसे ही ब्रह्मास्त्र के सम्बन्ध में विचार करना 'बिचार' है जो सत्परामर्श है।

विचार का निष्कर्ष तर्क में है अर्थात् '**यद्यहं ब्रह्मास्त्रमपमानयेयम् तर्हि गर्ववान् भूत्वा भक्तिवंचितो भवेयं**' यह आपाद्य-आपादकभाव सोचना तर्क है यही बुद्धिनैपुण्य है। इस प्रकार सीताजी के द्वारा अजरता, अमरता, निर्भयता प्राप्त होने पर भी दास भक्त ने श्रुति व आगमप्रामाण्य की अनुयायिता सोचना 'बिचार' का निष्कर्ष है।

अथवा—मूर्च्छित न होने पर आगमानुप्राणित ब्रह्मदत्त बाण की 'अपारमहिमा लुंपेत्' यह आपाद्य है क्योंकि उक्त लोप भक्ति या श्रीसीताराम को इष्ट नहीं है। फलतः हनुमान्‌जी का दासत्व बाधित होगा यह दूसरा आपाद्य है। उसका सारांश 'ब्रह्माशस्त्रसम्मानेन आपाद्यो न भविष्यामि' में है। ये विचार ब्रह्मशरसंधान के पूर्व ही हनुमान्‌जी ने करना उनके विद्याप्रत्यक्ष का प्रभाव है।

जौं न ब्रह्मसर : 'जौं न' से 'बिचारा' शीर्षकोक्त तर्क के अन्तर्गत आपादक का भाग समझना है।

ऊपर 'ब्रह्मअस्त्र' कहा यहाँ 'ब्रह्मसर' कहा। आशय यह कि आगम के द्वारा मेघनाद को शस्त्रविशेष प्राप्त हुआ हो उसी पर वह ब्रह्मास्त्र मंत्र का प्रयोग करता होगा। इससे

मालूम होता है कि मेघनाद की शक्ति रावण से अधिक थी।

मानहुँ : 'मानहुँ' का अन्वय 'न' से है। 'न' 'मानहुँ' आपादक है जो 'भक्तिराज्ञीत्ववशात् सीतापरवशाद्वा ब्रह्मशरं न मानयेयम्' में पर्यवसित है।

ब्रह्मबान : 'ब्रह्मबान' से ब्रह्मास्त्रसहित ब्रह्मसर का छूटना समझना है।

तेहि : कवि ने हनुमान्‌जी के बुद्धिवैभव को याद करते हुए व निगमागम का आदर करने वाले श्रीरामदास के प्रति 'तेहि' बहुवचन शब्द प्रयुक्त कर अपनी श्रद्धा व्यक्त की है।

संघारा : ब्रह्मास्त्र लगने से मूर्च्छा में गिरते हुए हनुमान्‌जी ने कटकदल को समाप्त कर युद्ध बन्द कर दिया क्योंकि वे सीताजी को मारने की धमकी देने वाले रावण से संवाद कर दशानन को उचित शिक्षा देना चाहते थे।

संगति—रावण के आदेश का कार्यान्वयन सुना रहे हैं।

चौपाई— तेहिं देखा कपि मुरुछित भयऊ । नागपास बाँधेसि लै गयऊ ॥ २ ॥

भावार्थ—हनुमान्‌जी को मूर्च्छित समझकर मेघनाद उन्हें नागपाश से बाँधकर (सभा में) ले गया।

शास्त्रीय व्याख्या

मुरुछित भयऊ : ब्रह्मसम्मानकर्ता हनुमान्‌जी ने कुम्भक से प्राणवायु को स्थिर कर स्वयं को निश्चेष्ट बनाना ही 'मुरुछित भयऊ' का स्वरूप है।

नागपास : मूर्च्छा टूटने से पूर्व ही कपि को वश में करना होगा सोचकर मेघनाद ने उनको तुरन्त नागपाश से बाँधा है।

लै गयऊ : नागपाश से बँधने तक वे मूर्च्छित रहे बँध जाने पर प्राणवायु को बाहर संचरित करना 'लै गयऊ' से निर्णीत है।

संगति—हनुमान्‌जी की यह पराधीनता ज्ञात्वा है अथवा ब्रह्मास्त्रबन्धनप्रयुक्त पराजय है। इस शंका के समाधान में शिवजी तर्कपूर्वक विनिगमना सुना रहे हैं।

चौपाई—जासु नाम जपि सुनहु भवानी । भवबन्धन काटहिं नर ग्यानी ॥ ३ ॥
तासु दूत कि बंध तरु आवा । प्रभु कारज लगि कपिहि बन्धावा ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे भवानि! सुनो—रघुपति को हृदय में रखने वाले निगमागमसेवी भवबन्धन को नामजप के प्रभाव से काट देते हैं। उसी श्रेणी में रहे मारुति पेड़ के नीचे क्या बन्धन में आ सकते हैं? फिर भी प्रभुकार्यहेतु कपि अपने को बँधवा रहे हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

जासु : 'जासु' से श्रीराम बोध्य हैं। इसका स्पष्टीकरण 'ग्यानी' शीर्षक में द्रष्टव्य है।

नाम जपि : नामोपासना बालकाण्ड में विस्तार के साथ विहित है उसी को 'नाम जपि' से समझना है। मीमांसामतानुसार जप धात्वर्थ का आश्रित श्रीरामनाम है उसका उदाहरण सप्तशती में वर्णित राजा सुरथ व वैश्य हैं। जो 'ग्यानी' शीर्षक में स्फुट है। यद्यपि ध्यान, योग, परिचर्यादि धात्वर्थ नाम का आश्रय हो सकते हैं तथापि रामायण में कलिकालांगकत्वेन जप मुख्य होने से उसे श्रीरामनाम के प्रति आश्रय रूप में गाया है।

भवानी : नाममहिमा का कार्य-कारणभाव व तन्मूलक महिमा सुनने की उत्कण्ठा रखने वाली भवानीजी 'भवानी' से सम्बोध्य हैं।

भवबन्धन : मायासंवलित देहात्माध्यास 'भवबन्धन' है। वेदान्त में उसीको मिथ्याज्ञान कहा जाता है जो अविद्या का कार्य है। अविद्या अनादि भाव पदार्थ है। उसके अन्तर्गत देशकालसीमाबन्धन भी चिन्त्य है।

काटहिं : अध्यास या मायारूप भवबन्धन का भंग 'काटहिं' है। इसमें प्रधानकारणतया नामजप अन्वित है।

नर : 'नर' से साधारण मनुष्य संकेतित हैं वह 'ग्यानी' से अन्वित है।

ग्यानी : अज्ञानावरणनाशक ज्ञानवान् 'ग्यानी' से बोध्य हैं परन्तु प्रभु के शरण में न होकर यदि वे ज्ञानी विवेक को ही प्रधानता देते हैं तो मोह से पराज़ित होते हैं। यदि नामाश्रय जप धात्वर्थ के माध्यम से रघुपतिशरण में रहते हैं तो भवबन्धन उन्हें पराजित नहीं कर पाता। जैसे राजा सुरथ कुशल विवेकी हैं फिर भी उनका पराजय दुर्गा सप्तशती के प्रथमाध्याय में निरूपित है। तदनन्तर मुनि के आदेश से देवी के शरण में रहकर पूजा-जप-आश्रय से राजा का भवबन्धन जीतना भी प्रसिद्ध है।

शिवोक्ति का निष्कर्ष यह कि मुमुक्षु-मुक्त-बद्धसाधारणतया नामजप की उपादेयता निगमागमोभयसम्मत है।

तासु दूत : रघुपति ने स्वयं होकर दूताभिमानी हनुमान्जी को दौत्यकर्मार्थ भेजा है उस कर्म का आश्रय हनुमद्देह को कभी भी श्रीराम पराजित नहीं होने देंगे। अतः 'तासु दूत' कहा है।

कि बन्ध तरु आवा : माना जाय कि ब्रह्मशर ने हनुमान्जी को थोड़े समय के लिए मूर्च्छित कर दिया तो भी उससे हनुमान्जी का पराजय मानना इष्ट नहीं है क्योंकि मूर्च्छित होकर वे सीधे नीचे नहीं गिरे बल्कि उन्होंने नीचे आते हुए भी श्रुतिविरोधी दल का संहार किया। इत्थंच जब श्रीरामसेवक भवबन्धन के अन्तर्गत कहे जाने वाले देशकाल सीमा सम्बन्ध से मुक्त हैं तो उनके देह ने ब्रह्मशरबन्धन में न आना अर्थतः सिद्ध है। उसे शिवजी ने 'कि बन्धतरु आवा' से गाया है।

प्रभु कारज :

प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः।
उपजापः सुहृद्भेदः गूढदण्डातिसारणं॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रयः॥[1]

ये दूत के विहित कर्तव्य हैं। इनमें से जो-जो सम्भव है वह-वह पूर्ण करना श्रीरामकार्य है।

बन्धावा : बन्धन के बहाने रावणसभा में प्रवेश होगा सोचकर हनुमान्जी ने उपाय रूप में स्व देह को बँधवाना 'बन्धावा' है।

---

[1] कौटिलीय अर्थशास्त्र १।१६।३३-३४

यह बन्धन बँधनाभाव कालीनइच्छाजन्य होने से आहार्यज्ञानतुल्य है। शिवजी ने सुनाए प्रकृत वचन का प्रयोजन यह हो सकता है कि हनुमद्‌बंधन देखकर देव भी असफलता की शंका में सभीत भए हों या पार्वतीजी विस्मृत हुई हों।

संगति—'बन्धावा' की उपपत्ति में हनुमत्पराजयाभाव बताकर 'लै गयऊ' के आगे का चरित्र श्राव्य है। उसके पूर्व कपिबन्धन सुनकर आए मृतराक्षससम्बन्धियों का सभा में पहुँचना सुना रहे हैं इसलिए कि सभी आगन्तुक अपराधी के प्रति न्यायश्रवणाकांक्षी हैं।

चौपाई— ***कपि बन्धन सुनि निसिचर धाए । कौतुक लागि सभाँ सब आए ॥ ५ ॥***

भावार्थ—कपि का कैद होना सुनकर मृत राक्षस-सम्बन्धी तथा अन्य सभी लंकावासी विस्मयपूर्वक सभा में आ पहुँचे।

शास्त्रीय व्याख्या

कपि बन्धन : 'कपिबन्धन' से परिक्लेशात्मक दण्डप्रणयन स्मर्तव्य है क्योंकि अब कपि पूर्णतया आबद्ध है।

सुनि : क्षणभर में सर्वत्र वृत्तान्त फैलना 'सुनि' से स्फुट है।

कौतुक लागि : निर्भय हो अशोक बाग को उजाड़ने वाले, अक्षयकुमारसमेत अनेक राक्षसों का वध करने वाले महाअपराधी का वश में होना अति अद्‌भुत है उसको होने वाला दण्डप्रणयन सुनने हेतु कौतुक होना 'कौतुक लागि' है।

सभाँ सब आए : अभी सभा में सबको आने का प्रतिबन्ध न होने से न्यायश्रवणार्थिसमूह उपस्थित है। अत: 'सभाँ सब आए' कहा है।

सभा कहने की उपयोगिता राजा को कुपथ से रोकने हेतु बताई है। जैसा कि बिभीषण-रावणसंवाद से स्फुट है।

संगति—हनुमान्‌जी रावण के प्रताप की दिदृक्षा से ही सभा में बन्धनपूर्वक आये हैं। तदर्थ शिवजी रावण की सभा का स्वरूप गा रहे हैं।

चौपाई- ***दसमुख सभा दीखि कपि जाई । कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई ॥ ६ ॥***
कर जोरें सुर दिसिप बिनीता । भ्रुकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥ ७ ॥

भावार्थ—हनुमान्‌जी ने दशमुख रावण की सभा देखी तो देव दिक्पाल आदि हाथ जोड़े सभीत नतमस्तक खड़े हो रावण की भ्रुकुटी का अवलोकन करते हुए दिखे। रावण की इस महती प्रभुता का वर्णन नहीं किया जा सकता।

शास्त्रीय व्याख्या

दसमुख सभा : पूर्वजन्म के प्रतापभानु ने दशमुख रावण के स्वरूप में जन्म लिया है। वह वरदृप्त स्वबलायत्तसिद्धिक, भूत-भौतिक वशकर्ता, पूर्वजन्मार्जित धर्मफलभोक्ता, यज्ञविध्वंसक, नरकभयशून्य, भोगविलासी, अन्यायी, एकछत्राकांक्षी, रावण 'दसमुख' शब्द से बोध्य है।

सम्भव है कि अर्थशास्त्रानुसार वर्तमान दिवसीय प्रात:कालीन प्रथम व द्वितीय प्रहर में पौरजानपदकार्य को देखते हुए रावण बैठा हो तभी अशोकवाटिका के रखवालोंद्वारा सूचना मिलने के बाद कपिपराक्रम को सुनकर उसे देखने की जिज्ञासा में सभा स्थगित नहीं हुई हो; क्योंकि यह आपातकालिक सभा है कारण यह कि प्रस्तुत में राजा के प्रति

प्रभुत्वापहार की समस्या उपस्थित है। तत्कर्ता को वध सुनाना राजा के अधीन होने से सभाविसर्जन नहीं हुआ। अतः हनुमान्‌जी को रावणसभा व उसकी प्रभुता दिखाई दी।

दीखि : सभा में सेनापति, मध्यस्थ, प्राड्विवाक उपस्थित हैं उनकी स्वार्थतत्परता, मंत्रार्थकुशलता के अतिरिक्त सहायक लेखक, रावण की प्रभुता, तीक्ष्णता, कार्यक्षमता के अतिरिक्त सभी देवों की विनीतता, सभीतता आदि 'दीखि' के विषय चिन्त्य हैं। एवंच चित्रकूट से भरतजी के लौटने के बाद जिस पीड़ा से ऊबकर देवों ने प्रभु से प्रार्थना की। उस पीड़ा की यथार्थता हनुमान्‌जी की दृष्टि में व्यक्त है।

कहि न जाइ कछु : भूतमात्र को वश करने हेतु एकमात्र दण्ड उपादेय है सोचकर रावण ने तपस्या से प्रभुता प्राप्त की उसकी सीमा न पाना 'कहि न जाइ' है।

रावण निगमागमांकुश से बाहर होने से उसके प्रयोग प्रतिक्षण मनोवृत्ति के भेद से बदलते रहते हैं। इसलिए नीति के प्रति अनिर्णयावस्था होने से इदं इत्थं कहना कठिन है। अतः 'कहि न जाइ कछु' कहा है।

अति प्रभुताई : सबकी स्वतन्त्रता छीनने वाली, श्रुत्यनुगामिधर्माथद्वेष्ट्री, सबको सेवक बनाने वाली, अपमानकर्त्री, ऋषिहिंसारता, दर्पवती, रावणाज्ञा 'प्रभुताई' से बोध्य है।

'प्रभुत्वं तदिति प्रोक्तमाज्ञासैव भयात्मिका'[१] से प्रभुता निर्दिष्ट है। संसार में कोई ऐसा प्रयोजकवृद्ध विद्यमान नहीं है जो रावण के लिए प्रेरक हो यही 'अति प्रभुताई' है।

कर जोरे सुर दिसिप : स्वामी (रावण) असुर विजयी, मानी है उसको सन्तुष्ट रखने का उपाय 'कर जोरे' है। दिक्पालों में (सुर) स्व-स्व देश के प्रभुत्व रावण के द्वारा अनुमोदित होने से वे स्वामी हैं। फिर भी वे रावणराज्य में वे रूढ्या ही संज्ञित है, न कि अवयवतः (दिसि+प) कार्यतः करग्रहीता व हविर्भोक्ता नहीं हैं। इससे सुरसंपत्ति का छीना जाना स्पष्ट है। निग्रहानुग्रहसमर्थ देवत्वजातिमान् 'सुर' हैं। अष्ट दिक्पाल 'दिसिप' से बोध्य हैं। तदुपरिस्थित ब्रह्मलोकादि में रावणप्रताप न होना 'कर जोरे सुर दिसिप' से व्यक्त है।

ज्ञातव्य है कि जिनकी मनोभूमिका क्षिप्त विक्षिप्त या मूढ है वे सभी यहाँ कर ज़ोड़े खड़े हैं उनके लिए कोई रक्षक उपलब्ध नहीं है। निग्रहानुग्रह में समर्थ क्षिप्तभूमिका में रहने वाले देवों की परवशता यही है कि वे वरदृप्त रावण की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर पाते फिर भी कायव्यूह में समर्थ होने से समय-समय पर निगमागमसम्मत श्रीराम की सेवार्थ व उनके कार्यसिद्ध्यर्थ उपस्थित होते रहते हैं। यह भी देवों की एक सुनीति ही है।

बिनीता : देवादिकों ने रावण की सभा में उपस्थित होकर स्व की निर्वीरता, भीरुता, प्रसादाकांक्षता 'बिनीता' से दर्शाई है।

भ्रकुटि बिलोकत : यद्यपि रावण अपराधी कपि के लिए भ्रुकुटि टेढी किए हुए है पर वह देवों के लिए व्याकुलताभावोत्पादक हो रही है।

सकल : देवों की संघशक्ति का नैष्फल्य 'सकल' से ध्वनित है।

सभीता : देवों का भय विनयार्थक न होकर सर्पादिभय के समान अनिष्टशंकात्मक है। प्रस्तुत में कपि का बन्धन देखकर सुरगण चिन्तित हो रावण की भ्रुकुटि देखकर अनिष्ट

---

[१] भावप्रकाशन ७०।८

से आशंकित हो रहे हैं। इससे देवों का संकटमय जीवन हनुमान्जी को ज्ञात होना अशक्य नहीं है। देवों की दीनावस्था का परिचय हनुमान्जी को होना ही 'सभीता' का प्रयोजन है।

अथवा—नागमाता के आशीर्वचन को स्मरण कर देव अभी भयभीत नहीं है तथापि देव नीति के पुरस्कर्ता होने व रावण की प्रभुता का सनमान करते हुए वे 'सभीत' से दिखाई दे रहे हैं।

संगति—परराष्ट्रसभा में किसी प्रकार की शंका न करते हुए उपस्थित रहना दूत का महान् गुण है। उसी को अपनाकर हनुमान्जी के समाधिस्थ देह ने निश्शंकता की पराकाष्ठा दिखाना शिवजी कह रहे हैं जो प्रभु के सत्वप्रचुर प्रताप का संक्रमण है।

चौपाई—देखि प्रताप न कपि मन संका । जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका॥ ८॥

भावार्थ—रावण का प्रताप देखकर हनुमान्जी अनिष्ट से कथंचिदपि आशंकित नहीं हुए। जैसे सर्पों के मध्य में गरुड़जी निश्शंक रहते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

देखि प्रताप : सूरसमूह अंगछेदादि दण्ड की कल्पना में काँप रहा है। किन्तु स्वदास्य कर्म में नियुक्त हनुमान्जी ने रावण के उस प्रताप को कुछ न समझना 'देखि प्रताप' है।

न कपि मन संका : अपराध करने पर भी रावणप्रताप देखकर हनुमान्जी को तत्प्रयुक्त अनिष्ट की शंका न होना 'न कपि मन संका' है।

ज्ञातव्य है कि 'परक्रौर्यात् स्वदुर्नयात् शंका भवति' के अनुसार सभी सुर रावणक्रौर्य से परिचित हैं। हनुमान्जी ने रावण के विरोध में जो भी कार्य सम्पन्न किया है वह रावण की दृष्टि में अपराधरूप दुर्नय है इसका परिणाम क्या होगा? ऐसा सोचकर अनिष्टसम्भावना में देवों को शंका होना निर्विवाद है।

चिन्त्य है कि रावण ने सीतापहरण किया हनुमान्जी ने फलापहरण किया, रावण श्रीराम के प्रति किए अपराध पर सशंकित है क्योंकि उसने निरपराध के प्रति अपराध किया है और सीतादेशपालक मारुति ने श्रीरामचरण को हृदय में रख अपराधी को दण्डित करने के उपक्रम में औचित्यपूर्ण कार्य किया है। इस प्रकार दोनों का अन्तर मन्तव्य है।

अहिगन : 'अहिगन' से लक्षणया रावणपरिवार समझना है। संहारहेतु जो जीव संसार में उत्पन्न हैं वे दन्वादिवंशी असुर, सिंह आदि गिने गए हैं। अहिगण में उनकी सधर्मता स्मर्तव्य है।

गरुड़ : श्रीरामकार्यकारित्वरूप सधर्मता सत्वबहुल गरुड़जी व हनुमान्जी में होने से वे अभय हैं। अतः दोनों ओर शंका न होना सार्थक है। हनुमान्जी में रही शक्तिपर्याप्तता व इतरसापेक्ष न होना भी स्पष्ट है।

निसंका : अनिष्टसम्भावना की पूर्ण लौकिक सामग्री उपस्थित रहते हुए भी अनिष्टसम्भावना न करना 'निसंका' है। यह सत्त्व का पूर्ण चिह्न है जो समाधिस्थ सत्त्वाधिष्ठान का फल है।

अथवा— 'निसंका' से शंकिता दृष्टि का अभाव समझाया है। हनुमान्जी मिथ्याभाषी प्रतारक नहीं हैं यत: श्रीरामचरणचिन्तनरूप मणि उनको ऐसा प्राप्त है जो शंका का

प्रतिबन्धक है।

संगति—दोहा १९।२ चौपाई की उक्ति की पूर्णता करते हुए दण्डप्रणयन सुनाने के पूर्व अपराधी ने किए अपराधद्वय के अन्तर्गत स्वीयप्रभुत्वापमान एवं अक्षयवध को स्मरण करने का रावण पर हुआ प्रभाव शिवजी सुना रहे हैं।

दोहा— कपिहि बिलोकि दसानन बिहसा कहि दुर्बाद।
सुतबध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदयँ बिषाद॥ २०॥

भावार्थ—कपि की ओर देखकर रावण हँसा व दुर्वचन कहने लगा, किन्तु पुत्रवध याद आने पर उसके हृदय में विषाद छा गया।

शास्त्रीय व्याख्या

कपिहि : कैदी होते हुए भी निश्शंक हनुमद्देह 'कपिहि' से बोध्य है।

अथवा—जिस जिज्ञासा में बन्दर को बाँधकर लाने का आदेश मेघनाद को रावण ने दिया था उस जिज्ञासा का विषय 'कपिहि' से बोध्य है।

बिलोकि : निज प्रभुत्व पर आँच देने वाले कपि को देखकर असुर विजयी राक्षसेन्द्र को क्रोध होना स्वाभाविक ही है। अत: यहाँ रावण का देखना क्रूरतापूर्ण है।

बिहसा : रावण की उद्धत प्रकृति व नीचता का चरमोत्कर्ष 'बिहसा' सें स्पष्ट है।

कपि को देखकर रावण की समझ में आया कि कपि ने मुझको बलहीन समझकर सैनिकोंसहित पुत्रवध किया पर ऐसा नहीं है; क्योंकि आगमतन्त्र दुर्बल नहीं है इसमें प्रमाण कपिबन्धन है फिर भी वानर अशंक है। इस भ्रान्ति पर उसका हँसना 'बिहसा' है।

दुर्बाद : ज्ञातव्य है कि क्रोध की द्वितीयावस्था 'दुर्बाद' से स्पष्ट है क्योंकि तत्त्वजिज्ञासा व माध्यस्थ्य से शून्य, न्यायसूत्रोक्तसंवाद न होना 'दुर्बाद' से उक्त है।

सुरति : चिन्त्य है कि कपिबन्धन देखकर फलप्राप्ति की कल्पना में क्रोध का आवेग उतरने से सुतवध स्मृत होना 'सुरति' है।

बिषाद : रावण को सुतवध के विषाद का अवसर अभी प्राप्त हुआ है; क्योंकि अभी तक शत्रु को परास्त करने की चिन्ता बनी थी जो विषाद को प्रतिबन्धित कर रही थी। वह चिन्ता समाप्त हुई, फलत: विषाद ने आ घेरा परिणाम यह हुआ कि ओज का नाश का प्रारम्भ हुआ। यहीं से दैव ने अपना प्राबल्य दर्शाया। यही रावण के पुरुषार्थ की समाप्ति का प्रथम बिन्दु है।

ज्ञातव्य है कि १९।१ में अक्षयकुमारवध सुनकर तत्प्रयुक्त पीड़ा वर्णित नहीं हुई, क्योंकि युद्ध चल रहा था, अभी युद्धविश्राम हो गया है। इसलिए सुतवधजपीड़ा अभी सुना रहे हैं।

संगति—रावण विषाद को छिपाता हुआ विषयान्तर प्रस्तुत कर रहा है। वह यह कि बन्धन का प्रतीकार करने की योग्यता न होने पर भी कपि की अशंकता को देखते हुए विस्मय में रहा रावण परराष्ट्र में फँसे अपराधी से उसके अशंकता की उपपत्ति पूछ रहा है।

चौपाई—कह लंकेस कवन तैं कीसा?। केहि कें बल घालेहि बन खीसा?॥ १॥
की धौं श्रवन सुनेहि नहि मोहीं?। देखउँ अति असंक सठ तोही?॥ २॥
मारे निसिचर केहिं अपराधा?। कहु सठ! तोहि न प्रान कइ बाधा?॥ ३॥

भावार्थ—कपि की ओर देखकर रावण ने पूछा कि हे बन्दर! तुम कौन हो? किसके बल से वन को उजाड़ा है? क्या तुमने मेरा नाम नहीं सुना है? तुम्हें निश्शंक देख रहा हूँ, तुम्हें भय क्यों नहीं है? राक्षसों को किस अपराध से मारा? क्या तुम्हें प्राण प्यारे नहीं है?

शास्त्रीय व्याख्या

कह लंकेस कवन तैं कीसा : ज्ञातव्य है कि न्यायालय के कार्य का गौरव व स्वयं की उपरिश्रेष्ठता को ध्यान में लाकर रावण ने विषाद को तिरोहित कर प्रश्न पूछना आरम्भ किया। तदन्तर्गत कपित्वादिसामान्यधर्मावच्छिन्न का परिचय होने से क्रमशः विशेषधर्म जिज्ञासित हैं। उनमें प्रथम जिज्ञासा नामपरक है।

राजकीय कर्म में व्यवहारार्थ नाम की अपेक्षा होती है। अतः रावणद्वारा प्रथमतः हनुमान्जी का नाम जिज्ञासित है।

केहि कें बल घालेहि बन खीसा : दूसरा प्रश्न है कि किसके शासन से बाग उजाड़ा? आशय यह कि बाग उजाड़ने में विमृश्यकारिता स्वयं प्राप्त है तो तुम वैसा कहो। यदि परबलप्रयुक्त हो तो वैसा कहो जिससे वह शत्रु उच्छेद्य होगा। फलतः तुम अपराधी न होगे यतः तुम आज्ञापालकमात्र हो। 'बल' से मन्त्रोत्साहप्रभुत्वविशेष विवक्षित हैं जो किसी के द्वारा उच्छेद्य नहीं है। आशय यह कि रावण ने संसार के समस्त बलों को अपने में केन्द्रित कर रखा है अतः अनुच्छेद्य बलविशेष जिज्ञास्य है जो रावण में केन्द्रित नहीं है। इस प्रकार स्व (हनुमान्जी) या पर के द्वारा प्राप्त बल को देखकर की हुई विमृश्यकारितासम्बन्धी दूसरा प्रश्न पूर्ण है।

घालेहि बन खीसा : स्व-परान्यतरबलप्रयुक्त विमृश्यकारिता नहीं है तो फलनाश की असम्भूति 'घालेहि' से ध्वनित है।

'घालेहि' वृक्षोत्पाटनार्थक घाल धातु है। 'बन' से अशोकवन चिन्त्य है।

हनुमान्जी के मनस् में सशंक व बाहर से उन्हें अशंक समझकर अशंकता की अवहित्था समझते हुए रावण 'खीसा' प्रश्न पूछ रहा है। इस प्रकार तीसरा प्रश्न पूर्ण है।

की धौं श्रवन : 'खीसा' प्रश्न का कारण 'की धौं श्रवन' है। भाव यह कि क्या तुमने (हनुमान्) मेरा (रावण) नाम न सुनकर वन में प्रवेश किया है? यह चौथी जिज्ञासा है।

मोही : तीक्ष्णदण्डधारी राजा, ब्रह्मसृष्टमात्र को वश में रखने वाला रावण 'मोहि' से ज्ञातव्य है।

देखउँ अति असंक : रावणविषयकश्रवणकर्तृत्वाभाव को कपि में अनुमेयतया समझने हेतु तत्साधकतया स्थिर शंकाभावात्मक हेतु को देखना 'देखउँ' है। कहना यह है कि स्वपरान्यतर-प्रभुत्वजतेजस्-मन्त्रोत्साह बलोपचय के साथ शक्तिदेशकालसम्बन्ध से युक्त हनुमान्जी शंकासामान्याभाववान् दीख रहे हैं। जो 'अति' शब्द समभिव्याहार से स्फुट है। उक्त श्रवण-कर्तृत्वाभावसाधकतया 'अति असंक' हेतु से हनुमान्जी में बुद्धि का अष्टम गुण होना लक्षित है। किन्तु यह हेतु तुम (हनुमान्जी) में वस्तुगत्या है या बाधित है ऐसी पंचम जिज्ञासा है।

सठ : चर बनकर तुमने अनेक अपराध किए हैं जिससे तुम्हें शंका होनी चाहिए थी

पर तुम्हारा अशंक होना 'सठ' से स्पष्ट है।

तोही : शंकाशून्य हनुमान्जी तच्छब्दार्थ हैं।

निसिचर केहि अपराधा : 'निसिचर' से मौल व भृत सैन्य ध्यातव्य है। दोहा १८।२ में जिन्हें मारा है उनके अपराध के सम्बन्ध में 'मारे निसिचर केहि अपराधा' से रावण पूछ रहा है।

अथवा—यदि हनुमान्जी की दृष्टि में निशिचरसंहार अपराध नहीं है तो उन्होंने राक्षसापराध सिद्ध करना होगा। इस अभिप्राय से 'केहि अपराधा' कहा है। यह छठी जिज्ञासा है।

कहु सठ : अशोकवाटिका की रखवाली में नियुक्त व रावणद्वारा भेजे गये निरपराध सैनिकों को मारने से हनुमान्जी के लिए देहान्त दण्ड होना आसन्न है फिर भी वे अशंक हैं अत: विस्मयकर्ता रावण 'कहु' से अन्तिम प्रश्न आरम्भ कर रहा है।

'सठ' इसलिए कि भीतर से प्राण प्रिय है और उसके वियोग में दु:ख है किंतु बाहर से हनुमान्जी अशंक बने हैं।

इस प्रकार रावण ने हनुमान्जी में पूर्ण दूतत्व दर्शाया है क्योंकि प्राणबाधा में भी दूत को निर्भय रहने का विधान है।

तोहि : चर कार्यकारी हनुमान्जी तच्छब्दार्थ हैं।

न प्रान कइ बाधा : रावण ने मृत्युभय से अपनी सुरक्षा वरदान से कर ली थी। इससे वह यह समझ रहा है कि अपने समान सबको जीवन प्यारा है। तदर्थ प्राणप्रिय व्यक्ति ने मर्यादा रखनी होगी। उसके अतिक्रमण में मृत्यदण्ड ही लंका में मुख्य माना गया है। उससे सबको भय था। वह भय बन्दर के सामने उपस्थित है फिर भी वह अशंक है। फलत: इस बन्दर के लिए कोई और प्राण से अधिक प्यारा है। परन्तु वानर को पशुस्वभाव का समझकर उसे रावण ने 'प्रान कइ बाधा' पूछा है। इस प्रकार सारी जिज्ञासाएँ पूर्ण हैं।

संगति—रावणद्वारा अशंकतानुमित विमृश्यकारिता व बलसम्बन्धी प्रथम प्रश्न का उत्तर हनुमान्जी सुना रहे है।

चौपाई— ***सुनु रावण! ब्रह्मांड निकाया । पाइ जासु बल बिरचित माया ॥ ४ ॥***
जाकें बल बिरंचि हरि ईसा । पालत सृजत हरत दससीसा ॥ ५ ॥
जा बल सीस धरत सहसानन । अंडकोस समेत गिरिकानन ॥ ६ ॥
धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता । तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता ॥ ७ ॥
हर कोदण्ड कठिन जेहिं भंजा । तेहि समेत नृपदल मद गंजा ॥ ८ ॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली । बधे सकल अतुलित बलसाली ॥ ९ ॥

दोहा— *जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।*
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥ २१ ॥

भावार्थ—हे रावण! सुनो—माया जिसके बल से ब्रह्माण्डसमुदाय रचती है। जिसके बल से ब्रह्मा, विष्णु, महेश गिरिकाननसमेत अण्डकोष का सर्जन, पालन एवं संहार करते हैं जिसने सुरत्राणार्थ अनेकों देह धारण कर तुम्हारे जैसे शठों को शिक्षा दी है। जिसने

शिवचाप को भंगकर तुम्हारे सहित सभा में उपस्थित राजाओं का मद समाप्त किया है। जिसने खरदूषण, त्रिशिरा व वाली का संहार किया। जिसमें अतुलित बल पूर्ण है उसमें से थोड़े-से बल को प्राप्त कर तुमने सारे जगत् को जीता है एवं जिसकी भार्या को तुमने चुरा लाया है मैं उसका दूत हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनु रावन : विमृश्यकारिता में अपेक्षित परामर्श के समय रावणोक्त बल की उपपत्ति में श्रीरामको सर्वाधिक बलशाली समझाना है तदर्थ सावधान करने के लिए 'सुनु' कहा है।

रावण शब्द से त्रैलोक्याधिपति दिक्पालवशकर्त्ता रावण समझना है।

ब्रह्माण्ड निकाया : 'ब्रह्माण्ड निकाया' का अन्वय 'रचहि' से कर्मकारकतया है। 'निकाया' अनन्त का वाचक है। 'निकाया' कहकर हनुमान्जी श्रीराम को अनेक ब्रह्माण्ड-समुच्चय का स्वामी कह रहे हैं इसलिए कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डनिर्मिति में अनेक सर्वज्ञ-कर्त्ता न होकर एक ही लाघवात् क्लृप्त हैं।

जासु बल : स्वयंभुपुत्र मनुजी से प्रमाणित, सतीजी से सम्बन्धित दिव्यलीला कथा के नायक दशरथपुत्र श्रीराम 'जासु' से ज्ञातव्य हैं।

बिरचित : अनेकविध ब्रह्माण्डरूप शरीरनिर्माण का श्रम ईश्वर में न होकर उनकी संकल्पशक्तिरूप इच्छाशक्ति में है; क्योंकि वह गुणी से पृथक् रूप से भासित है वही रचयित्री है। यह तथ्य '**अजामेकां**' श्रुति से प्रमाणित होने से निस्संदिग्ध है।

माया : 'माया' कहने से एक से दो होने की उपपत्ति व निर्गुण से सगुण होने की उपपत्ति स्फुट की है। इसमें कोई किसी का विरोधी नहीं है सब ईश्वर की क्रीड़ामात्र है। माया में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति का मिश्रण होना भी स्फुट है। जैसा कि '**स तपोतप्यत व्याकुरुत तदैक्षत**' व्याकरणवाणी से समझाया गया है।

जा के बल : कर्मकाण्ड व उपासनाकाण्ड में तो विष्णुजी व महेशजी को स्वातन्त्र्येण बलिष्ठ कर्ता कहा है उसका समाधान 'जा के बल' से कहा है।

रघुपति को रक्षकरूप में प्राप्त करना 'बल' है। जैसा कि '**यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः**'[१] में उक्त है।

बिरंचि हरि ईसा : ब्रह्मा रजोगुणावच्छिन्न चित् हैं। हरि सत्वगुणावच्छिन्न चित् हैं। ईश तमोगुणावच्छिन्न चित् हैं। निर्गुण श्रीराम सर्वत्र अनुस्यूत हैं। अर्थात् त्रिदेव सामन्त हैं श्रीराम चक्रवर्ती हैं उनके रक्षकत्व में तीनों देव गुणविशिष्ट होने पर भी सदा दासभाव में रहने से मोहवश नहीं होते। यही 'बिरंचि हरि ईसा' का भाव है।

पालत सृजत हरत : 'पालत' आदि गुण त्रिदेवों के लक्षण हैं। इनका व श्रीराम का भेद स्वायंभुव मनु के द्वारा प्रमाणित है।

दससीसा : नीतिविरोध चरम सीमा पर पहुँचने से तुम्हारे आगमबोध्य उपास्य अब निगमागमसेवी का विरोध नहीं कर सकते फलतः वह शक्ति क्षीण हो गई। इसको 'दससीसा' से ध्वनित किया है।

---

१. श्रीमद्भागवत २।६।३३

जा बल : वैदिक मत से सम्पूर्ण कार्यों के प्रति अनुगत रूप से शक्तिमत्वेन ईश्वर में कारणत्व माना है। शक्ति तेजोरूपा है वह एकमात्र प्रभु में केन्द्रित है उसके किरण जिसको जितनी रूप में प्राप्त होते हैं वह वैसा-वैसा कार्य करता रहता है यह कारणता शक्ति से बता रहे हैं। 'बल' से काल विवक्षित है जो बाहर रहकर बनाता बिगाड़ता रहता है।

धरत सहसानन : 'धरत' से आधारशक्ति समझनी है। नियन्त्रित शक्तिमत् देवों के द्वारा सुरक्षित भूमण्डल को एकत्र स्थिर न रखा जाता तो यह एक स्थान पर स्थिर कैसे रह पाता। इस पर विचार करते हुए विद्वान् भूमण्डलाधार के रूप में सहस्रानन को मानते हैं। पुराणों अनेक रूप में शेष, कूर्म, वराह, संकर्षण नाम से आधार शक्ति विभाजित है उसका कारण उपासना है। हनुमान्जी की उपासना शेष तक ही सीमित है अतः उन्होंने शेषजी को आधार कहकर उसे बताया है। विवेकी विद्वान् जहाँ पहुँचकर विश्रान्त होते हैं उसी को वे अन्तिम बिन्दु कहते हैं उसके आगे ईश्वर को नियामकरूप में स्वीकार कर वे मौन हो जाते हैं। यहाँ पर हनुमान्जी ने आधारशक्ति का विवेचन करते हुए अन्तिम बिन्दु शेषजी को माना है उनको इस ब्रह्माण्डपिण्ड में वे ही भासित हैं। उसके आगे वे नियामक रूप में श्रीराम को समझ कर मौन हैं।

अण्डकोस : 'नामैकदेशे नाम ग्रहणं' इस नियम से 'अण्डकोस' से ब्रह्माण्डगोल विवक्षित है।

समेत गिरि कानन : 'समेत' को 'गिरि कानन' से समन्वित करना है इस विशेषण से भूभार ध्वनित है।

धरइ जो : साक्षी तुरीय ने अपने में असीम शक्ति को रखने का फल यह है कि प्राणियों में जब मानमदाक्रमण से धार्मिकपवित्रता, नैतिकपवित्रता क्षीण होती है तब वे दण्डभय से भी दूर होते हैं। किंबहुना सत्व गुण क्षीण वैसे प्राणी एक हो वर्णाश्रमागम को डुबाने में कटिबद्ध हो जाते हैं। उस अवस्था में ईश्वर पुनः उनको दण्ड देकर लोकयात्रा की व्यवस्था करते हैं। उसी को 'धरइ जो' से कहा है। यह उक्ति देव सभीतों के आश्वासनार्थ है।

देह : पाणिवेद्य प्रभुशरीर करणविधया भगवल्लीला में अंगभूत है। उसका प्रयोजन कथामृतपान है। ज्ञातव्य है कि **'अन्धो मणिमविन्दत्'** होने से प्रभु को देहादि करण की अपेक्षा नहीं है, फिर भी सृष्टि की रचना एवं भक्तों को सुख देने हेतु शरीर धारण करना उपपन्न है।

सुरत्राता : उपासक उपास्य से कैसा भी वर प्राप्त करे यदि वह देवादेशों को अभिमान में उल्लंघित कर अन्यायी होता है तो साक्षी देव परमात्मा देहधारी हो सुरों की सुरक्षा करते ही हैं। दुष्टों को दण्डित करना उनका आनुषंगिक कर्म है। अतः परमात्मा को 'सुरत्राता' कहा है।

तुम्ह से : असुर, अधम, अभिमानी, आसुरी संपत्तिसंपन्न रावण 'तुम्ह' सें विवक्षित है। 'से' से अन्य आसुरभूभार समझना है।

सठन्ह : हनुमान्जी ने यहाँ सहज़सधर्मा की चर्चा की है। भाव यह कि जो जीव विनीतभाव में रहकर उपासनाद्वारा न्याय के प्रति विश्वासारम्भमें प्रगट कर बाद में विपरीत

कर्म करते हैं वे सभी 'सठ' से समझने हैं।

यहाँ रावण को शठ इसलिये कहा क्योंकि वह देवों से वर लेकर उन्हीं से द्वेष करता है। जिस तपस्या और धर्म को अपना कर वह त्रैलोक्यविजयी हुआ उसी को नष्ट करने में वह तत्पर है।

सिखावनु दाता : पूर्वार्जित भाग्यसंपत्ति पर आश्रित रावण अपने को अमर समझ रहा है यह उसका भ्रम है; क्योंकि धार्मिक या अमर व्यक्ति नैतिक शुचिता से च्युत होता है तो वह दण्ड्य है। अतः रावण वध्य होगा तो आश्चर्य नहीं। इस तथ्य को 'सिखावनु' से ध्वनित किया है।

हर कोदण्ड : 'हर कोदण्ड' कहकर हनुमान्‌जी रावण को याद दिला रहे हैं कि जिसको तुम तथा सहस्त्रों राजा हिला नहीं सके, उसको उन्होंने तोड़ दिया।

निगमागमसम्मत, मानसप्रतिपाद्य व सतीजी ने अवलोकित श्रीराम ने पातालादिविजेता (रावण) को पराजित न करने से हनुमान्‌जी ने मेरे पराजय की कल्पना कल्पित करना मात्र श्रद्धा कही जायेगी। इसके उत्तर में हनुमान्‌जी ने 'हर कोदण्ड' कहा है।

कठिन : सीताजी को वरने की आशा में हजारों राजाओं ने एक साथ दण्डभंग के लिए प्रयत्न करना अन्याय है तो भी उनके गर्व को निरस्त करने हेतु चाप ने स्वयं कठिन होना 'कठिन' का भाव है।

भंजा : सभी राजा स्वयंवर के उद्देश्य से आए थे किन्तु श्रीराम गुरुसेवा में रहते उन्हीं के साथ मिथिला पहुँचे थे। गुर्वादेश से ही श्रीराम ने चापभंग करना 'भंजा' से ज्ञात है।

नृपदल मद गंजा : स्वयंवर में उपस्थित राजाओं का समूह 'नृपदल' है उनका अविनय 'मद' से बोध्य है। नम्रता का अभाव ही 'गंजा' का निष्कर्ष है।

ध्यातव्य है कि 'नृपदल मद गंजा' कहकर श्री मुनिवर परशुरामजी विवक्षित नहीं हैं। यतः उन्होंने मदयुक्त न होना हनुमान्‌जी को विदित है।

खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली : खर दूषणादि सभी निगमागमसेवकेतरों को दी हुई शिक्षा सुना रहे हैं जिनको रावण जानता है। 'बाली' रावण का शत्रु होने से उसका पृथक् कीर्तन है।

ज्ञातव्य है कि राजन्य वर्ग व खरदूषणादि के पृथक् नामकीर्तन से श्रीराम में दो कर्तृत्व समझाये हैं—प्रथम तत्तद् राजाओं के मद का अपसरण व गुणवर्धनपूर्वक राजप्रतिष्ठा के प्रति है। परिणाम में धर्मप्रतिष्ठापूर्वक नैतिक स्थापना होनी है। निष्कर्ष यह कि श्रीराम ने इस प्रकार नीतिमत्ता की किं राजाओं को मद से विरत कर उनको प्रीतिपूर्वक धर्मादेशप्रवृत्ति के साथ स्वस्वराज्य में प्रतिष्ठापित किया। यह एक धर्मप्रतिष्ठा है। दण्डकवन को राक्षसशून्य करना रघुवंश के चक्रवर्तित्व की पुनः स्थापना करना दूसरी प्रतिष्ठा है।

अतुलित बलसाली : खर, दूषण, त्रिशिरा व वाली के अतुलबल से रावण परिचित है उनकी शक्ति का सामना करने का सामर्थ्य रावण में नहीं था फिर भी उसे 'दिग्विजेता' की उपाधि प्राप्त है। यतः प्रभु ने लंका का सार्वभौमत्व ज्यों-का-त्यों बना रखा है जो ब्रह्मदेव की कृपा है। इतना तो सत्य है कि रावण ने प्रथमतः यह अनुमान किया था कि 'उपस्थितो विजिगीषू रामः न प्रभुः व्यसनित्वे सति कामपीड़ितत्वात्' इसके उत्तर में

'अतुलित बल साली' कहकर हनुमान्‌जी ने यह समझाया कि 'श्रीरामो न व्यसनी विषादी वा किन्तु प्रभुः मानवविशेषः खरदूषणत्रिशिरोवालिवधकर्तृत्वात्'।

ज्ञातव्य है कि शक्तिमानों की शक्ति जहाँ पंगु होती है वहीं से श्रीराम के बल का प्रारम्भ होता है। जैसे—निगमागमसेवकों के प्रति प्राकृतिक नियमों को तोड़कर नूतन प्रणाली बनाना श्रीराम का कौतुक है यही श्रीराम की बलराशि का अतुलितत्व है। देवों की तरह उनके बल की सीमा न होना अतुलित बल है।

बल लवलेस : 'बल' ईशसमेवत उत्साहशक्ति व क्रियाशक्ति है। उसका लवांश प्राप्त करना 'बल लवलेस' से समझना है। रावण का घोर तपस् उसका बल है पर वह लवमात्र है; यतः लक्षावधि वर्षों तक तपस्या कर ईशप्रसाद न पाकर उसने हठयोगपूर्वक कठोर नियमों का यथावत् पालन किया फलतः आगम ने अपने को प्रमाणित रखने हेतु बल का लवलेश प्रदान कर वर के बहाने युक्ति से उसे तपोविरत कर दिया। अभी तक वह उसी लवलेश का भोक्ता बना रहा। श्रीराम के पूर्ववंश में बत्तीसवें पूर्वज राजा अनरण्य को मारने के बाद उसकी शापोक्ति[१] के अनुसार श्रीरामावतरण होने के अनन्तर अब वह समाप्ति की ओर झुक रहा है अर्थात् वह लवलेश अवीर्यवान् हो गया है इसका उदाहरण लक्ष्मणरेखा को पार न कर पाना है।

ते : अतुलित बलराशिविशिष्ट श्रीराम तच्छब्दार्थ हैं।

जितेहु चराचर झारि : चराचर को स्वायत्त कर विजय प्राप्त करने का परिणाम आसुरी अहंकार है उसके वश में आकर रावण ने धर्म व नीति को ठुकराया है।

तासु दूत मैं : यत् शब्द से सामर्थ्य व स्वतन्त्र्य बोधकादि जिन-जिन विशेषणों से प्रभु संकेतित हुए वे तद्विशेषण विशिष्टतया तच्छब्दार्थ हैं। परिणाम में मीमांसोक्त ग्रहाधिकरण न्यायोक्त ग्रहगत एकत्व की अविवक्षा के समान यहाँ उद्देश्यतावच्छेदक विशेषण अविवक्षित हैं ऐसा नहीं है।

'दूत' कहकर हनुमान्‌जी ने अपने में भरतजी के समान स्व में सदा प्रेर्यत्व दर्शाया है।

'मैं' से अमात्य की गुणराशि में से पादत्रयगुणवान् परिमितार्थ दूत ज्ञेय हैं।

जा : लंकायामागमनं प्रति प्रेरक श्रीराम 'जा' शब्दार्थ हैं।

हरि आनेहु : चौर्यकर्म से रावण ने माता सीताजी को ले जाने की इच्छा उनके सामने ध्यात कर सीताहरण करना 'हरि आनेहु' का भाव है।

ज्ञातव्य है कि सीताजी (पतिव्रता) को लंका में लाना असम्भव था। इसलिए रावण ने उनसे प्रार्थना की है, तथापि लोक में वह नीतिदृष्ट्या हरण ही है।

प्रिय नारि : पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम से रहते वनवास पूर्ण न होने की अवधि में बाधा पहुँचाकर व गंगावचन को अप्रमाण करने की चेष्टा कर श्रीसीतारामजी को विप्रलम्भ में पहुँचाना 'प्रिय-नारि' का भाव है। यह तुम्हारा ही महान् अपराध है। इस प्रकार रावण कृत आदिम दो प्रश्न उत्तरित हुए।

संगति—रावणकृत तीसरे प्रश्न से छठें प्रश्नों तक का उत्तर हनुमान्‌जी सुना रहे हैं

---

[१] वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड १९।३०

जो अग्रिम ग्रन्थ की आकांक्षा के उत्पादक हैं।

चौपाई—जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई॥ १॥
समर बालि सन करि जसु पावा। सुनि कपि बचन बिहसि बिहरावा॥ २॥
खायउँ फल प्रभु लागइ भूखा। कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा॥ ३॥
सबकें देह परम प्रिय स्वामी। मारहिं मोहि कुमारग गामी॥ ४॥
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे। तेहि पर बाँधेउ तनयँ तुम्हारे॥ ५॥
मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउ निज प्रभु कर काजा॥ ६॥

भावार्थ—मैं तुम्हारी प्रभुता को जानता हूँ सहस्रार्जुन से तुमने युद्ध किया था। वालि के साथ युद्ध करके तुमने कौन-सा यशस् पाया? तब रावण ने हँसकर उसे अनसुनी कर दिया। तब हनुमान्जी ने कहा कि भूख लगने से मैंने फल खाये और कपिस्वभाव होने से पेड़ों को तोड़ा। तदनन्तर कुनीतिगामियों ने मुझे मारा अपना देह सबको प्रिय होता है अत: मैंने भी उन्हें मार दिया। तुम्हारे पुत्र मेघनाद ने मुझे बाँध लिया किन्तु मैं किसी के बन्धन में नहीं आ सकता। अभी जो बँधा हूँ वह प्रभुकार्य से। इसलिए मुझे बँधने की कोई लज्जा नहीं है न शंका ही है। मैं तो अपने प्रभु का कार्य सिद्ध करना चाहता हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

जानउँ मैं तुम्हारि : 'की धौं श्रवन' कहकर रावण ने दोहा २१। १ चौपाई में पूछा था। अभी हनुमान्जी छल से 'जानउँ' से उत्तरारम्भ कर रहे हैं। यह प्रयोग कण्टकशाखावरण के समान रावण को लज्जित करने हेतु है। रावण की जयप्राप्त कीर्तिसूचक की सीमा सहस्रबाहु व वालि के इतिहास से वेद्य है। '**बलवत्तरं प्रहर्तुं प्रवृत्ति: शौर्यं**' की चरितार्थता रावण में नहीं है। युष्मच्छब्दार्थ सहस्रबाहुद्वारा पराजित रावण है।

प्रभुताई : 'कोशदण्डजं तेज: प्रभुत्वं' यह सब तुम्हारा सहस्रबाहु के सामने अभिभूत हो गया; क्योंकि उसके पृष्ठबल में दत्तात्रेयजी थे। यहाँ तो स्वयं प्रभु ही विजिगीषु हैं। वे तुमको जीतने वाले (सहस्रार्जुन) को जीतने वाले (परशुराम मुनि) को जीत चुके हैं।

लराई : सहस्रार्जुन की लड़ाई क्रीड़ास्थलीदेशापहारनिमित्तक है।

बालि सन : 'बालि सन' से अभिमानिद्वय (रावण-वालि)का युद्ध हनुमानजी याद करा रहे हैं। यह हनुमद्रावण वाक्युद्ध शत्रुबल विवरणात्मक है।

जसु पावा : विरोधिलक्षणया 'जसु' शब्द अपयशोर्थक है। 'जसु' शब्द आभिमानिक सुखार्थक है उसका न रहना अपयशस् है। जीवन में थोड़ा भी अनौचित्य होता है तो यशस् समाप्त होता है; क्योंकि वह (यशस्) तो जीवनान्तर अर्जयितव्य है। इसलिए दृष्ट व श्रुत इतिहास में 'जसु' कहना विचारणीय है। 'जसुपावा' से कपि ने तीसरे प्रश्न का उत्तर सुनाया है।

सुनि कपि बचन : कवि ने रावण के शरीरगत अनुभावों को प्रकट कराना 'सुनि' से व्यक्त है। उसमें वीरोचित अभिमानाभाव व रौद्रमनोवृत्तिप्रयुक्त आर्थिक दुरभिमान दर्शाना चिन्त्य है।

अथवा—'सुनि' कहकर रवण ने विवेकपूर्वक नीति को न समझना ध्वनित किया

क्योंकि जैसे वालि व सहस्रार्जुन से रावण ने सन्धि की थी वैसी ही सन्धि रावण यदि श्रीराम के साथ करता है तो अशुभवासना का उन्मूलनरूप अधिक फल होना निर्णीत है।

अथवा—'सुनि कपि बचन' से रावणद्वारा उत्तर प्राप्त होने के पूर्व ही शिवजी प्रसंग के अतिरिक्त विषय सुना रहे हैं इसकी उपपत्ति यह है कि रावण के लिए (जसु पावा) उक्त कपिवचन लज्जावह नहीं हो रहे थे क्योंकि नीति में सन्धि-विग्रह होते ही रहते हैं। अतः कपि ने रावण की प्रभुता को निर्वीर्य ठहराना उचित नहीं यदि कपि उचित समझते हैं तो यह उनका भ्रम है, क्योंकि देव सभीतपूर्वक नतमस्तक हो सभा में उपस्थित ही हैं। उस अवस्था में रावण की प्रभुता में कोई आंच नहीं है। किंबहुना कपि को ही मूर्ख समझकर रावण उन पर हँस पड़ा।

अथवा—'कपि बचन' कहकर शिवजी रावण का मुमूर्षुत्व (आतुरत्व) ध्वनित कर रहे हैं (क्योंकि आतुर प्राणी विवेक खो देता है), अतः उसने सन्धिपरामर्शयुक्त कपिवचन पर विचार नहीं किया।

बिहसि बिहरावा : रावणपक्ष से कहना है कि मेरा वध मनुष्य से होना है कपि तो श्रीराम में प्रभुत्व सिद्ध कर रहा है तब तो मैं अवध्य हूँ ऐसी स्थिति में सन्धि प्रसक्त नहीं है। फलतः विग्रह करना ही होगा। इस मर्म को हनुमान्जी ने न समझना 'बिहसि' का भाव है। उपेक्षा करना 'बिहरावा' है।

बिहसि में रावण की भ्रान्ति

चिन्त्य है कि रावण का उक्त निर्णय भ्रान्तिपूर्ण है। अरण्यकाण्ड में प्रभु ने सीताजी से मर्त्यलीला प्रारम्भ करने की चर्चा की है जो करुणविप्रलम्भात्मक है। यह मर्त्यलीला सत्य न होकर अभिनयमात्र है। तथापि श्रीराम जात्या मनुष्य नहीं हैं। यतः श्रीराम ने जन्म से ही शास्त्रप्रमाण्याभ्युपगंतृत्व प्रगट किया है अतः उनमें मानुषत्व बाधित नहीं है। इस रहस्य को उपेक्षित कर रावण ने हँसना उसकी भ्रान्ति है।

खायउँ : 'खायउँ' से फल भोजन स्वीकार करना समझना है।

प्रभु : 'प्रभु' सम्बोधन स्वामी रावण के लिए है।

लागी भूखा : 'लागी भूखा' से अवंचना स्मर्तव्य है।

कपि सुभाव : कपि का नैसर्गिक धर्म चपलता, अविमृश्यकारिता होने से वानर कभी भी विमृश्य कार्य नहीं करता। तदधीन होकर पेड़ की शाखा तोड़ी तो उसमें विस्मय नहीं है। अतः बन्दरों के लिए शाखा तोड़ना अपराध नहीं है न तो वे दण्ड्य ही हैं।

सबके देह : पूर्ण समाधिस्थित व्यक्त्यतिरिक्त जिन जीवों का देह क्रियावान् होता है वे सभी जीव जीवनयोनि यत्न के माध्यम से चलने वाले जीव 'देह' से यहाँ ग्रहीतव्य हैं।

परम प्रिय : शरीर सर्वदैव दास हो स्वामी जीव की इच्छा पूर्ण करता है परिणाम में देह पर जीव ने आत्मत्व (ऐक्य) की भावना बनाए रखना 'परम प्रिय' है।

स्वामी : आप (रावण) भी अपने देह के स्वामी होकर स्वदेह को प्रिय मानते ही हैं। तत्तुल्यता हनुमान्जी ने अपने में समझाना स्वामी से स्फुट है।

मारहिं मोहि : देह पर ढेला, हाथ, हथियार आदि से प्रहार करना 'मारहिं' से बोध्य

है। यही उनका अपराध है। परमप्रिय देहवान् हनुमान्‌जी का शरीर मच्छब्दार्थ है।

कुमारग गामी : 'कुमारग' से दुश्शील होना समझाया उसी के अनुगन्ता 'कुमारगगामी' हैं। नीतिच्युति कुमार्ग है। नीति में रहना जगन्मात्र का धर्म है जो अहिंसादि आठ साधारण धर्म कहे जाते हैं। उनके विपरीत आचरण होना कुमार्ग है।

जिन्ह मोहिं मारा : 'मारहिं मोहि' का परिणाम 'जिन्ह' आदि पूर्वार्ध से सुना रहे हैं। 'जिन्ह' से प्रहर्तामात्र विवक्षित हैं। परिणाम में बन्धनकर्त्ता का व्यावर्तन ध्वनित है। 'मोहिं' से प्रहार प्रभूत पीड़ा से पूर्व ही आत्मत्राण करने वाले हनुमान्‌जी ज्ञातव्य हैं।

ते मैं मारे : 'जिन्ह मोहिं मारा' को विफल करने के उद्देश्य से प्रत्युत्तर रूप में 'ते मैं मारे' कहा है। यह प्रतिप्रहार धर्मयुद्ध है यतः हनुमान्‌जी कुमार्गगामी नहीं हैं। इस प्रकार मारने के ३—५ प्रश्नों का उत्तर पूर्ण है।

ज्ञातव्य है कि अशंक सम्बन्धी षष्ठ प्रश्न का उत्तर हनुमान्‌जी की समाधि से सम्बन्धित है जो कि हनुमान्‌जी ने कण्ठतः न कहकर श्रीराम के बल का वर्णन करते हुए व्यंजनया दिया है।

तेहिं पर बाँधेउ : 'तेहि पर बाँधेउ' का आशय यह कि हनुमान्‌जी का प्रहारकर्ता न होने पर भी बन्धन में होना विस्मयकर है। बन्धन से मेघनाद ने सफल होना 'तेहिं पर बाँधेउ' से व्यक्त है।

तनय तुम्हारे : 'तनय तुम्हारे' से रावणपुत्र मेघनाद समझना है। बन्धनकर्तृत्व मेघनाद में होना ध्वनित है।

मोहि न : पाशबद्ध हनुमान्‌जी 'मोहि' शब्दार्थ हैं।

'न' से लज्जाऽभाव समझना होगा क्योंकि बन्धन अकार्य न होकर वह कर्तव्य था। रावण से भेंट कर श्रीरामकार्य पूर्ण करना है। जैसा कि विजिगीषु में शक्त्यादि के उपचय का होना कहकर यातव्य शत्रु को उससे सन्धि करने हेतु प्रेरणा देना दूत का कर्तव्य माना है जैसा कि नीतिसार में उक्त है—

उपक्रमं वांछितमाशुं कुर्यात् दुर्गोपयानक्रियमाण सन्धिः।
सचेद्वि सन्धिः स तु तत्र चैकः कृतो भवत्यात्म समुच्छ्रयाश्च॥[1]

लाजा : बन्धन से लाज तब होती जबकि वे शत्रु से बद्ध हो उसी में रह जाते किंतु वैसा बन्धन हनुमान्‌जी को प्राप्त नहीं है। यही निषेध 'न कछु बाँधै कइ लाजा' से हनुमान्‌जी कर रहे हैं क्योंकि हनुमान्‌जी वस्तुगत्या बद्ध नहीं है उन्हें लघु से लघु परिमाणवान् हो बन्धन से छूटना कठिन नहीं है। उन्होंने तो यह बन्धन रघुपतिकार्य-सम्पादनार्थ नान्तरीयक होने से अपनाया है।

प्रभु कर काजा : 'प्रभु कर काजा' से बिभीषणजी को नैतिक दृष्टि से रावणद्वारा अपमानित कराकर अपने में मिलाने की भूमिका समझनी है। आशय यह कि वे जब तक यहाँ से दूर होकर विजिगीषु प्रभु के सामने उपस्थित नहीं होंगे तब तक आगमविद्या रावण को नहीं त्यागेगी। फलतः लंका में भेदनीति की पूर्ण स्थापना होना ही 'प्रभु कर काजा'

---

[1] नीतिसार १६।५४

का प्रयोजन है।

संगति—प्रभुकार्य के उपक्रम में हनुमान्‌जी रावण को दी जाने वाली मानत्यागपूर्वक शिक्षा के अन्तर्गत प्रथमत: कर्तव्यनिर्धारण की प्रेरणा दे रहे हैं। चिन्त्य है कि यद्यपि रावण शिक्षाशुश्रूषु नहीं है तो भी सत्वबहुल हनुमान्‌जी रावण की भावी हारव्यथा से पीड़ित हो धर्म-विजयी श्रीराम का रक्षणात्मक चरित्र सुना रहे हैं। जो हनुमान्‌जी का भक्त्यनुरूप कार्य है।

अथवा—विरोधभक्ति सुनाकर सहृदय होने से दास भक्ति करना सिखा रहे हैं।

चौपाई—बिनती करउँ जोरि कर रावण । सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥ ७॥
देखउँ निज कुल हृदय बिचारी । भ्रम तजि भजहु भगत भय हारि॥ ८॥

भावार्थ—हे रावण! आपसे हाथ जोड़कर विनन्ति कर रहा हूँ कि मान को छोड़कर मेरी शिक्षा सुनो अपने कुल पर विचार कर देखो। भ्रम त्याग कर भयहर्ता को भजना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

शास्त्रीय व्याख्या

बिनती करउँ : राक्षससंहार होना निकट समय में देखकर प्रभु के उसापक हनुमान्‌जी ने दर्याद्र हो रावण से प्रार्थना करना 'बिनती करउँ' का आशय है।

जोरि कर रावन : बन्धनयुत हनुमान्‌जी दयार्द्रता से रावण को अभी भी अपने से मान्य समझ रहे हैं। अत: कुलदृष्ट्या उसे महान् समझ कर प्रणाम करना 'जोरि कर' का भाव है।

'रावन' सम्बोधन सन्ध्यादि के निर्णय हेतु कर्तव्यताबोधक है।

ज्ञातव्य है कि यद्यपि यह प्रार्थना नैतिक सामादि उपायान्तर्गत है तथापि ऐसा सामप्रयोग कर हनुमान्‌जी ने अपने में पूर्ण संयतचित्तता प्रगट की है।

सुनहु : 'सुनहु' से 'दूतमुखा वै राजान:' सिद्धान्त स्मर्तव्य है।

मान तजि : 'मान तजि' पर बल इसलिए कि राक्षसशरीर दुरभिमानग्रस्त है। प्रतापभानु पुण्यात्मा होकर भी आन्वीक्षिकी कौशलाभाव में हठ करके राक्षस हो गया वही क्रम अभी भी चल रहा है। इस शरीर में रावण को जन्मान्तरीय स्वतन्त्र संस्कार उद्‌बुद्ध हैं। फलत: तर्क करने में अभिमान बाधक हो रहा है। अत: 'मान तजि' कहना सार्थक है।

धर्मनीतिविरोधी, हितैषी एवं अनुभवी नीतिमानों को अपमानित करनेवाला गर्व 'मान' से समझना है।

सिखावन : उत्तरकाल में कर्तव्यत्व प्रकारक बोधक व्यापार 'सिखावन' है।

देखहु : जिस अज्ञानावरण के भंग होने से कुलीनत्व प्रयुक्त औन्नत्यादि के अनुकूल संस्कार उद्‌बुद्ध हो सहकारी होंगे वैसा आवरणभंग 'देखहु' से बोध्य है।

निज कुल : 'देखहु' शीर्षोक्त संस्कारोद्‌बोध के लिए अपेक्षित कुल 'निज कुल' से बोध्य है।

'निज कुल' से रावण का कुल ग्राह्य है। उसके पिता ज्ञानाध्ययन, मीमांसासम्पन्न, जितेन्द्रियत्व व निग्रह से पूर्ण हैं उनकी पत्नी कैकसी रावण की माँ हैं। माता ने गर्भाधान के समय 'मा रक्षत' ऐसा भाव रखा था उसके परिणाम में रावण का जन्म हुआ। इस प्रकार वक्ष्यमाण शिक्षा का बोझ रावण पर हनुमान्‌जी मढ नहीं रहे हैं अपितु 'निज कुल' के

अनुरूप विचार व कार्य करने को कह रहे हैं।

बिचारी : ब्राह्मण पिता-राक्षसी माता दोनों ने निगमागमसम्मत धर्मरक्षणार्थ रावण को जन्म दिया। पश्चात् वह भारत के बहिर्देश में अभिषिक्त हुआ। उसको चाहिये था कि जो राक्षस निगमागम को पीड़ा पहुँचाये उसको दण्डित करे। जैसा कि पद्मपुराण में उल्लिखित है। इत्यादि विचार करना 'बिचारी' से ग्राह्य है।

अथवा—अन्यायप्रयुक्त कर्म करते 'अहमुत्कृष्टः' समझना, 'मैं पुण्यात्मा हूँ भविष्यत् में ऐसा ही रहूँगा' ऐसा समझना, पतिव्रताहरण से वध की घोषणा श्रीराम के द्वारा होने पर आगम के बल पर अपने को अमर समझना, निगमागम का आदर करनेवाले श्रीराम के विरोध में भी सम्पूर्ण शक्तियों का कुण्ठित होना, वानरों को भक्ष्य समझने की धारणा इत्यादि विषयों के याथार्थ्यायाथार्थ्य का विचार करना 'बिचारी' है। 'श्रीरामः दुर्बलः राजबहिष्कृतत्वादनात्मत्वाच्च' इत्यादि भ्रमों को त्याग अथवा अत्याग पर विचार करना 'बिचारी' है। आशय यह कि उक्त कोटि के साधकों ने हेतु में उपाधिमत्ता और पक्षधर्मता स्थिर करके तदनुसार परामर्शोपलब्धि करने का सुझाव देना 'बिचारी' से व्यक्त है। इसको समझने में अभ्यर्हित विशेष दर्शन, कुलप्रभाव से असम्भव नहीं अतः 'कुल बिचारी' कहा है।

अथवा—अनानन्दतापादक आवरण भंग करने हेतु कर्तव्य सोचना 'बिचारी' है। चिन्त्य है कि वह विचार सत्तर्कमिश्रित शास्त्रसम्मत है तो विचार है। उसके अभाव में शरीरात्मतादात्म्यभाव समाप्त नहीं होता न तो अनानन्दतापादक आवरण ही भग्न होता है।

अथवा—**सन्तुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित्।**
अहीयमानः स्वाद्धर्मात् सह्यस्याखिलकामधुक्॥
विप्रान् स्वलाभसंतुष्टान् सर्वभूतसुहृत्तमान्।
निरहंकारिणः शान्तान् नमस्ये शिरसाऽसकृत्॥[1]

ऐसा विचार करना 'बिचारी' है।

भ्रम : शास्त्रसम्मत परतन्त्रता को दुःखसाधन समझना, भव में आनन्दानुभूति करना, इन्द्रियसुख पुरुषार्थः परमः, श्रीरामशरणागतौ सर्वस्वनाशः, वेदों में प्रमाणमूर्धन्यत्वाभाव, एकान्तवासो दुःखं, श्रीरामः पराजेतव्यः, अहं निर्भयः इत्यादि अनेकविध धी 'भ्रम' से बोध्य है। 'भ्रम' 'तजहु' से अन्वित है।

अथवा—'भ्रम' से सन्देह भी विवक्षित है। 'खरवधेन सीतानिमित्तक विलापेन च रामः प्रभुर्नवा' ऐसा सन्देह आदि 'भ्रम' है।

भजहु : क्षिप्त, विक्षिप्त मूढ़ की भूमिका में न आते हुए सदैव प्रभुसेवा में तत्पर रहना 'भजहु' है। उसमें आदर्श बिभीषणादि चरित्र हैं।

भगत भय हारी : रघुपति रक्षक के रूप में उपलब्ध नहीं होंगे तो ज्ञानीपर्यन्त सभी मोहग्रस्त भीत होंगे। यदि प्रभु रक्षक होंगे तो भक्त के विरोध में कोई भी अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता है न तो सेवामय भक्त की संकल्पशक्ति का विरोध ही कर सकता है। जैसा चित्रकूटस्थ श्रीराम-लक्ष्मण संवाद में स्पष्ट है।

---

[1] श्रीमद्भागवत १०।५२।३१-३३

संगति—भवभयहारित्व प्रभु के सिवा अन्यत्र नहीं है तदर्थ युक्ति बताते हुए भजन का स्वरूप सुना रहे हैं।

चौपाई— जाकें डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥ ९ ॥
तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहें जानकी दीजै॥ १० ॥

भावार्थ—सुर-असुर चराचर को खाने वाला काल भी जिनके भय से अति कंपित होता है उनके साथ शत्रुता करना ठीक नहीं। मेरे कहने से जानकीजी को लौटा दो।

शास्त्रीय व्याख्या

जाके डर अति : त्रिदेवसाक्षी, तुरीय, सगुण, ब्रह्म श्रीराम यत्पदार्थ हैं उनका भय 'अनुशासनातिक्रमणे मे अहितं भविष्यति' ऐसा दृढ निश्चय है। 'अति' 'डराई' से अन्वित है।

काल : निमेष से आरम्भ कर परार्धपर्यन्त क्षणसमूह व समुदायी काल बोधित है। तांत्रिकमत में वह क्रमिक चेष्टा है। इस रूप में काल दृश्य भी हो सकता है उसी को खण्डकाल से विभाजित किया जाता है।

ज्ञातव्य है कि यमादि देव रावण के वश में होने से लंकाधिपति उनके प्रति भीत नहीं है फिर भी वह काल को वश में नहीं कर सका; क्योंकि काल भगवदनुचर हो त्रिगुण साम्यावस्थापन्न प्रकृति का भी क्षोभक है। जो प्रभु के अनुशासन में ही रहता है।

डराई : स्व कर्म करने में काल की अप्रमत्तता 'डराई' से व्यक्त है।

जो : रघुपति से रक्षित व प्रभु के आदेशातिक्रमण में अतिकंपित काल 'जो' शब्द से बोध्य है।

सुर-असुर : सुर-असुर प्रसिद्ध हैं। ये जातिवाचक शब्द हैं।

खाई : 'जन्यमात्रं उत्पद्यते, अस्ति, वर्धते, क्षीयते, अपचीयते, विनश्यति' आदि भेद से जन्यों में विकृतियाँ बनती हैं जिनका परिणाम जन्य का विनाश होता है। यह विनाश ही 'खाई' से संकेतित है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह सदा के लिए समाप्त है। किंबहुना वर्तमान देह के समाप्त होते ही उस जीव को उत्तरक्षण में शरीरान्तर की प्राप्ति होती है। यह क्रम मिथ्याज्ञान या अभक्ति रहने तक धाराप्रवाह के रूप में चलता रहेगा उसका अन्तर्भाव 'खाई' में है।

तासों बयरु : काल को नियन्त्रित रखने वाले रघुपति 'तासों' से विवक्षित हैं। एकार्थाभिनिवेश करना 'बयरु' अर्थात् वैर है।

कबहुँ नहिं : 'कबहुँ' से वैराभाव की सार्वकालिक व्याप्यवृत्तिता दर्शाई है। वह 'नहिं' से अन्वित है।

कहे : 'उपदेशादनायोगात् वासनानुगमादपि।
परयत्नाददृष्टाद्वा सर्वास्सर्वत्र वृत्तयः॥' (नीतिसारीय जयमंगला भूमिका)

के अनुसार 'कहे' से हनुमान्जी ने अपनी ओर से भगवच्छरणागति प्रवृत्तिकारक उपदेश समझाया है।

दीजै : रावण (प्रतापभानु) का यह अन्तिम जन्म है उसी के प्रभाव से सन्त हनुमान्जी की भेंट हुई है, यह एक विकल्प है। उसी को शरीररूप में रखना है तो जानकी-

दान का विधान किया। इस विधान में श्रीरामप्रसाद अदृष्टविधया होकर लंकासमेत शरीर का क्षेम होने में सहायक होगा।

संगति—धर्मविजयी श्रीराम को किए जानकीदान का परिणाम श्रीराम की ओर से जो होगा उसे हनुमान्‌जी सुना रहे हैं।

दोहा— प्रनतपाल रघुनायक करुनासिन्धु खरारि।
गए सरन प्रभु राखिहैं सब अपराध बिसारि॥ २२॥

भावार्थ—करुणासागर खरारि रघुनायक के शरण में जाने पर सभी अपराधों को भूलकर (शरणागत) उसे अपने पास रखते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रनतपाल : 'प्रनतपाल' से दीनोपगतरक्षणात्मक सद्‌वृत्तशील श्रीराम बोध्य हैं। इससे श्रीराम में शरीर शरीरतादात्म्याभाव समझा रहे हैं। फलतः उनकी ओर से लंका पर आक्रमणादि न होना स्फुट है।

रघुनायक : हनुमान्‌जी रघुवंशी से ही मृत्यु होने[1] के शाप की स्मृति रावण को 'रघुनायक' से करा रहे हैं।

करुना सिन्धु : सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥[2]

इस प्रतिज्ञातव्रत का स्मरण प्रणतपाल से स्फुट करने के अनन्तर 'करुणासिन्धु' से धर्मविजयित्व बताया है।

खरारि : 'खरारि' से अवन्ध्यकोपता ध्वनित है।

गए सरन प्रभु राखिहैं : रक्ष्य-रक्षकभावसम्बद्ध होकर दीन हो प्रभु के समीप में (पार्षद होने का योग ही कालभय से बचाने का औषध है) जाना 'गए सरन' है।

'प्रभु' से श्रीराम में राजगुणसम्पत्ति ध्वनित है। 'राखिहैं' से राजधर्म बताया है।

सब अपराध बिसारि : अपराधी आशंकित हो स्वयं ही स्वामी से दूर रहता है इसलिए कि स्वामी कभी भी सेवक के अपराध के प्रति प्रतिशोध ले सकता है उसका उत्तर 'सब अपराध बिसारि' से दिया एवंच धर्मविजयी राजाद्वारा प्रतिशोध न लेना निर्णीत है।

ज्ञातव्य है कि शरणागति अपराध का प्रायश्चित्त है फलतः अपराध प्रक्षालित होने से तत्प्रयुक्त शंका भी विलुप्त होती है।

संगति—अपराध का प्रायश्चित्त व पुण्यकर्म बताकर कालकवलित न होने का सरल उपाय बता रहे हैं।

चौपाई— रामचरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू॥ १॥

भावार्थ—श्रीरामचरणपंकज को हृदय में रखकर लंका का अचल राज्य तुम करो।

शास्त्रीय व्याख्या

रामचरन पंकज : सम्पूर्ण मोह को दूर करने वाले श्रीरामचरण 'रामचरन पंकज'

---

[1] वाल्मीकिरामायण युद्धकाण्ड १९। ३०

[2] वाल्मीकिरामायण युद्धकाण्ड १। ३३

हैं। उसकी उपपत्ति बालकाण्डीय मंगलाचरण में 'तम पुंज' से द्रष्टव्य है।

धरहू : सतत चिन्तनधारा के माध्यम से प्रभु के चरणकमल को हृदय में रखना 'धरहू' है।

आशय यह कि भक्तिमत से स्वामि-सेवकभाव का सम्बन्ध दृढ़ होने के लिए सेवक सदा स्वामी की इच्छा को शास्त्रसमन्वयपूर्वक समझकर उसका पालन करने का संकल्प लेता है तो धीरे-धीरे सेवक का मोह दूर होता जाता है इस प्रकार हृदय में प्रभुचरण 'धरहु' होने से उसे ज्ञानप्रकाश मिलने लगता है।

लंका अचल : प्रतापभानु ने पूर्वजन्म में कृत पुण्यप्रभाव व गुरुप्रसाद से उस राज्य को शरणागति के माध्यम से अचल करना अभी उसके हाथ में है।

करहू : प्रभु श्रीराम के अतिरिक्त किसी से रावणवध होना नहीं है एकमात्र प्रभुशक्ति ही अवशिष्ट है वह स्वयं किसी पर आक्रमण नहीं करती पर भक्तों के प्रति अक्षम्य अपराधी को दण्डित अवश्य करती है। दण्डित करने के पूर्व शरण में जाकर अपराध निरस्त कर लेने से अपराधी को काल के गाल में समाने की प्रसक्ति नहीं रहेगी। फलतः लंकाराज्य की अचलता स्पष्ट है। इस प्रकार श्रीराम के मुखरूप हनुमान्जी ने अपना नीतिशास्त्रोक्त निसृष्टार्थतारूप दूतकार्य व्यक्त किया।

संगति—तपोविद्याद्यविच्छेदयुक्त उदितोदित कुल में उत्पन्न होकर उसमें अनुदितत्व रूप आपत्ति दिखाकर हनुमान्जी मान तजि को स्थापित कर रहे हैं।

चौपाई–रिषि पुलस्त्य जसु बिमल मयंका । तेहि ससि महु जनि होहु कलंका॥ २॥

भावार्थ—ऋषि पुलस्त्य के यशोरूप चन्द्र को मदमानविशिष्ट बनकर आप लंकानाशात्मक कलंक से दूषित न करें।

शास्त्रीय व्याख्या

रिषि : शब्दकल्पद्रुमानुसार ६६ हजार ६ सौ वर्ष पर्यन्त तपस् करने वाले या मन्त्रदेवद्रष्टा ऋषि होते हैं।

जसु बिमल मयंका : ब्रह्मपुत्र पुलस्त्य ब्रह्माजी के सत्वसार से उत्पन्न ऋषि हैं। वे मंत्रद्रष्टा हैं, उनके पुत्र विश्रवा ऋषि ने कुबेर, रावण बिभीषण आदि को क्रमशः प्रगट करना पुलस्त्ययशोरूप चन्द्र है क्योंकि पुत्र के विनय से पिता व पितामह कीर्तिमान् होते हैं। विमलता मानमदाभाव सहकृत विद्यातपोवर्धन है। लंकापुरी का सम्राट् बनाना व प्रभु को मानुषरूप में अवतीर्ण कराना पुलस्त्य मुनि का तपःप्रभाव है। यह उनकी विशेष कृति है जो यशोरूप में सर्वत्र गाई जा रही है। अर्थात् 'यद्येवं रावणः सीतान्नपाहरिष्यत्, प्रादास्यद्वा रामाय तर्हि लंका न अनशिष्यत्, न वा रामचरित्रं पूर्णम् अभविष्यत्' ऐसी अनेकविध कल्पना को अवकाश देना 'मयंक' है।

जनि होहु कलंका : यशोरूप चन्द्रमा को निष्कलंक बनाए रखना लड़कों का काम है। जैसा कि दोहा २२। ८ में 'निज कुलहि बिचारी' से सूचित है।

धनसम्पन्न रावण ने सुहृद्, बन्धु, गुरुजनादि को पूज्य समझकर भी अपमानित करना 'कलंक' है।

संगति—'रामचरन पंकज उर धरहू' इत्यादि तथ्यों की सार्थकता निरूपित करने के अनन्तर हनुमान्‌जी साम्प्रदायिक सिद्धान्तानुसार वाणी की सार्थकता सुना रहे हैं।

चौपाई— ***रामनाम बिनु गिरा न सोहा । देखु बिचारि त्यागि मद मोहा ॥ ३ ॥***
बसन हीन नहिं सोह सुरारी । सब भूषन भूषित बर नारी ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे सुरशत्रो! श्रीरामनाम के विना वाणी शोभित नहीं होती इस तथ्य के प्रति मद व मोह त्यागकर विचार करो। जैसे अलंकारों से सुशोभित नारी वस्त्रविहीन अवस्था में नहीं सुहाती।

शास्त्रीय व्याख्या

रामनाम बिनु : शारदा को वहीं प्रीति प्राप्त होती है जहाँ आदौ मध्ये अन्ते श्रीराम नाम का पुट होता रहे। यह श्रीराम नाम उपासकों के लिए महान् अभेद्य कवच है। वह नहीं तो कार्य की पूर्ति नहीं होती न तो अर्थ का यथावत् प्रकाशन ही सम्भव है।

श्रीरामतत्व के सर्वांगीण तथ्यों के अनुष्ठातृ व्यक्ति का वाचक श्रीराम शब्द है तथा श्रीरामप्रीति जनकता भी श्रीरामनाम में है। ये दोनों (शब्द-अर्थ) तादात्म्यापन्नतया स्थिक्त हैं। तद्घटित का अभाव होना 'राम नाम बिनु' है।

गिरा : अकांक्षादिमती, सतात्पर्या, अर्थवती, पदसमूहरचना, शारदा देव्याधिष्ठान 'गिरा' है। चेष्टात्मक भाषा भी 'गिरा' से मननीय है।

अथवा— **सदानुसृत्या गुणकीर्तनेन निन्दासहत्वे न च रन्ध्रगुप्त्या।**
तदर्थ शौचोद्यमसङ्कथाभिः पक्षोऽनुरागीति स वेदितव्यः ॥[1]

इस पद्य में कथित अनुभावात्मिका वाणी गिरा है जो हनुमद्गिरा में लक्षित है।

न सोहा : अदृष्टफलजनकत्व, नीत्युचित अर्थप्रकाशकत्व, लोभादि व्यसनाभाव, तात्कालिकबलप्रतिबन्धाभाव व सन्तों के लिए आस्वाद्यत्व आदि गुणों का अभाव 'न सोहा' है। उसका अधिष्ठान 'गिरा' शीर्षकोक्त दोनों प्रकार की गिरा है।

देखु : सत्परामर्श से उक्त तथ्य को प्रतिभात करना 'देखु' है।

बिचारि : गिरात्मकभाषा श्रीरामनाम के साथ जुटने पर सुशोभित होती है। उसी प्रकार चेष्टात्मकभाषा भी श्रीरामनाम से सम्बद्ध होती है तो वह यशस्करी होती है। उसका विवेचन निम्नलिखित है। रागतः प्राप्त जितने भी अर्थ हैं वे सभी प्रायः त्याज्य या नियम्य माने जाते हैं। वे सभी प्रायः अशुचि, व्यसनाधायक, लोभवर्धक होते हैं। सर्वथा रागप्राप्त विषयों को त्यागना भी ठीक नहीं है। अतः ईश्वरसेवा को प्रधान मानकर तदंगतया ईश्वरप्रीति की अनुकूलता में विषयों का परिग्रह होता है तो वे यशस्य, धन्य, आह्लाद्य होते हैं। उसमें श्रीराम व श्रीरामनाम का सम्बन्ध अर्थसिद्ध है। इस प्रकार चेष्टात्मक गिरा व श्रीरामनाम के प्रति किया विचार विमर्श है।

मद मोहा : उपरोक्त दोनों विमर्श होने में मोह एवं मद प्रतिबन्धक होते हैं। इन्हीं दोनों के कारण उक्त विमर्श लोक में नहीं पहुँच पाते।

विपरीतवासनादि विषयों में सुखानुभूति होना 'मद' है। विपरीत कर्तव्य का प्रतिभान होना 'मोह' है। यह तमोगुण का प्रतीक है उसके रहते निन्दित लज्जाजनक कार्य में प्रीति

---

[1] नीतिसार १६ । २९

होना स्वभावसिद्ध है। उसका परिणाम 'नहिं सोह' है जो आगे 'सोह' शीर्षक में उक्त होगा।

बसन हीन : श्रीरामनामस्थानापन्न 'बसन' है। जैसे सुवस्त्रपरिधान अनौद्धत्य का चिह्न ही नहीं अपितु तनुरक्षक दुर्ग भी है, वैसे ही गुण श्रीरामनाम में समझने होंगे। 'बसन' की हीनता में दुर्गाभाव ज्ञातव्य है जो सलज्जा अंगना के लिए अति पीड़ावह है।

नहिं सोह : 'नहिं सोह' से निर्लज्जता, औद्धत्य व मद अभिव्यक्त है जो साधु-सन्तों के लिए घृणित है वैसी ही घृणा श्रीरामनामविहीन गिरा व चेष्टा में समझनी है।

ज्ञातव्य है कि 'अहमुत्कृष्टो विद्वान्, न शास्यः' इस भावना के व्यक्ति नट, विट, गायक, पिशुन, मधुरभाषी को परिवार में आसन्न करते हैं जिसके परिणाम में मोह तथा मान बढने से 'नहिं सोह' की अनुवृत्ति बनी रहती है।

सुरारी : 'सुरारी' उक्ति से स्वार्थी मन्त्रीप्रभृति की वाणी की त्याज्यता व बिभीषणादि के वचनों की उपादेयता भविष्यत् के लिए समझाई है। अतएव 'सुरारी' कहना सार्थक है।

सब भूषण भूषित : नखशिखान्तभूषण का साधर्म्य, गुण, अलंकार अनुप्रास, अदोष में है। अर्थात् हनुमान्‌जी साहित्य के प्रति आदर करते हुए तत्संपृक्त गिरा व प्राचीन परम्पराप्राप्त शिष्टपरिगृहीत चेष्टा को सुरक्षित रखते में जीवन की सार्थकता समझा रहे हैं।

बर नारी : 'बर नारी' से वरांगना विवक्षित है जो लज्जाभूषण को सर्वस्व मानती है।

'बर' शब्द कुलीनता का द्योतक है। 'नारी' का उल्लेख उपर्युक्त गिरा की दृष्टि से हुआ है। गिरा का सर्जन उत्तम कवि के द्वारा होना ध्वनित है।

संगति—उपासनाविहीन होने के परिणाम में उक्त तथ्यों को ध्यान में न रखने से सम्पत्ति का क्षेमाभाव नीतिदृष्ट्या समझा रहे हैं जो मानासक्त संपूर्ण संपत्तिमानों के लिए विचारणीय है।

चौपाई— ***राम बिमुख संपति प्रभुताई । जाइ रहि पाई बिनु पाई॥ ५॥***
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं । बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं॥ ६॥

भावार्थ—श्रीरामविमुखों ने संपत्ति प्रभुता पाई पर टिकी नहीं तो पाना न पाना बराबर है। जैसा कि जिन नदियों का उद्गम स्थान स्थिर जलपूर्ण नहीं रहता वे बरसात होने पर बढती हैं और तुरन्त सूख भी जाती हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

राम बिमुख : 'राम बिमुख' से अधर्मप्रचुर, अनीतिमान्, मोहमदमानयुक्त व्यक्ति समझने हैं। वे श्रीराममर्यादा को उपेक्षित कर अपनी स्वतन्त्रता दिखाने में गौरव मानते हैं।

संपति प्रभुताई : 'संपति' से जड़भूत कोश दुर्ग व 'प्रभुताई' से चेतनभूत द्रव्य प्रकृतिनिरूपित स्वामित्व विवक्षित है, जो असंस्कृत गुण स्वामी पर आश्रित है।

जाइ रही : **'मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुंक्ते नियमेन मूढता। अतिमूढ उदस्यते नयात् नयहीनात् अपरज्यते जनः॥'**[1] एवं **'अनात्मवान् नयद्वेषी वर्धयन्नारि संपदः। प्राप्यापि महदैश्वर्यं सह तेन विश्यति॥'**[2] इत्यादि वचनों से समझाई स्थिति (क्षेमाभाव) 'जाइ रही' से व्यक्त है।

---

१. माघ कविकृत शिशुपालवध।

२. नीतिसार ५।४

पाई बिनु पाई : 'आदावन्ते च यन्नास्ति मध्ये तत् स्यात् कथं वद।' यह उक्ति 'पाई बिनु पाई' से समन्वित होती दिखाई दे रही है।

चिन्त्य है कि पुण्य या तत्प्रयुक्त भोग अत्युत्कृष्ट पाप करने से क्षीण होते है। प्रभुतासंपन्न अविवेक के आवेग में स्वामिद्रोह, पितृदोह व मित्रद्रोह आदि होना नियत है। उसका परिपाक पुण्यनाश व भोगनाश है। यही 'पाई बिनु पाई' है।

सजल मूल : 'पाई बिनु पाई' को सरित् के उदाहरण से समझा रहे हैं। अर्थात् सरित् संपत्तिसधर्मिणी है। उसके मूल का विचार 'सजल मूल' से समझना है अर्थात् नदियों का स्थिर अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक नदियों का उद्गम स्थल सजल रहता है।

ज्ञातव्य है कि नदीस्थानापन्न संपत्ति का उद्गम स्थल गुणसमूह है उसमें श्रीराम की प्रीति जलस्थानापन्न है वह यदि अस्थिर नहीं है तो संपत्ति का क्षेम भी बना रहता है। इस तथ्य को रावण नहीं सोच रहा है। उसने शिवजी एवं ब्रह्माजी से वर प्राप्त कर लंकास्वामित्व अर्जित किया। इसके मूल में मुख्य उद्देश्य रावण को तपस्या से विरत करना था न कि उस पर अनुग्रह था। तदनुप्राणित राजनीति भी यहाँ चिन्त्य है।

जिन्ह : सजलशून्य क्षुद्र नदी को बुद्धिविषय रखने हेतु 'जिन्ह' शब्द प्रयुक्त है।

नाहीं : 'नाहीं' (श्रीरामप्रीत्यभाव) का प्रतियोगी 'सजल मूल' ज्ञातव्य है।

बरसि गए : वर्षा ऋतु का बीतना 'बरसि गए' है। रावण की संपत्ति एवं प्रभुता रूप नदी ब्रह्मवरात्मक भाग्यरूप वर्षा से प्रभावित थी। अभी भाग्यवर्षा की समाप्ति होना 'बरसि गए' से ध्वनित है।

सुखाहीं : पक्षान्तर में प्रभुता व संपदारूप नदी का सूख जाना 'सुखाहीं' है।

संगति—दोहा २६। २ चौपाई के अन्तर्गत 'बिहसि' से सूचित विषय को स्मरण कर रावणपक्ष में रही सत्प्रतिपक्षितस्थिति का प्रतिषेध करने हेतु दोनों पक्षों में प्रमाणबलाबल विचारणीय हो रहा है।

अथवा—शत्रु से सीतादानात्मक उपहारसन्धि न कर किसी अन्य से पुरुषान्तरसन्धिहेतु प्रयत्न किया जाय तो उसका उत्तर हनुमान्‌जी दे रहे हैं।

चौपाई— *सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी । बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥ ७॥*
संकर सहस बिष्नु अज तोही । सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥ ८॥

भावार्थ—हे रावण! सुनो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि श्रीरामविमुख का त्राता कोई नहीं हो सकता। शंकरजी, शेषजी, विष्णुजी एवं ब्रह्माजी श्रीरामद्रोही के सहायक नहीं हो सकते अतः पार्ष्णिक बल के अभाव में तुम उनसे सन्धि की आशा मत करो।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनु : संगत्युक्त सत्प्रतिपक्षितस्थिति और सहायकान्तरप्राप्ति का निराकरण उपेक्षा न समझने की प्रार्थना के अभिप्राय से 'सुनु' कहा है।

दसकंठ : 'दसकंठ' का निष्कर्ष यह कि रावण ने जिन युक्तियों के बलपर दश कण्ठों से हनुमान्‌जी की हँसी उड़ायी थी वे युक्तियाँ सर्वथा निरस्त हैं।

पन रोपी : 'पन रोपी' से श्रीरामपक्ष के सामने रावण की बलस्थिति में प्राबल्य न

होना दर्शाया है। उससे सत्प्रतिपक्ष का निरसन स्फुट है। 'पन' से वक्ष्यमाण साध्य का निर्देश है। वह कालत्रयाबाधित है।

बिमुख राम : पण का स्वरूप 'बिमुख राम' है वह दो अर्थों में परिज्ञात है—(१) श्रीराम से युद्ध करना। (२) श्रीरामदेश को तिरस्कृत करना।

त्राता : परकीय आक्रमण से रक्षणकर्त्ता को 'त्राता' कहते हैं।

नहिं कोपी : 'बिमुख राम' में दर्शित उभयविध विमुखता में रहने वाले का त्राणाभाव 'नहिं कोपी' से स्फुट है।

संकर सहस बिष्नु अज : श्रीराम से युद्ध करने की शक्ति व श्रीरामोदित प्रमाण के विरोध में प्रमाणोपस्थापन करने की शक्ति का अभाव 'नहिं कोपी' से सिद्ध है। यद्यपि त्रिदेव श्रीरामविरोध से दूर हैं। तथापि उनमें त्राणकर्तृत्वसामान्याभाव समझाकर तत्साधकतया उक्त त्राणकर्तृत्वविशेषाभावकूट समझाने हेतु 'संकर सहस बिष्नु अज' कहा है।

तोही : अनीतिमान् द्रोही रावण युष्मच्छब्द से ज्ञातव्य है।

सकहिं न : रावण के लिए रक्षकाभाव बताकर तत्साधकतया विशेषाभावकूट बताया क्योंकि शास्त्र में विशेषाभावकूट को सामान्याभाव का साधक माना है। निष्कर्ष यह कि यानासन द्वैधीभावविग्रहसमाश्रय की कल्पना त्यागकर श्रीराम से सन्धि कर लो नहीं तो उच्छेद्य होना होगा। अतः हनुमान्‌जी की प्रतिज्ञा निर्विवाद है।

राम कर द्रोही : किसी ने भी रक्षण का भार न लेने में हेतु 'राम कर द्रोही' है। 'राम' से कालनियतृत्वादिविशिष्ट सगुण ब्रह्म समझने हैं।

संगति—रावणद्वारा उपेक्षा ही होना देखकर हनुमान्‌जी सिखावन का मुख्य निष्कर्ष प्रगट करते हुए उपसंहार कर रहे हैं। उसमें अपनी अशंकता का भाष्य भी पूर्ण कर रहे हैं।

दोहा— मोहमूल बहुसूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिन्धु भगवान॥ २३॥

भावार्थ—मोह बहुत दुःखों का मूल है उसको व तमोरूप अभिमान को छोड़कर कृपासिन्धु रघुपति श्रीराम का भजन करो।

शास्त्रीय व्याख्या

मोह मूल : चित्त के सामने अन्धेरा छा जाना या कर्त्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न होना 'मोह' है। 'मोह मूल' की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है—(१) मोहस्य मूलं (२) मोहो मूलं यस्य। दोनों व्याख्या में 'मूल' 'तम' से अन्वित है। प्रथम व्याख्या में तमस् अर्थात् अन्धकार मोह का कारण हो रहा है क्योंकि तमोगुणी अज्ञानी निन्दितकर्मा होकर गुरुजनों को अपमानित करता है। इसी की अभिवृद्धि होना 'मोहो मूलं यस्य' से स्फुट है।

यद्यपि रावण बुद्धिमान्, विद्वान् है तथापि वह मोहमूल तमस् की अधीनता को नहीं त्याग रहा है। उसका कारण रावण का दैवोपघात है; जिसने रावण को श्रीरामरूप मृत्यु के सामने खड़ा करने का संकल्प कर रखा है। यह भी रावण का एक सौभाग्य है।

बहु सूल : आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक व्यक्तिभेदन दुःखारण्य 'बहुसूल'

से ग्राह्य है। उसकी असह्यता 'सूल' से स्पष्ट है।

त्यागहु : बहुदुःखप्रद मोहमूल मान की हानि 'त्यागहु' है। त्याग का पर्यवसान इन्द्रियजय है।

तम अभिमानः अज्ञान, नास्तिक्य, मोहान्धता, मूढता, सुविषण्णता, दुष्ट व लज्जावह कर्म में प्रीति एवं क्रूरता तमस् की पहचान है। तमस अभिमान के रूप में सबको दृष्टिगोचर होता है। अतः 'तम अभिमान' कहा है। 'तम' से भ्रम भी विवक्षित है। यद्यपि प्रतापभानुजन्म में अर्जित धर्म के पुण्यप्रभाव से रावण ने संपत्ति पाई तथापि गुर्ववज्ञासंस्कार से सीताहरण कर प्रभुविरोध के कारण दैवोपघात उपस्थित हुआ है।

भजहु : सेव्य की जिसमें प्रीति हो वह कार्य करना 'भजहु' का ध्वनितार्थ है।

राम रघुनायक : भजबोधित सेवनव्यापारकर्म श्रीराम यहाँ 'राम' से बोध्य हैं इसलिए कि मृत्युदशा में तारक मन्त्र वही है।

'रघुनायक' से धीरोदात्त, वीर, महान् पारिभाषिकमानव नेता विवक्षित है।

कृपासिन्धु भगवान : 'कृपासिन्धु' से श्रीराम ने दोनों (रावण का जीवन अथवा मृत्यु) ही अवस्था में कृपा करना समझाया है।

मानुष सजातीय की सेव्यता के निषेध का प्रतिप्रसव 'भगवान' से समझाना है।

इस प्रकार रावण के पूछे अशंक का भाष्य पूर्ण कर कपि की उक्ति समाप्त है।

संगति—मृत्यु एवं जीवन उभय दशा में यथा योग्य अर्थवान् सुभाषित की अर्हता के प्रति शिवजी अपनी सम्मति सुनाकर हनुमद्‌वचन की अविसंवादिता बता रहे हैं। इसलिए कि रावण के प्रत्याखान से अन्यान्य विद्वान् (मुमूर्षु) विजिगीषु हनुमदुक्ति को अप्रमाण न मानें।

चौपाई- जदपि कही कपि अतिहित बानी । भगति बिबेक बिरति नय सानी ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि कपि ने भक्ति-विवेक-वैराग्य व सबके लिये मंगलदायक नीतियुक्त वाणी सुनाई।

शास्त्रीय व्याख्या

जदपि : हनुमान्‌जी की वाणी में अविसंवादिता समझकर कोई भी सुज्ञ विचार कर हनुमद्‌वाणी के अर्थ को कार्यान्वित करेगा। किन्तु ऐसा लंका में न होना आश्चर्यकर होने से उसका द्योतक 'जदपि' शब्द है।

कपि : आकृति भले ही चंचल स्वभाव की हो किन्तु तावन्मात्रेण कपिवाणी को अप्रमाण नहीं मानना चाहिये। जैसे 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यं' से उक्त है।

अतिहित बानी : 'अतिहित' से मतिभाव की पूर्णता बताकर हनुमान्‌जी में विवेक-वृत्यवच्छिन्न चिद्विशिष्टत्वरूप गुरुत्व समझना है।

रावण ने जन्मान्तर में वांछित अमरत्व की यथार्थता की स्थिति का प्रदर्शन कराना 'हित' है। जो अग्रिम बिभीषणोक्ति से एकवाक्यतापन्न है। यह तथ्य हनुमद्‌वाणी (भगति बिबेक बिरति नय सानी) में प्रगट है।

अथवा—उक्त वाण्यर्थ को अनुष्ठानतः प्रमाणसिद्ध कर परराष्ट्रीय राजा के सामने

आंशिक रूप से प्रगट करना भी 'अतिहित बानी' है। एवंच हनुमद्वाणी में पूर्व परम्पराप्राप्त भक्तिरूप चेष्टा ने मिश्रित होना भी सुचिन्त्य है।

उपक्रमोपसंहार उपपत्ति अभ्यास व अपूर्व से बोध्य तात्पर्य बोधक प्रमाण भूत वाक्यकदंब 'बानी' से बोध्य है।

भगति : भरत्तोक्त 'सुसाहिब सेवा' सदृशी सेवा 'भगति' है।

बिबेक : सुख-दुःखान्यतर निरूपित साधनतावच्छेदक को निरुपाधिक रूप में समझना तथा तदनुबन्धितया अन्वयव्यतिरेक समझना 'बिबेक' है।

नय : प्रत्यक्षादि त्रितय से प्रमित तथ्य को देशकाल शक्तिपुरस्सर सत्वगुण को अपनाना व तमोगुण को त्यागना 'नय' है।

'सानी' से अभीष्ट चतुर्विध अर्थवत्ता सतात्पर्यक प्रमाजनकत्व, भक्ति-विवेक-विरति-नय चतुष्टय ज्ञेय होने से हनुमदुक्ति में सफलप्रवृत्तिजनकत्वरूप प्रामाण्य होना 'सानी' है।

संगति—सात्विक समाज में हनुमद्वचन की उपादेयता स्वीकृत है। आगम विद्या में प्रवीण रावण मत में हनुमद्वचन की उपादेयता त्रैलोक्यविजय के पूर्व अनुष्ठेयतया मान्य है। फलप्राप्ति के अनन्तर वह अनुष्ठेय नहीं है। उस दशा में रावण विचार कर रहा है कि हनुमान्जी फलप्राप्त्यनन्तर भजन करने को कह रहे हैं अतः वे अप्रमाण हैं। मुझे आगम विद्या से अनुष्ठानतः बद्ध अर्थवत्ता प्राप्त है। ऐसा सोचने वाले रावण के प्रत्युत्तर को सुनाने का उपक्रम शिवजी कर रहे हैं।

अथवा—रावण हनुमान्जी को मृत्युभय दिखाकर उन्हें शंकित करने का उपया सोच रहा है।

चौपाई-बोला बिहसि महा अभिमानी । मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी॥ २॥
मृत्यु निकट आई खल तोही । लागेसि अधम सिखावन मोही॥ ३॥

भावार्थ—जोर से हँसते हुए रावण ने महाभिमान में आकर कहा कि यह बन्दर बड़ा ज्ञानी गुरु बनकर हमको उपदेश सुनाने वाला मिला। अरे खल! तेरी मृत्यु समीप में है और तुम मुझे शिक्षा दे रहे हो।

शास्त्रीय व्याख्या

बोला : 'बोला' शब्द पूर्वपक्षानन्तर अर्थात् उत्तरपक्ष की ओर से प्रत्युत्तर का सूचक है।

बिहसि : हँसने का कारण रावण ने हनुमान्जी को तुच्छ समझा है क्योंकि उसके मत में कपि तुच्छ है। जैसा कि ब्रह्माजी से वरदान माँगते समय 'बानर मनुज जाति दुइ बारें'[1] उक्ति से स्पष्ट है।

महा अभिमानी : 'महा' से अभिमानिता की असीमा ज्ञातव्य है। अर्थात् अभिमानी रावण स्व को स्वतन्त्र मानता है एवं अपनी प्रेरणा से समस्त विश्ववर्ती कारकान्तरों को प्रेर्य करना चाहता है। यही अभिमानी का स्वरूप है।

'यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं' आदि की चरितार्थता (अन्धता) 'महा' शब्द से ध्वनित है।

---

[1] बालकाण्ड १७७।४

मिला : उपहासपात्र महामूर्ख वानर को कोई और उपदेशार्ह नहीं मिला तो उसने मुझे (रावण को) शिष्य बनाने का प्रयत्न करना 'मिला' का भाव है।

कपि : 'अयं चापल: रावणतत्वस्य अज्ञाता तद्विपरीतार्थवक्ता भ्रान्त:' 'कपि' शब्द से व्यक्त है। वानर सीतासमर्पण करने को कहता है, श्रीराम को बलवान् बताता है जबकि स्वयं बन्धन में आबद्ध होकर क्रियाशक्तिविहीन है। जब काल को वश में रखने वाले सर्वत्रस्थित श्रीराम कपि को बन्धनमुक्त करा नहीं सके तो वे शत्रुपर विजय कैसे पायेंगे? इत्यादि भाव 'कपि' से ज्ञापित हैं।

गुर : यहाँ 'गुर' से अज्ञता में ज्ञातता को भासित करने वाला उपदेष्टा ज्ञातव्य है।

बड़ ग्यानी : अपनी मूर्खता व बद्धता को ध्यान में न लाकर रावण को कर्तव्य की शिक्षा देने वाला वानर अपने को 'बड़ ग्यानी' समझता है।

ज्ञातव्य है कि रावण इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस वानर का मत बृहस्पतिमत से मिलता है। वे त्रयी को संवरणहेतुतया उपयुक्त कहते हैं। उसका निष्कर्ष दूसरों को धर्म समझाकर अपना कार्य करने में है। स्वार्थी वानर सीताजी की लौटाने हेतु संवरण रूप में भक्ति का उपदेश सुना रहा है, भक्ति का दंभ कर रहा है। यत: यह बन्धनयुक्त होने से भक्ति से आरंक्षित नहीं है।

मृत्यु निकट : रावण के मत में नीत्युपबृंहित भक्ति का स्थान आगमानुप्राणित तपस्या से ऊपर नहीं है। अत: आगमानुप्राणित धर्म भक्ति से कुण्ठित नहीं हो सकता। ऐसा सोचकर रावण हनुमान्जी को दण्डप्रणयन भय दिखाकर सशंक बनाते हुए पराजित करना सोच रहा है।

खल : आगमानुप्राणित तपस् अंगी है उसकी सेवा छोड़कर अंगभूत भक्ति को महत्ता देने में तत्पर दुरपनेय स्वभाव वाला वानर 'खल' है।

तोही : अंगी आगमानुप्राणित तपस एवं उसके उपासकों को अपमानित करने वाले 'हनुमान्जी' युष्मच्छब्दार्थ हैं।

लागेसि : मृत्यु से डरकर मुमूर्षु ने उत्तरकालीन कर्तव्य शिक्षा का प्रयत्न करना 'लागेसि' है।

अधम : 'अधम' कहकर रावण ने अपना अभिमत सुनाया कि साधकावस्था में तपस् प्रधान है। हनुमान्जी साधक हैं। अभी वे फलावस्था में प्राप्त मेरे सामने आगमानुप्राणित तपोरूप सूर्य को भक्ति का दास बता रहे हैं। अत: 'अधम' हैं इत्थंच तपस् की पूर्णता के बाद अर्थ व काम में ही जीवन बिताना है। रावण की इस धारणा को भङ्ग करने या बदलने में हनुमान्जी लगे हैं। अत: रावण ने उनको 'अधम' कहा।

ज्ञातव्य है कि फलभोगासक्त रावण ने अभिमान में आकर नीत्याभास प्रदर्शित किया जो भक्ति महारानी को दोष के रूप में स्वीकार्य है। उस दोष को देखकर ही भक्तिरानी व ब्रह्मविद्याएँ अयोध्या-मिथिला जैसे स्वतन्त्र राज्य में जा बसीं। नैतिक गुणों को प्रगट कर वही भक्ति अभी तपोदृप्त रावण की प्रभुता को पराजित करने के लिये श्रीरामदूत कपि के माध्यम से उपस्थिता हैं। भक्ति महारानी की छत्रछाया में आगम व निगम दोनों कपि की

सेवा कर रहे हैं जो हनुमान्‌जी की अशंकता से प्रमाणित है। इस प्रकार नीतिमंत्रिणी से पोष्य भक्तिमहारानी आस्वाद्य हैं। अतः यह काण्ड सुन्दरकाण्ड है।

सिखावन : शिक्षा की उपयोगिता साधकों के लिये है न कि अभिमानी फलभोक्ताओंके लिये है। यतः वह अपने को शिक्षाधिकारी नहीं मानता। अतः 'सिखावन' कहकर शिक्षा के प्रति उपेक्षा ध्वनित की है।

मोहि : साधनावस्था से ऊपर पहुँचा कृतकृत्य भया हुआ स्वतन्त्र दण्डनीतिद्वारा ही सबको झुकानेवाला रावण 'मोहि' से वर्णित है।

संगति—सब की रक्षिका भक्ति महारानी का अपमान करने वाला महाभिमानी रावण दण्ड्य है। अतः उसका प्रत्याख्यान करना ही होगा नहीं तो मुझे भक्ति महारानी की निन्दा सुनने के पाप का भागी होना होगा। इस अभिप्राय से हनुमान्‌जी ने दिया उत्तर शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— उलटा होइहि कह हनुमाना। मतिभ्रम तोर प्रगट मैं जाना॥ ४॥

भावार्थ—मृत्यु तुम पर उलट कर रहेगा मैंने तुम्हारे मतिभ्रम को प्रगटतया जाना है।

शास्त्रीय व्याख्या

उलटा होइहि : मृत्युभय हनुमान्‌जी को न होकर रावण के लिए होना 'उलटा होइहि' का भाव है।

कह हनुमाना : हनुमान्‌जी ने 'उलटा होइहि' प्रतिज्ञा सुनाकर 'त्वं आसन्नमृत्युः' यह न्यायावयवरूप प्रतिज्ञा प्रयुक्त की है। फलतः रावण ने कहा 'मृत्यु निकट' हनुमान्‌जी में बाधित है क्योंकि उद्भवस्थितिसंहारकारिणी सीताजी ने उन्हें अजर-अमर कहकर आयुष्मान् होने का वरदान दिया है।

मतिभ्रम तोर : 'उलटा होइहि' प्रतिज्ञातार्थ का ज्ञापक हेतु 'मतिभ्रम' है।

'तोर' से रावणरूप पक्षवृत्तिता मतिभ्रम में दर्शायी है अर्थात् भ्रान्तिमत्व हेतु को ज्ञापक रूप में कहा है जैसा कि 'आयुर्हीना न मन्यन्ते राजानं देवतां गुरुम्' से प्रमाणित है।

महाभिमानी भक्ति का अपमानकर्ता रावण युष्मच्छब्दार्थ है।

प्रगट मैं जाना : 'प्रगट' से मतिभ्रम हेतु का रावण पक्ष में प्रत्यक्ष होना कहा है। 'विनाश काले विपरीतबुद्धिः' की तरह लंका को स्वयं मारने की योजना बनाना 'प्रगट मैं जाना' का भाव है। इस प्रकार प्रस्तुत वाद पूर्ण है।

ज्ञातव्य है कि एक ओर आगमप्रोक्त तपोधर्म मात्र का पृष्ठबल है दूसरी ओर वेदोपबृंहित निगमागमधर्मसमृद्ध-भक्ति का बल है। इस अन्तर को देखते हुए भी बुद्धिमान् रावण मतिभ्रम स्व (रावण) पक्ष में निर्णीत नहीं कर रहा है, वह अभिमान में भक्ति को अपमानित कर तत्प्रयुक्त दुर्बलता को अपनाता हुआ दिखाई दे रहा है। इस प्रकार जिसे समझाने के लिए हनुमान्‌जी बद्ध होकर सभा में आये थे। वह प्रयोजन सिद्ध हुआ।

संगति—आगमानुमोदित तपस् की पूर्णता में रहे राजा रावण ने अपनी मृत्यु सुनकर क्रोध में दूत को मारने का आदेश देना व दण्डप्रणयनारम्भ के पूर्व राजबुद्धिपरिवर्तन हेतु बिभीषणजी का आना शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— *सुनि कपि बचन बहुत खिसिआना । बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना ॥ ५ ॥*
सुनत निसाचर मारन धाए । सचिवन्ह सहित बिभीषनु आए ॥ ६ ॥

भावार्थ—कपि का वचन सुनकर क्रोधाभिभूत रावण ने हनुमान्‌जी को शीघ्र मारने का आदेश दिया जिसे सुनकर निशाचर मारने के लिए दौड़े, ठीक उसी समय सचिवसहित बिभीषणजी आ पहुँचे।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि : हालिकों के समान शब्दार्थ को सुनना ही यहाँ 'सुनि' का भाव है।

कपि बचन : त्रैलोक्यविजेता रावण के सामने श्रीरामदूत ने कहे राजापमानजनक वचन 'कपि बचन' है।

खिसिआना : रावण के क्रोध ने पंचमावस्था पर पहुँचना 'खिसिआना' का भाव है।

बेगि न हरहु : कार्य में विलम्ब सह्य नहीं है अत: 'बेगि न' कहा है। यत: बिभीषणजी की उपस्थिति के पूर्व ही वध सम्पन्न करने में 'बेगि न' की सार्थकता है। अन्यथा वे स्वनिपुणता से राजा को दण्डप्रणयन से निवृत्त कर सकते हैं।

'हरहु' आदेशवाचक है जो सेवकों के लिए विधि है।

मूढ़ कर : राजा के प्रति तुच्छ भावनाकर्ता 'मूढ़ कर' है।

प्राना : 'मृत्यु निकट' की अन्वर्थता 'प्राना' से सूचित है।

सुनत : वाग्युद्ध व बलयुद्ध से रावण का प्रभुत्व समाप्त है। फलत: वह निगृहीत है, किन्तु अभी द्रव्यप्रकृतिक स्वामित्व स्थिर है क्योंकि रावण का उच्छेदन नीतिरीत्या नही हुआ है। अत: मारने का आदेश सुनकर बलाधिकृत निशाचरों ने राजवचन को कार्यान्वित करना 'सुनत' का भाव है।

निसाचर : स्वयं होकर अपनी वृत्ति को चलाने वाला श्रेणीसैन्य पंचवटी में मृत हो गया है। यहाँ के निशाचर राजा के भृत्य सैन्यान्तर्गत हैं। इनकी भृति, प्रवृत्ति और निवृत्ति राजाधीन है। एवंच यहाँ पर राजाधीन भृत्य 'निशाचर' से गृहीत हैं।

मारन धाए : हत्यार्थ दौड़ना 'मारन धाए' का भाव है। 'मारन' उद्देश्य है। 'धाए' 'बेगि न हरहु' का कार्यान्वयन है।

सचिवन्ह : 'सचिवन्ह' से आप्त व मंत्रकुशल कर्मकर्ता बोध्य है।

बिभीषन : सभा में अनुपस्थित रहते हुए भी सभा में हुए विवाद की सम्पूर्ण जानकारी रखने वाले दशानन के भाई 'बिभीषन' से बोध्य हैं।

बिभीषणजी जन्मान्तर में राजा प्रतापभानु के गुरु थे जिससे उनका कहना मानने का संस्कार रावण में उद्‌बुद्ध था। फलत: रावण उनका कहना मानता था। अत: बिभीषणजी का सभा में उपस्थिति होना नीति का अंगभूत कर्म है।

संगति—दूतवधोपक्रम देखकर नीतिविरोधरूप आपाद्य सुनाकर बिभीषणजी दण्डान्तरप्रणयन की प्रार्थना रावण से कर रहे हैं।

चौपाई— *नाइ सीस करि बिनय बहूता । नीति बिरोध न मारिअ दूता ॥ ७ ॥*
आन दण्ड कछु करिअ गोसाँई । सबहीं कहा मंत्र भल भाई ॥ ८ ॥

भावार्थ—मस्तक झुकाकर बहुत प्रकार से विनय किया कि आप दूत के प्रति नीतिविरोध न करें। हे गोसाईंजी! वधप्रतिनिधि के रूप में तत्सम अन्य दण्ड प्रणीत करें। सबने इस मंत्र को सन्तोष के साथ स्वीकृति दी।

शास्त्रीय व्याख्या

नाइ सीस : 'गुरुं प्रणतिभि:' को याद कर बड़े भाई के सम्बन्ध से बिभीषणजी ने नमस्कार करना नीतिमत्ता है।

बिनय बहूता : भक्ति, नय, विरति व विवेक के तत्व 'बहूता' से समझने हैं। वह शुक्राचार्यप्रोक्त नीति से सम्बन्धित हैं जो रावण को भी अनुमत हैं। 'बिनय बहूता' इसलिए कि राजा को अकार्य से निवृत्त करना बन्धुओं का कर्तव्य होने से बहुत उपाय अनुष्ठय होते हैं।

प्रार्थनोपपत्ति

राजा ने शास्त्रवेत्ता होने पर भी दूतवधार्थ आज्ञा देना औशनसशास्त्रविरुद्ध है जो 'दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्ये च तस्मात् उद्धृतेष्वपि शास्त्रेषु यथोक्तं वक्तार:; तेषां अन्तावसायिनोऽप्यवध्या:'[१] से स्पष्ट है। सभा में उपस्थित हो अमात्यों ने नीतिविरोध के अवसर पर मौन हो उसे देखना एक अमात्यापराध है। 'सकृज्जल्पन्ति राजान:' उक्ति को स्मरण कर राजा के आदेश को कार्यान्वित करने हेतु दूसरा विकल्प रखना होगा जो पूर्व आदेशसम हो। उदाहरणार्थ अपराधशुध्यर्थ प्रोक्त प्रायश्चित्त-प्रतिनिधि के रूप में दानादि उक्त हैं उसी प्रकार दण्डान्तर की ओर राजा को प्रेरित न किया जाय तो सचिव (बिभीषणजी) का सचिवत्व विलुप्त होने से बिभीषणजी अपराधी कहे जायेंगे। जो कि दूसरा अपराध होगा। इन दोनों अपराधों से मुक्ति पाना प्रार्थनोपपत्ति है।

विरोध की आपाद्यता

ज्ञातव्य है कि शुक्राचार्य के रूप में अवतीर्ण बृहस्पतिजी के वचन असुरों के लिए श्रद्धेय रूप में स्वीकार्य होने से वे ही अनुकरणीय हैं। इस मर्म के वेत्ता बिभीषणजी थे। उन्होंने नीतिविरोध की आपाद्यता कही जो रावण को भी स्वीकार्य थी। अत: नीतिविरोध की आपाद्यता तर्कदृष्टि से संगत है।

न मारिअ दूता : नीतिविरोध की आपाद्यता का परिहार 'न मारिअ दूता' है। आशय यह कि 'यदि दूतो हन्येत तर्हि नीतिविरोधस्स्यात्' यह तर्क रावण को वधदण्ड के प्रातिनिध्य में दण्डान्तरप्रणयनका प्रेरक हो गया है। इस प्रकार बिभीषणजी ने तर्कसाचिव्य से की हुई भक्तिसेवा मननीय है।

कछु करिअ : बिभीषणजी ने अंगभंगादि दण्ड के प्रति सहमति देना 'कछु करिअ' का आशय है। इसमें मेघनादशक्ति-प्रहार की व्यावृत्ति करना इष्ट मालूम होता है।

गोसाँई : 'गोसाँई' से रावण में प्रभुताप्रयुक्त स्वतन्त्रता समझनी है।

सबहीं : नीतिविरोध की आपत्ति सुनकर पहिले शास्त्रानुमतत्व का प्रतिषेध सुनाया। पश्चात् दण्डान्तर में शास्त्रानुमतत्व 'कछु करिअ' से दर्शाया है। 'सबहीं' से लोकानुमतत्व

---

[१] कौटिलीयार्थशास्त्र १।१२।१६

भी दर्शा रहे हैं। सबमें मेघनाद भी ज्ञातव्य है।

भल : 'कछु करिअ' का स्वागत होना 'भल' से ज्ञातव्य है। एवंच बिभीषणोक्त नीतिविरोध की आपाद्यता के प्रति सर्वमान्यता स्पष्ट है।

भाई : 'भाई' से सभी दरबारियों की अनुमतिप्राप्ति समझनी है।

संगति—वधतुल्य दण्डान्तर पुच्छदाह है, वह कैसे किया जाय? कैसे होगा? उसका परिणाम क्या होगा? आदि का उत्तर रावण दे रहा है।

अथवा—निःशंक हनुमान्‌जी को समाधि से जगा कर सशंक कराने हेतु रावण समाधिजागरणोपाय कह रहा है।

चौपाई— ***सुनत बिहसि बोला दसकन्धर । अंगभंग करि पठइअ बन्दर॥ ९॥***
दोहा— ***कपि कें ममता पूँछ पर सबहि कहउँ समुझाई।***
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाई॥ २४॥
चौपाई— ***पूँछ हीन बानर तह जाइहि । तब सठ निज नाथहि लइ आइहि॥ १॥***
जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई । देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई॥ २॥

भावार्थ—सबका अनुमत सुनकर रावण हँसते हुए बोला—बन्दर को अंगभंग कर वापस भेजा जाय। बन्दर की ममता पूँछ पर अधिक है ऐसा सबका कहना है। अतः तेल में कपड़े डुबोकर पूँछ में लपेट कर आग लगा दो पूँछ के जल जाने पर समाधि से जागकर शठ अपने मालिक को साथ में ले आयेगा जिनकी इसने महत्ता गाई है, उनकी प्रभुता को भी देख लूँगा।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनत : वधप्रतिनिधिभूत दण्डान्तर में मेघनादसमेत सबकी सहमति रहना 'सुनत' है।

बिहसि : श्रीरामप्रभुत्वप्रतिपादक पूर्वोक्त सभी वचन अप्रमाण होंगे। इसी विश्वास से रावण का यह पुनर्हास मननीय है।

आकुंचिताक्षिखण्डं यन्मुखरागसमन्वितम्।
सस्वनं मधुरं यत्स्यात् तद्वै विहसितं भवेत्॥[1]

इस उक्ति का अर्थान्वयन 'बिहसि' में हो रहा है। आशय यह कि बन्दर योगी है इसका मनस् संयत है। वह क्लेशानुभवी नहीं है फिर भी पूँछ को दग्ध किया जाय तो समाधि से उत्थित होगा जिससे वह पराजित होगा।

बोला : वध्यतुल्य विधान करना 'बोला' से स्फुट है।

दसकन्धर : 'बिहसि' की अनुरूपता में 'दसकन्धर' कहना साभिप्राय है।

अंग भंग : अंग में विकृति या रूपपरावृत्ति करना 'अंग भंग' है। यह दण्ड तीक्ष्ण नहीं पर उससे अति लज्जावह है क्योंकि वह आजीवन स्मरणीय रहेगा वह सबके सामने प्रगट होता रहेगा।

पठइअ बन्दर : अंगभंग के बाद वह स्वयं न जा सके तो उसके भेजने की व्यवस्था करना 'पठइअ' है। 'बन्दर' शब्द उपहसनीयतार्थक है।

---

[1] भावप्रकाशन ६०।१०

ममता : 'ममता' से अति प्रिय वस्तु समझाई है। उसका विनाश योगियों के लिए भी महादु:खकर है। हनुमान्जी योगी हैं उन्हें मानस संयत होने से क्लेश नहीं होता है। पुच्छ बन्दर का अतिप्रिय होने से उस पर आघात करना चाहिए। जिससे हनुमान्जी का मनस् चंचलायमान होगा। समाधिस्थ के समाहित प्राण को नीचे उतारने के लिए योगियों के अतिप्रिय को क्लेश दिया जाना ही चिकित्सा है जो यहाँ 'ममता' से ज्ञातव्य है। शत्रु के मनोमय कोश पर आघात पहुँचाना 'ममता' का लक्ष्य है।

सबहि : कपि की ममता पूँछ के प्रति होने की सूचना सबको सुनाना 'सबहि कहहु' है। जिससे कि कोई पुच्छदाह के प्रति विनिगमना न पूछे।

तेल : 'तेल' घृत का उपलक्षक है। पुच्छ दग्ध करने के लिए कतिपय समय के लिए अग्नि को टिकाने हेतु तेल उपयुक्त है।

पट बाँधि : देहलीदीपन्यायेन 'पट' शब्द 'बोरि' व 'बाँधि' से अन्वित है।

पावक देहु : शस्त्रास्त्रों से प्रहत होने पर भी चोट न लगने से सम्भव है कि अग्नि बन्दर को पीड़ा न करे तथापि तेल के ईंधन से अग्नि इतना तीव्र हो कि पुच्छ को कृष्ण वर्ण बना दे जिससे कतिपय दिनों तक तो कालापन पूछ में टिका रहे। तावतापि श्रीराम के प्रभुत्व सम्बन्धी हनुमद्वचन अप्रमाणित होंगे। अत: 'पावक देहु' कहा है।

लगाइ : अग्नि को कपड़े में लगाने का आदेश देना मात्र 'लगाई' से ज्ञातव्य है।

चिन्त्य है कि यहाँ तक लंका की लोकस्थिति स्पष्ट है। परन्तु दाहकता का होना न होना स्वतन्त्र शक्ति पर निर्भर है; क्योंकि प्रस्तुत में सीताजी के वचनप्रमाण ने दाहकता को कुण्ठित कर रखा है। इस रहस्य को न जानकर ही रावण ने 'लगाइ' का उक्त आदेश दिया है।

अग्नि से दग्धपुच्छ बन्दर अपने मण्डल में जाता है तो प्रभुपराजय निर्णीत है क्योंकि उस सर्वज्ञ ने कैसे दूत को भेजा जो दग्ध हो गया उसका परिणाम सर्वज्ञत्वाभाव सूचित करने में है। अभी तक रावण सीताजी के समक्ष पराजित है वह वाग्युद्ध में हनुमान्जी से भी पराजित हो चुका है। अत: वह अब 'लगाइ' कह रहा है।

पूँछ हीन : पुच्छदग्धता हनुमान्जी के एकाग्र मनस् को चल करेगी ही क्योंकि मानस को चलायमान कराने में उसके प्रिय को क्लेश होना अपेक्षित होता है। किन्तु वैसा यहाँ सम्भव न हुआ तो हनुमान्जी चचंल नहीं होंगे। तथापि रावण ने यह निर्णय किया कि 'तेल बोरि पट बाँधि' से आग लगाने पर बन्दरअविकृत 'पूँछ हीन' अवश्य हो जायेगा। अत: 'पूँछ हीन' कहा है।

बानर : प्रथम पक्ष यही है कि समाधि से अभ्युत्थान तभी हो जायेगा क्योंकि चंचलजाति वानर कब तक एकाग्र रहेगा? इस दृष्टि से 'बानर' कहा है।

तब : 'तब' से दग्धपुच्छ वानरगमनानन्तर्य बोधित है।

निज नाथहि : वानर अपने स्वामी को अपनी पराजय दिखायेगा। उस क्रोध का प्रत्युत्तर 'निज नाथहि' है।

लइ आइहि : पराजित स्वामी का आना असम्भव है तथापि क्रोध में आकर अविवेक

के कारण स्वामी के लिए 'लइ आइहि' कहना उपपन्न है। यह पराजित विजिगीषु के लिए आह्वान है।

जिन्ह कै : २१।१ से २२।१ तक वर्णित तत्ववान् प्रभु यत् शब्दार्थ हैं।

कीन्हेसि बहुत बड़ाई : गुणकीर्तन होना 'बड़ाई' है उसमें 'बहुत' कल्पित है न कि सत्यता है। यह बन्दर स्वामी के वश हो गया है। स्तवन करने के पूर्व स्तोता की कृतिसाध्यता की स्तुति सीमा से बाहर जाकर करना वक्ता के द्वारा ही अप्रमाण होने की प्रसक्ति को निमन्त्रण देना है। इस आपत्ति को निरस्त कर प्रभु की प्रभुता प्रत्यक्ष से स्थापित करने हेतु हनुमान्जी ने अपनी शक्ति का याथार्थ्य दिखाना होगा। अन्यथा उनके शब्द का कोई मूल्य नहीं रहेगा। इस काण्ड का यही सौन्दर्य है कि प्रमाणत्रय के आधार पर शत्रुमण्डल में पहुँचे हनुमान्जी ने श्रीराम की प्रभुता स्थापित की है।

देखउँ : 'अयं प्रभुः' ऐसा बन्दर ने स्वमत को प्रत्यक्ष से प्रमाणित करना होगा। इसे स्वामी ने शक्ति को परखकर भेजा है। यदि यह कुण्डलिनीनाद से बोला होगा तो वह प्रत्यक्ष में खरा उतरेगा। अतः 'देखउँ' कहा है।

मैं : उपनिषद्सम्मत हनुमद्वचन को अप्रमाणित करने में रत रावण अस्मच्छब्दार्थ है।

तिन्ह कै : 'जिन्ह कै' से 'बड़ाई' सम्बन्धित है। अर्थात् 'हनुमत्स्वामी प्रभुः सर्वसमर्थः' ऐसा प्रत्यक्ष पुच्छदाह के अवसर प्रगट करना अपेक्षित है। अभी तक देवगण, स्वस्वामी की समर्थता प्रगट नहीं कर सके। रावण ने उन्हीं को 'तिन्ह कै' से सम्बोधित किया है।

प्रभुताई : 'विषमप्यमृतं भवेत्' ऐसी शक्तिमत्ता 'प्रभुताई' है। हनुमान्जी ने स्वामी को प्रभुतासम्पन्न कहा है। अभी हनुमान्जी के प्रति साम, दान, प्रीणन अर्थसम्भोग से किया जाने वाला प्रीणन कार्य रावण के सामने सिद्ध होगा तो 'प्रभुताई' कहना उपपन्न होगा।

रावणोक्ति का निष्कर्ष

रावण हनुमान्जी का उपहास इसलिए कर रहा है कि यह दूत स्वामी की प्रशंसा कर रहे हैं जो नीतिदृष्टि से विश्वसनीय नहीं है; क्योंकि श्रीराम की प्रभुता इतिहास में कहीं भी वर्णित नहीं है। उस अवस्था में श्रीराम में प्रभुता मानना उपहास है। हनुमान्जी श्रीराम को मानव की सीमा के बाहर मानते हैं, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यदि वे प्रभु रहते तो वे प्रत्यक्ष में कामपराधीन हो नहीं सकते थे न तो मायामृग के पीछे दौड़ते। अतः 'रामो न प्रभुः' ऐसा ही रावण मानता है।

संगति—तेल में कपड़े डुबोना एवं पूँछ में लपेट कर आग लगाना—ऐसी तीन क्रियानुशासन व तदनुबन्धी वर्णानुपूर्वी के उच्चारण का स्वतन्त्र कर्तृत्व रावण में न होकर सरस्वतीजी में है यतः तेल के रहते पुच्छ दग्ध होनी नहीं है। ऐसा हनुमान्जी का विचार शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— *बचन सुनत कपि मन मुसुकाना । भइ सहाय सारद मैं जाना॥ ३॥*

भावार्थ—रावणोक्त वाणी की प्रेरणा में शारदाजी को सहायक समझकर हनुमान्जी मनस् में मुस्कराने लगे।

शास्त्रीय व्याख्या

बचन सुनत : रावण के वचन व तदर्थ समझना 'बचन सुनत' है।

कपि : समाधिस्थ कपि के शरीर की चेष्टा के प्रवर्तक शिवजी 'कपि' से बोध्य हैं।

मन मुसुकाना : देह के रूप में स्थित शिवजी ने अतिहर्ष में आना 'मन मुसुकाना' है। आशय यह कि प्रभुकृपा से हनुमान्जी ने ऐसा समझा कि जब कपड़े पुच्छ में बाँधे जायेंगे तो कपड़ों का तेल जमीन पर न गिराते हुए पुच्छ में रोकना होगा। फलतः वह कुप्पा तेल का आधार होगा जब कपड़ों में आग लगेगी तब उसके भीतर से तेल का प्रवाह मिलता रहेगा तो पुच्छ दग्ध नहीं होगी। इस तथ्य को प्रहरियों ने नहीं समझा। इसलिए कपि का 'मन मुसुकाना' सार्थक है।

ज्ञातव्य है कि त्रेतायुग में दिव्य परीक्षा होती थी उसके अन्तर्गत अग्निपरीक्षा भी विहित है। हनुमच्छरीर निर्मल साधु हैं उनको विश्वास है कि यह शरीर अग्निदग्ध नहीं होगा जैसा कि पतिव्रताओं को पति की मृत्यु के बाद देह जलाने में दुःख न होना पुराणों में उक्त है। अतः 'मन मुसुकाना' है।

सहाय सारद : 'सारद' से वाणी विवक्षित है। अर्थात् रावणवचन को अप्रमाणित बनाने हेतु हनुमान्जी ने जो वचन (उलटा होइहि कह हनुमाना) कहा था उसी को सरस्वतीजी ने अनुष्ठानतः प्रमाणित करना सोचकर हनुमान्जी 'सहाय सारद' कह रहे हैं। उसका अपना पृथक् प्रामाण्य 'सहाय' समभिव्यवहार से समझाया गया है क्योंकि गूढ शब्दार्थनिर्णय में नियामकतया वक्ता का अपना तात्पर्य शारदारूप नहीं होता वरन् कार्यकारी शब्द की आनुपूर्वी ही निर्णायक होती है। वैशैषिक मत में शब्द में स्वतन्त्र प्रामाण्य न मानकर शाब्दबोध का अन्तर्भाव अनुमान में करने का संप्रदाय है तथापि न्यायादि मत में शब्द की प्रमाणता पृथक् मानकर शाब्दबोध की अनुमिति से पृथक् माना है।

मैं जाना : 'मैं' से प्रभुकृपाप्राप्त कुण्डलिनीजागरण में रहते अन्तस्थित, अग्निज्वालानाद के श्रोता हनुमान्जी समझने हैं। बिभीषणजी के सहमति से पुच्छदाह होने पर भी साधु-स्वभाव में रहे हनुमान्जी ने अन्तर्नाद से पुच्छरक्षण हो जाना समझा। जो 'मन मुसुकाना' शीर्षक से स्पष्ट है।

हनुमान्जी ने प्रभु की प्रभुता को यादकर रावण के वचनों को समझाने वाली शारदजी को समझना 'मैं जाना' का भाव है।

संगति—विवेकशून्य राक्षसोंद्वारा रावणानुशासनान्वयन व उसका परिणाम शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचै मूढ़ सोइ रचना॥ ४॥
रहा न नगर बसन घृत तेला। बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला॥ ५॥

भावार्थ—रावणवचन सुनकर अपनी मूढता में वैसी ही रचना राक्षस करने लगे गये। हनुमान्जी ने भी खेल में पूँछ को इतना बढाया कि नगर में वस्त्र व सभी प्रकार के स्नेह समाप्त हो गये।

शास्त्रीय व्याख्या

जातुधान : 'जातुधान' से मौल व भृत सैन्य विवक्षित है।

सुनि : रावण के अन्तःस्थित सारस्वत महावाक्य से व्यंजनया सूच्य तात्पर्यविषय न समझकर रावण की इच्छा के अधीन हो शब्दार्थ मात्र को समझना 'सुनि' है। परन्तु व्यंग्यार्थ को समझकर बिभीषणजी स्वस्थ हैं।

रावन बचना : रावण राजा है। उसकी शासनप्रणाली वचन पर आधारित है। अतः 'रावन बचना' कहा है। ज्ञातव्य है कि अपने को मालिक समझने वाले शासक शासन का दुरुपयोग किस प्रकार करते हैं समझाने हेतु 'रावन बचना' कहा है।

मूढ़ : ब्रह्मतेजस्सम्पन्न ब्रह्मास्त्र के पराधीन जो न हो सका उसे लौकिक अग्नि से जलाना सम्भव नहीं ऐसा न समझना मूढ़ता है।

सोइ रचना : कपड़े पर कपड़ा चढ़ाना 'सोइ रचना' है। 'सोइ' से प्रत्येक कपड़े का तेल में डूबना भी व्यक्त है।

रहा न नगर : राजप्रसादाकांक्षी सेवकों व नागरिकों ने अपनी ओर से दण्डनिमित्त तेल एवं कपड़े लाने तथा पूँछ पर चढ़ाने इत्यादि कार्य करने से नगर में दोनों वस्तुओं का अभाव 'रहा न नगर' का आशय है।

बाढ़ी : पुच्छ का दीर्घपरिमाणवती होना 'बाढ़ी' है।

खेला : पुच्छ को दीर्घपरिमाणयुत करने में हनुमान्जी को कोई आयास प्रतीत न होना 'खेला' है।

संगति—हनुमान्जी को होने वाला प्रकाशदण्ड देखनेहेतु हर्षपूर्वक नागरिकों का आना व उनके कार्यों का वर्णन कर रहे हैं।

चौपाई— कौतुक कहँ आए पुरबासी । मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी ॥ ६ ॥
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी । नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी ॥ ७ ॥

भावार्थ—बन्दर को दिया दण्ड देखने हेतु पुरवासी कौतुक से आकर चरणों से प्रहार करते हुए हँसने लगे। वे ढोल बजाते हुए हर्ष में तालियाँ पीटते हैं। हनुमान्जी को पूरे नगर में घुमाकर पूँछ में आग लगायी गयी।

शास्त्रीय व्याख्या

कौतुक : 'कौतुक' से नागरिकों का हर्ष दिखाया है उससे पुच्छदाह के प्रति लोकानुमति सिद्ध है।

पुरवासी : 'पुरबासी' से बिभीषणादि प्रभुसेवकातिरिक्त गृहवासी समझने हैं।

मारहिं : बँधे हुए कपि का भागना असम्भव समझकर प्रजा ने अपनी ओर से तेजोहीनता के भ्रम में बन्दर पर चरणप्रहार करना प्रारम्भ किया जो राजमान्य हो गया। यह प्रहाररूपी अपमान घरों को जलाने में सहायक होगा। अतः निरूपित है।

हाँसी : पुरवासियों का हर्ष 'हाँसी' से कहा गया है। हनुमान्जी को दिया यह दण्ड लोकमतानुसारी होने से किसी को तीक्ष्णता का भान नहीं हो रहा है।

ध्यातव्य है कि राजा गुणसंस्कृत न हो राज्य करते हैं तो उन पर अंकुश रखने के

लिये नीत्यात्मक धर्म नियामक माने गये हैं जो प्रभु के द्वारा सुरक्षित हैं। उन पर यदि असंस्कृत राजा आक्रामक होता है तो तन्नियन्त्रणार्थ प्रभु विभूतिसमेत अवतीर्ण हो दण्ड देते हैं। उसका एक यह बिन्दु हनुमच्चरित्र है।

बाजहिं : अग्निदहन की तैयारी में लोग ढोलक बजा रहे हैं। चारों ओर शोक समाप्त हो हर्ष छा गया है।

तारी : तालियाँ पीटकर रावण का जय-जयकार करना स्पष्ट है। अराजकता की समाप्ति लक्षित होने से चिन्ता समाप्त होना 'तारी' का भाव है।

नगर फेरि : तैलीय कपड़ों से युक्त पुच्छवान् हनुमान्जी को बाँधकर नगर में घुमाना 'नगर फेरि' है।

प्रजारी : चिन्त्य है कि असुर व लोभविजयी के राज्य में शिष्ट नीतिमानों पर अत्याचार व नास्तिकवाद का प्राबाल्य जब होने लगता है तब वह अधर्म राजविनाश का कारण बन जाता है जो आगमरक्षित राज्य में भी अनुभूत हो रहा है। रावण ने हनुमान्जी पर अत्याचार किया व सन्देहभाव से 'देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई' कहा, जिसे सुनकर हनुमान्जी के लिए भक्त्युपबृंहित निर्मानमदमोहसामानाधिकरण्य, गुरु-मातृ-स्वामि आदि की सेवा की महत्ता एवं स्ववचनप्रमाणता प्रगट करने का यह आद्य क्षण है। ऐसे क्षणों की उपलब्धि हनुमद्भरतसदृश भक्तों को सहज प्राप्त होती रहती है। अतः वसुन्धरा पर प्रभु अपने भक्तों को भेजते रहते हैं। अभी हनुमान्जी ने परराष्ट्र में पहुँचकर प्रजा के समक्ष भक्ति सहित पितृसेवा, स्वामिसेवा की प्रबलता स्थापित की है व उपनिषद् समेत आगम का आदर किया है।

संगति—हनुमान्जीद्वारा अग्निको तृप्त करना व लंका में भय उदित करना ग्रन्थकार वर्णित कर रहे हैं।

चौपाई— पावक जरत देखि हनुमन्ता । भयउ परम लघुरूप तुरंता॥ ८॥
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी । भईं सभीत निसाचर नारी॥ ९॥

भावार्थ—अग्नि को धधकते हुए देखकर उसको तृप्त करने हेतु हनुमान्जी छोटा रूप लेकर अट्टारी पर चढ़ गये उन्हें देखकर निशाचरपत्नियों में भय समा गया।

शास्त्रीय व्याख्या

पाव जरत : तेल से आर्द्र कपड़े वर्तिकास्थानापन्न हो अग्निज्वाला को बाहर भेज रहे हैं उससे अन्तः ताप न होना 'पावक जरत' है।

देखि : हनुमान्जी ने दोहा २५। ३ में 'मन मुसुकाना' से जैसा सोचा था उसको देखना 'देखि' है।

लघुरूप तुरंता : जितने दीर्घपरिमाण के गणित से रस्सी बँधी थी तदपेक्षया शरीर में लघिमा आई तो बन्धन शिथिल हो गये। इस तरह हनुमान्जी का स्वतन्त्र होना 'लघु' से स्पष्ट है।

'रूप' से शरीर विवक्षित है। शरीर का इच्छानुरूप परिवर्तन होने में समय न लगना 'तुरन्ता' से समझना है।

निबुकि चढ़ेउ : कूदकर ऊपर जाने हेतु शरीर को झुकाना 'निबुकि' है।

उपरिस्थ प्रदेश को लक्ष्य बनाकर एक छलांग में शरीर को चढाना 'चढेउ' है।

कनक अटारी : गगनचुम्बी घरों की छत पर सुवर्णमय अट्टारियाँ हैं। इससे लंका में श्री का रहना कल्पित हो रहा है।

भईं सभीत : वानर का कैद से निकल भागना अनर्थ का कारण है ऐसा समझकर मृत्यु से शंकित होना 'सभीत' का भाव है।

निसाचर नारी : ज्ञातव्य है कि शत्रु के सामने न झुकने का संकल्प लेने वाले रावण व उसके पार्षद भीत नहीं है। वे जानते हैं कि युद्ध ठनने पर यह सब होना ही है। आज लंका जल रही है किन्तु प्रसंग आने पर वह अवश्य विजयवती होगी। अतः उन्हें भयभीत न कहकर 'निसाचर नारी'यों को भयभीत कहा है।

संगति—लंकादहनहेतु आधिभौतिक पवन से अग्नि भड़कना सम्भव नहीं; क्योंकि पवन देवता रावणाधीन हैं। तब हनुमत्संकल्प को पूर्ण करने हेतु प्रभु ने स्वतंत्र मरुतों को प्रेरित किया जो श्रीराम के प्रलयकालीन अनुचर हैं।

दोहा— ***हरि प्रेरित तेहिं अवसर चले मरुत उनचास।***
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लागि आकास॥ २५॥

भावार्थ—उस समय हरि से प्रेरित हो ४९ मरुत बहे। कपि ने जोरों से गर्जना की और आकाशमार्ग से ऊपर की ओर बढते चले गये।

शास्त्रीय व्याख्या

हरि प्रेरित : रावण ने दूत से प्रेरक की प्रभुता दिखाने हेतु कहा था उसी को 'हरि प्रेरित' से हनुमान्‌जी पूर्णतया दर्शा रहे हैं। इस प्रकार शत्रुराष्ट्र में पहुँचकर हनुमान्‌जी ने अपने वचन को प्रमाणित किया। यह तदितरासाधरण पौरुष है क्योंकि हरि से इतर सभी रावण के अधीन हैं। भक्तिपक्ष से अदृष्ट के स्थान पर 'हरि' कहने की परम्परा ध्यातव्य है।

अथवा—देवों के द्वारा परीक्षा में उत्तीर्ण हनुमान्‌जी की कृति को देखते हुए कार्य करने का अवसर प्राप्त होते ही प्रलयकालीन सांवर्तक नामक मेघों के चालक व मरुद्गण के प्रेरक इन्द्र ही 'हरि' से बोध्य हैं।

अथवा—हनुमान्‌जी का स्वतन्त्र कर्तृत्व निरस्त कर 'हरि' में प्रयोजककर्तृत्व के स्थापनार्थ 'हरि प्रेरित' कहा है।

तेहि अवसर : हनुमान्‌जी ने राजमन्दिरों में अग्नि लगाने का कार्यारम्भ करने का समय 'तेहि अवसर' से ज्ञातव्य है।

चले मरुत उनचास : यद्यपि हरि की प्रेणा से मरुद्गण चल रहे हैं। तथापि वह प्रेरणा अभूतपूर्व अथवा पूर्वपरम्पराप्राप्त है इतना ही विचारणीय है। यदि अभूतपूर्व मानी जाय तो तत् (श्रीराम) प्रेर्यत्वप्रयुक्त दाह की अन्यत्र प्राप्ति होगी ही नहीं पर यह ठीक नहीं; क्योंकि इसके विरोध में शास्त्रीय वचनों से अन्यत्र दाह होना सिद्ध है। जैसा कि 'साध्वपमानेन दाहदुर्भिक्षक्षुब्ध्वातादि जायतां' से दाह होना कहा है। जो सुश्रुत में जनपदध्वंसनीयाध्याय में उक्त है। अतः द्वितीय कल्प ही मननीय है। शिवजी ने साध्ववज्ञा का फल कहकर भक्ति, विवेक, विरति एवं नययुक्त कार्य-कारणभाव दर्शाया है एवंच 'हरि

प्रेरित' से 'साध्वपमाने महावातो जायताम्' ऐसी इच्छा पूर्वपरम्परा से प्राप्त है। हनुमान्जी अशंक तप:श्रद्धा, धीर निश्शंक हैं उनके वचन को अप्रमाणित करना साध्ववज्ञा है उसका फल महाझंझावात है जो हरि की पूर्व परम्पराप्राप्त उपर्युक्त इच्छाधीन है। प्रस्तुत में भक्ति को बताकर उसकी सेवा में धर्म को नियुक्त करना है उसके मूल में शब्दप्रामाण्य को दृष्टविधया स्थापित करना था वह कार्य अभी सम्पन्न हो रहा है।

अथवा—सीताहरण के पूर्व लंका में साध्वपमानप्रयुक्त उपद्रव असम्भव नहीं था तथापि ईश्वर मानुष रूप में अवतीर्ण हो शास्त्रप्रेरणाधीनत्व की लीला दिखाने में कृतसंकल्प हैं। उन्हें नीतिप्रकाशन भी करना है उसके अन्तर्गत दूतचरविकल्प प्रदर्शनीय था। वह पूर्ण कर उसके माध्यम से यहाँ उत्पात दर्शाया है। इस प्रकार भक्ति की अंगिता सिद्ध कर उसमें शब्दप्रमाणता पर बल दिया। जिसकी सिद्धि प्रत्यक्ष से हुई। उसका प्रयोजन यह कि भविष्यत् में भक्त तप:श्रद्धा, धैर्य, निश्शंकता से युक्त होते रहें व उनके द्वारा मानवता स्थापित होती रहे।

ध्यातव्य है कि रावण की अनीति देखकर निगमागम के साथ प्रकृति भी क्षुब्धा थी उसे केवल शब्दप्रमाणवादी अशंक हनुमान्जी जैसे भक्त की प्रतीक्षा थी वह अभी पूर्ण हुई। अभी तक ब्रह्मदत्तवर का आदर करते हुए प्रकृति ने रावण को अपमानित नहीं किया क्योंकि औपनिषद पुरुष के प्रसन्नताधायक वेद व आगमप्रमाणवचनानुयायी सत्यसन्धवचन को अनुष्ठानत: प्रमाणित करना था साथ ही निरभिमानी धर्म को भक्ति का अंग बनाकर उसकी प्रमाणता स्थापित करनी थी वह कार्य जब पूर्ण होगा तभी भक्ति की अंगिता के साथ वचनप्रामाण्य सिद्ध होगा अत: यह उक्त तथ्य पूर्ण हुआ देखकर प्रकृति ने उन्चास पवनों को प्रवाहित किया।

उनचास पवनों के प्रवाह का फल

उन्चास पवनों के प्रवाह में भड़के विशाल अग्निपुंज ने किये दाह से सुवर्णप्राकार भस्म होने से पुन: सुवर्णप्राकार होने नहीं हैं; क्योंकि आगम के प्रति रही रावण की एकाग्रता भंग हो गई; क्योंकि वह शंकित हो गया। जैसा कि लंकाकाण्ड में अंगद-रावणसंवाद में रावणोक्ति 'है कपि एक महाबल सीला[१]' से प्रगट है।

अट्टहास करि : रावणकृत दण्डव्यवस्था का भंग 'अट्टहास' का भाव है। आज तक जो भी बल प्राप्त हुआ उसकी क्षीणता दिखाकर प्रभु की प्रबलता 'अट्टहास करि' से दर्शायी है।

बढ़ि लागि अकास : तेजोमय लघु शरीर होने से वह आकाश (निराधार) में स्थिर रहा। इसी विस्मय में सबकी बुद्धि ने हतप्रभ होना 'बढ़ लागि अकास' का प्रयोजन है।

संगति—आग लगी एवं हवासमूह बहने लगे तब हनुमान्जी ने गर्जना कर प्रकाशयुद्ध के लिए आह्वान किया इस प्रकार प्रभु की प्रभुताई प्रगट हुई। उसकेपरिणाम में हुए लंकादाह से हुआ हाहाकार कवि वर्णित कर रहे हैं।

---

[१] लंकाकाण्ड २३।५

अथवा—'बढि लागि अकास' का व्याख्यान करते हुए राक्षस—नागरिकों एवं बच्चों की अतिवाणी व उनके भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त करते हुए लंकादाह के प्रति शिवजी साधु अवग्या को ही कारण मानते हैं। जैसा कि बिभीषणगृह का दाह न होने से स्पष्ट कर रहे हैं।

चौपाई— *देह बिसाल परम हरुआई । मन्दिर ते मन्दिर चढ़ धाई॥ १॥*
जरइ नगर भा लोग बिहाला । झपट लपट बहु कोटि कराला॥ २॥
तात मातु हा सुनिअ पुकारा । एहिं अवसर को हमहि उबारा॥ ३॥
हम जो कहा यह कपि नहिं होई । बानर रूप धरें सुर कोई॥ ४॥
साधु अवग्या कर फलु ऐसा । जरइ नगर अनाथ कर जैसा॥ ५॥
जारा नगर निमिष एक माहीं । एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥ ६॥

भावार्थ—तेजोरूप देह विशाल व हलका है एक प्रसाद से दूसरे प्रासाद पर जा रहा है। लंका दग्ध हो रही है लोग बेहाल हैं। करोड़ों लपटें निकलकर पूरी लंका को जला रही हैं। हे माँ! हे पितः! इस दुःखद घटना से बचाने वाला क्या कोई रक्षक है? हमने कहा था कि यह वानर नहीं वरन् उसरूप में कोई सुरविशेष है। साधु के अपमान का यह फल भोगना पड़ा कि लंका अनाथ के समान दग्ध हो रही है। इस प्रकार एक निमेष में लंका नगर जला परन्तु बिभीषणजी का घर नहीं जला।

शास्त्रीय व्याख्या

देह बिसाल : विशालकाय देह दिखाकर सम्पूर्ण नगरवासियों को विशाल शक्ति का अनुमान कराकर उन्हें सशंकित कर श्रीराम की ओर एकाग्र करना 'देह बिसाल' का भाव है।

परम हरु आइ : तेजोमय विशाल देह होने से उसका हल्का होना स्वतःसिद्ध है। यह उक्ति आकाश में रहने की उपपादिका है। इस प्रकार नीति के अनुसार परराष्ट्र में पहुँचकर हनुमान्जी ने राक्षसों को अपना प्रताप तथा उत्साह दिखाया।

मन्दिर ते मन्दिर : देदीप्यमान् शरीर का एक प्रासाद से दूसरे प्रासाद पर जाना 'मन्दिर ते मन्दिर' से दर्शाया है।

जरइ नगर : 'छत्रिणो यान्ति' के समान 'जरइ नगर' का प्रयोग है; क्योंकि बिभीषणजी जैसे भक्तों के घर दग्ध नहीं हुए।

लोग बेहाला : विशालकाय बन्दर देखकर प्रधान एवं प्रहरी आदि भी भीत हो गए। अब कोई त्राता न होने से प्राणहरणभय से हाहाकार मचना 'बेहाला' है।

झपट लपट बहु : हवा के बहने का सार्थक्य 'झपट लपट' में है। उनका आधिक्य 'बहु' से वर्णित है।

कोटि कराला : अनेकविध रूप में एक महान् अग्निपुंजज्वाला के हवाबाहुल्य से अनेक अवयवी व अवयवों का बनना 'कोटि कराला' है।

तात मातु : माता-पिता करुणार्द्र हो बच्चों को विपत्ति से बचाते हैं इस न्याय से प्रत्येक नागरिक का मनस् माता-पिता की ओर होना 'तात-मातु' का भाव है।

सुनिअ पुकारा : छठवीं चौपाई तक की आवाज 'पुकारा' से ग्राह्य है। करुण-

क्रन्दन 'पुकार' है। यद्यपि ईश्वर को ही धाता पिता-माता कहा जाता है। अतः पुकार तत्परक है तथापि रावण ने निषेधाज्ञा कर रखने से कोई भी ईश्वर नाम से उनको पुकार नहीं कर रहा है।

एहिं अवसर : लंकादेश से अग्नि का संयोग व आज का दिवससम्बन्ध 'एहिं अवसर' से बोध्य है जो दुस्सहनीय विपत्ति का अधिकरण हो रहा है।

को हमहि : 'को' से दुरपनेय विपत्तिनिवारक की खोज है। 'हमहि' से लंकावासी समझने हैं।

हम : अस्मच्छब्द से बिभीषणसंगति में रहे सेवक सेविकाएँ समझनी है।

कहा : 'कहा' से भूतकालीन उक्ति स्मर्तव्य है।

कपि नहिं : 'कपि' से वानरत्वजातिमान् व उसका भेद 'नहिं' से स्फुट है।

सुर कोई : अक्षयकुमारवधादि एवं दाहकर्तृत्वविशिष्ट जीव 'सुर' से ग्राह्य है। सुरविशेष का निर्णय न होना 'सुर कोई' से बोध्य हैं।

जितने भी प्रसिद्ध सुर हैं वे रावण के महल में उपस्थित हैं। तद्भिन्नत्व कपिविशेष में निर्णीत है वह भिन्नत्व परिचित नहीं है तथापि लंकादाहात्मक दुरपनेय कार्यकर्ता होने से 'कोई' कहा है।

साधु : भक्ति, विरति, विवेक एवं नयविशिष्ट हनुमान्जी 'साधु' से बोध्य हैं।

अवग्या : उपरोक्त नीत्यादिगुणचतुष्टय सम्पन्न के प्रति वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, अर्थदूषणान्यतम का प्रयोग करना उनकी 'अवग्या' है।

फल : साधुअवज्ञा नगरदाह के प्रति एकमात्र कारण है अर्थात् उसे साधनान्तर की अपेक्षा न होना 'साधु अवग्या' का निष्कर्ष है। उसका फल सर्वविनाश है। जैसा कि नीतिसार में उक्त है—

असत्यता, निष्ठुरताऽकृतज्ञता भयं प्रमादोऽलसता विषादिता।
वृथाभिमानोऽपि च दीर्घसूत्रता तथाङ्गनाक्षादि विनाशनं श्रियः ॥[१]

जरइ नगर : 'नगर' से दुर्ग समझना है जहाँ कोश, धान्य आदि सुरक्षित रखे जाते हैं। तादृशगुणविशिष्ट का दहन होना 'जरइ नगर' है।

अनाथ कर जैसा : राजा, मंत्री, धर्मस्थ, कण्टकशोधक, सेनापति व युवराज के जीते हुए सबकी शक्ति क्षीण होना व रक्षण न कर पाना 'अनाथ कर जैसा' से ध्वनित है।

निष्कर्ष यह कि सबने सदा के लिए भीत होकर श्रीराम में तन्मय होना कहा जा सकता है, जो मुक्ति के लिए कारण होगा। हनुमान्जी का यह महान् कार्य साधुसभा में गेय होने से यह काण्ड सुन्दरकाण्ड है।

जारा नगर : नगरदाह होने से मनोप्रवृत्ति ने विरक्ति की ओर जाना ध्वनित है।

निमिष एक : विषयों को एकत्रित करने में समय की दीर्घता होती है किन्तु उसी को विनाश में निमेष पर्याप्त होता है। यह देख-सुनकर विरति ध्वनित की है जो शम का प्रशस्त मार्ग है। 'निमिष' क्षण का बोधक है।

---

[१] नीतिसार १०।४२

एक बिभीषन : 'एक' बिभीषणगृह से सम्बद्ध है। 'बिभीषण' से उनके सचिवादि सभी अक्षुद्र परिवार ज्ञातव्य हैं।

ध्यातव्य है कि शास्त्र में स्वामी वही माना जाता है जो वैध या निषिद्धकर्म, फलकामना से करता है। यह विचार मीमांसा के अधिकारप्रकरण में 'फलस्वाम्यं हि अधिकार:' से चिन्तित है। बिभीषणजी ने रावणानुगामी होने पर भी विनयादिप्रभाव से कभी साधुओं की अवज्ञा नहीं की। जैसा कि हनुमद्‌बिभीषण संवाद में अंकित है। एवंच लंकादाहरूप फलस्वाम्यरूप अधिकार प्राप्त न होने से उनका व मन्दोदरीजी का गृह जैसा-का-तैसा रह गया।

गृह नाहीं : 'गृह नाहीं' से बिभीषणजी की भक्ति ने मंत्रिणी नीति संवलित, आगम व श्रुति के द्वारा कल्पित अग्नि के प्रति जागरुक होना स्पष्ट है।

संगति—हनुमान्‌जी की पूँछ में चिरकाल तक ज्वाला रही फिर भी उनके सन्तप्त न होने की उपपत्ति शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— *ता कर दूत अनल जेहिं सिरिजा । जरा न सोइ तेहि कारन गिरिजा ॥ ७ ॥*

भावार्थ—जिन्होंने अनल का सर्जन किया उनका यह दूत है। अत: हे गिरिजे! हनुमान्‌जी विरूप या दग्ध नहीं हुए।

शास्त्रीय व्याख्या

ता कर दूत : तच्छब्द से त्रिदेवाधिदेव श्रीराम ज्ञातव्य हैं। उन्होंने स्वयं मुद्रिका देकर सीताशोधनार्थ भेजा होने से हनुमान्‌जी उनके 'दूत' हैं।

अनल जेहिं सिरिजा : 'ता कर' घटित 'ता' को आकांक्षित अर्थ 'जेहिं' से स्फुट है। प्रभु ने अनल का निर्माण करना 'अनल जेहिं सिरिजा' है।

आगम को प्रमाणित रखने हेतु ब्रह्माजी ने रावण को वर दिया। अनल व अनिल दोनों ब्रह्मवचन में अप्रामाण्यप्रसक्ति के भय से रावणाधीन हो गए। **'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयंच्छेत्तुमसांप्रतम्'** होने से कर्मकाण्ड से क्लृप्त आग लंका को दग्ध करने में रुचि नहीं ले रही है। वह ब्रह्मवरानुगुण्य में रावण का नाश स्वयं ने करना इष्ट नहीं मानती। साधु सयाने हनुमान्‌जी को दिव्यपरीक्षा में उत्तीर्ण करना है इसलिए कर्मकाण्डोक्त शक्ति का सम्मान करते हुए प्रभु ने अपनी ओर से वह्नि का सर्जन किया।

जरा न सोइ तेहि : 'तेहि' से श्रीरामप्रसूत अनल विवक्षित है। हनुमान्‌जी साधु होने से उनके प्रति 'जरा न' कहना उचित है।

ज्ञातव्य है कि हनुमान्‌जी को अग्निस्पर्श से पीड़ा न होने पर भी उनके पुच्छ का परिवर्तन होना चहिये था। वैसा न होने की उपपत्ति यह कि ब्रह्माजी की योगमाया ने भूतेन्द्रिय गुणों की सृष्टि की है परन्तु वर्तमान अग्नि का सर्जन उस योगमाया के कृतिनियन्त्रण के बाहर है वह तो श्रीराम की स्वतन्त्र योगमायासंजात है। अत: पुच्छ के रूप का परिवर्तन न होना विस्मयकर नहीं है।

संगति—विश्रामपूर्वक फलभोजन कते हुए प्राप्त विश्राम से हनुमान्‌जी ने सहज समाधिस्थ होना दोहा १८। १ में कहा है। प्रभु की प्रेरणा से समाधिस्थ हनुमान्‌जी लंकादाह

करके समुद्र में कूदे वैसे ही उनका जगना[१] एवं सीताजी से भेंट होने की साक्षिता में अपेक्षित चिन्ह की याचना करने का उपक्रम शिवजी कह रहे हैं।

चौपाई— *उलटि पलटि लंका सब जारी । कूदि परा पुनि सिन्धु मझारी॥ ८॥*

दोहा— *पूँछ बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि।*
जनकसुता के आगें ठाढ़ि भयउ कर जोरि॥ २६॥

चौपाई— *मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा । जैसें रघुनायक मोहि दीन्हा॥ १॥*

भावार्थ—लंकास्थ सभी वस्तुओं को जलाकर शरीरात्मक मारुति समुद्र में कूद पड़े। पूँछ को समुद्र में डुबोकर आग बुझायी एवं पूर्ववत् लघुरूप से सीताजी के सामने हाथ जोड़कर खड़े होकर बोले—हे माताजी! मुझे कोई चिह्न दीजिए जिसे देखकर प्रभु निर्णय करेंगे, जैसे प्रभु ने दिया था।

शास्त्रीय व्याख्या

उलटि पलटि : अनुलोम व प्रतिलोम पद्धति 'उलटि पलटि' है।

सब : एक को भी अवशिष्ट न रहने देना 'सब' का भाव है। यह सब इतना शीघ्र हुआ कि लंकावासी अग्नि की ओर एकक्षणावच्छेदेन आकृष्ट होने से किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए।

जारी : प्राकार, गोपुर, अट्टारियाँ सुवर्ण की होने से भस्मयोग्य न होने पर भी उनका जल जाना 'जारी' का भाव है।

कूदि परा : लंकादाह के बहाने निगमागमसम्मत प्रामाण्य श्रीरामसमवेततया सिद्ध होने के पश्चात् हनुमद्वचनपूर्ति देखकर अन्तरात्मा शिवजी ने हनुमच्छरीर को समुद्र की ओर प्रेरित कर समुद्र के मध्य में कूदने की प्रेरणा देना 'कूदि परा' है। उसका प्रयोजन यह कि अट्टालकादि ध्वस्त होकर भस्मराशि रूप में जो अवशिष्ट थे उसकी प्रतिपत्ति समुद्र जल में करने से है। अर्थात् हनुमान्‌जी जैसे ही समुद्र में उछाल मारी वैसे ही समुद्र ने अति वेग से बढ़ते हुए सम्पूर्ण भस्म को अपने उदर में रख लिया।

मझारी : विशाल देह को समुद्र के मध्य में डुबाने की दृष्टि से 'मझारी' कहा है।

पूँछ बुझाइ : पूँछ को आग लगी किन्तु वह दग्ध न होकर केवल परिश्रान्त हुई। इस विचार से पूँछ को एक साथ स्नान कराना 'पूँछ बुझाइ' है।

खोइ श्रम : राक्षसोंद्वारा लंकाभ्रमण व प्रभुप्रताप को दिखाने के लिए आकाशमार्ग से अट्टालिकाओं पर दौड़ना इत्यादि श्रम से शरीर के वातपित्तादि में उछाल हुआ उसकी अनुभूति अभी होने से उस श्रम की चिकित्सा 'खोइ श्रम' से ज्ञेय है।

धरि लघुरूप : कैसा भी महान् पराक्रमी पुत्र हो उसने अपने को लघु समझ कर ही माताजी के सामने उपस्थित होने का सदाचार पालन करना 'धरि लघुरूप' से कवि ने दर्शाया है।

जनकसुता : संपत्ति व विपत्ति में एकरूप रहने वाले ब्रह्मज्ञ जनकजी, सत्यशील, प्रभुसेवक, साधुओं के प्रति अपना पूर्ण विश्वास रखने वाले सन्तों के हृदय में आत्मीयभाव

---

[१] योगवासिष्ठ में ऐसी समाधी का वर्णन प्रसिद्ध है।

बनाए रखते हैं। यह जो आदर्श राजा जनकजी का है वही गुण सीताजी में दर्शाने हेतु 'जनकसुता' कहा है।

ठाढ़ि : अति नम्रता से उपस्थित हो तूष्णीं रहना 'ठाढि' का ध्वनितार्थ है; क्योंकि लंकादाहकर्तृत्त्व हनुमान्जी में नहीं है।

कर जोरि : दोहा १७।६ से सम्बन्ध जोड़ते हुए अग्रिम वृत्तान्त निरूपयितव्य है। इसके पूर्व सोचना है कि आपाततः सम्पूर्ण कार्यकर्तृता हनुमान्जी में तत्वेन प्रतीत हो रही है उसको विवेकी नहीं स्वीकारते; इसलिए कि वे अपने को सदा प्रयोज्यवृद्ध मानते हैं।

ज्ञातव्य है कि अब वे हनुमान्जी समाधि से उत्थित हैं उस समय जानकीजी के साथ हुए संवाद की स्मृति उन्हें हो रही है। अतः स्वामी को सीताशोध सुनाना चाहते हैं तदर्थ प्रमाण की अपेक्षा होने से सीताजी को कर जोड़ कर प्रणाम कर रहे हैं।

मातु : दोहा १७।८ में 'सुत' कहा था उसी के प्रत्युत्तर में 'मातु' सम्बोधन है।

मोहि : दूत के रूप में आकर सीताजी से वार्ता करने वाले हनुमान्जी मच्छब्दार्थ हैं।

दीजे : दा धातु यहाँ लक्ष्यार्थ का बोधक है। जैसे 'रजकाय वस्त्रं ददाति' से प्रसिद्ध है।

चीन्हा : 'चीन्हा' सीताजी के दर्शन का ज्ञापक (अनुमापक व्याप्य) है उससे श्रीराम अनुमान कर हनुमान्जी के शोध को यथार्थ ठहरायेंगे।

इस याचना से चिन्तनीय तत्व यह है कि जो चिह्न निरुपाधिक असन्दिग्ध श्रीरामावगत हो वही चिन्ह याचित है।

जैसें रघुनायक : चिन्ह के स्वरूप का विवेचन 'जैसें' से चिन्त्य है। जिस प्रकार रघुनायकजी ने हनुमानजी से अपना नीतिकौशल प्रगट कराया। उसी प्रकार सीताजी का नायिकात्व स्थापित कराना ज्ञातव्य है।

दीन्हा : आप्तत्व-बुद्धिमत्व-आत्मालम्बन-समाधिस्थितत्व दौत्याभिमानित्वसमेत तेजस् व भक्ति हनुमान्जी में देखकर रघुनायकजी ने चिह्न दिया था। अभी सीताजी से चिन्हदान करने की प्रार्थना है। इसमें उपमानोपमेयगतसाधर्म्य चिन्त्य है।

संगति—हनुमान्जी को सीताजी ने निरुपाधि क चिन्ह समर्पित करना सुना रहे हैं।

चौपाई— चूड़ामनि उतारि तब दयऊ । हरष समेत पवन सुत लयऊ ॥ २॥

भावार्थ—माँ ने चूड़ामणि उतार कर दिया जिसे हनुमान्जी ने हर्षसमेत ले लिया।

शास्त्रीय व्याख्या

चूड़ामनि : किष्किन्धा में बन्दरों के पास आभूषण फेंके थे। अवशिष्ट चूड़ामणि हनुमान्जी को दीयमान अलौकिक चिह्न प्रभुकल्पित है।

उतारि : यह चूड़ामणि बलात्करेण ग्राह्य नहीं है। उसको देखे विना पतिदेव को संतुष्टि नहीं होगी। ऐसा सोचकर वेणी से उतारना 'उतारि' है।

दयऊ : हनुमान्जी को सीताजी ने चूड़ामणि देना 'दयऊ' है। यह दान स्व स्वत्व-ध्वंसपूर्वक परहनुमत्स्वत्वोत्पादक न होने पर भी लक्षणया प्रयुक्त है।

पवनसुत : हवा सर्वत्र घूमता हुआ तत्तपदार्थों को जहाँ–तहाँ पहुँचाता है। पर वह तत्तद्‌गुणमय नहीं होता। उनके पुत्र हनुमान्‌जी ने सर्वत्र विचरण करते हुए अन्तःपुरीय स्त्री–दर्शन से आरम्भ कर पराक्रम तक अनेकों कार्य किए परन्तु वे कपिप्रयुक्त विकृति से सम्बद्ध नहीं हुए समझाने हेतु 'पवनसुत' कहा है।

लयऊ : अमूल्यरत्न चिन्हरूप में हस्तगत होना 'लयऊ' है।

सेवक की फल प्राप्ति

दक्षता, भद्रता, क्लेशसहिष्णुता, सन्तोष, निश्छल सेवारुचि आदि गुणों को देखकर परीक्षक सेव्य श्रीराम ने हनुमान्‌जी पर पूर्ण विश्वास रखना ही सेवक के लिए प्रासव्य फल है। इत्थंच '**बृहस्पतेरविश्वासः इति शास्त्रार्थनिश्चयः विश्वासयेदविश्वस्तं विश्वस्तन्नातिविश्वसेत्**' इस उक्ति की अन्वर्थता के लिए हनुमान्‌जी अपवाद हैं। अर्थात् उक्त चरित्रानन्तर श्रीसीताराम दोनों की ही हनुमान्‌जी को मित्ररूप में उपलब्धि होना सेवक की फलप्राप्ति है।

चूड़ामणिग्रहण का नैतिक उपयोग

हनुमान्‌जी चर हैं उनके वचन की प्रमाणता 'त्रयाणामेकवाक्यत्वे' होगी तब मानी जाती है। पर अंजनीनन्दन की कृति की प्रमाणतार्थ को कोई चरान्तर उपलब्ध नहीं है। इस अवस्था में विना चरान्तर प्रमाण के स्वमुख से कुछ भी गाना चपलता होगी। उसका परिहार चूड़ामणिग्रहण से हो रहा है।

संगति—चूड़ामणि को देखकर लंका में सीतास्तित्व अनुमित कर श्रीराम आश्वस्त होंगे पर वे ऐसा न समझें कि सीताजी स्वधर्म के बल पर पूर्ण सुरक्षिता हैं क्योंकि जीवितावधि का समय मासमात्र है। उसके पूर्व ही पितृवचन और गांगेयवचन की प्रमाणता सिद्ध करनी है उसके लिए अपेक्षित दीर्घकाला यात्रा का आरम्भकाल व्यतीत हो चुका है इसलिये आप अपने प्रभुत्व को व्यक्त करने के साथ मेरी (सीताजी) इच्छा पूर्ण करने व स्ववचन की प्रमाणता सिद्ध करने की प्रार्थना प्रणामपूर्वक करती हुई सीताजी चार सन्देश भेज रही हैं।

चौपाई— कहेहु तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभू पूरन कामा॥ ३॥
दीन दयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥ ४॥

भावार्थ—हे तात! सर्वविध रीति से आप्त काम प्रभु को प्रणाम कहना वे यद्यपि उदासीन, पूर्ण निरपेक्ष, आत्मतृप्त है, परन्तु दीनदयाल बिरदावली को समन्वित कर मुझे अपरिहरणीय संकट से बचायें।

शास्त्रीय व्याख्या

कहेहु तात : 'कहेहु' के कर्म 'प्रनाम' व 'हरहु नाथ मम संकट' है।

'तात' सम्बोधन रक्षण की कामना होने से तदर्थ अपेक्षित करुणा के सूचनार्थ है।

अस : 'अस' शब्द से उत्तरार्ध से लेकर चौपाई ५ तक में उक्त अर्थ विवक्षित है, क्योंकि सीताजी प्रणाममात्र से प्रभु को अपनी ओर आकृष्ट करना इष्ट नहीं मानती। यतः वे स्व के प्रति की हुई रक्षणात्मक चेष्टा (चौपाई ५) एवं भक्तों के रक्षणार्थ की हुई प्रतिज्ञा

इन दोनों का स्मरण कराकर प्रभु को अति शीघ्र लंका पर चढ़ाई करने की योजना इष्ट मानती है।

मोर प्रनामा : विरह से दग्धा, पतिव्रतधर्मपालन में कटिबद्धा, अति पीड़िता, साध्वी सीताजी मच्छब्दार्थ हैं।

प्रार्थनार्थक लोट लकार समझ में आने हेतु 'प्रनामा' कहा है। यह प्रथम सन्देश है।

सब प्रकार : नैरन्तर्येण स्थित द्वैताद्वैत, सत्य-मिथ्या, भक्ति-अभक्ति के सिद्धान्त के अनुयायी 'सब प्रकार' से बोध्य हैं।

प्रभु : 'प्रभु' शब्द स्वाम्यर्थक है। तत्तत्सिद्धान्तानुयायी को स्व-स्व कार्य पूर्ण करने में प्रवृत्त कराना प्रभु का प्रभुत्व है। यतः सभी सिद्धान्तानुयायी श्रीराम के समक्ष अपने को अपकृष्ट समझकर प्रणत होते रहते हैं।

पूरन कामा : श्रीराम आत्माराम होने से ऐहिक एवं पारलौकिक पर्यन्त के सभी सुख की सदैव उपलब्धि होना 'पूरन कामा' है, क्योंकि आत्मा के सुख में सभी (सुख) फल समा जाते हैं। यदि आत्मा पर रहे अनानन्दतापादक आवरण भंग न हो तो विषय भी नीरस लगते है। यदि भोक्ता का अनानन्दतापादक आवरण विषयों के संग से हटा तो वह सुखी होता है। परन्तु वह भंग विषयप्राप्ति व स्वबल रहने तक ही सीमित रहता है अन्यत्र नहीं। परिणाम में जीव अपूर्ण काम न हो विषय की ओर दौड़ते हुए अधिक सुखविहरण में बने रहते हैं। यदि आत्मविषयक आवरणभंग जिसे हो जाता है उसे विषयमात्राकांक्षा नहीं होती ऐसा अधिकार प्रभु को स्वयंसिद्ध है। यदि जीवों को वही सुख ईश्वरादेशपालन से प्राप्त होता है तो वे पूर्णकाम होते हैं अन्यथा नहीं।

दीन दयाल : प्रभु निरभिमानी दीनों का दुःख हरने वाले होने से उन्हें 'दीन दयाल' कहा है।

संभारी : 'संभारी' का आशय यह कि वक्ष्यमाण प्रार्थना पूर्ण न होगी तो उनकी दीन दयालुता समाप्त होगी। यदि इसे इष्टापत्ति कही जाय तो भक्तिशास्त्रसहित समस्त विद्याएँ व श्रीरामोपदेश अप्रमाणित होंगे। वैसा न हो इसलिये 'संभारी' कहा है।

हरहु : दैन्य का कारण 'हरहु' से स्पष्ट है। जैसा कि सीताजी चारों ओर से हरणकर्ताओं के मध्य में वास करती हुई वचनाप्रामाण्यत्वापत्ति की अत्यासन्नतारूप संकट से आवृता हैं। यह प्रार्थना इसलिए कि प्रभुकृति के विना प्रकारान्तरेण राक्षसों के पंजों से प्रत्याहरण होना असम्भव है।

नाथ : वेद व तदनुप्राणित सत्यसन्ध श्रीराम साम, दान, अर्थ, सम्भोग से व नीतिमती माता सीताजी गंगाजी के अपौरुषेय वचनों व उन वाक्यार्थों का प्रीणन लालन करते आ रहे हैं। वे श्रीराम 'नाथ' से बोध्य हैं।

मम संकट : 'मोर प्रनाम' शीर्षक में सूचित विशेषणों से विशिष्ट सीताजी मच्छब्दार्थ हैं। हरणक्रिया कर्म के रूप में संकट ज्ञातव्य है। वे वक्ष्यमाण संकट निम्नलिखित हैं—

(१) साधु संरक्षण न होना।

(२) श्रीराम के द्वारा आदिष्ट कार्य को पूर्ण करने में प्रवृत्त सेवक ने कार्यसमाप्ति की

आशा से वंचित होना।

(३) ज्योतिर्विद्या रक्षण का असम्भव होना।

(४) एकमासावधिक जीवित रक्षणार्थ दीर्घकाला यात्रा के आरम्भ की सूचना न होना।

(५) थोड़ा भी प्रमाद हो तो अपना पराजय होना।

(६) सदा के लिए शास्त्र की अनुष्ठानतः अर्थतः अप्रामाण्यापत्ति आदि।

भारी : 'उत्तमा मानमिच्छन्ति' के अनुसार मान पर ठेस पहुँचना उत्तमप्रकृति के लिए 'भारी' है। यह दूसरा सन्देश है।

संगति—नीति में पूर्णकाम को प्रथम राजपदाधिकारी इसलिए माना कि वही आदर्श लोकसंग्राहक, सदाचारसम्पन्न, न्यायप्रिय, शूर, होने से निगमागम का रक्षण कर सकता है। श्रीराम के बाण रक्षण में समर्थ हैं अतः तीसरा सन्देश उनके बाण का प्रताप की याद दिलाकर सीताजी सुना रही हैं।

चौपाई— तात! सक्रसुत कथा सनाएहु । बान प्रताप प्रभुहि समझाएहु ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे तात! जयन्त को दी हुई सजा की कथा सुनाना। उसमें बाण के प्रताप का स्मरण प्रभु को करा देना।

शास्त्रीय व्याख्या

सक्रसुत कथा : कथा पूर्व में वर्णित है। इस वृत्तान्त के माध्यम से सीताजी ने श्रीराम के बाण की निष्कंपता, अखण्ड गतिमत्ता से परिचित होना सिद्ध है।

सुनाएहु : जयन्तकथा को सुनाना हनुमान्‌जी के चरकर्म की सफलता का दूसरा प्रतीक चिन्ह है। उसको सुनाने से हनुमत्-सीतासंवाद में दार्ढ्य (निश्शंकता) होगा।

बान प्रताप : जयन्तकथा का सारांश 'बान प्रताप' है।

समुझाएहु : आशय यह कि पूर्णकाम ने उस समय (जयन्त) मेरी उपेक्षा नहीं की तो यहाँ निगमागम की रक्षाहेतु उपेक्षा करने के भाव से 'समुझाएहु' कहा है। यह तीसरा सन्देश है।

संगति—यदि प्रभु उत्साहादि प्रदर्शित करने में इष्टापत्ति करते हैं तो सीताजी जीवित न रहने के संकल्प के साथ चतुर्थ सन्देश सुना रही है; जो अनुपेक्षणीय एवं विचारणीय है।

चौपाई— मास दिवस महुँ नाथ न आवा । तौ पुनि मोहि जिअत नहि पावा ॥ ६ ॥

भावार्थ—एक मास पूर्व हे नाथ! यदि नहीं आप आयेंगे तो मुझे जीवित नहीं पायेंगे।

शास्त्रीय व्याख्या

मास दिवस : मास के साथ दिवस समभिव्याहार से ३० सूर्योदय ज्ञातव्य हैं।

नाथ : प्रभु साम, दान, अर्थ सम्भोग से तृप्त करने वाले होने से 'नाथ' सूक्ति है।

न आवा तौ : 'न आवा' आपादक है अर्थात् मास पूर्ण होने के पूर्व यदि प्रभु यहाँ नहीं पहुँचे तो वह वक्ष्यमाण आपाद्य का साधक होगा। आपादक का चिह्न 'तौ' शब्द है।

मोहि जिअत नहिं पावा : चौथी चौथाई में उक्त संकटसहिष्णु सीताजी मच्छब्दार्थ हैं। 'मज्जीवितं न त्वं प्राप्नुयाः अपि च निगमागमप्रामाण्यं अनुष्ठानतः भज्येत' यह

आपाद्य है 'अर्थात् असहिष्णु दुःख भोगना होगा यह 'जिअत नहिं पावा' का भाव है।

संगति—विरहज्वाला भड़कने की पूर्णता आसन्न थी पर जीवननाश के प्रतिबन्धक हनुमान्‌जी ने वह टाल दिया। अब वे भी दूर हो रहे हैं। फलतः वह जीवन अभी ही समाप्त होने का प्रश्न खड़ा है। अतः जीवित रहने के प्रश्न से सीताजी पुनः वेदना प्रगट कर रही हैं।

चौपाई— ***कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना । तुम्हहू तात कहत अब जाना ॥ ७ ॥***
तोहि देखि सीतल भइ छाती । पुनि मो कहुँ सोइ दिनु सो राती ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे कपे! तुम भी अब लौट रहे हो। मैं एक मास तक किस प्रकार जीवित रहूँ। तुम्हें पाकर हृदय को शीतलता प्राप्त हुई, ज्वाला शान्त हुई, अब पुनः वे ही दिन और रात होंगे।

शास्त्रीय व्याख्या

कहु : मेरी (सीताजी) मृत्यु के हेतु प्रतिबन्धक कौन है इसका उत्तर 'कहु' से जिज्ञासित है।

कपि : 'कपि' शब्द से वानर का चंचलतादोष वर्णित है। पर 'कपि' शब्द यहाँ जातिमात्रपरक न होकर गुणपरक है।

केहि बिधि : यहाँ 'बिधि' शब्द उपायवाची है तत्सम्बन्धी प्रश्न 'केहि' से स्पष्ट है।

प्रश्नों की उपपत्ति

दीर्घकाला यात्रा (मार्गशीर्ष) का प्रारम्भ समय के रहते होने की आशा छूटी है ह्रस्व व मध्य कालायात्रा (आषाढ़) सम्भव नहीं[1] फिर भी कपि ने दर्शन देकर सीताजी को थोड़े समय के लिए आश्वस्त किया। उन्होंने लंकादाह उपद्रव कर राक्षसों के हृदय में धननाश, जननाश से कोप व उन्माद भड़का दिया। अब तुम जा रहे हो तत्पश्चात् राक्षस क्रोधित हो क्या करेंगे कहा नहीं जा सकता। अब तो बिभीषणजी, त्रिजटा आदि अनुयायी वर्ग भी क्रोध के पात्र हो चुके हैं ऐसी दशा में मृत्यु के प्रति प्रतिबन्धक तत्व के सम्बन्ध में प्रश्न करना उपपन्न है।

तुम्हहू तात : जिसने यथा समय पहुँचकर करुणार्द्र हो विरहज्वाला को भड़कने से रोका वे हनुमान्‌जी 'तुम' से बोध्य हैं। उनका अभाव 'हूँ' से ध्वनित है।

करुणा करने वाले तातसधर्मा सभी 'तात' हैं।

कहत अब जाना : करुणासागर ने करुणा में आकर साधु को यहाँ भेजा अब हनुमान्‌जी का जाना सोचते हुए अग्रिम चौपाई का विषय याद में लाना 'कहत अब जाना' से स्फुट है।

तोहि देखि : ज्ञातव्य है कि सीताजी लक्ष्य-लक्षण उभयज्ञा उत्तमा हैं। वानर को देखते ही उन्होंने श्रीरामप्रेषित दूत समझा था। इस प्रकार सीताजी ने 'तोहि देखि' कहकर अपनी उत्तमता व परखने की क्षमता समझायी है।

सीतल भइ छाती : साधु की पहिचान होते ही हृदय में श्रीराम की करुणा व उनका उद्योग समझकर आश्वासन पाना 'सीतल भइ छाती' है।

---

[1] नीतिसार १६।६०

मो : थोड़े समय के लिए वक्षःस्थल में शीतलता आयी। इसकी अनुभवित्री सीताजी मच्छब्दार्थ हैं।

दिनु सो राती : विरहपीड़ा में सन्तप्ता सीताजी के लिए पुनः दिन रात्रि का एक-एक क्षण कोटि युगसम होना 'दिनु सो राती' है। इसका मुख्य प्रयोजन श्रीराम के आगमन रूप प्रयोग का प्राशुभाव होने में ज्ञातव्य है अर्थात् लंका पहुँचने में अपेक्षित नान्तरीयक कालाधिक विलम्ब न करना निष्कर्ष है।

संगति—हनुमत्संगति से प्राप्त समाधान का उपयोग भविष्यत् के हनुमत्संगत्यभाव के रहने पर करते हुए उसी से श्रीरामविरहज पीड़ा का शमन करना होगा। इस अभिप्राय से हनुमान्जी ने उसी उपाय का अवलंब लेने हेतु सुझाव सुनाकर लौटना शिवजी सुना रहे हैं।

दोहा— ***जनकसुतहि समुझाइ करि बहु बिधि धीरजु दीन्ह।***
चरन कमल सिरु नाइ कपि गवनु श्रीराम पहिं कीन्ह॥ २७॥

भावार्थ—जानकोजी को बहुत प्रकार से धैर्य धारण करने के उपायों को समझाकर उनके चरणों में मस्तक झुकाते हुए श्रीराम के समीप पहुँचने हेतु कपि (हनुमान्जी) चले।

शास्त्रीय व्याख्या

जनक सुतहि : ब्रह्मज्ञ (जनकजी) के हृदयाकाश में धीरता स्थायिरूप में विराजित है। उसकी छाप सीताजी में होने से 'जनक सुतहि' कहा है।

समुझाइ : शमप्रयोजक विज्ञानोद्बुद्ध संस्कारमूलक विवेक 'समुझाइ' से ज्ञातव्य है। यह तर्कात्मक होने से 'समुझाइ' में निश्शंकता सिद्ध है। प्रमाणभूत शब्दप्रमाण पर दृढ़ रहीं सीताजी के लिए शमोपदेश नवीन न होकर स्मारक है।

बहु बिधि : 'बहु बिधि' में स्थायिधीरताप्रयोजक तत्व याद दिलाना स्मर्तव्य है उसमें सत्य पर आधारित शब्दप्रसूत विज्ञान की महत्ता चिन्तनीय है। जैसे—(१) चौदह वर्षपूर्ति के बाद अयोध्या सकुशल लौटने के सम्बन्ध में प्रभु ने की प्रतिज्ञा, (२) सीताजी ने सुनाई जीवितावधि की सत्यप्रतिज्ञा, (३) श्रीराम का राज्याभिषेक होना, तीनों भाइयों ने सेवक रूप में रहने के प्रति कैकयीजी को सुनाया दशरथीय सत्यसंकल्प, (४) १४ वर्ष पूर्ण होते ही श्रीराम को अवध में न देखने पर भरतजी का अग्निप्रवेश निर्देश, (५) देवी गंगाजी से प्राप्त वरदान, (६) तापस तत्त्व के प्रवेश से श्रीराम को प्राप्त बल एवं (७) सत्यसन्ध वचनप्रमाण्य में मानवता की स्थापना आदि।

धीरंजु दीन्ह : जैसे-जैसे सत्य पर आधारित तर्कयुक्त विज्ञान हनुमान्जी ने सुनाया वैसे-वैसे शीतलता से आप्यायित करने वाली वृत्ति स्मृत होना 'धीरजु दीन्हा' से चिन्त्य है। एकमात्र यही बल साधुओं को जीवित रहने का साधन है। जो शब्दकल्पद्रुम के बल शब्द में निरूपित है।

चरन कमल सिरु नाइ : सीताजी को जीवित रखने की चिकित्सा पूर्ण कर हनुमान्जी ने लौटने की याचना करना 'चरन कमल सिरु नाइ' का तात्पर्य है।

गवनु राम पहि कीन्ह : हनुमान् जी ने श्रीरामसम्बद्ध देशसंयोगानुकूल व्यापारानुकूल

कृतिमान् होना 'गवनु राम पहि कीन्ह' से कवि ने गाया।

संगति—'गवनु राम पहि कीन्ह' शीर्षकोक्त देशसंयोगानुकूल व्यापार के पूर्वोत्तर की घटना का कीर्त्तन कर रहे हैं।

चौपाई—*चलत महाधुनि गर्जेसि भारी । गर्भ स्त्रवहिं सुनि निसिचर नारी ॥ १ ॥*
नाघि सिंधु एहि पारहि आवा । सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा ॥ २ ॥

भावार्थ—चलते हुए इतने जोर से हनुमान्जी ने नाद किया कि उसको सुनकर निशाचरियों के गर्भ गिर गये। समुद्र को लाँघकर इस पार आते-आते हनुमान्जी ने सब बन्दरों को किलकिला शब्द से आने की सूचना दी।

शास्त्रीय व्याख्या

चलत महाधुनि : 'चलत' से गर्जना और चलने का समकालीनता व्यक्त है।

साधु हनुमान्जी ने राक्षसों का उद्धार करने हेतु महाधुनि की गर्जना इसलिए की कि जीवित भीत राक्षस श्रीराम के प्रति अत्यधिक तत्परता लगाकर तन्मयतापूर्वक समरांगण में धराशायी हो सद्गति को प्राप्त कर लें।

भारी : लंकास्थ राक्षसियों के उदर में अतितीव्र कंपोत्पत्ति होना 'भारी' से व्यक्त है। इससे हनुमान्जी का पूर्ववत् बृहच्छरीर होना संकेतित है।

गर्भ स्त्रवहिं : जितनी संख्या में राक्षस मारे गए थे उतनी पुनः न हो इस आशय से हनुमान्जी ने तीव्र गर्जना की जिससे राक्षसियों के गर्भों का स्राव हो गया।

अथवा—त्रिजटोक्ति से भविष्यत् में बिभीषणराज्य होना निर्णीत है तदनुरूप प्रजा का निवेश निशाचरनारियों के उदर में न होने से महाधुनि कर हनुमान्जी ने गर्भस्राव करा दिया।

नाघि सिन्धु : पवनपुत्र के शरीर में वायुप्रवेश होने से उन्होंने लघु (अगुरु) होकर उत्तर तीर पर निर्बाध रूप में पहुँचना 'नाघि सिन्धु' है।

एहिं पारहि आवा : सिन्धु का उत्तर तीर 'एहिं पारहि' से बोध्य है। उत्तरतीर देशसंयोगानुकूल व्यापार फल 'आवा' है।

किलकिला : 'किलकिला' से जन्मतः प्राप्त वानरत्वजातिमान् शरीर दर्शाया जो हनुमद्विजयानुमापक हेतु है।

कपिन्ह : 'कपिन्ह' से वानरभाषाभिज्ञत्व दर्शाया है।

सुनावा : विजयानुमान साधक रूप में हेतु बोधक किलकिला शब्द का प्रत्यक्ष (श्रवणप्रत्यक्ष) 'सुनावा' है।

संगति : 'सा' अथवा 'रे' स्वरयुक्त किलकिला शब्दश्रवण से विजय का अनुमान करते ही उसका परिणाम व हनुमद्विलोकनप्रयुक्त जीवनलाभ, हर्षानुभावपूर्वक आलिंगन आदि व्यापार से बन्दरों के हार्दिक भाव बता रहे हैं।

चौपाई— *हरषे सब बिलोकि हनुमाना । नूतन जन्म कपिन्ह तब जाना ॥ ३ ॥*
मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा । कीन्हेसि रामचन्द्र कर काजा ॥ ४ ॥
मिले सकल अति भए सुखारी । तलफत मीन पाव जिमि बारी ॥ ५ ॥

भावार्थ—सभी वानरों ने हर्षसम्पन्न हो हनुमान्जी की ओर देखा तो सबने नूतन

जन्म होने का अनुभव किया। मुख पर प्रसन्नता, शरीर पर तेजोबहुलता को पूर्ववत् देखकर श्रीरामकार्य की पूर्ण सफलता का अनुमान हुआ। हनुमान्जी से आलिंगनादि कर सभी वानर-भालू अति सुखी हुए। जैसे तड़प रही मछली, पानी को प्राप्त कर सुखी होती है।

शास्त्रीय व्याख्या

हरषे : किलकिलोच्चारणकर्तृत्व से 'हनुमान् सफलः' ऐसा अनुमान होते ही इष्ट प्राप्तिसूचक मनोवृत्तिविशेष 'हरषे' है।

सब : सभी ने एक साथ साकांक्ष हो हनुमान्जी को देखना 'सब' का भाव है।

बिलोकि हनुमाना : सबकी दृष्टि में विकास, प्रसाद एवं लालित्य 'बिलोकि' से स्फुट है। उसके आलम्बन हनुमान्जी हैं उनकी ओर दृष्टिस्थैर्य होना 'बिलोकि हनुमाना' है।

नूतन जन्म : कार्यासम्भवस्थिति में पहुँचे वानर-भालुओं को जन्मस्थैर्य की पुनः प्राप्ति होना उनका पुनर्जन्म है क्योंकि पम्पासरोवर पर वापस लौटने की तिथि टलने व सीताशोध न होने से वे सब वानर-भालू राजदण्ड से भीत थे। उस दण्ड का टलना और राजप्रसाद प्राप्ति की पूर्ण सम्भावना हो चुकी है।

मुख प्रसन्न : यद्यपि किलकिला शब्दश्रवण से हनुमान्जी में सफलता अनुमित होने से वानरों को नूतन जन्मप्राप्ति पर हर्ष हुआ। तथापि मुख प्रसन्न देखकर वानरों ने कार्य की सफलता का पुनः अनुमान करना सिद्धसाधन नहीं समझना है; क्योंकि कानों से सुनकर अनुमान होने में जो सुख (हर्ष) प्राप्त हुआ उसमें असत्त्वापादक आवरणभंग हुआ। अभी आँखों से हेतु (प्रसन्न मुख) देखकर अभानापादक आवरणभंग के साथ अनानन्दतापादक आवरणभंगरूप हर्ष हुआ।

तन तेज : मुखप्रसन्नतानुमित कार्यसफलता की उपपादिका शक्ति 'तेज' शब्द से संकेतित है। साहित्य में उक्त शक्ति को ईशसमवेत ज्ञानप्रभामिश्रित, क्रियाप्रभा से संपृक्त आनन्दप्रभा से व्यवहृत करने की परम्परा है। इन प्रभाओं के मूल में ज्ञानक्रिया के निधि एकमात्र श्रीराम हैं। वे जिस देही के प्रति प्रसन्न हो जाते हैं उसी को ज्ञान, क्रिया, बल आदि प्राप्त होते हैं। इस प्राप्ति की अर्हता दोहा १७ में निरूपित है। उसके आनुगुण्य में सेवक यदि नीति को समझकर उसे अपनाते हैं तो सफलता प्राप्त होती है वैसा ही कार्य हनुमान्जी ने जन्म से अपनाया है अतः सदा सफल रहे हैं। उनको प्रभुकृपा से आनन्दप्रभा सदैव प्राप्त है उन्होंने शक्तिमान् हो सत्वात्मक मायाप्रभाव से राक्षसों को पराजित किया। उस शक्ति का प्रागट्य 'तन तेज' से बताना कवि का ध्येय है।

बिराजा : कालविलंब व कार्यानिस्तरण से समुद्रतट पर हनुमान्जी की तेजस्विता मलिन-सी हो गई थी पर संपातिजी व जाम्बवान्जी के उत्साहप्रद वचनों पर विश्वास रखकर आत्मालम्बनज्ञानसम्पन्न हनुमान्जी की तेजस्विता उद्बुद्ध हो गयी। उसी तेजस्विता में लंकादाहादि कार्य पूर्ण कर वे वापस आ गये। उसे वानर भालुओं ने देखना कवि ने 'बिराजा' से वर्णित किया है।

रामचन्द्र कर काजा : 'तन तेज बिराजा' की सफलता 'रामचन्द्र कर काजा' है। सारांश यह कि श्रीरामाभिप्रेत फलोद्देश्यक कर्तृतावच्छेदकतया 'तेज बिराजा' न्याय- प्रणाली

के अनुसार ज्ञातव्य है।

मिले सकल : एककालावच्छेदेन हनुमान्‌जी ने सबसे मिलना 'मिले सकल' है।

अति भए सुखारी : 'अति' कहने से सम्पूर्ण कपियों ने अतितीव्र मरणासन्न वेदना दर्शाई क्योंकि सबके जीवनाधार श्रीराम स्वामी की कार्यसम्पत्तिरूप फलप्राप्ति के अभाव में स्वामिभक्त वानरसेना तड़प रही थी। प्रस्तुत में स्वामिकार्य पूर्ण न होने में सबकी वेदना में समानता दर्शाई है। ज्ञातव्य है कि स्वामिकार्यसम्पत्ति की अपूर्णता में सबकी मृत्यु होना नियत है। उससे त्राण एकमात्र हनुमान्‌जी के द्वारा ही प्राप्त हुआ है। उन्होंने बुद्धिबल की निपुणता से स्वामी का कार्य पूर्ण किया है जिसे देखते हुए सभी वानरों में अमर्यादित हर्ष होना 'अति भए सुखारी' है।

हनुमान्‌जी का सकुशल आना देखकर आत्मा पर रहे अनानन्दतापादक आवरण का भंग इस प्रकार हुआ जिसमें ब्रह्मसुखसजातीयता प्रकट होने से 'सुखारी' कहा है।

तलफत मन : श्रीरामकार्य पूर्ण न होने से वानरसेना का मत्स्यवत् पीड़ित होना 'तलफत' से सूचित है।

मीन : जिस प्रकार मत्स्य के लिये जीवनयोनि जलसम्बन्ध होना आवश्यक है उसी प्रकार वानरों को सीताशोध पूर्ण कर लौटे हनुमान्‌जी से संयोग होना अपेक्षित था। यत: मासावधि की पूर्ति होना देखकर सम्पूर्ण सेना का मीन के समान व्याकुल होना स्वाभाविक था। अभी हनुमान्‌जी ने आकर कपि-भालुओं को कार्यसंपत्ति की सूचना देकर सेना को जीवनदान किया है।

संगति—सीताशोध होने तक सम्पूर्ण सैन्य व्रतस्थ रहा। एकाग्रता में वे शरीर के भान से भी मुक्त रहे। अभी वह व्रत पूर्ण है। जिससे शरीरभान होते ही उनमें बुभुक्षा जगी उसके शमनार्थ सेना ने मधुवन में प्रवेश करना कवि वर्णित कर रहे हैं।

चौपाई— *चले हरषि रघुनायक पासा । पूँछत कहत नवल इतिहासा ॥ ६ ॥*
तब मधुबन भीतर सब आए । अंगद सम्मत मधुफल खाए ॥ ७ ॥
रखवारे जब बरजन लागे । मुष्टि प्रहार हनत सब भागे ॥ ८ ॥

दोहा— *जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज।*
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभुकाज ॥ २८ ॥

भावार्थ—हर्ष के साथ सभी वानर लंकासम्बन्धी घटना कहते-सुनते रघुनाथजी के समीप चले। अंगदसम्मति से वे मधुवन में गए। वहाँ उन्होंने मीठे फल खाए। रक्षकों के रोकने पर वानरों ने उनपर मुष्टिप्रहार किया जिससे रक्षकों ने आतंकित हो राजा के समीप पहुँच कर मधुवन का फलध्वंस सुनाया। सुग्रीवजी ने प्रसन्न होकर मधुवनस्थ फलध्वंस से श्रीरामकार्य की सम्पन्नता अनुमित की।

शास्त्रीय व्याख्या

चले : कार्य पूर्ण होने से कालातिक्रमणप्रयुक्त विषाद आदि कलंक दूर हो गए। अब और अधिक विलम्ब करना अपराध है। ऐसा सोचकर चलना 'चले' है। इससे नान्तरीयक कालाधिककालयापनाभाव विदित है।

रघुनायक पासा : हनुमत्कर्तृक गमनकर्म के रूप में स्मृत 'रघुनायक पासा' है। यहाँ सुग्रीवजी के अनुल्लेख का कारण उनका श्रीराम के समीप दासभावना में विराजना है।

पूछत कहत : सीताजी का राक्षसों के मध्य में शोध व तदतिरिक्त घटित घटनाएँ, व सकुशल आना विस्मयजनक होने से तत्सम्बन्धी वृत्तान्त जिज्ञास्य है अत: 'पूछत' कहा है। लंकायात्रासम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर सुनाना 'कहत' का भाव है।

इतिहासा : इति ह+आस इस व्युत्पत्ति की चरितार्थता हनुमदुक्त वृत्तान्त में स्मर्तव्य है।

तब : इतिहासश्रवणपूर्णतासमय 'तब' से ध्वनित है।

मधुबन भीतर : सम्भव है कि वानर इतिहास सुनने में मग्न होने से उन्हें चलने का भान न रहा हो और इतिहास समाप्त होते ही 'मधुबन' दिखा हो।

अंगद सम्मत : नीतिमतेन ज्ञातव्य है कि राजा सुग्रीव को आगमन की सूचना दी जाय तो रघुनायकजी को सीतादर्शन व भेंट की सूचना सुनाने में विलम्ब होगा यदि राजा को सूचित नहीं करते तो उनका अपमान होगा एवं कालविलम्बापराध देखकर विना सूचना राजा के सामने जाया जाय तो भी उनके क्रोध का पात्र होना होगा। इस समस्या के निवारणार्थ 'अंगद सम्मत' कहा है।

स्मर्तव्य है कि फल खाने के आदेश के मूल में रहे अंगदीय विवेक ने जैसा मार्गप्रदर्शन अभी सैनिकों को किया वैसा ही समय-समय पर सैनिकों को सेनापति की सम्मति प्राप्त करना चिन्त्य है।

मधुफल : 'मधुफल' मधुर फल अथवा महुवे के फल का द्योतक है।

मधुफल खाने का औचित्य

अति संख्या में रहा मौल सैन्य मधुफलभक्षण कर रहा है परिणाम में वनस्थली की मर्यादा भंग हो सकती है तथापि प्रकृत में मधुफलभक्षणातिरेक में अनौचित्य नहीं है क्योंकि फल-भक्षण को सुनकर राजा सुग्रीव व प्रभु श्रीराम प्रसन्न ही होंगे।

खाए : चिन्त्य है कि विद्याप्रतिष्ठा के साथ धर्मनीति स्थापित होने पर अथवा स्वामी के द्वारा आदिष्ट कार्य सम्पन्न कर कृतकार्य व्यक्ति विनोद करते हैं तो उस सुखार्थिता को देखकर स्वामी व जनसमुदाय उसके प्रति द्वेष नहीं करते। यही नीति 'खाए' से स्मर्तव्य है।

निर्व्यसनिता

कार्य पूर्ण होने के अनन्तर इन्द्रियसुखार्थी हो सैनिक इन्द्रिय (काम) की सेवा करते हैं तो भी वह आसक्ति व्यसन में परिगणित नही होती; क्योंकि नीति में व्यसनापत्ति तब स्वीकार्य है जब धर्म या अर्थ का प्रतिघात होता है। उसका अभाव अभी वानर सैनिकों ने मधुवन के भीतर घुसकर अंगदजी की अनुमति पर फल खाने से स्पष्ट है।

रखवारे : आयुक्त, चोर, व राजवल्लभों से स्वामी को बचाने वाले रक्षक 'रखवारे' हैं।

जब बरजन : राजपुत्र से हानि होनी नहीं समझकर आरम्भ में रक्षक मौन रहे पर वानरोंद्वारा अति हानि होते देख रक्षकों ने वर्जनात्मक निषेध कर अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करके अपनी निरपराधता व्यक्त की है।

मुष्टि प्रहार : रक्षकों पर मुष्टिप्रहार किया जायेगा तो वे जाकर राजा सुग्रीवजी को

वानरों के आने की सूचना देंगे ऐसा समझकर कर्त्तव्यबुद्ध्या मुष्टिप्रहार करना नय प्रसंग का उपस्थापन है।

सब भागे : 'सब' से मधुबन में रक्षक का अभाव समझाया है। पीड़ित होने के बाद मधुवन के विनाशकों की सूचना देने हेतु भागना 'सब भागे' है। ये रक्षक लंका में रहे कुमार्गगामियों की तरह दुष्ट नहीं हैं अतः मुष्टिप्रहार करने पर भी किसी रक्षक का मृत न होना अंगदादि की बुद्धि का वैशिष्ट्य है।

जाइ पुकारे : स्वामी की वस्तु को अरक्षित स्थिति से बचाना तथा स्व के द्वारा रक्षण असम्भव होने पर स्वामी को सूचित करना रक्षकों का कर्तव्य है। यही 'जाइ पुकारे' का निष्कर्ष है।

जुबराज : अंगदसम्मति से फल विनष्ट होने से 'जुबराज' कहा है।

सुनि सुग्रीव : कालविलम्बनिमित्तक सम्भावित दण्डप्रणयनप्रसक्ति की सम्भावना 'सुनि सुग्रीव' से व्यक्त है। परन्तु उसके स्थान पर वनध्वंस ही निम्न साध्य के लिये हेतु रूप में परिणत हो गया जिसने सुग्रीव को श्रीरामकार्य की पूर्णता का अनुमान कराया, क्योंकि वह 'असंपादितकार्याः वानरा उपवनं ध्वंसयितुं न प्रवर्तेरन्' इस व्यतिरेक से सिद्ध है। ऐसा अनुमान धर्मसम्पृक्त नीतिमय आदर्श राज्य में ही सुलभ है।

हरष : सुग्रीवजी सेवकों की श्रीरामभक्ति से पूर्ण परिचित हैं वे जानते हैं कि उनका मौलसैन्य श्रीरामकार्य पूर्ण किए विना बुभुक्षा का अनुभव नहीं कर सकता। यही उनका श्रीरामदासत्व व राजभक्ति है। भक्त-सेवक विषयाकांक्षी न होने से विषय देखकर उनके प्रति लौलुप हो दौड़ते नहीं वे प्रभु के नियोगाकांक्षी होते हैं। अभी मौल सैन्य ने फलों के प्रति उतावला होना श्रीरामकार्य की पूर्णता का सूचक है। फलतः सुग्रीवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए जो 'हरष' से सूचित है।

कपि करि : सीताशोध में व्यक्तिविशेष (कपि) की करतूत स्पष्ट न होने से सभी सैनिकों पर प्रसन्न होने से 'कपि करि' कहा है। इसकी विशेष सार्थकता सुग्रीवजी के स्वार्थानुमान से स्पष्ट है। जो 'प्रभु काज' शीर्षक में लिखित है।

आए प्रभु काज : 'कपयः प्रभुकार्ये सफलाः हरषि शीर्षक सूचनानुसारं आदर्शराज्ये अतिलोलुपतया फलभोजनकर्तृत्वात्' ऐसा स्वार्थानुमान सुग्रीवजी को होना 'आए प्रभु काज' से ध्वनित है।

संगति—प्रभुकाज का भाष्य करते हुए कहना यह है कि 'हरषि' शीर्षकोक्त भक्त-स्वभाव देखकर फलभोजन कर्तृत्वरूप हेतु में प्रभुनियोगक सफल कार्यकर्तृत्व की व्यतिरेक व्याप्ति तर्कात्मक पद्धति से सुना रहे हैं। जिसमें आपाद्य-आपादकभाव उक्त है। तर्क का अन्तिम विन्दु प्रवृत्तिव्याघात है उसी को शिवजी ने गाना तर्कग्रन्थकथन के सार को प्रगट करता है।

चौपाई— ***जौं न होति सीता सुधि पाई । मधुबन के फल सकहिं कि खाइ॥ १॥***
एहि बिधि मन बिचार कर राजा । आइ गए कपि सहित समाजा॥ २॥

भावार्थ—यदि वानरों ने सीताशोध न किया होता तो वे कथमपि मधुवन के फल

खा नहीं सकते थे। इस प्रवृत्तिव्याघात से सुग्रीवजी उक्त विचार कर ही रहे थे कि उतने में समाजसहित हनुमान्जी एवं अंगदजी आ पहुँचे।

शास्त्रीय व्याख्या

जौं न होति : 'जौं' शब्द यदि का पर्याय है। 'न होति' से सीताशोधनरूपकार्य-साफल्य का अभाव दर्शाया है। उसका प्रतियोगी 'सीता सुधि पाई' है।

सीता सुधि पाई : यदि 'वानर सैनिकाः मौलाः सीतापरिचयप्राप्तिमन्तो नाभविष्यन्' यह अधोलिखित आपादक-आपाद्य के पूर्वार्ध का सारांश है। आपाद्य का अंश 'सकहि कि खाई' शीर्षक में द्रष्टव्य है।

सकहिं कि खाई : 'कार्यसंपत्तिपूर्तिं विना मधुवनफलानि भक्षयितुं प्रवृत्तिमन्तो नाभविष्यन्' यह आपाद्य है जो प्रवृत्तिव्याघात्मक है। 'सकहिं' का आशय यह कि 'मौल बन्धु कार्य पूर्ण किए विना न खाते न सोते हैं। यह भक्त्यनुगुण सेवक-स्वामि सम्बन्ध है। अर्थात् कार्य पूर्ण न कर मौल वानर सैनिक कथमपि फल खाने में प्रवृत्त नहीं होते।

एहि बिधि : नीति की स्वामिनी भक्ति की छत्रछाया में रही शासक-शास्य की मर्यादा व अच्युतगोत्रों की भक्ति 'एहि बिधि' से सूचित है।

मन बिचार : सुग्रीवजी के मनस् में हुए विविध स्वार्थानुमान 'मन बिचार कर' से बोध्य है—'मौलसैन्यं राजनीतिशासनसीमामनतिक्रम्य भक्तिसीम्नि प्रविष्टं श्रीरामशासन-परिगृहीतत्वात् सैन्यं इदं भक्तिमन् निश्छलं, स्नेहपूर्वकं अविश्रम्य प्रभुकार्यसम्पादने स्निग्धत्वात्, इदं सर्वं सैन्यं राजनीत्या अदण्डनीयं अच्युतगोत्रत्वात्, भक्तकार्यं आधिक्येन राजदेवता-गुरुप्रीतिकरमेव उचितकार्यप्रकाशकप्रतिभाविषयत्वात्' इस प्रकार की निरुपाधिक सद्धेतुक स्वार्थानुमान की विविध प्रणाली 'बिचार' से परामर्शनीय है।

राजा : दुर्ग के भीतर विराजमान रंजनकार्य में समर्थ उपरिबुद्धि सुग्रीवजी 'राजा' से संकेतित हैं।

आइ गए कपि : 'कपि' से अंगदजी हनुमान्जी व जांबवान्जी विवक्षित हैं।

सहित समाजा : 'समाजा' से उक्त तीन विकल्प के भेद से अंगदसमाज, तत्तन्नायकों का समाज व भालुसमाज ज्ञातव्य हैं।

संग़ति—राजा के सान्निध्य में पहुँचते ही अनुजीवियों का कर्तव्य सुना रहे हैं।

चौपाई— आइ सबन्हि नावा पद सीसा । मिलेउ सबन्हि अति प्रेम कपीसा ॥ ३ ॥

भावार्थ—सभी ने एक साथ राजा के चरणों को प्रणाम किया। सुग्रीवजी सबसे मिले।

शास्त्रीय व्याख्या

सबन्हि : सुग्रीवजी इन्द्रजाल में निपुण होने से सबसे उनकी भेंट व प्रणाम होना असम्भव नहीं है।

पद सीसा : कपिसैनिकों की धारणा है कि श्रीरामकार्य पूर्ण करने का अवसर राजा सुग्रीवजी ने दिया उनकी इस उपकृति में 'नावा पद सीसा' है उससे वानरों का हर्ष और कृतज्ञता स्फुट है।

मिलेउ : आलिंगन, हस्तान्दोलन, दर्शन, स्पर्शन आदि 'मिलेउ' से बोध्य है।

स्वाभिमानानुरूप आलिंगनादि होने से सबने सुखी होना स्वाभाविक है। फलतः सत्कृति में उच्च-नीचता प्रगट होते हुए भी किसी को क्षोभ नहीं हुआ।

सबन्हि अति प्रेम :

सुखोपगम्यः स्मितपूर्वभाषी प्रियं वदेद् वृत्यधिकं च दद्यात्।
प्रियेण दानेन च संगृहीतास्त्यजन्ति भर्तर्यपि जीवितानि॥[1]

इस उक्ति को लंका के प्रति अभियोक्ता सुग्रीवजी ने चरितार्थ कर दिखाया है।

कपीसा : राजत्वप्रयोजक स्वाभाविक आत्मसंपद् गुण श्रीरामभक्त सुग्रीवजी में होना 'कपीसा' से उक्त है।

संगति—सुग्रीवजी को आरम्भ से अन्तिम तक सम्पादित कार्यकलापों के प्रति संभावित विघ्नध्वंसपरक प्रश्नों का उत्तर वानर सुना रहे हैं।

चौपाई— पूँछी कुसल कुसल पद देखी। राम कृपाँ भा काजु बिसेषी॥ ४॥

भावार्थ—राजा ने कुशल पूछा उसके उत्तर में आपके चरण दर्शन होना ही कुशल है ऐसा कहा। जो कार्य कपियों के लिए असाध्य था वह कार्य प्रभु की कृपा से पूर्ण हुआ।

शास्त्रीय व्याख्या

पूँछी कुसल : शत्रु को भयभीत करना, सीता माता के शोध में आने वाले विघ्नों का विध्वंस होना आदि 'कुसल' से जिज्ञासित विषय हैं। कुशल है तो राजनीति की सार्थकता स्फुट है, क्योंकि राजनीति अनुच्छेद्य है।

कुसल पद देखी : यहाँ से जाने के बाद अभी राजचरणों को पुनः देखना इसी से ही राजा के सम्पूर्ण प्रश्न समाहित हैं। अर्थात् इतने समय के अन्तराल में अकुशल होता तो राजचरण दृष्टिगोचर नहीं होते। अनुजीवियों को कार्य सम्पत्ति से यशस् प्राप्त होना राजा के सत्वबाहुल्य व बुद्धिमत्व का अनुमापक है। एवंच दण्ड प्रकृति व अनुजीवी की कुशलता ही राजनीति का कुशल है।

रामकृपाँ भा : सुग्रीवसमेत सभी वानर एवं अमात्य भक्तिपन्थ में श्रीरामकृपा-पात्रताप्राप्तिरूप समानधर्मा हैं। इसलिए राजकृपा न कहकर 'रामकृपाँ' कहना उपपन्न है। उसी के नेतृत्व में राजनीति को भक्ति महारानी से प्राप्त मंत्रिपद निष्कंटक है। 'भा' से कार्यसम्पत्ति की अनवशिष्टता कही है।

काजु बिसेषी : सर्वत्र न्यायमत से सामान्य कार्यकारणभावान्तर्गत कारणरूप में श्रीरामजी माने गए हैं। तथापि 'बिसेषी' कहने से सीताशोधादि के प्रति श्रीरामकृपा में असाधारण कारणता दर्शायी है।

संगति—सम्पूर्ण वानरों को जीवन देने वाले, विनयशील, अप्रतिम, अलौकिक, शक्तिमान् हनुमान्जी का स्मरण कर उनमें कार्यविशेषकर्तृत्व का रहना हर्षमयी वाणी से सुन कर सुग्रीवजी 'तद्भक्तेषु च सौहार्द'[2] को प्रगट कर बन्दर व भालुओं को साथ लेकर श्रीराम से मिलने जा रहे हैं।

---

[1] १. नीतिसार १६।४९

[2] २. श्रीमद्भागवत १।४१।५१

चौपाई—*'नाथ! काज कीन्हेउ हनुमाना । राखे सकल कपिन्ह के प्राना ॥ ५ ॥*
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ । कपिन्ह सहित रघुपति पहिं चलेऊ ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे नाथ! कार्यविशेष करने का श्रेयस् हनुमान्जी को ही प्राप्त है। उन्होंने ही हमें जीवन दिया है। उसे सुनकर सुग्रीवजी हनुमान्जी से पुनः मिले व सबको साथ लेकर रघुपति के पास चले।

शास्त्रीय व्याख्या

नाथ : अभी तक सुग्रीवजी ने (राजाश्रय) वानरों को मानित, प्रीणित कर सबको अपने-अपने अर्थ का सौलभ्य निर्बाध कराया है; वही सौलभ्य हनुमान्जी ने कराना 'नाथ' सम्बोधन से ध्वनित है।

काज कीन्हेउ हनुमाना : 'काज' से कार्यविशेष स्पष्ट है। समुद्र पार करना, लंकिनी को मारना, आदि पूर्ववर्णित अनेक कार्य 'काज' से स्मर्तव्य हैं।

'कीन्हेउ' से आत्मालम्बनसमाधि में स्थित हनुमान्जी में पितृत्व व्यक्त कर रहे हैं।[1] कार्यकर्तृत्व की पर्याप्ति आत्मालम्बनसमाधि में स्थित 'हनुमाना' से दर्शायी है।

राखे सकल : 'राखे' से जीवनरक्षण समझना है। उसका अन्वय 'प्राना' से है। 'सकल' शब्द से उस विकट स्थिति का स्मरण कर रहे हैं जिसमें वानर महाबलि की वेदी पर चढ़ चुके थे।

प्राना : 'प्राना' से दण्डात्मक राजघोषणा का स्मरण सुग्रीवजी को कराना ज्ञातव्य है।

सुनि सुग्रीव : हनुमच्चरित्र सुनकर सुग्रीवजी में बुद्धि के पंचम गुणात्मक अर्थ विज्ञान का उदय हुआ। उसका विषय हनुमान् के प्रति भक्ति व विश्वास होना 'सुनि' का निष्कर्ष है।

बहुरि तेहि मिलेऊ : 'बहुरि' से अत्युच्च हर्षातिरेकानुभाव ज्ञेय है। परिणाम यह कि सुग्रीवहनुमदुभय में समान भक्तिसाधर्म्य व्यक्त है इसलिए कि वे निरभिमानी हो प्रभु के द्वारा आदिष्ट संपूर्ण कार्य को पूर्ण करने में एकाग्र रहे।

जीवनदाता, राजभक्त, श्रीरामसेवक, हनुमान्जी 'तेहि' से बोध्य हैं।

हनुमान्जी को श्रीरामसेवा का सौभाग्य पूर्णतया प्राप्त हुआ। इसी हर्ष में सुग्रीवजी ने विशेषतया मिलना 'बहुरि तेहि मिलेऊ' है।

कपिन्ह सहित : कपिसाहित्यविशिष्ट सुग्रीवजी में आगमनकर्तृत्व सुनाकर सभी वानरों में श्रीरामकृपारूप प्रयोजकवृद्धनिरूपित प्रयोज्यवृद्धता की एकरूपता 'कपिन्ह सहित' से ध्वनित है।

अभी 'कपिन्ह सहित रघुपति पहिं चलेऊ' का कर्तृत्व सुग्रीवजी में कहा यतः श्रीरामने सीतासुधि लाने का आदेश सुग्रीवजी को सुनाया था। वह कार्य वानरों के द्वारा पूर्ण होना सुग्रीवजी ने ही द्वारान्तर से सम्पन्न किया माना जायेगा। ऐसा समझाना कवि को इष्ट मालूम होता है।

रघुपति पहिं : दोहा २८।४ में 'रघुनायक' कहा जो बलाध्यक्षपरक न होकर

---

[1] अन्नदाता भयत्राता यस्य कन्याविवाहिता। जनिता चोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥ (श० कल्पद्रुम, पिता)

सेनापतिपरक था। यहाँ पृथक्‌रूप में सुग्रीवजी शासक होने से कवि ने नीतिधर्म के प्रतिपालक के रूप में 'रघुपति' कहा जो जगत्स्वामित्वार्थक 'पति' शब्द से ज्ञेय है।

चलेऊ : सुग्रीवजी को वानरों द्वारा प्राप्त सूचना के अनुसार श्रीरामसामीप्य में पहुँचने का सुअवसर प्राप्त होना 'चलेऊ' से सूचित है।

संगति—पूर्व में श्रीरामसमीपस्थल को गमन का कर्म कहा गया था। उस कर्मता की सिद्धि का उपक्रम श्रीराम कर रहे हैं।

चौपाई— राम कपिन्ह जब आवत देखा । किएँ काजु मन हरष बिसेषा ॥ ७ ॥
फटिक सिला बैठे द्वौ भाई । परे सकल कपि चरनन्हि जाई ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रसन्नमुद्रा में द्रुतगति से वानरों को आते देखा तो श्रीराम का मनस् हर्षविभोर हो गया तब स्फटिकशिला पर दोनों भाई बैठ गये। वहाँ पहुँचकर सबों ने प्रभु के चरणों पर मस्तक झुकाया।

शास्त्रीय व्याख्या

राम : राजा सुग्रीव आदि को आते हुए देखकर समीपवर्ती स्फटिक शिला पर बैठने की तैयारी करने वाले श्रीराम 'राम' शब्द से बोध्य हैं।

जब आवत देखा : सुग्रीवादि का आगमनव्यापाराधिकरण समय 'जब' है। अथवा तब न कहने से 'जब' शब्द का निष्कर्ष द्रुतगति है।

'आवत देखा' का फल शिलासनोपवेशन में विलम्ब न होना है।

किएँ काजु : कार्य पूर्ण न हो सका कहने भी आ सकते हैं उस शंका की सम्भावना का निरसन 'किएँ काजु' से हुआ है क्योंकि ससैन्य राजा हर्ष में ओतप्रोत हो आ रहे हैं।

मन : 'प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' होने से श्रीराम ने स्वहर्षविशेष से ही 'किएँ काजु' समझा है। अर्थात् यह उनका स्वार्थानुमान है उसमें हेतु हर्षविशेष है व साध्य 'किएँ काजु' है। ऐसे अनुमान में असाधारण दोष नहीं माना जाता; क्योंकि 'सन्देहपदेषु वस्तुषु' सतां अन्तःकरण वृत्तियाँ भी प्रमाण हैं। अतएव मन की सार्थकता स्पष्ट है।

हरष बिसेषा : अन्तरात्मा प्रभु ने साक्षिरूप में राजप्रभृति सभी वानरों में भक्तिस्पृहातिरिक्तस्पृहाशून्यता व कामादिदोषशून्यता परखी जो सर्वसाधारण में दुर्लभ है। जीवन के इस सौन्दर्य को शिवजी 'हरष विशेषा' कह रहे हैं। अतः इस काण्ड का नाम सुन्दरकाण्ड है।

फटिक सिला : स्फटिक की गुणपत्ता इस प्रकार है—

स्फटिकस्समवीर्यश्च पित्तदाहार्तिदोषनुत्।
तस्याक्षमालां जपतां दत्ते कोटि गुणं फलम् ॥[१]

इस उक्ति के अनुसार स्फटिक शिला पित्तदाहआर्ति की हरणकर्त्री है।

किष्किन्धावासियों के लिए ध्येयमूर्ति स्फटिक शिलावासित्वेन श्रीराम हैं। उसी के अनुरूप वानर सोच रहे थे। इधर प्रभु ने भी उसी रूप में आसीन होना 'फटिक सिला' का निष्कर्ष है।

---

[१] शब्दकल्पद्रुम (निघण्टु)

बैठे : प्रभु शासक हैं उनका बैठना ही भक्तों को प्रिय है अतः 'बैठे' कहा है।

द्वौ भाई : श्रीराम-लक्ष्मणजी दोनों के साथ मंत्रणा होनी है अतः 'द्वौ' कहा है। 'भाई' से सहजमित्रता बोध्य है।

सकल : 'सकल' से सुग्रीवजी व अंगदजीसमेत सभी वानरसैनिक व जाम्बवान् आदि भालुओं की समानधर्मता दासभाव में व्यक्त की है।

चरनन्हि जाई : आदेश लेकर यहाँ से चलने के बाद जितने भी कार्य सम्पन्न हुए उनके मूल में मोह न होकर (किसी भी कार्यप्रणाली में भ्रान्ति का अभाव) मानसमें प्रत्येक प्रतिभात पदार्थ विवेकपूर्ण थे उसका कारण प्रभुचरण ही हैं। अतः आते ही दण्डवत् किया। राजनीति ने प्रभुभक्ति को स्तम्भ मानकर सहज मैत्रीभाव में रहने का विधान कर रखा है। इसमें रहने वाले सभी श्रीरामचरणप्राप्ति के अधिकारी हैं। यह अधिकार सबको प्राप्त होना 'चरनन्हि जाई' से दर्शाया है।

संगति—कालविलम्ब होने पर भी रघुपतिजी ने भेंट करना स्मितपूर्वक कुशल पूछना आदि का वर्णन शिवजी कर रहे हैं।

दोहा— ***प्रीति सहित सब भेटे रघुपति करुना पुंज।***
पूँछि कुसल नाथ! अब कुसल देखि पद कंज॥ २९॥

भावार्थ—रघुपति ने सभी से प्रीतिपूर्वक भेंट की सबने कुशल के उत्तर में कहा कि चरणपंकज देखने को मिला यही कुशल है।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रीति : निश्छल, आप्त को देखकर हृदय में सुख होना 'प्रीति' है। उसका अन्वय 'भेटे' व 'पूँछी' से है। स्नेह की अवस्था में गाल का ढीला होना, नयन का विकास आदि स्मर्तव्य हैं।

सब भेटे : कपि व भालु 'सब' से विवक्षित हैं।

'यथावयो यथा सख्यं'[१] भेद से हास्य व हस्तग्रहणादि करना 'भेटे' है। इन्द्रजालसम्बन्धी नैतिक प्रयोग जैसा चित्रकूट में अभ्यागत सभी अवधवासियों की भेंट करने में दर्शाया वैसा ही प्रकार यहाँ भी चिन्त्य है।

रघुपति : अग्रिम निर्णय के प्रति उपर्युपरिबुद्धि श्रीराम ही स्वतन्त्र हैं दर्शाने हेतु 'रघुपति' कहा है।

करुना पुंज : भृत्यों से कुशलपूर्वक कार्यसम्पादन कराने की योग्यता 'करुना पुंज' में ही रहती है। वे अध्यात्मभाव में रहकर भृत्यों के द्वारा कुशलपूर्वक कार्य कराने में दयार्द्र व्यक्ति सदा सफल होते हैं। अतः 'करुना पुंज' कहा है।

पूँछी कुसल : कार्यविशेषसम्पन्नता समझने पर भी तत्कर्तृताप्रयोजक की जिज्ञासा 'पूँछी' है। यदि उसका उत्तर भक्त्यभिमत में है तो कुशल (क्षेमार्थक) है अन्यथा अकुशल है। अर्थात् क्षेम नहीं होगा—यह निर्णय भक्तों के विचाराधीन है। इसलिए प्रश्न है। अध्यात्मभाव में अध्युषित श्रीराम ने सीताशोध के लिए समस्त वानर सैन्य को भेजने के समय ही कुशल संकल्पित किया था उसी को प्रश्नब्याज से अनूदित किया है।

---

[१] श्रीमद्भागवत १०।६५।४

नाथ : रक्षक है तो सभी सुरक्षित हैं। अत: 'नाथ' कहा है।

देखि पद कंज : अपरिहरणीय जीवनसंकट से उबरकर आ पहुँचना 'देखि पद कंज' का भाव है। इसमें साधारण कारणदृष्ट्या भाग्यवाद का गंध नहीं है। अर्थात् जिसके चरणपंकज की कृपा से कार्यनिस्तारणप्रयुक्त तापशान्ति हुई उसी असाधारण हेतु से सभी का क्षेमपूर्वक लौटना 'देखि पद कंज' कहा है।

संगति—राजपद पर अभिषिक्त भक्ति का स्मरण करते हुए जाम्बवान्जी भक्तों के लिए प्रवृत्ति प्रयोजक इच्छाविषय, फलोपलब्धि बताकर उसी हेतु से वानरों के द्वारा संकल्पित कार्य की पूर्ति होना सुना रहे हैं। उसमें कृपा का स्वराट्त्व भी व्यक्त होगा। जैसा कि 'अन्धोमणिमविन्दत्' में प्रसिद्ध है।

चौपाई— ***जामवन्त कह सुनु रघुराया । जा पर नाथ! करहु तुम्ह दाया॥ १॥***
ताहि सदा सुभ कुसल निरन्तर । सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥ २॥
सोइ बिजयी बिनयी गुन सागर । तासु सुजसु त्रैलोक उजागर॥ ३॥
प्रभु कीं कृपा भयउ सबु काजू । जन्म हमार सुफल भा आजू॥ ४॥

भावार्थ—जाम्बवान्जी ने महारानी पद पर अभिषिक्त भक्ति को स्मरण कर कहा कि हे प्रभो! आप जिसपर दया करते हैं उस पर सुर, नर व मुनियों की प्रसन्नता बनी रहती है। वही विजयी, विनयी, गुणसागर है। उसका यशस् त्रैलोक्य में प्रकाशित होता है। प्रभु की कृपा से कार्य की पूर्णता हुई आज हमारा जन्म सफल हुआ।

शास्त्रीय व्याख्या

जामवन्त : जाम्बवान्जी की योग्यता 'जाम्बवान् मति धीर सुजाना' कहकर सुग्रीवजी ने पूर्व में व्यक्त की है।

कह : 'कह' से वक्ष्यमाण जाम्बवद्वचन में रागद्वेषशून्यता स्पष्ट है जो प्रभु के लिए अतिप्रिय है और श्रुतिसम्मत भी है।

सुनु : वानरों ने सुनाये उत्तर में जड़ कर्मवाद की गन्ध आ रही थी उसे निरस्त कर चेतन में कर्तृत्व को समझते हुए भक्ति महारानी की महिमा सुनने की प्रार्थना 'सुनु' से कर रहे हैं क्योंकि चेतन भक्ति ने परराष्ट्र में सीताशोधनात्मक कार्य पूर्ण किया है।

रघुराया : राजा के समक्ष सेवके ने निर्णय सुनाना असिधारा पर चढ़ना है वह तभी निरस्त होती है जब रघुपति पूर्ण प्रसन्न रहते हैं।

जा पर : 'जा पर' में यच्छब्द प्रयुक्त है उसमें जातिविशेष का निर्देशन नहीं है। यत: प्रभु ने सबको भक्ति के प्रति अधिकृत कर रखा है।

करहु : रक्षण का भार प्रभु (सर्वज्ञ) ने अपने ऊपर लेना 'करहु' है।

दाया : 'दाया' से दीनों व आश्रितों का पालन ज्ञेय है जो जीव अपना स्वतन्त्र कर्तृत्व सर्वथा त्यागते हैं, अपने जीवन की चिन्ता नहीं करते, दु:ख-सुख प्रयुक्त विषाद-हर्ष में नहीं रहते प्रभु के उपदेशों से ही जीवनचर्या चलाते हैं। उनपर प्रभु निरन्तर ही दया करते हैं। इत्यादि विवेचन 'सुसाहिब' की व्याख्या अयोध्याकाण्ड (३०१।४) में विस्तृत से प्रदर्शित है।[1]

---

[1] श्रीरामचरितमानस शास्त्रीय व्याख्या (अन्नपूर्णा) भाग ३-४।

यद्यपि वेद-शास्त्रविधि व त्रयीधर्म वर्णेतरों के लिए उदित नहीं है न तो वे उसमें अधिकृत हैं तथापि श्रुतिसम आगम वर्णेतरों के लिए प्रमाणतया स्वीकर्तव्य है उसके माध्यम से वे भी प्रभु के दयापात्र हो सकते हैं। तथाविध दयापात्रताबोधक ग्रन्थ की स्थापना परम्परया प्राप्त है जो वर्णेतरों को भी सुलभ है। उसीको प्रभु ने वानर-भालु आदि के बहाने प्रगट कर रखा है। इसके मूल में नीतिसिद्धान्तोक्त लोकसंग्रह ज्ञातव्य है। वह यह कि जो जीव अपने में स्वतन्त्र कर्तृत्व सर्वथा नहीं स्वीकारते केवल प्रभु की सेवा को ही सर्वस्व मानते हैं उनको प्रभु आत्मीयरूप में देखते तथा उनके रक्षक होते हैं यही प्रभु की दया है वही लोकसंग्रह है। इसका स्पष्टीकरण 'सुसाहिब सेवा' (अयोध्याकाण्ड) में हो चुका है फिर भी वह किसी एक को ही प्राप्य होती है क्योंकि भक्तिपथ पर रहने की तत्परता सबको रमणीय नहीं लगती कि प्रतिबुद्धज्ञान व तदंकुश में इन्द्रियदमन प्रायः रुचिकर नहीं लगता। आत्मालम्बन ज्ञान तो सुतरां नहीं क्योंकि उसमें मनोव्यापार निरुद्ध होता है। उसके स्थान पर रमणीयता होना 'करहु तुम्ह दाया' में सुलभ होना ध्वनित किया है। इसके उदाहरण रूप में भरत चरित्र है। जहाँ सुलभ भक्तिप्रयोगविशेष का सर्वांगोपसंहार वर्णन हुआ है। मीमांसामत में उसे प्रकृति कहा जाता है। उसका अतिदेश हनुमच्चरित्र में चिन्त्य है जिसे शास्त्रकार विकृति कहते हैं। ऐसी द्विविध परंपरा के प्रथम आचार्य शिवजी हैं। इस परंपराप्राप्त भक्ति को सीताजी ने परराष्ट्र में पहुँचकर दर्शाया उसका शोध हनुमान्जी ने किया। यह सब 'दाया' से सूचित है। वही भक्ति को इष्ट है।

दया के रहते कार्य में औचित्य

यदि श्रीराम रक्षक हैं तो वे अन्तर्यामितया वाचा, कर्मणा, मनसा जीव को उसी ओर प्रवृत्त करते हैं जो सबके लिये मनस्तुष्टिकर हो। उदाहरणार्थ दयापात्र जीव क्षमा, सत्य आदि सामान्य अष्टविध धर्म को ही अनुष्ठानार्हतया रुचिकर मानते हैं, तत्सहचरित विशेषधर्म को अपनाते, जीविका को नियन्त्रित करते हैं। उसके द्वारा मनःशुद्धि होने पर वे विशेष धर्म को कभी तिरस्कृत नहीं करते। लोकयात्रा भी इसीं आदर्श पर टिकी रहती है। यही दयापात्रों के कार्य का औचित्य है।

ताहि सदा सुभ कुसल : 'ताहि' से श्रीरामदयापात्र बोध्य हैं।

'सदा' का अन्वय 'सुभ' व 'कुसल' दोनों से ज्ञातव्य है। अतएव 'सदा' से शुभ व कुशल का नैरन्तर्य समझना है। इन्द्रियों की धर्मार्थसम्बन्धी अविप्रतिपत्ति 'सुभ' से समझनी है यतः अविप्रतिपत्ति में मिथ्यायोग, अयोग, अतियोग नहीं प्राप्त होता है न ही प्रीतिप्रतिबन्धकभूत विघ्न अपना प्रभाव दिखाते हैं। अविप्रतिपत्ति रहने पर इष्टसाधनता व कृतिसाध्यता पर आँच आती है।

'कुसल' से देशकालज्ञता समझनी है। निष्कर्ष यह कि प्रभु के दयापात्र की देशकालसंयोग की प्रतीक्षा में समय व्यतीत नहीं करना पड़ता, क्वचित् समय प्रतीक्षा स्फुट होती है। उस कारण हताशा नहीं है अपितु दयापात्रों की कार्यसंपत्ति से उनकी यशोवृद्धि ही होती है।

निरन्तर : 'निरन्तर' वक्ष्यमाण 'प्रसन्न' से अन्वित है।

सुर नर मुनि प्रसन्न : 'सुर' से प्रभुभक्ति 'नर' से उत्साहशक्ति एवं 'मुनि' से मन्त्रशक्ति ज्ञातव्य है।

'प्रसन्न' हर्ष से अन्वित है वह भक्त के उचितावह कर्म पर निर्भर है।

यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्॥[1]

यह सिद्धान्त 'प्रसन्न' शब्द से स्मर्तव्य है। भक्तों को उक्त श्लोक में प्राप्त हुआ यह सर्वलोकनमस्कृतत्व ही भक्ति को प्राप्त व्यावहारिक राज्याभिषेक है।

ता ऊपर : अर्थतः, अनुष्ठानतः श्रौतवचन को प्रमाणित मानने वाले जीव निश्छल श्रीराम के दयापात्र 'ता' से बोध्य हैं। 'ता ऊपर' शब्द 'सुर नर मुनि ' से अन्वित है।

विजयी : परराष्ट्र में पहुँचकर शत्रु के द्वारा उपस्थापित सर्वविध दण्ड का प्रतीकार करते हुए शत्रु का अभिभव न होने का नैयत्य 'विजयी' से बोध्य है।

बिनयी : 'बिनय' भावप्रकाशन में इस प्रकार व्याख्यात है—

विनयो लोकमर्यादाशास्त्रार्थानतिलंघनम्[2]

अथवा—स्वाभाविक (जन्मतः प्राप्त) कृत्रिम (विद्याप्रयुक्त) विनय यहाँ 'बिनयी' से गेय हैं। इन विनयों को प्राप्त करने वाले भक्त कभी भी दक्ष प्रजापति की तरह विकृत नहीं होते। किंबहुना श्रीसीतारामजी से आशिष् प्राप्त करने के अधिकारी ही ठहरते हैं।

गुनसागर : नैतिक चारित्र्य भी धार्मिक चारित्र्य से सुशोभित है। 'सागर' से दयापात्र में गुणशून्यता न होना दर्शाया है।

सुजसु : लोकपालनकर्म के अन्तर्गत किए एक नूतन कर्म प्रगट कर उसके माध्यम से 'अयं न्यायतः रक्षकः' ऐसी प्रसिद्धि प्राप्त करना 'सुजसु' (यशस्) है।

फल के प्रति भक्ति का अभिमत

ज्ञातव्य है कि 'तासु ताहि जासु जापर' व 'गुनसागर' आदि कहकर 'यत्र श्रीराम दयापात्रता तत्र विजयविनयशौर्यगुणैः सह मुनिसुरादिप्रसन्नता' ऐसा नियम स्पष्ट किया। हनुमान्‌जी ने महदादररूप सुकृत कर्म व स्वामिसेवा से श्रीरामदयापात्रता प्राप्त की है। तदनन्तर अभी सुयशस् की उपलब्धि की। जैसे श्रीराम ने मुद्रिका देकर पतिव्रता के समीप में हनुमान्‌जी को भेजा। फलतः हनुमान्‌जी सदा के लिए अनान्दतापादक आवरण से मुक्त हो गये व परराष्ट्र में विजयी हुए। यह हनुमान्‌जी का महान् सुयशस् है। यद्यपि जाम्बवान्‌जी ने सुख आदि यहाँ अनेकों फल बताये हैं तथापि वे दया के प्रति व्याप्यव्यापकपद्धति से सिद्ध हैं। हनुमान्‌जी तो आत्मालम्बन समाधि (तर्क) में बैठे स्वामिसेवा को ही उद्देश्य व साधन मानते हैं अन्य यशसादि फल उनके लिए आनुषंगिक हैं। इस तथ्य की वास्तविकता लंकाकाण्ड में मूर्च्छित लक्ष्मणजी को जगाते हुए श्रीरामजी ने 'जौ जन्त्यौ' आदि उक्ति से भक्तों को समझायी है।

त्रैलोक उजागर : सुयशस् ने त्रैलोक्य में भक्तिविजय को प्रकाश में लाना उजागर है।

---

[1] श्रीमद्भागवत ४।९।४७

[2] भावप्रकाशन ७०।५

चिन्त्य है कि सभी विद्याओं को साथ लेकर राजनीति ने अपने को आन्वीक्षिकीकौशल से भक्ति महारानी के चरणों में समर्पित किया है वैसा ही चरित्र भरतजी ने प्रदर्शित किया। पर उसकी सुचारुता अयोध्याकाण्ड में न गाकर यहाँ गायी; क्योंकि भक्ति यहाँ राजपदाभिषिक्ता के रूपमें गायी गयी है।

प्रभु की कृपा : प्रभु ने दया की है तो सभी कार्यों की पूर्णता में व्यभिचार न होना निर्णीत है ऐसा होने से ही भक्ति महारानी से प्रजा का संवर्द्धन होना निर्णीत है। इस प्रकार भक्ति महारानी का अपना स्वराट्त्व भी निर्विवाद है। जिससे कारकान्तरानपेक्षता स्फुट है।

भयउ सब काजू : प्रभु ने रक्षक हो अपने में जैसा कर्तृत्व स्वीकारा है वैसे ही कृपा ने भी अपने में स्वतन्त्र कर्तृत्व स्वीकारा है। यह एकमात्र भक्ति की छत्रछायावासियों के लिए सुलभ है। तन्मात्र से कार्यपूर्ति होना 'सब काजू' है।

जनम हमार : 'तत्संसर्गी च पंचमः' इस न्याय से हम सभी वानर हनुमान्‌जी के साथ होने के परिणाम में हमारे जन्म की भी सफलता होना 'जनम हमार' से ध्वनित है। ज्ञातव्य है कि आत्मालम्बन व बाह्यालम्बन ज्ञानरूप समाधि (तर्क) में स्थित श्रीराम, श्रीसीताजी व हनुमान्‌जीके रूप में त्रेधा विभक्त होकर भक्ति ने आश्रितों पर दया की वर्षा करना स्फुट है।

सुफल : कर्मादिकारकनिरपेक्ष प्रभु ने कारण की सापेक्षता दर्शाना भक्तों के जन्म की सफलता है। अथवा मध्यस्थरूप में सिद्धान्ततः रिपुविजय करने वाली भक्ति को अभिषिक्त करने की सन्धि जाम्बवान् ने देना 'सुफल' है।

अथवा—प्रभुकृपा ने सापेक्ष हो सब वानरों पर एक साथ सीताशोधकार्य सौंपना भक्तिसंसर्ग में रहे सर्वविध संसर्गियों के जन्म का साफल्य है।

संगति—प्रभुकृपारूप भक्ति महारानी की कृपावृष्टि के पात्रभूत हनुमान्‌जी के सम्पूर्ण चरित्र श्रीरामजी को स्फुट हो गये हैं। अतः हनुमच्चरित्र में कौतुक न होने से उसके प्रति श्रवणेच्छा को स्थान प्राप्त नहीं है तथापि साधारणीकरण व्यापारमहिम्ना श्रीराम के हृदय में भक्तिरसानुभव कराने के प्रति सत्व का उच्छलन स्पष्ट करते हुए शिवजी हनुमच्चरित्र को जाम्बवान्‌जी के माध्यम से करा रहे हैं।

चौपाई— नाथ! पवनसुत कीन्हि जो करनी । सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥ ५॥
पवनतनय के चरित सुहाए । जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥ ६॥

भावार्थ—हे नाथ! हनुमान्‌जी से कृपा ने जो कार्य करवाये वह हजारों मुखों से पूर्णतया वर्णित नहीं किये जा सकते तथापि भक्तिरससंक्रमण जिस प्रकार हो उस प्रकार से पवनतनय के सुन्दर चरित्र जाम्बवान्‌जी ने श्रीरघुपति को सुनाये।

शास्त्रीय व्याख्या

नाथ : जाम्बवत्प्रभृति की योग्यता के अनुसार उनको दान, मान, अर्थभोग औचित्यानुसार प्राप्त होना 'नाथ' से ध्वनित किया है।

पवनसुत : जैसे वसिष्ठ मुनि ने भरतजी की सेवा भक्ति को समझकर श्रीराम को वन की ओर जाने से रोका व भरतमनोरथ को पूर्ण करने की प्रार्थना की। वैसे ही यहाँ जाम्बवान्‌जी ने गुणवत्ता पवनसुत (हनुमान्‌जी) में देखकर यह ध्वनित किया कि मरुत की

तरह हनुमान्जी न दाह से घबराए न तो रावणमन्दिर में रात्रि के समय घूम-घूमकर स्व मनस् को स्त्रीसंग से युक्त किया।

करनी : स्वराष्ट्र में जीवन से प्रारम्भ कर लंका में पहुँचकर चूड़ामणिग्रहणपर्यन्त की हुई कृतियाँ 'करनी' से ज्ञातव्य हैं। उनको देखकर राजा, गुरु, देव, आदि प्रसन्न हुए हैं। फलतः सम्पूर्ण हनुमत् 'करनी' कीर्ति में परिणत हुई।

सहसहुँ मुख : 'सहसहुँ मुख' कहकर जाम्बवान्जी ने वर्णन के प्रति औत्सुक्य दर्शाया है। फलतः हनुमान्जी के आमूल चरित्र में श्रीरामसेवासम्पुट के साथ स्वामिभक्ति, राजभक्ति, विश्वासार्हता, आभासशून्यता रसात्मक औचित्य व मनीषियों के लिए आस्वाद्यता गाने में सहस्रमुख की अपर्याप्ति स्फुट की है।

अथवा—सम्पूर्ण त्रिलोकवासी के मुख 'सहसहुँ मुख' से ज्ञातव्य हैं; क्योंकि उनको निगमागम की प्रतिष्ठा, नीतिध्वज लहराना व सर्वत्र सुख साम्राज्य होना, युद्ध में रावण ने पराजित होना श्रीराम का त्रिलोकाधिपति होना आदि के प्रति आश्वासन पूर्णतया प्राप्त है।

पवनतनय : 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः' से (श्रुति में) वर्णित आकाशपुत्र वायु 'पवन' से बोध्य हैं। हनुमान्जी जैसे पूतात्मा ने प्रभु को अपने हृदय में स्थिर रूप से चित्त के माध्यम से बैठा लिया है या बुद्धिमान् पूतात्मा (शिष्यमाणौ धमार्थावुपलभते चानुतिष्ठनि च बुद्धिमान्) का पिता पवन ने होना 'पवनतनय' से बोध्य है।

सुहाए : 'सुहाए' 'चरित' से अन्वत है। भक्ति व नीति ने आभास से शून्य होना 'सुहाए' है।

ज्ञातव्य है कि पहिले 'करनी' कहकर पूर्वोक्त कृतियाँ समझाईं जो सत्तर्कात्मक समाधिस्थ हनुमान्जी के द्वारा संपादित हुई हैं। अभी कृतिज व्यापार हनुमान्जी के 'चरित' हैं अतः पुनरुक्ति दोष निरस्त है।

जामवन्त : क्रान्तदर्शी, सर्वशास्त्रवेत्ता, भक्ति की छत्रछाया में समृद्ध, नीतिमन्त्रिता में कुशल, जाम्बवतीपिता (भा० १०।५६।२६-२८ में श्रीकृष्णजी द्वारा की हुई स्तुति से जाम्बवान्जी की अव्याहत विज्ञानिता, निरूपित हैं) 'जामवन्त' हैं।

रघुपतिहि : उदात्तनायक के स्वरूप में व्यभिचारिभाव की चर्वणा का स्वाद लेने वाले सहृदयतावासना व्याप्तिवासना व स्थायीभाव (वीर, उत्साह, शम, अद्भुत, विस्मय) वासनाओं में स्थित, सामाजिकश्रेष्ठ श्रीराम 'रघुपतिहि' से बोध्य हैं।

सुनाए : रससंक्रमण से तत्त्वज्ञाता के हृदय में अनानन्दतापादक आवरण का भंग होना 'सुनाए' शब्द से ध्यातव्य है।

संगति—आत्मालम्बन ज्ञान व बाह्यालम्बन ज्ञानभेद से पूर्ण समाधिस्थ, अशंक, भक्तिमान् हनुमान्जी के चरित्र की विचित्रता सुनकर अति हर्ष में श्रीराम ने हनुमान्जी से आलिंगन करना वर्णित कर रहे हैं जो सख्य भक्ति का अनुभाव है।

चौपाई— ***सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि हियँ लाए॥ ७॥***

भावार्थ—हनुमच्चरित्र सुनकर रसिक कृपानिधि श्रीराम का मानस तदाकार हो

सुखानुभूति में लोट-पोट करने लगा। उसी हर्ष से ओतप्रोत हो श्रीराम हनुमान्‌जी से आलिंगन कर रहे हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनत : जाम्बवन्मुख से रसभरी साधारणीकरणव्यापारसम्पादिका वाणी का तात्पर्य व्यंजनामहिम्ना अभिव्यक्त होने के साथ स्थायी उत्साह व रतिवासना का उद्बोध होना 'सुनत' से स्पष्ट है।

कृपानिधि : निर्गुण आत्मा श्रीराम आप्तकाम ने दीनदुःखापहरणप्रयोजक कृपा व सत्व के निधि 'कृपानिधि' हैं।

मन अति भाए : कविव्यापारमहिम्ना उच्छलित सत्वगुण की भूमिका में अधिष्ठित रजस्तमोविलयनविशिष्टवृत्तिमान् 'मन' है।

तीव्रतम आनन्द भोग मनस् में होना ही मनः प्रसादात्मक हर्ष है। अभी भोजकत्व व्यापार से भुज्यमान होना 'मन अति भाए' है।

पुनि हनुमान : मनःप्रसाद का प्रभाव 'पुनि' है। हनुमच्चरित्र सर्ववादिसंप्रतिपत्र होते हुए गर्व से सर्वथा अस्पृष्ट है जो दासभक्ति के जीवन का प्रतीक है। हर्ष में आलिंगन होना वानरमात्र के लिए मस्तक ऊँचा होने में सहायक है उसका मूल हनुमानजी की दासभक्ति है।

हरषि हियँ लाए : 'हरषि' से प्रभु ने हनुमान्‌जी के प्रति आदर करना प्रगट हो रहा है। 'हियँ' से श्रीराम ने हनुमान्‌जी को सुहृत्त्व देना स्पष्ट किया है। जो भक्तिदृष्ट्या पदोन्नति है। यह अन्य भक्तों के लिए स्फूर्तिदायक सम्मान है। इस प्रकार जाम्बवान्‌जी के काव्यारूढ व्यापार की पूर्णता स्मर्तव्य है जो ऋत में परिणत हो गयी है।

संगति—श्रीराम हनुमान्‌जी को सम्मानित कर उनसे जानकीचरित्र के प्रति प्रश्न पूछ रहे हैं। इस संवाद में जो सत्यवाणी प्रगट होगी वह नीतिरूप में व्यक्त हो नीतिमानों के लिए आस्वाद्य होगी।

चौपाई— ***कहहु तात! केहि भाँति जानकी । रहति करति रच्छ स्वप्रान की॥ ८॥***

भावार्थ—हे तात! प्रथमतः यह कहो कि जानकीजी अपने प्राण की रक्षा किस प्रकार से कर रही हैं?

शास्त्रीय व्याख्या

कहहु : हनुमान्‌जी को सुनाने का आदेश 'कहहु' है जो निकृष्ट के लिए प्रेरक मध्यम पुरुष है। अब कविव्यापार समाप्त होने से नैतिक चरित्र जिज्ञास्य है, क्योंकि तदनुबन्धितया अग्रिम चरित्र अनुष्ठेय होंगे। स्वयं होकर हनुमान्‌जी ने सुनाने की व्यावृत्ति 'कहहु' से स्फुट है। अन्यथा उनकी आत्मप्रकाशनचेष्टा आपाद्य हो सकती थी।

तात : सुहृत्पदप्राप्तिमान् सखा हनुमान्‌जी 'तात' से बोध्य हैं।

केहि भाँति : प्रभु ने पूछे प्रश्न का आधार यहाँ चिन्त्य है। एक ओर भक्ति की प्रधानता में निगमागमप्रामाण्यप्रतिष्ठा दूसरी ओर प्राणबाधा की उपस्थिति आसन्न है। प्रथम पक्ष में कहना है कि विद्याएँ भक्ति की अंग बनकर भक्त को स्व रक्षणचिन्ता से सदा मुक्त रखती हैं।

द्वितीय पक्ष से कहना है कि क्या विद्याएँ भक्ति के अंगत्व से दूर रहकर स्वतन्त्रतया सीताजी को स्व प्राणरक्षण की प्रेरणा दे रही हैं? जैसा कि धर्मशास्त्र में 'सर्वान्नानुमतिः प्राणात्यये' एवं 'भक्तानि षडनश्नताम्'[1] से स्पष्ट है।

जानकी : मिथिला में पनप रही नीत्युक्त तर्कसमाधि में विचरने वाली ब्रह्मविद्या अन्य विद्याओं को साथ में रखती हुई भक्तिसेवा में अंगतया अपने को समर्पित कर राजाश्रय में विचर रही हैं उसकी रसिका सीताजी 'जानकी' से बोध्या हैं।

'जानकी' उल्लेख का विशेष प्रयोजन अग्रिम दोहे में निरूपित है।

रहति : 'रहति' से सीताजी का लंकानिवास उक्त है। निवास जाम्बवदुक्ति से ज्ञात है पर उनकी जीवनोपायविषयक कृति अज्ञात है। अतः प्रश्न उपपन्न है।

करति : 'करति' से प्राणरक्षानुकूल (उपधायक) व्यापार जिज्ञासित है यतः वह अज्ञात है।

रच्छा स्व प्रान की : 'केहि भाँति' शीर्षकोक्ति के अनुसार जानकीजी अपना जीवन स्वतन्त्र हो बचाना नहीं चाहती हैं क्योंकि वह स्वकृति से असम्भव हो रहा है। यद्यपि ऐसा है फिर भी गंगावचन और सत्यसन्धपितृवचनोभय प्रमाण से सीताजी को जीवित रखना होगा यह निर्णीत है। अतः सीताजी के प्रति प्रश्न करना सयुक्तिक है।

संगति—समस्त भूतों की गाढनिद्रा के समय जागृत रही सीताजी के प्राणरक्षण की व्यवस्था हनुमान्जी सुना रहे हैं जिसका कर्तृत्व भक्ति महारानी पर अधिकृत है।

दोहा— नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जन्त्रित जाहिं प्रान केहिं बाट?॥ ३०॥

भावार्थ—नाम २४ घण्टे प्रहरी का कार्य कर रहे हैं। ध्यान कपाट का कार्य सातत्येन कर रहा है अतः दरवाजे से प्राणों का बहिर्निष्क्रिमण से रुका है। आखें अपने चरणकमलों की ओर नियन्त्रित हैं। प्राणों को हृदय से बाहर जाने का मार्ग ही प्राप्त ही नहीं हो रहा है तो वह कैसे बाहर जाएँ?

शास्त्रीय व्याख्या

नाम पाहरू : राजा जनक की सभा में एकत्रित महर्षिवृन्द श्रीरामकथा गाते रहते हैं जो शिवजी के मुख से गेय हो रही है अर्थात् श्रीरामकथाकीर्तन में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, फलवत्ता, सगुण-निर्गुण-विवेक, आन्वीक्षिकीकौशल से उनका आत्मसात्करण आदि गुण प्रगट हैं। रसानुगुणता के साथ महर्षियों का तेजस् भी कीर्तन में अक्षुण्ण बना है उनको सुनते-सुनते सीताजी श्रीरामनाम के प्रति रुचिमती हो गईं। नामकीर्तन के आनुगुण्य में श्रीराम के चरित्र (नैतिक) भी स्मृतिगोचर होते रहे। जो श्रीरामरक्षास्तोत्र महामन्त्र में पठित हैं। वे सब-के-सब श्रीराम नाम से गुंफित हैं।

यद्यपि सीताजी को श्रीरामविरहज पीड़ा दुस्सह हो रही है तथापि उसका परिणाम उत्तम ही है। यह कि श्रीसीताजी श्रीरामनाम जपते एकाग्र हो गयी हैं। फलतः उनको श्रीरामनामका नैरन्तर्य बना रहा। जो प्रहरी का काम कर रहा है। रामनाम से श्रीरामरूप वस्तु

---

[1] मनुस्मृति ११।१६

अभिन्न होने से वह सचेतन है उसके प्रभाव से 'नान्या स्पृहा' में रही सीताजी के हृदय में कामादि दोष से असंस्पृष्ट भक्ति महारानी ने सीताजी को श्रीरामदर्शन कराना प्रारंभ कराया। सीताजी को हृष्ट-पुष्ट करते भक्ति ने स्वयं पीड़ा की चिकित्सा कर श्रीसीताजी को जीवित रखा। यह भक्तिसम्मत जीवनोपाय उपायत्वे लिखित रूपसे वेद्य नहीं है। सर्वसाधारणों को सीताजीवनोपाय के प्रति जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। उसके उत्तर में कहना यह है कि गंगावचन व सत्यसन्ध पितृवचन प्रमाण होने से सीताजी जीविता हैं। तो भी उन्होंने वचनों की उपायत्वेन कोई स्वीकार नहीं करेगा। इसी को ध्यान में रखकर 'केहि' प्रश्न करना उपपन्न है। अभी इतना ही कहना है कि रामनाम के माध्यम से भक्तिमहारानी स्वयं सीताजी की प्राणगति पर ध्यान दे रही हैं व यथासमय दीर्घकाला यात्रारंभ न होने से प्राणों के बहिर्गमन पर रोक लगा रही हैं। अतः 'नाम पाहरू' कहा है।

ज्ञातव्य है कि जानकी माता अपनी ओर से स्वजीवनोपाय सोचना उचित नहीं मानतीं क्योंकि दृष्ट रीति से स्वजीवनोपाय के अन्तर्गत रावणादेश को मानना होगा। यदि वह स्वीकृत हो तो श्रीराम का पराजय व निगमागमाप्रामाण्यप्रतिष्ठा स्वीकार्य होगी यदि लंका से रावण को हटाने के लिये उससे विग्रह कर उसको पराजित किया जाय तो श्रीराम का यशस् नहीं बनेगा अतः कठिनावस्था में रही सीताजी ने निश्शंका हो आत्मालंबन समाधि को अपना कर स्वजीवन का सम्पूर्ण भार भक्ति महारानी पर सौंपा है। इस प्रकार आन्वीक्षिक्यादि विद्याओं को साथ में लेकर भक्ति महारानी ने अपनाया सीताजीवनोपाय यहाँ आस्वाद्य होने से सुन्दरकाण्ड नाम सार्थक है।

दिवस निसि : 'दिवस निसि' शब्द 'ध्यान' से अन्वित है। 'दिवस निसि' कहकर ध्यान में अहोरात्रव्याप्ति दर्शाई है। उक्त व्याप्ति से मनोवृत्ति की व्यापारान्तरशून्यता समझाई है।

ध्यान तुम्हार : एक देश (हृदय) में धारकप्रयत्न के माध्यम से वशीकृत मनस् ने एकत्रित अवस्थित रहते हुए आत्मसंयुक्त होना 'ध्यान तुम्हार' का भाव है। प्रसंगात् कहना यह है कि प्राणायाम के अभ्यास से उदर्य अग्निज्वाला तर्कात्मिका सुषुम्ना मार्ग से उछलती हुई नादरूप में प्रवाहित होती है तो वह अन्तर्देश में रहती परमात्मस्वरूप का दर्शन भक्त को कराती है। उससे शारीरिक व आत्मिक तुष्टि प्राप्त होना प्रसिद्ध है। यह ध्येयविषयावलम्बन मूर्ति को प्रत्यक्षरूप से हृदय में स्थिरतया बैठने को बाध्य करती है वह प्रत्यक्ष भ्रम न होकर यथार्थ है यतः प्रभु अन्तरात्मा सर्वत्र व्याप्त हैं। यदि ध्यान टूटेगा तो स्वयं मूर्ति हृदय से अदृश्य होगी। इस दोष की असम्भावना 'दिवस निसि' से गाई है।

लोचन निजपद जन्त्रित : 'लोचन निजपद जन्त्रित' से यह समझना है कि द्रष्टा जिस विषय को नेत्रसंयुक्त कराता है वही नेत्रों का विषय होता है। उसी प्रकार सीताजीने अपनी दृष्टि अपने पैरों पर केन्द्रित कर रखी है।

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैदानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

इस सिद्धान्त के अनुसार माता सुनयनाजी ने सीताजी को स्वपद की ओर देखने की शिक्षा दी थी उससे प्राप्त पतिव्रततेजस् सामने आए शत्रु के तेजस् को पराजित करता है।

अथवा—पदसंयुक्तदृष्टि के माध्यम से समागत पदों ने नयनमार्ग से प्राणों को निकलने से रोकना 'निजपद जन्त्रित' का भाव है।

जाहिं प्रान : ज्ञातव्य है कि एक ओर तीव्र विरहवेदना, विजय यात्रा प्रारम्भ कर लंका में आ पहुँचने का नैराश्य व मासावधि जीवित रहने की महती समस्या—ये तीन तथ्य प्राण जाने का कारण हैं। दूसरी ओर व्यापारन्तर के प्रति मनस् के पूर्ण अवरोध में श्रीराम से अतिरिक्त विषयों का आस्वाद प्राप्त न होने से प्राणावरोध हो रहा है। इस प्रकार 'जाहिं प्रान' से अवरोध्य-अवरोधकभाव समझना है।

केहिं बाट : 'बाट' से यह दर्शाया कि प्राणों को शरीर से सदा के लिए बाहर निकलने में सती सीताजी के नयनादि द्वार अवरुद्ध हो चुके हैं। इसलिए लंका में विरह होते हुए भी जीवित रहना स्फुट है। इस प्रकार श्रीराम के प्रश्न उत्तरित हुए।

संगति—सीताजी से भेंटरूप साध्य के साधन में साधक कहकर अव्यभिचरित हेतु दिखा रहे हैं। जो राजनीति मन्त्रिणी के लिए अति अभ्यर्हित है।

चौपाई— ***चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही । रघुपति हृदयँ लाइ सोइ लीन्ही ॥ १ ॥***

भावार्थ—मैं लौटने लगा तो मुझे माताजी ने यह चूड़ामणि चिह्न के रूप में दिया। गोस्वामीजी (शिवजी) कहते हैं कि प्रभु ने उसे लेकर हृदय से लगाया।

शास्त्रीय व्याख्या

चलत : सीताजी को भेंट देनी होगी ऐसा सोचकर प्रभु ने विना माँगे हनुमान्जी को मुद्रिका दी जिसे देखकर सीताजी आश्वस्ता हुईं। लंकादाह से बढ़कर चिह्नान्तर की अपेक्षा न समझकर सीताजी ने उधर ध्यान नहीं दिया। तावतापि चरकार्य में त्रुटि होगी उसके परिहारार्थ हनुमान्जी ने चिह्न माँगा तब माताजी ने चलते समय चूड़ामणि दिया। अतः हनुमान्जी ने 'चलत मोहि' कहा।

चूड़ामनि : पूर्ण आश्वस्ता सीताजी से भेंट होने का चिह्न 'चूड़ामनि' है उसके माध्यम से प्रभु ने सीताजी की पूर्ण आश्वस्तता का अनुमान करना 'चूडामनि' से ध्वनित है।

दीन्ही : 'दीन्ही' लाक्षणिक प्रयोग है। यतः चूड़ामणि से सीताजी ने स्वस्वत्व ध्वस्त नहीं किया है।

रघुपति : पूर्व में हनुमान्जी ने 'रघुनायक मोहि दीन्हा' सुनाया था। उसकी प्रतिछाया में यहाँ 'रघुपति' कहा हैं। 'रघुपति' उल्लेख से राजनीति आलोचित है। वह यह कि इस सिद्धान्त में शब्दप्रमितत्व के बाद अन्य हेतु से पुनः प्रमित करना अपेक्षित है ऐसा समझाया है।

हृदयँ लाइ : अपनी विश्वास्यता व चूड़ामणि की अलौकिक गुणवत्ता को पहचानना 'हृदयँ लाइ' से सूचित है।

सोइ : ब्रह्ममाया से अस्पर्शविशिष्ट चूड़ामणि तत्पद से बोध्य है।

संगति—दीनोपगतरक्षण की अपेक्षा सुनाकर हनुमान्जी अपने दूतकार्य की पूर्ति का उपक्रम कर रहे हैं।

चौपाई— ***नाथ जुगल लोचन भरि बारी । बचन कहे कछु जनक कुमारी ॥ २ ॥***
अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना । दीनबन्धु प्रनतारति हरना ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे नाथ! नयनों से अश्रुधारा बहाती जनककुमारीजी ने आपसे कुछ प्रार्थना की है—मैं लक्ष्मणजीसमेत श्रीप्रभुचरणों पर मस्तक झुकाती हूँ। आप दोनों दीनबन्धु प्रणत की पीड़ा के अपहर्ता हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

जुगल लोचन : अश्रु रोकने का प्रयास करने पर भी नयनों ने आँसू बहाना 'जुगल लोचन' का निष्कर्ष है।

भरि बारी : प्रियवियोग, संयोग के प्रति नैराश्य, संयोगके संस्कारोद्बोध, रावण के द्वारा भर्त्सनादिदण्ड, वधप्रयास आदि याद करते हुए मारुतिजी की अनुपस्थिति में सीताजी के नयनों ने पुनः अश्रुपूर्ण होना 'भरि बारी' से कहा है।

बचन कहे : वक्ष्यमाण वाक्य 'बचन कहे' से बोध्य हैं जो सन्देशात्मक होने से श्राव्य हैं। सारगर्भित सुस्पष्ट परिगणित ललित शब्दावली 'बचन' से समझनी है।

जनक कुमारी : सुस्पष्ट ललित पदाभिधानरूप वाग्मिता की सहजता 'जनक कुमारी' से ध्वनित है।

अनुज समेत : अहंकृतिदेवतात्मक संकर्षण लक्ष्मणजी 'अनुज' से बोध्य हैं। कनक मृगमृगया के अवसर पर लक्ष्मणजी को सुनाए कटुवचनों को याद कर उस दोष के निराकरण में प्रायश्चित्त कहकर लक्ष्मणशरणागति 'अनुज समेत' से सीताजी ने व्यक्त की है अन्यथा भक्त लक्ष्मणजी के स्मरणाभाव के रहते श्रीराम सीताजी के प्रति उपेक्षा करना ही उचित समझेंगे। अनुजसमेतत्त्वविशिष्ट कहने से देवर लक्ष्मणजी को साक्षात् चरणस्पर्श न करने से उनकी आयुष्मत्ता का स्थैर्य समझाया।

गहेहु : 'गहेहु' स्पर्शवाचक होता हुआ 'चरना' से अन्वित है।

प्रभु चरना : 'प्रभु' से स्वकार्यसाधनसामर्थ्य बोध्य है।

'चरना' से अनुजसमेतत्वविशिष्ट श्रीरामपादारविन्द बोध्य हैं।

दीनबन्धु : यह विशेषण अनुज समेतत्वविशिष्ट के लिए होने से विशेषणभूत लक्ष्मणजी के लिए भी अर्थादापन्न है। यही तथ्य 'हरना' के प्रति स्मर्तव्य है।

जो अपनी स्वतन्त्रकर्तृता को व्यक्त न कर ईशसमवेतादेशपरतन्त्रता पर निर्भर हैं वे दीन हैं उनके हित को सम्पादित करने वाले होने से भाई समेत श्रीराम 'दीनबन्धु' हैं।

प्रनतारति हरना : बन्धुत्वानुरूप प्रभु का स्वभाव प्रणत की आर्ति का हरण करना है। यह प्रभु श्रीराम व लक्ष्मणजी का द्वितीय साधर्म्य है।

'गहेहु' की प्रयोजनता 'प्रनतारति हरना' में सुनाकर शिवजी ईश्वरादेशात्मक शास्त्ररूप चरण में रहने हेतु उत्साहित कर रहे हैं।

स्मर्तव्य है कि आन्तरिक भाव में सीताजी भक्ता हैं उनको वस्तुगत्या दुःख नहीं है। तथापि सिद्धान्तमत से कहना है कि लोकयात्रा के मूलाधार में स्थित धर्म का उन्मूलन दूर करने हेतु वचनप्रमाणता स्थापित करना ही 'प्रनतारति हरना' है।

संगति—हनुमान्‌जी लंका में दीर्घकालायात्रा समयावधि व्यतीत कर पहुँचे। जीवन का एक मास अवशिष्ट है इसके बीच नैतिक रीति से श्रीराम लंका में आने का प्रयास करें

भी तो वे यहाँ नहीं पहुँच सकते। इससे उनकी उपेक्षा स्पष्ट है उसी से व्याप्त चिन्ता में घिर कर सीताजी अपने त्याग का कारण पूछ रही हैं।

चौपाई— ***मन क्रम बचन चरन अनुरागी । केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥ ४ ॥***

भावार्थ—आपके आदेश को मैंने मनसा, वाचा, कर्मणा स्वीकारा है। फिर भी मेरा त्याग होने में कारणभूत अपराध क्या है?

शास्त्रीय व्याख्या

मन क्रम बचन : 'मन' से मानसतपस् 'क्रम' से कायिकतपस् 'बचन' से वाचिकतपस् विवक्षित है।

चरन अनुरागी : ज्ञातव्य है कि उक्त तपस् का आलम्बन एकमात्र प्रभुचरण हैं जो तर्क व प्रमाणात्मक हैं। उनसे सर्वरीति से मनोरथ पूर्ण होते रहने से श्रीरामचरण के प्रति सीताजी का अनुराग बढा हुआ है जो सीता-हनुमत् संवाद से असंदिग्ध है। अत: सीताजी विपत्तिप्रत्यक्ष के प्राबल्य में न फँसकर गुर्वादि के वचनों के अनुसार प्रभुचरणों को दुर्बल न मानकर अनुरागपूर्वक चरणकमलों में लग गयीं जिसे 'चरन अनुरागी' से व्यक्त किया है।

केहि : शब्दप्रमाण की मूर्धन्यता स्वीकृत है तो तत्प्रमित प्रमेय का अनादर सम्भावित नहीं है। यदि वचन का अनादर नहीं तो वक्ता के प्रति प्रभु का अनादर सम्भव नहीं क्योंकि वचन- प्रामाण्यस्वीकृति से सीताजी में न अहंकार है न अविनय है उसी हेतु से अपराधाभाव सिद्ध है उस अवस्था में अपराध के प्रति 'केहि' प्रश्न है।

नाथ : ३। २४। २ में मुनियों के समक्ष राक्षसवधकर्तृत्व की प्रतिज्ञा करने वाले प्रभु को 'नाथ' कह कर सीताजी ने क्षात्रधर्म का स्मरण कराया है।

त्यागी : 'त्यागी' शब्द उपेक्षार्थक है। यदि उपेक्षा रहेगी तो स्वत्व का विनाश व्यवहाराध्यायानुमत होने से उपेक्षा भी त्याग कहलायेगी उसका निष्कर्ष पौरुषवाद की समाप्ति में है। अर्थात् समय रहते अलौकिक बल से सेतु बनवाकर सदलबल आना है उसके लिए स्वतन्त्र शक्तिप्रदर्शनातिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। यदि यह स्वीकार्य नहीं हो तो 'अहं त्यक्ता उपेक्षितत्वात्' ऐसा समझकर सीताजी का जीवित न रहना आपाद्य होगा।

संगति—वचनप्रमाण का अनादर न होने से अपराधप्रसक्ति शास्त्र दृष्टि से नहीं है तथापि विप्रलम्भ शृंगारशास्त्ररीत्यनुसार अपराध होना सीताजी सुना रही हैं जिसमें विप्रलम्भ-रतिभाव आस्वाद्य होगा।

चौपाई— ***अवगुन एक मोर मैं माना । बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥ ५ ॥***
नाथ सो नयनन्हि को अपराधा । निसरत प्रान करहिं हठि बाधा ॥ ६ ॥
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा । स्वास जरइ छन माहिं सरीरा ॥ ७ ॥
नयन स्त्रवहिं जलु निज हित लागी । जरैं न पाव देह बिरहागी ॥ ८ ॥

भावार्थ—विप्रलम्भात्मक रतिशास्त्र (साहित्य) की दृष्टि से एक अवगुण मुझे मान्य है कि स्वामी से पृथक् होते ही प्राणों ने प्रयाण नहीं किया। हे नाथ! यह अपराध वस्तुतः नयनों का हैं वे प्राण को बाहर जाने में अतिप्रबलता से बाधा पहुँचा रहे हैं। जैसे विरह अग्नि है, शरीर तूल है श्वास हवा है अत: एक क्षण में शरीर जल सकता है। परन्तु नयन

अग्नि को अपनी अश्रुवर्षा से शान्त कर रहे हैं। वे मेरे हित में सचेष्ट हैं फलतः यह शरीर विरहाग्नि के सम्पर्क में भी दग्ध नहीं हो रहा है।

शास्त्रीय व्याख्या

अवगुन : 'अवगुन' अपराध का वाचक है।

वक्तव्यविशेष

प्रजा, राजा, गुरु, शिष्य आदि के मध्य में रही प्रीति मीमांसोक्त आतिदेशिक न्याय के अनुसार विकृति है। शास्त्रकारों ने उसकी प्रकृतिरूप में पति-पत्नी की प्रीति को माना है। जो भावप्रकाशनादि ग्रन्थों में पत्नी की प्रीति के लिये अपेक्षित सर्वांगोपसंहार उपवर्णित किया है। यदि उन सर्वाङ्ग में से एक भी अंग पत्नी (सीता) में न्यून होगा तो पति-पत्नीगत रति में मीमांसासम्मत प्रकृतित्व विलुप्त होगा इस आपत्ति को निरस्त करने के विचार से सीताजी ने स्व में अवगुण पूछा है। अर्थात् पूर्वोक्त दोहे के अनुसार प्राण श्रीरामविरह में शरीर में पूर्ववत् बने रहते हैं तो पत्नी की रति में वैगुण्य ही समझा जायगा। इस रीति से सीताजीने प्राणनिष्क्रमण को अवगुण रूपमें घोषित किया उसका उत्तर 'नाथ नयनन्हि' से दिया है।

एक मोर : 'एक' से प्राणानिष्क्रमणरूप अपराध सूचित है। उससे अपराध में अयमेकः अयमेकः इत्याकारक अपेक्षाबुध्यभावप्रयुक्त द्वित्वाद्यभाव स्पष्ट है।

माया सीताजी 'मोर' से बोध्या हैं।

माना : 'माना' से दण्डपात्रता व तत्प्रयोजक अपराधिता स्वीकृत होने से दण्डनीति विचार की पूर्णता समझनी हैं। 'माना' का आशय यह कि तत्काल के लिए सीताजी अपने में अपराध की कल्पना मानती हैं न कि वास्तविक रूप में।

बिछुरत : प्रियतमसंयोगसम्भावना का अभाव 'बिछुरत' से बोध्य है।

न कीन्ह : वस्तुगत्या प्राण प्रयाणाभाव दोष न होकर चौपाई ४ में उक्त अनुमानप्रणाली का अवसर श्रीरामानुयायियों को देना है। उसकी पुष्टि में 'न कीन्ह' कहा है।

नयनन्हि को अपराधा : 'को अपराधा' कहकर सीताजी ने स्व में अपराधाभाव समझाया है।

को अपराधा वचनप्रामाण्य की मीमांसा

वक्ता ने सुनाए कविव्यापारात्मक कविता सुनकर श्रोताओं के हृदय में जो संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं तदनुगुणतया श्रोताओं को वैसा-वैसा बोध होता रहता है। फलतः कवि के वचन भी श्रोताओं को स्पृहणीय होते रहते हैं। परन्तु शास्त्रदृष्ट्या वैयंजनिक अर्थबोधक शास्त्रार्थ निर्णायक न हो ने से तथाविध वचनमें निर्दोषता या सदोषता निर्णीत न करने का संप्रदाय यहाँ मननीय है। जैसे किसी वेदान्तानुभवी ने कहा है कि 'वक्त्री जिह्वा अंधी है प्रकाशवान् नयन मूक हैं ऐसी स्थिति में कौन साक्षी होगा' आदि। अतएव कहना होगा कि वैयंजनिक विचारों की मान्यता केवल साहित्योक्त व्यंजना में है। वैसे वैयंजनिक निरूपण का उद्देश्य यह कि वियोगादि का तथ्य समाज को यथावत् बोध्य हो। इसी हेतु से जानकीजीने प्राण न जाने की विवशता 'नयनन्हि को अपराधा' से दर्शायी है।

अथवा—'निजपद जन्त्रित' लोचन होने से सती की सेवा में रही प्रकृति ने सतीप्रभाव से प्राणों को बाहर ले जाने में लोचनवाही नाड़िया को अवरुद्ध कर रखा है। यह कार्य प्राकृतिक होने से उसे 'नयनन्हि को अपराधा' से ध्वनित है।

निसरत प्रान : नयनों को अपराधी कहने में उपपत्ति 'निसरत प्रान' से स्फुट कर रही हैं। 'निसरत' से पतिव्रता के शरीर में से सदैव के लिए प्राण चले जाने का मार्ग दर्शाया है।

हठि : 'हठि' उक्ति से सीताजी ने अपनी इन्द्रियवृत्तियों का विषयान्तर से पृथक् रहने की सूचना दी है। सीताजी आत्मालम्बनज्ञान व निरुद्ध मनोवृत्ति में स्थिर हैं। अतः इन्द्रियों में स्वतन्त्रता वर्णित कर उनको ही 'हठि' आदि से अपराधी ठहराना ऋत है।

अथवा—विज्ञानमय गरुड़ पक्षी का दक्षिण पक्ष ऋत है उसके उत्तर पक्ष में सीताजी ने इन्द्रियों को अपराधी न कहकर उन्हें बाधक कहा है; क्योंकि सीताजी के जीवित रहने की उपपत्ति दोहा ३।२४।१२ चौपाई में निरूपित है।

अगिनि : अग्नि, तूल व हवा का रूपक क्रमशः विरह, शरीर व श्वास है उन्हें एक साथ वर्णन कर सीताजी ने अन्तिम घड़ी दर्शाई। इस स्थिति को हनुमान्जी ने छिपकर ठीक से परखा है व अपने आने की सार्थकता समझी है। उसी को यहाँ 'अगिनि' आदि से सुनाया है। यह विप्रलम्भ होते हुए भी रसिकों के लिए आस्वाद्य है।

नयन स्त्रवहिं जलु : 'लोचन निजपद जन्त्रित' की एकवाक्यता में 'नयन स्त्रवहिं जलु' कहा है। आशय यह कि निजपद पर नियन्त्रित नयनों से अश्रुधारा चरणों को धो रही है उसका परिणाम यह हो रहा है कि पैरों के भीतर से प्रवाहित जलधारा ऊपर उठकर क्रमशः मस्तक तक चली जा रही है। उसी शीतलता से विरहाग्नि का शमन होना ध्वनित है।

निज हित लागी : नयनों में सत्वांश अत्यधिक होने से वे श्रीराममूर्ति को बसाये हैं उसकी स्थिरता होना 'निज हित लागी' है।

जरैं न पाव : दीर्घ यात्रारम्भ के नैराश्य ने यदि नयनों को शुष्क किया तो शरीर को भस्म होते देर नहीं है। अर्थात् शरीर में दाह की उपधायकता की आसन्नता स्फुट है। फलतः सीताप्रीत्यभाववती अनुमान को अवकाश नहीं है।

संगति—सन्देश सुनाकर, सीतानाट्य से प्राप्त स्वानुभव में अतिपीड़ित हनुमान्जी अपना मत सुना रहे हैं।

चौपाई— ***सीता कै अति बिपति बिसाला । बिनहि कहें भलि दीन दयाला॥ १॥***

भावार्थ—हे दीनदयाल विपत्तिहारक! सीता माता की विपत्ति अति विशाल है उसे न कहने में ही हित है।

शास्त्रीय व्याख्या

सीता : लंका में श्रीराम के पहुँचने की आशाक्षीणता में विपत्ति का बोझ सह रहीं सीताजी 'सीता' पद से बोध्या हैं।

अथवा—विरहाग्नि को तीव्रता में लोचनाश्रु के सूखने की स्थिति में आसन्ना सीताजी 'सीता' पद से बोध्या हैं।

अति बिपति बिसाला : 'अति' का तात्पर्य लौकिक उपाय से समुद्र पारकर सफलता प्राप्त न होने में है। विपत्ति के अन्तर्गत अनेक आपदा हैं। जैसे रावण ने की हुई मास जीवन की घोषणा, मानुषभाव में ही रावणवध की अशक्यता आदि।

'बिसाला' से उक्त विपद् सागर की अपरिमितता बोध्य है।

ज्ञातव्य है कि सर्वसाधारण साध्वी, साधु, संत, विद्या-धर्मनीति की प्रतिष्ठार्थ बलि हो चुके हैं उनके लिए भोग्यरूप में उपस्थित विशाल विपत्ति की भोग्यता को स्वीकार करने में शिक्षा के प्रति सीताजी का चरित्र मीमांसा की दृष्टि से सर्वांगोपसंहारात्मक प्रकृति रूप में गाया गया है। उपमेय के रूप में राजा सुग्रीव, बिभीषणजी, शबरीजी, कौसल्याजी प्रभृति की विपत्ति मीमांसासम्मतविकृतिस्थानापन्नतया बोध्य हैं।

बिनहि कहे : आत्माराम, आप्तकाम[1] के सामने विपत्ति कहने से कोई अर्थ नहीं होता; क्योंकि वे बन्धमोक्षशून्य, निर्विकार होते हैं।

जनकजी के समान जो आत्माराम होते हैं उनका स्व कर्त्तव्य के प्रति सदा जागरूक रहना समझकर उनके सामने भी विपत्ति कहना व्यर्थ है क्योंकि जागरुक आत्माराम के लिए वाणी का प्रवर्तकत्व व्यर्थ है। उक्त दोनों स्थिति में रहे श्रीराम से न कहना 'बिनहि कहे' का भाव है।

भलि : 'बिनहि कहे' शीर्षक के अनुसार न कहने में ही अपना हित हनुमान्जी ने समझना उनकी भक्ति है।

दीनदयाला : शास्त्रमात्रैकशरणं होकर रहने वाले 'दीन' हैं सीताजी उसी श्रेणी में हैं उनपर मंडरा रही विपत्ति के निवारण में एकमात्र श्रीराम का ही सक्षम होना निस्संदिग्ध है। अलौकिक, अकल्पित शक्ति को प्रगट करने ने समय 'दयाला' से ध्वनित किया है।

संगति—विपत्ति को ध्यान रखते हुए हनुमान्जी स्ववचन का उपसंहार कर रहे हैं जिसमें उपक्रम की एकरूपता, समुद्र की अपारता व दीर्घकाला यात्रायोग्यसमयाभाव से यात्रा पूर्ण न होने की सम्भावना में कृत्यसाध्यता की सम्भावना का अभाव तथा व इष्ट साधनत्वाभाव की सम्भावना का अभाव वानर ऋक्ष सैन्यों में उत्साह ध्वनित कर रहे हैं।

दोहा— ***निमिष-निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।***
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति॥ ३१॥

भावार्थ—हे करुणासागर! सीताजी का प्रति निमिष कल्प के समान बीत रहा है। हे प्रभो! आप शीघ्र चलें। भुजबल से खलदल को जीतकर सीताजी को ले आइये।

शास्त्रीय व्याख्या

निमिष : 'निमिष-निमिष' की आवृत्ति कालव्याप्ति के बोधनार्थ है। यह पूर्वपक्ष मत से सीतापक्ष की घटना है जो पतिव्रता साध्वी नारी की अत्यन्त शोचनीय अवस्था व अनुपेक्षणीयता को प्रगट कर रहा है। यह पूर्वोक्त उपक्रम का उपसंहार है।

करुनानिधि : दूसरी ओर दीनरक्षक, करुणासागर, आत्मतत्ववेत्ता, नीतिमान् के प्रवृत्यर्थ दीनदयाला के अनन्तर 'करुनानिधि' कहा है।

कलप सम : अति वेदनामय निमिष कल्प के समान है। 'कलप' से मानवगणित

---

[1] श्रीमद्भागवत १०।३२।१९

से चतुर्युग सहस्र दिन बोध्यं हैं।

बेगि चलिअ : अप्रिय श्रवण व शत्रुआक्रमणोभयज आवेग 'बेगि' है। लंका पहुँचने में जितना समय नान्तरीयकतया अपेक्षित है उतना ही विलम्ब इष्ट है उससे अधिक समय व्यतीत न करना 'बेगि चलिअ' से दर्शाया है। अमर्ष, शैघ्रय, दाक्ष्य एवं शौर्य भी 'बेगि' से चिन्त्य है जो उत्साहात्मक है। यहाँ से कर्तव्यतया विधेयांश का प्रारम्भ बोध्य है।

प्रभु आनिअ : श्रीराम की प्रभुशक्ति (लौकिकालौकिक, कोश, दण्ड, बलसम्पत्ति) 'प्रभु' से व्यक्त है।

'आनिअ' से मर्यादितस्वश्रोत्रश्रुतकाल ध्यान में रखकर अनुपेक्षापूर्वक प्रार्थना बोध्य है। यह प्रार्थना मीमांसोक्त विधिभेद के अन्तर्गत तृतीय विधि है। यतः उद्देश्यता जीति में है विधेयता 'बेगि' में है। 'आनिअ' में अज्ञातांश रूप विधेयता है जो 'बेगि' में पर्यवसित है क्योंकि 'आनिअ' पहिले से ही निश्चित है। यदि 'आनिअ' न कहा होता तो स्वराष्ट्रान्तर्गत रही सीताजी ने विपत्ति भोगने का तत्व रघुवंशका सर्वलोकनमस्कृत्व विश्वास्यत्व अनुरज्यता निरस्त न होने देने में है अतः 'प्रभु आनिअ' कहा है।

भुज बल : राजशास्त्रानुसार 'भुजबल' से अमात्य (सुग्रीवजी) हनुमान्‌जी व सैन्यदल व्यंजित है।

जीति : परोत्कर्ष या पराभिमान का खण्डन करना 'जीति' है।

संतहृदय हनुमान्‌जी पर (सीताजी) दुःख से इतने व्यथित हैं कि वे लंकादाह को अतिन्यून कार्य समझ रहे हैं। ज्ञातव्य है कि प्रायः सामाजिक नटों का अभिनय देखते हुए साहित्यिक-व्यापारमहिम्ना रजस्तमोविलयन के अधिकारी हो तन्मय होते हैं पर अभिनय-दर्शन समाप्त्यनन्तर उसे भूल जाते हैं। हनुमान्‌जी वैसे नहीं हैं वे किष्किन्धा में पहुँचकर भी सीतादुःख से व्यथित हैं अतः वे सात्विक संत हैं। जैसा कि उत्तरकाण्ड में 'पर दुःख लागी द्रवहि सो संत पुनीता'[1] से अनूदित है। प्रसंगात् यह-भी कहना है कि मानस में महान् संत हनुमान्‌जी के द्वारा स्थापित भक्ति पक्ष के स्थापन क्रम में यह प्रथम मुख्य बिन्दु 'जीति' है। जो प्रीतिपूर्वक आदेशपालक भक्तों के लिए प्रेरक भी है। जैसा कि सीताजी ने श्रीरामभक्ति के अंगिता में अंगभूत पतिव्रत धर्म के प्रति अपनी अशंकता परराष्ट्रीय शत्रु के सामने प्रगट कर आज्ञापालनात्मक धर्म को प्रगट किया है। तथा स्वराष्ट्र में लक्ष्मणजी ने वैराग्य की शिक्षा देकर आदेशपालन व वृद्धसेवा के प्रति गुहजी को जागरूक कराया है। गुहजी ने भी उसे प्रसन्नतापूर्वक अपनाया। यही इस काण्ड का सौन्दर्य है।

संगति—भक्त्यभिमत पतिव्रत धर्म की सुरक्षा, व्याकुलता व अभिनीत विपदा सात्विक सहृदय हनुमान्‌जी के द्वारा सुनकर उसके उत्तर में सिद्धान्तपक्ष सुनाने के पूर्व श्रीरामजी ने 'बिनहि कहे' शीर्षक के उत्तर में अपनाई चेष्टा का वर्णन शिवजी कर रहे हैं। जो सहृदय के लिए अति आस्वाद्य है।

चौपाई— सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना । भरि आए जल राजिव नयना ॥ १ ॥

भावार्थ—सीताजी को अति विपति वृन्द व सहिष्णुता को सुनकर सुखात्मा प्रभु की

---

[1] श्रीरामचरितमानस उत्तरकाण्ड १२५।८

आँखें जल से डबडबा गईं।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि सीता दुख : हनुमान्‌जी के समक्ष सीताजी ने प्रत्यक्षप्रमाणानुगमन में स्व कतृक अभिनय से मरणासन्नस्थितिक कथा प्रगट की है। उसी का चिन्तन करते हुए 'अति बिपति बिसाला' व सहिष्णुता सहृदय हनुमान्‌जी ने सहज प्रगट कर सुनाना 'सुनि सीता दुख' है।

सुख अयना : 'सुख अयना' से आनन्द ब्रह्म स्मर्तव्य है। अरण्यकाण्ड में श्रीरामजी ने माया का स्वरूप व वैराग्य के साथ साधन भक्ति की शिक्षा लक्ष्मणजी को सुनाई थी। अभी साध्यभक्तिनिरूपण सुनने व सुनाने में उन्हें आनन्दानुभूति हो रही है। उसी को 'सुख अयना' कहा है जो शुद्ध सत्त्व का पूर्ण प्रतीक है।

भरि आए जल : सुरक्षणीय साधुओं पर आई आपत्ति व संरक्षण के कार्यकारणभाव-सिद्धान्त के शुश्रूषु हनुमान्‌जी ने ही साध्यभक्ति को प्रगट करने का सुअवसर देना देखकर प्राप्त आनंद 'भरि आए जल' से व्यक्त है। इस प्रकार 'बिनहि कहे' शीर्षक का समाधान अर्थात: स्फुट है।

राजिवनयना : दु:खाश्रु की व्यावृत्ति 'राजिवनयना' से की है। अन्यथा दु:ख सुनकर नयन की ललिता व विकोशा दृष्टि प्रकट नहीं होती।

संगति—भगवच्छरणागत में रहने वाले पर विपत्ति की सहिष्णुता पूर्वपक्ष की ओर से सुनकर सिद्धान्तपक्ष से विपत्यभाव की यथार्थता का उत्तर श्रीराम सुना रहे हैं।

चौपाई—बचन कायँ मन मम गति जाही । सपनेहुँ बूझिअ बिपति कि ताही ?॥ २॥

भावार्थ—जिसके मानसिक, वाचिक, कायिक व्यापार का विषय एवं उद्देश्य प्रभु की शरणागति है उसके पास स्वप्न में भी क्या विपत्ति आ सकती है?

शास्त्रीय व्याख्या

मम गति जाही : 'मम गति' से मनसा वाचा कर्मणा प्रभु की आदेशपालनात्मक सेवा में रहना ध्वनित है। 'जाही' शरीर मनस् व वाणी से सम्बन्धित है।

सपनेहुं : रघुपति के प्रति उपर्युक्त रीति से रघुपति की शरणागति में रहने वाले जीवों के हृदय में प्रभु सदा निवास कर स्वयं उनके पहरेदार हो जाते हैं (जैसे बली)। अत: कामादि विकृतियाँ सत्वप्रचुर महात्माओं के पास से स्वयं भागती हैं ऐसी स्थिति में उनके पास स्वप्न में भी विपदा आ नहीं सकती यह सिद्धान्त स्थिर है तो पूर्वकथित 'बेगि चलिअ' की प्रसक्ति नहीं है।

बूझिअ : प्रमाणमूर्धन्य शब्द से सुदृढ़ भक्तिसिद्धान्त पर विश्वास है तो उसके प्रति प्रामाण्यनिश्चय रहते हुए अप्रामाण्यसंदेह या प्रामाण्याभाव का निर्णय न करने की सूचना प्रभु 'बूझिअ' से दे रहे हैं।

बिपति कि ताही : 'बिपति' से धर्मार्थ व भक्ति के प्रतिघातक व्यसन समझाने हैं। 'बिपति' की उपपत्ति राजनीति में उक्त है उस पक्ष में विपत्ति का अर्थ श्रेयोभिघात है। इस मत में शरणागत ने भगवदादेशात्मक नीतिरूप सेवा का सदा अभिनिवेशपूर्वक पालन करते रहना श्रेयस् से बोध्य है। जो नीतिमत में अनुच्छेद्य अर्थात् शाश्वत है उसका

प्रतिघात न होने से विपदा को व्यसन रूप में अवकाश प्राप्त नहीं होता। इस व्याप्यव्यापकभाव के उदाहरण रूप में सीतावधार्थ उठाये चन्द्रहास का अज्ञेय अवरोध व पंचवटी में सीताहरणार्थ प्रवृत रावण ने उनको किया नमन स्मर्तव्य है।

ज्ञातव्य है कि जब परपुरंजय या स्वराष्ट्रगत दुष्ट कण्टक का शोधन करने का भार प्रभु पर होता है तो रक्षण को निमित्त रूप में प्रगट कर वे दुष्टों के वध के लिए उद्यत होते हैं यही नीतिसिद्धान्त है। तदनुसार परपुरंजयार्थ प्रभु सीताजी, हनुमान्जी, प्रह्लादजी आदि को प्रेरित कर परराष्ट्र या स्वराष्ट्र में धर्मापकारी कण्टक को नैतिक विवेक समझाने-दर्शाने हेतु प्रथमतः भक्तों को दुष्टों के सामने भेजते हैं। यदि वे दुष्ट साधुओं को पीड़ित करते हैं तो वे लोकद्वेष्टा होते हैं। तदनन्तर परपुरंजयनीति प्राप्त होती है। यदि प्रपन्न भक्तिमान् भी विपदा को अनुभूत करते रहेंगे तो 'कः प्राण्यात्' यह प्रश्न असमाहित रहेगा अतः भक्तों पर विपदा का प्रभाव नहीं पड़ता। फलतः जिस समय जो ईश्वरादेश प्रपन्न भक्तों को प्राप्त होता है उसमें वे सुखी होते हैं। एवंच 'बिपति कि ताही' शीर्षकोक्त उक्त व्याप्यव्यापकभाव के अनुसार परपुरंजय तथा कण्टकशोधनार्थ विपदपेक्षा होने से उसके अभिनेताओं में विपदाभास ही है वह प्रत्यक्ष में विपदा से बोध्य है। यह विषय श्रीमद्भागवतवचन से भी सिद्ध है—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः बाहौ स्वसिद्धेह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यंजलौ किं पुरुधान्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥[१]

इस प्रकार नीतिपोषित साध्यभक्ति की स्थापना सुन्दरकाण्ड में सिद्धान्तपक्ष में पूर्ण की गयी है।

संगति—अनसूयु-हनुमत्प्रभृति के साथ हुआ यह संवाद पूर्वोत्तर संवाद न्यायमत में 'वाद' लक्षण से समन्वित है। उसका स्पष्टीकरण हनुमान्जीद्वारा स्वीकृत किए भक्ति सिद्धान्त से कर रहे हैं। उसके पीछे सीताजी ने सुनाए श्रीरामचरणचिन्तन को हनुमान्जी याद करते मालूम होते हैं।

चौपाई— कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई । जब तव सुमिरन भजन न होई ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रभु की उक्ति के अनुमोदन में हनुमान्जी ने कहा कि हे प्रभो! विपत्ति तभी तक है जब तक आपका स्मरण नहीं होता।

शास्त्रीय व्याख्या

हनुमंत : जिज्ञासु, अनसूयु साध्यसाधनोभय लक्ष्यलक्षणोभयज्ञ हनुमान्जी 'हनुमंत' से बोध्य हैं।

बिपति : भक्तिसिद्धान्त के विस्मरण से सीताविपत्यभिनय से भक्तिशास्त्रोक्त भक्तिविद्या के प्रति प्रामाण्य संदिग्ध हुआ था। उसका निरास होना 'बिपति' से ज्ञातव्य है।

प्रभु : 'प्रभु' सम्बोधन भक्तिसिद्धान्त के प्रति उदित अप्रामाण्यबुद्धि के निरासार्थ समझाया है।

सोई : साध्यसाधनोभय भक्तिसम्पन्न सीताजी-भरतजी आदि के अतिरिक्तों को ध्यान

---

[१] श्रीमद्भागवत २।२।४

में रखकर 'सोई' कहा है। तभी उपर्युक्त तच्छब्दार्थ भिन्न स्व लक्षण-लक्ष्यभूत भक्ति के आदर्श भरत आदि के चरित्रों में एकवाक्यर्थता स्पष्ट होगी।

'सोइ' न होई से अन्वित है वह व्याप्ति का बोधक है।

जब तव : तथाविध (शिवोक्त साधन भक्ति व सुन्दरकाण्डनिर्दिष्ट) साध्यभक्त्यसम्पन्नों के हृदय में उदित विपदनुभवाधायक कालविशेष 'जब' है।

'तव' से दीनबन्धु, करुणासागर, नीतिमान्, निर्भरभक्तिप्रदाता, विकृतिदोषनिवारक श्रीराम बोध्य हैं।

सुमिरन भजन न होई : आदेश पालन के उपधायक व उपधेय समझकर तदानुगुणय में श्रीराम स्मरण होना 'सुमिरन' से चिन्त्य है। भजन भी तथाविध ही समझना है। उसका अभाव 'न' से बोध्य है उस अभाव की सत्ता 'होई' में स्मर्तव्य है।

'सुमिरन भजन' से प्रभु के आदेशपालन के साथ आदेष्टा की प्रीति का नैरन्तर्य स्मरण व भजन में बना रहना समझाना है। उसका अभाव 'न होई' है उसके अभाव का अभाव सीताजी में देखकर उनमें विपत्ति का अभाव अनुमित कर हनुमान्जी में भक्ति के प्रति पूर्ण सन्तोष होना ध्यातव्य है। इस प्रकार वाद पूर्ण होते हुए स्वराष्ट्ररक्षण का प्रकार भी पूर्णतया निरूपित है।

ज्ञातव्य है कि सुग्रीवजी आदि वानरों की विपत्ति को देखकर भी किष्किन्धा में हनुमान्जी विचलित नहीं हुए पर सीताभिनय से 'बिपति कि ताही' में सूचित सिद्धान्तगत प्रामाण्य में हनुमान्जी सन्देह करने लगे उसका निरास होते ही हनुमान्जी ने पूर्व निर्णीत लक्ष्मणोक्त भक्तिसिद्धान्त गत निरुपाधिक व्याप्ति को स्वीकृत करना 'सुमिरन भजन न होई' से प्रत्यभिज्ञात कराया है।

संगति—परपुरंजय से नीतिधर्म की प्रतिष्ठा करनी है उसमें नान्तरीयकतया सीताविपत्ति सम्बन्धी उत्तर सुनकर प्रसन्न हनुमान्जी दोहा ३१ में कहे 'बेगि चलिअ' के प्रति तूष्णींभाव अपना कर परपुरंजय की प्रार्थना कर रहे हैं।

चौपाई— केतिक बात प्रभु जातुधान की । रिपुहि जीति आनिबी जानकी ॥ ४॥

भावार्थ—आप शत्रु व राक्षसों को जीतकर अपनी पद्धति से जानकीजी को ले आयेंगे उसमें कौतुक क्या है?

शास्त्रीय व्याख्या

केतिक बात : राक्षसों का कर्मविपाक पूर्ण है उनको मारने में कोई श्रम न होना 'केतिक बात' है। यह अति स्वल्पता का ज्ञापक है।

प्रभु : श्रीराम विश्व के स्वामी हैं, शक्तित्रय से पूर्ण हैं। उनकी सफलता निर्णीत होने से 'प्रभु' कहा है।

जातुधान की : विजयकर्मतावच्छेदकतया यातुधानत्व नहीं समझाने हेतु 'जातुधान की' कहा है जो 'रिपुहि जीति' शीर्षक में स्फुट होगा; क्योंकि यातुधान यदि साधु हैं तो उन्हें आप अजेय मानते हैं जैसे बिभीषणजी प्रह्लादजी।

रिपुहि जीति : विजयकर्मतावच्छेदक धर्मद्वेष्टृत्व है वह जहाँ है वे सभी जेय हैं।

क्रियांश में आवरणभंग श्रीराम में सदा निर्बाध है समझाने के लिए 'जीति' कहा है। अर्थात् आपको सैन्यादि बल की अपेक्षा नहीं है वह तो परिच्छदमात्र है।

आनिबी जानकी : 'आनिबी' से प्रभु का अबाध स्वराट्त्व बताया है जो उनका अपना स्वरूप है।

संगति—हनुमान्‌जी ने लंकादाह, अक्षयकुमारवध, सीतासम्भाषण आदि जो भी कार्य सम्पन्न किए उनकी पूर्णता देखकर नीतिप्रोक्त दानकल्पना की अभ्यर्हितता प्रभु के द्वारा सम्पन्न होना शिवजी सुना रहे हैं। जिसके परिणाम में हनुमान्‌जी का निरुपाधिक साध्यभक्तिमत्व प्रकाशित होगा।

चौपाई— ***सुनु कपि! तोहि समान उपकारी । नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी ॥ ५ ॥***
प्रति उपकार करौं का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥ ६ ॥
सुनु सुत! तोहि उरिन मैं नाहीं । देखेउँ करि बिचार मन माहीं ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे कपे! सुनो जो सुर नर मुनि शरीरधारी जीव हैं उनमें से कोई भी तुम्हारे समान उपकारी नहीं है अब मैं तुम्हारा प्रत्युपकार कौन-सा करूँ? अतः मेरा मनस् उस प्रत्युपकार के प्रति सम्मुख नहीं हो रहा है। हे पुत्र! सुनो तुम्हारी कृति के प्रत्युत्तर में देय न होने से मेरा ऋणबोझ कभी भी नहीं उतरेगा। यही मेरे मनस् का निर्णय है।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनु कपि : दानकल्पना कार्यान्वित करनी है उसी का उपक्रम 'सुनु कपि' से कर रहे हैं।

तोहि समान : भक्तिसिद्धान्ताभिमत साध्यभक्ति में अभिनिवेश व मेरे वचनों से प्राप्त निर्णय में हर्ष प्रगट करने वाले भक्त तुम ही हो अतः 'तोहि समान' कहा है। वह 'नहिं' से अन्वित है।

उपकारी : स्वामिहितकारिता में संलग्न हनुमान्‌जी की तरह अशंक व सैन्यसंघटन-कर्त्ता होना 'उपकारी' का भाव है वैसे भक्त साध्यभक्ति से सम्पन्न, निरपेक्ष व आप्तकाम होते हैं।

नहिं कोउ : 'नहिं कोउ' निर्णयात्मक भाषा है। श्रीरामोपकृतियोग्यता सुर व मुनियों में हो सकती है परन्तु उनमें हनुमान्‌जी के समान सम्पूर्ण कार्य करने की क्षमता नहीं है।

सुर नर मुनि तनु धारी : सुर नर मुनि शब्द तत्तज्जातिवाचक है।

आशय यह कि सुरों, नरों व मुनियों में भगवदादेशपालन करने की योग्यता प्रभु ने स्थापित की है। यदि सुर अपराध करते हैं तो उनको मानभंग कर प्रभु पुनः स्वस्थान में स्थापित करते हैं। नरों को पारलौकिक दण्ड देकर पुनः उन्हें शुद्ध कर देते हैं।

मुनियों में जन्मजात ब्रह्मज्ञता होने से वे दण्ड्य नहीं होते।

प्रति उपकार : सुरादिकों को जिस कार्य के निमित्त से पारितोषिक दिया वे सब मारुति के लिए योग्य नहीं हैं। यतः उनमें अन्योपकारितासाधर्म्य नहीं है ऐसा समझाने हेतु 'प्रति उपकार' कहा है।

करौं का तोरा : मेरे (श्रीराम) हितार्थ कार्य करने के समान मैं (श्रीराम) तुम्हारा

(हनुमान्जी) हित कार्य करूँ वह तभी सम्भव है जब तुम्हें मेरे समान व्यथा प्राप्त हो वह तों असम्भव है। दानकल्पनार्थ यदि तुम्हें पीड़ा देना सोचता हूँ तो उसमें अनौचित्य समझ में आ रहा है; क्योंकि साध्यभक्तिसमानाधिकरणतया स्मरण भजन तुम्हारे में बाधित होना ही नहीं है। अतः अदेयता स्थिर होने से 'करौं का तोरा' कहा है।

सनमुख होइ न सकत : हनुमत्कृत स्वामिकार्य के उत्तर में प्रीतिदान में देय वस्तु के प्रति मनस् का न पहुँचना 'सनमुख होइ न' है। मनस् में चिन्ता करने की योग्यता भी न होना 'न सकत' है।

मन : 'मन' से संकल्प विवक्षित है।

सुनु सुत : कैवल्य व साध्यभक्ति प्रभु से ही प्राप्य है किन्तु वह स्वयं प्राप्त हो चुकी है अतः प्रभु स्वयं प्रसन्नता में आकर हनुमानजी को अपना स्वजन बनाने हेतु 'सुनु सुत' कह रहे हैं।

'सुत' से 'अति निकट बैठावा' रूप अतिप्रियदानाधिकारिता व्यक्त है।

चिन्त्य है कि सुग्रीव व बिभीषणजी ने प्रभु के कहने पर राज्य लिया। इस प्रकार की किसी भी प्रसक्ति का हनुमान्जी में न होना यह भी 'सुत' से ध्वनित है।

सीताजी ने हनुमान्जी को 'सुत' कहा था यहाँ पर प्रभु ने भी 'सुत' कहा वह इसलिए कि उनको साध्यभक्ति की धारा की परम्परा को यथावत् हनुमान्जी आप्रलय तक सम्भालते रहेंगे। परिणाम में भक्तिवंश पृथ्वी पर स्थिर रहेगा ऐसा विश्वास प्राप्त है।

उरिन मैं नाहीं : प्रभु ने सदा के लिए अपने में यथेष्टभोगभोग्यत्व रूप स्वत्व को धरोहर की तरह हनुमान्जी ने प्रतिबन्धित समझते रहना 'उरिन मैं नाहीं' है। इसकी उपपत्ति में कहना यह है कि भक्ति व मुक्ति अदेय ठहरने के अनन्तर कोई भी देय उपकृति के अनुरूप न होने से प्रभु के लिए अधमर्णता निर्विवाद है। उत्तमर्णात्मक उपकृतिरूप लोकोत्तरकार्य पूर्ण करने की समानशीलता में प्रभु ने अपने को अधमर्णता मानना ही अधमर्णता का स्थायित्व ज्ञातव्य है।

देखउँ : प्रतिभान होना 'देखउँ' है।

करि बिचार : प्रभु के मनस् में सब प्रकार के देय आए किन्तु मनस् कहीं स्थिर नहीं हुआ एकमात्र अधर्मणत्व ही प्रतिभात हुआ यही 'करि बिचार' है। इस प्रकार राजनीत्युक्त दानकल्पना पूर्ण हुई।

संगति—उत्तमर्णत्व देकर स्व में होने वाले अत्यानन्द को अनुभावों से प्रभु अपना हर्ष प्रगट कर रहे हैं।

चौपाई— पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता । लोचन नीर पुलक अति गाता ॥ ८ ॥

भावार्थ—देवों के रक्षक प्रभु अपने में अधमर्णता स्वीकार कर हनुमान्जी को देखते ही रहे। आँखें डबडबा गईं। देह रोमांचित हो गया।

शास्त्रीय व्याख्या

पुनि-पुनि : अधमर्णत्व सदा के लिए स्वीकृत होना सुनकर हनुमान्जी में तत्प्रयुक्त अभिमान का स्पर्श न होना देखकर प्रभु ने हनुमान्जी को प्रीति में पुनः पुनः देखना 'पुनि'

की पुनरुक्ति का आशय है।

कपिहि : 'कपिहि' से वानरों में अविमृश्यकारिता जात्या स्फुट है वह यहाँ नहीं है। समझाने हेतु 'कपिहि' कहा है।

चितव : 'चितव' से चपलता का अभाव, उत्तमर्णत्व की अस्वीकृति, दासता में ही रुचि एवं महती उपकृति हनुमान्‌जी में देखकर सन्तुष्टि होना समझना है।

सुरत्राता : शंकोदय से आई विघटनस्थिति की समाप्ति, भक्तिशास्त्ररूपशब्दप्रमाणता के प्रति दृढ़ता हनुमत्कृत कार्यसम्पत्ति देखकर सन्तुष्ट प्रभु ने हर्ष प्रगट करना, सम्पूर्ण सुरगणों को अपने संरक्षण की आसन्नता के प्रति पूर्ण विश्वास होना 'सुरत्राता' से ध्वनित है।

लोचन नीर : आनन्दाश्रु व रोमांच के साहजिक वर्णन से सात्विक भाव की अनुरागावस्था दर्शायी है। ऐसे अनुराग से हनुमान्‌जी को प्रभु ने एक क्षण के लिए भी उपेक्षित करने की व्यावृत्ति स्फुट है।

ज्ञातव्य है कि समुद्रलंघनादिप्रत्यावर्तनान्त कार्यकलापकर्तृतावच्छेदकता दासत्व में मानकर श्रीराम ने उसके तौल की बराबरी में स्वगतअधमर्णत्वसहचरित स्वकर्मक उपकृति में स्वस्मृति की विषयता मानी है। इससे स्पष्ट होता है कि हनुमान्‌जी में श्रीराम के प्रति उत्तमर्णत्व औपचारिक नहीं किन्तु वास्तविक है। इसकी उपयोगिता

श्लाघ्या चानन्दनी चैव महतामुपकारिता।
काले कल्याणमाधत्ते स्वल्पापि सुमहोदयम्॥[१]

उक्ति में व्यक्त है।

संगति—'चितवन' से श्रीराम में इंगित पूर्ण से स्व में प्राप्त धृतिक हनुमान्‌जी ने पहले सुखी होना पश्चात् प्रभुवचन सुनकर स्व को प्राप्त दासत्ववंचना से उठी व्यथा शिवजी सुना रहे हैं।

दोहा—* *सुनि प्रभुबचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमन्त।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवन्त!॥ ३२॥

भावार्थ—प्रभु के वचन सुनकर उनके मुख को देखते हुए हर्षप्रयुक्त प्रीति में रहे हनुमान्‌जी अपने को प्राप्त दासत्ववंचना की वेदना में भूमि पर लेट गये और व्याकुलता से त्राहि त्राहि कह उठे।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि : चौपाई ५—७ में श्रीराम के वचन सुनकर हनुमान्‌जी ने उसके परिणाम में उत्तमर्णत्व का दानकर श्रीराम ने अपने को निकृष्ट में ले आने का भाव, मारुति ने समझना 'सुनि' है।

प्रभुबचन : शक्यार्थ व तात्पर्य विषय के बोधक वचन 'प्रभुबचन' का अर्थ है।

बिलोकि मुख : उपकारकभाव को न भूलते अनुपेक्षात्मक वृत्ति के भाव में चेहरे को पूर्ववत् देखना 'बिलोकि मुख' है।

---

[१] नीतिसार ५।५०

गात : 'गात' शब्द शरीर का बोधक है वह प्रकृत में रोमांचविशिष्ट शरीर का लक्षक है। प्रभु स्वभावतः अतिशान्त हैं। उन पर कोई सात्विकादि भाव प्रगट होना नहीं फिर भी उनपर व्यभिचारिभाव निरूपित करना कविकौशल है। शमप्रकृतिक शरीर पर रोमांच भी सबको दृश्य न होने से उसे ध्वनित करना कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

हरषि : स्वामिवचन की प्रमाणता पर अशंक हो दासभाव को स्वीकृत करने वाले हनुमान्जी का दासभाव में स्थिर रहना देखकर प्रभु का अत्यधिक प्रसन्न होना भक्ति का सर्वस्व है। उसी की स्पष्ट प्रतीति मुखपर होने से 'हरषि' कहा है अथवा रोमांच के द्वारा सम्पूर्णगात्र में हर्षाभिव्यक्ति होना 'हरषि' का भाव है। अतः यह सुन्दरकाण्ड है। श्रीरामजी का यह चरित्र शिवजी व माता पार्वतीजी प्रभृति श्रोताओं के लिए अति सुखकर हो रहा है।

ज्ञातव्य है कि हर्ष व विषाद प्रायः एक साथ नहीं होते परन्तु प्रभु के वचनों को सुनकर प्रथम क्षण में हनुमान्जी हर्ष में व दूसरे क्षण में श्रीराम का अधमर्णत्व समझकर उसी की वेदना में आ गए। यह भावसन्धि यहाँ आस्वाद्य है।

चरन परेउ : उत्तमर्णत्व सुनकर हनुमान्जी के व्यथित हृदय को 'चरन परेउ' से स्पष्ट कर रहे हैं।

राजनीति में स्वामी के द्वारा किया प्रीतिदान सेवक को आनन्दकर होता है पर भक्ति-मतानुसार स्वामि-सेवकभावसम्बन्ध के रहते स्वामी ने किया स्वामित्वदान सेवक के लिए आनन्दकर नहीं होता उसी को यहाँ 'चरन परेउ' से ध्वनित किया है।

प्रेमाकुल : सर्षप के समान रहा सीताशोधकार्य पूर्ण होने पर प्रभु ने स्थायी अधमर्णात्मक स्वभाव की चर्चा करना उनका प्रेमातिशय है। उसे देख कर भृत्य ने प्रीतिमान् न होना 'प्रेमाकुल' है। 'प्रेमाकुल' 'त्राहि' से भी अन्वित है।

अथवा—स्वाभाविक व कृतक में रहे प्रेम से आकुल हनुमान्जी 'प्रेमाकुल' हैं। भाव यह कि इदंप्रथमतया शब्द को प्रमाण मानकर हुई प्रवृत्ति के परिणाम में फलोपलब्धि प्रत्यक्ष देखकर सेवककान्तर को उनकी सेवा में प्रवृत्ति का निश्चय होता है तो वह भक्ति सोपाधिक मानी जायेगी यह भाव हनुमान्जी में नहीं है ऐसा देखकर शिवजी 'प्रेमाकुल' कह रहे हैं।

त्राहि त्राहि : निरुपाधिक निरतिशय प्रीति में निमग्न हनुमान्जी के स्वामि-सेवकभाव में न्यूनता लाने वाली उत्तमर्णत्वाधमर्णत्वरूप उपाधि को सुनकर उससे व्यथित होना 'त्राहि' से सूचित है। पीड़ा की अतिशयितता 'त्राहि' की पुनरुक्ति का भाव है।

अथवा—बिभीषणसंवाद में सुनाए निकृष्टत्व में ही प्रसन्न हनुमान्जी ने श्रीराम के द्वारा सेवा में अभी उत्कृष्टत्व देने का अर्थ यही है कि अपने में अभिमान को जगाने का उपक्रम करना है वही हनुमान्जी की व्यथा है। जो 'त्राहि' से ध्वनित है।

अथवा—प्रीति होते ही तत्काल विचारान्तर का उत्थान 'त्राहि' से अनुमित है। निष्कर्ष यह कि समुद्रलंघनादिकार्यकर्तृतावच्छेदकत्व में प्रमाणात्मक बल है न कि हनुमत्व में। उस स्थिति में पारिश्रमिक प्राप्त्यधिकार हनुमान्जी में नहीं है। सुस्मूर्षा व भजनेच्छा के औत्कट्य में स्वविषयातिरिक्त रूप में प्राप्यस्थिति यदि अमृत भी यदि प्राप्ततया उपस्थित हो तो उसे भक्त त्यागते ही हैं तदनुगुण प्रार्थना 'त्राहि' से प्रगट है।

अथवा—'उरिन' की व्याख्यानुसार प्रभु को आबद्ध जानकर उस व्यथा से बचने की प्रार्थना करना 'त्राहि' से बोध्य है।

अथवा—स्व की स्वतन्त्रता में भगवदाशिषरूप अधमर्णत्व का निषेध करना भी वत्सल रति के अन्तर्गत विरोधविशेष है जो 'त्राहि त्राहि' से विदित हो रहा है।

भगवन्त : सृष्ट्यादिषड्विधैश्वर्यसंपत्ति एकमात्र सर्वज्ञ प्रभु में श्रुति ने गाई है उससे अधिक या उतनी संपत्ति हनुमान्‌जी में होनी नहीं है ऐसा रहते श्रुति के विरोध में किसी भी तत्व को स्वीकार करने हेतु ईश्वर जीव को यदि बाध्य करते हैं तो उसके प्रति जीव ने अपनी परीक्षा समझनी चाहिये। यदि जीव को वह स्वीकार्य हुआ तो भक्ति का विलोप होना निर्णीत है। इसी भय से निगमागमप्रमाणानुगन्ता हनुमान्‌जी दीन होकर 'त्राहि' प्रार्थना के साथ 'भगवन्त' कह रहे हैं।

अथवा—श्रीराम में नियन्तृत्व व स्व में नियम्यत्वसम्बन्ध 'भगवन्त' से द्योत्य है उसमें वैपरीत्य की प्रसक्ति के भय से खेद में 'भगवन्त' कहा है।

संगति—त्राहि व्यथा से पीड़ित हनुमान्‌जी के अन्तःकरण का पूर्ण द्रवीभाव होना देखकर प्रसन्नता में प्रभु हनुमान्‌जी को उठाना सोच रहे हैं उसका प्रयोजन आगे चौपाई चार में व्यक्त होगा। अभी द्रुत मनस् के अधीन मारुति का न उठना सुना रहे हैं।

चौपाई— बार-बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥ १॥

भावार्थ—प्रभु ने बार-बार उठाना चाहा किन्तु प्रेममग्न हनुमान्‌जी का न उठना ही सुशोभित रहा।

शास्त्रीय व्याख्या

बार-बार : उत्तमर्णत्व अधमर्णत्व या ऋणकल्पना जब तक रहेगी तब तक पीड़ा होते रहना 'बार-बार' से ध्वनित है।

चहहिं : 'चहहिं' चिकित्साबोधक शब्द है। यतः यह चिकित्सा प्रभु ने स्व इच्छा से की है पर वह तत्काल में हनुमत्पीड़ासंहार करने में समर्थ नहीं हो रही है।

प्रेम मगन : भरतजी को स्वामिसेवा से वंचित होने पर जैसा कष्ट हुआ वैसा ही कष्ट हनुमान्‌जी को अपने में प्रसक्त उत्तमर्णत्व की कल्पना में हो रहा है। वे तो नाथ के प्रति 'तवाऽहं' की भावना से सुखी हैं न कि 'न मामकीनस्त्वं' से। फलतः हनुमान्‌जी में निर्दंभता, निरभिमानिता, एकरूपता, अचपलता आदि गुण अभी स्थायितया व्यक्त होने से श्रीराम अपने द्वारा किए गए परीक्षोत्तीर्णता को देखकर अति प्रेम मगन हो रहे हैं। 'प्रेममगन' का अन्वय 'प्रभु' से है।

तेहि उठब न भावा : हनुमान्‌जी का चरण पर से न उठना उनकी द्रुतान्तःकरण की प्रेममय भक्ति का अनुभाव है। भक्ति के आचार्य शिवजी ने अपनी ओर से मोहर लगाई कि प्रभु के चाहने पर हनुमान्‌जी तुरन्त उठते तो उनके उठने से भक्ति की न्यूनता प्रगट होती वैसा नहीं हुआ यही हनुमान्‌जी का भक्तिवैभव है।

संगति—हनुमान्‌जी के मनस् का प्रभु ने यथावत् द्रवीभाव देखकर वास्तविकतया देय करस्पर्श तत्व प्रदान करना व शिवजी का आनन्द में ध्यानस्थ होना काकभुशुण्डी जी सुना रहे हैं।

चौपाई— प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा । सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रभु ने अपना करकमल सीतापुत्र हनुमान्‌जी के शिरस् पर रखा उसका स्मरण होते ही शिव-पार्वतीजी ध्यानस्थ हो गए।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा : 'प्रभु' से सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता व 'कर पंकज' से व्यथा की चिकित्सा स्पष्ट है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र प्रभु ने उत्तमर्णत्व मारुति को देकर उनके चित्त को इस प्रकार व्यथित किया कि उसका द्रवीभाव हो गया जिससे हनुमान्‌जी के हृदय में श्रीराममूर्ति सदा के लिए स्थिर हो गयी। भरतजी की तरह हनुमान्‌जी ने हठ कर स्वशरीरगत यथेष्टविनियोगप्रयोजकत्वरूप स्वामित्व को अस्वीकृत कर, भक्त ने प्रभु को स्वेच्छापरिवर्तन के प्रति बाध्य किया तब स्वामी ने अपना स्वामित्व पूर्ववत् स्वीकृत किया अर्थात् अपने में से अधमर्णत्व हटाया। उसका परिचय 'प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा' से व्यक्त है। इससे भरतजी व हनुमान्‌जी की सन्तुष्टि में साम्य होना दृष्टिगोचर हो रहा है।

सुमिरि : प्रभु स्मरणाभावविपत्ति रूप दोष हनुमान्‌जी की भक्ति में से सदा के लिए निकल कर, सम्पूर्ण इन्द्रियों की वृत्तियों का सीताश्रीराम उभय की सेवा में स्थिर होना 'सुमिरि' का ध्वनितार्थ है।

सो दसा : 'सो' शब्द अनिर्वचनीय सुख का बोधक है। स्मृतिविषयभूत हनुमद्दशा 'दसा' से व्याख्यात है।

भक्तिसुख में ब्रह्मसुख की सहोदरता

स्मर्तव्य है कि भरतजी ने चित्रकूट से लौटकर अवध में आने के बाद त्रयीसमन्वित राजनीति को मुख्यतया प्रतिष्ठापित किया तदर्थ गुरुजी को भरतजी ने आगे किया उनके (गुरुजी) कथन पर श्रीराम ने स्वामित्व स्वीकारा। उस सुख में भरतजी ने चतुर्दशवर्षपर्यन्त श्रीरामराज्यदिदृक्षा में जीवन धारण कर लिया। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में हनुमान्‌जी ने स्वयं ही आगे होकर श्रीराम को ऐसे बाध्य किया कि उन्होंने हनुमच्चिकित्सा के रूप में स्व ने दिए उत्तमर्णत्व को वापस लौटा लिया फलतः देयरूप में करकमलस्पर्श श्रीराम से पाकर दासभक्ति में हनुमान्‌जी स्थिर हो गये जो उन्हें इष्ट थी। इस सुख में सर्वेन्द्रियवृत्तियाँ पूर्ववत् श्रीरामसेवा में स्थिर हुईं। इसमें विशेष यह हुआ कि हनुमद्हृदय का जैसा द्रवीभाव होना अपेक्षित था वह उत्तमर्णत्व के बहाने उमड़ पड़ा उस अवस्था में जो भक्तिसुख प्राप्त हुआ वह ब्रह्मसुखसहोदर है उसी सुख को 'सो दसा' से व्यक्त किया है।

मगन : हनुमदन्तःकरण के पूर्ण द्रवीभाव से प्राप्त भक्तिसुख से उनके शरीर की निश्चेष्टा को जैसे ही स्मरण किया वैसे ही शिवजी की काव्यव्यापारावस्था कतिपय क्षणों के लिए अवरुद्ध हो गई। उपर्युक्त भक्तिसुख सजातीय ब्रह्मसुख शिवजी में उमड़ा तो उनका समाधिस्थ होना 'मगन' से बताया है।

गौरीसा : सम्भव है कि हनुमद्भक्ति की यथार्थता के आस्वाद में पार्वतीजी भी, प्रीति में समाधिस्था हो बहिर्व्यापार से कतिपय क्षणों के लिए विरता हुई हों।

इस प्रकार हनुमान्‌जी के द्रुतान्त:करण में भक्तिरति की स्थापना पूर्ण हुई।

संगति—समाधि से उत्थान होते ही शिवजी ने पूर्वनिरूपित कथा (बार-बार प्रभु चहहिं उठावा) पर ध्यान देकर अग्रिम चरित्र सुनाने का प्रारम्भ करना भुशुण्डीजी गा रहे हैं।

चौपाई— *सावधान मन करि पुनि संकर । लागे कहन कथा अति सुन्दर ॥ ३ ॥*

भावार्थ—अपने मनस् को स्थिर कर शिवजी ने पूर्वापर चरित्र को सम्बद्ध करते अग्रिम चरित्र सुनाना प्रारम्भ किया।

शास्त्रीय व्याख्या

सावधान : ब्रह्मानन्दांश में रहा आवरण हटने से ज्ञान का आवरणभंग होना नियत हैं। उस प्रभाव से अन्य संस्कार भी एक क्षण के लिए सुप्त हो गए। अत: समाधि से उत्थानानन्तर संस्कारों को पुन: जागृत कराने हेतु मनस् को स्थिर करना 'सावधान' है।

मन : एकाग्रभूमिका में मनस् को सुस्मूर्षा व बुभुत्सायुक्त रखना यथार्थ प्रतिभा के प्रति कारण है समझाने हेतु 'मन' कहा है।

लागे कहन : 'लागे कहन' से 'संकर' शब्द अन्वित है।

कथा : 'कथा' से वक्ष्यमाण श्रीराम-हनुमत्संवाद चिन्त्य है जो परराष्ट्रविजय की असन्दिग्धता को प्रगट करने के साथ भक्ति फलदातृत्व हेतु निर्णायक व प्रेरक है। इसलिए अति सुन्दर है।

अति सुन्दर : लंकाकाण्ड में मानवतास्थापन व सुन्दरकाण्ड में मानवतास्थापन के प्रागभाव की विनश्यदवस्था से विशिष्ट अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन सेतुबन्ध में होना है। तत्समानाधिकरणतया भक्तिसिद्धान्ताभिमत व्यथाऽभावसमानकालीनत्व स्फुट होना 'अति सुन्दर' है।

संगति—'चहहिं उठावा' के साथ सम्बन्ध जोड़ते हुए आगे का चरित्र सुना रहे हैं जिससे द्रुतान्त:करण हनुमान्‌जी के हृदय में सदा के लिए श्रीराम का निवास स्थिर होगा।

चौपाई— *कपि उठाइ प्रभु हृदयँ लगावा । कर गहि परम निकट बैठावा ॥ ४ ॥*

भावार्थ—हनुमान्‌जी को उठाकर प्रभु ने उनको अपने हृदय से लगाया तथा सम्मान में हाथ से पकड़कर परम सन्निकट बैठाया।

शास्त्रीय व्याख्या

कपि उठाइ : अधमर्णत्व को दूर कर प्रभु ने स्वस्वामिभाव में हनुमान्‌जी को उठाना 'कपि उठाइ' है। इसमें दासता की स्थापना व्यक्त है।

हृदयँ लगावा : ३३ दोहे की चौपाई में उपवर्णित भक्तिसिद्धान्ताभिमत अत्युच्च भक्ति में ओत-प्रोत हनुमान्‌जी को हृदय से लगाना 'हृदयँ लगावा' है।

कर गहि : हनुमान्‌जी ने अपने गुणों से सर्वोपधाशुद्ध उत्तरमंत्रिपरिषद में सम्मानित सदस्य होने का सम्मान पाना 'कर गहि' से ध्वनित है। प्रभु ने हाथ से पकड़ना सख्यभक्ति का द्योतक है।

परम निकट : 'परम मिकट बैठावा' से सामीप्यमुक्तिप्रदान समझाया है। 'परम निकट' अनुराग का अनुभाव है।

अथवा—हनुमान्‌जी के द्रुत अन्तःकरण में सदैव के लिए श्रीराम का निवास होना 'परम निकट' है।

अथवा—'यत्र यत्र रघुनाथकीर्त्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकांजलिम्' में उक्त व्याप्यव्यापक भाव 'परम निकट' से स्फुट है।

अथवा—पंचपर्वाविद्या में कदापि परिभूत न होना 'परम निकट' का आशय है।

अथवा—ब्रह्मानन्दोपलब्धि के पूर्व ब्रह्म व जीव में अविद्योपाधिक भेद नित्य है। उसके तिरोभाव की स्थिति आसन्न होने पर 'परम निकट' के बहाने स्वल्प भेद को बनाए रखने में ही भक्त सुखी होते हैं। उसी को 'परम निकट' से स्फुट किया है।

अथवा—'परम निकट' से प्रभु के सान्निध्य में प्रतिबन्ध करने वाले अहंकार आदि षड्रिपुओं का विलयन समझना है।

अथवा—'परम निकट' से पूर्ण विश्वास्यता व्यक्त है जो राजनीति के अन्तर्गत परम श्रेष्ठ गुण है।

संगति—भक्तिसिद्धान्ताभिमत दाहादि कार्यनिरूपित कर्तृतावच्छेदक को समझाने के उपक्रमानन्तर हनुमान्‌जी से लंकादाहादिकार्यक्रम की जिज्ञासा प्रभु इसलिए कर रहे हैं कि भक्तों में उत्कृष्टत्वादिभावना का अभाव निरन्तर स्थिर रहे।

चौपाई— ***कहु कपि रावन पालित लंका । केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥ ५ ॥***

भावार्थ—हे कपे! रावणपालित लंका को तुमने किस प्रकार जलाया जो किलेबन्दी के कारण अपनी अजेयता के बारे में प्रसिद्ध है।

शास्त्रीय व्याख्या

कहु कपि : नीतिशास्त्र में परपुरंजय को आनुषंगिक माना है। यदि अपना भय दूसरे राज्य को बना रहे तो स्वराज्य सुरक्षित रहता है। अतः रिपु को जीतना आवश्यक है। दूत ने परराष्ट्र की पूर्ण जानकारी प्राप्त की है जो जाम्बवत्प्रभृति के लंकादाहवर्णन से स्पष्ट है। अतः तत्सम्बन्धिकार्यक्रम की जिज्ञासोपशमनार्थ हनुमान्‌जी को लंकादाहादिकर्म सुनाने की प्रेरणा देना 'कहु कपि' से व्यक्त है। प्रयोजन यही कि अन्यान्य भक्तों की अपेक्षया अनन्य भक्तों में वैधर्म्य समझाना है। अन्यान्य भक्त प्रायः साधना के समय ईश्वर या कानून के बल पर मनोरथसिद्ध्यर्थ सर्वांग (विनय) पूर्ण अनुष्ठान सम्पन्न करते हैं जो अहंकारसमृद्धि कराने में सहायक होते हैं वैसा अभिमान अनन्य श्रीरामभक्त हनुमान्‌जी में न होना स्पष्ट कराना है; क्योंकि वह वस्तुगत्या अति दुर्लभ या अद्भुत (अलौकिक) है।

रावन पालित : रावण की अजेयता का ब्रह्म प्रदत्तवर से प्रमाणित होना 'रावन' से स्मर्तव्य है। 'पालित' से पराक्रमणप्रतीकार में सफलता की अवश्यंभाविता सर्वविदित है।

केहि बिधि : पूर्वकृत सम्पूर्ण कार्यकर्तृतावच्छेदक का स्पष्टीकरण भक्ति के अभिमत से दो० ३२ में व्यक्त हो गया है। जो अग्रिम प्रयोगविधिक्रम निर्णीत करते समय जाम्बवान्‌जी के द्वारा भी आगे श्रुत होगा। प्रस्तुत में जिज्ञासित उक्त कर्तृतावच्छेदक के प्रति ध्यान रखने में फलपूर्वकाल व फलोत्तरकाल उभय अवस्था में अनुष्ठाता जागृत है तो वह श्रीराम का दास या भक्त कहलाने के योग्य है। जो कि हनुमदुक्ति में आगे स्पष्ट होगा।

दुर्ग : 'दुर्ग' से अत्युच्चप्राकारवेष्टित स्वगुणसम्पत्ति ज्ञातव्य है। शत्रु के लिए अगम्य स्थान को 'दुर्ग' कहते हैं।

पृथुसीममहाखातमुच्चप्राकारगोपुरं ।
समावसेत् पुरं शैलसरिन्मरुवनाश्रयम्॥[1]

बंका : 'लंका' शब्द केवल नगरी का बोधक है; क्योंकि इसमें अत्युच्च प्रकार वेष्टित गृह, शैल आदि 'बंका' से पृथक्तया बोधित है। इसकी उपपत्ति में कहना है कि विशिष्टवाचक 'लंका' शब्द समभिव्याहृत 'बंका' शब्द के सन्निध्य में 'लंका' शब्द नगरमात्र का ही बोधक है जैसा कि मुक्तावली में 'विघ्न विघाताय' की व्याख्या में स्पष्ट है।

संगति—प्रभु की प्रसन्नता देखकर परराष्ट्रीय संप्रश्न का उत्तर सुनाने की प्रतिज्ञा हनुमान्‌जी ने करना मात्र शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— ***प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना । बोला बचन बिगत अभिमाना॥ ६॥***

भावार्थ—प्रभु को प्रसन्न जानकर प्रणयावस्थारूप अभिमान से रहित हनुमान्‌जी ने वचन कहे।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रसन्न जाना : अधमर्णत्व की स्वीकृति से प्रभुस्वतन्त्रता का हनन करना भक्ति में विपद् है। हनुमान्‌जी ने उससे अपने को बचाने के कारण प्रभु ने प्रसन्न होना 'प्रसन्न जाना' का भाव है।

हनुमाना : 'हनुमाना' से बुद्धिमतां वरिष्ठं का स्मरण ज्ञातव्य है।

बोला बचन : प्रभु ने जिज्ञासित विषय का उत्तरारम्भ 'बोला' का आशय है।

'वचन' से चौपाई ३३।७ से दोहा ३४।१ तक के वचन ज्ञातव्य हैं।

बिगत अभिमाना : 'केहि बिधि' (५वीं चौपाई)शीर्षक की व्याख्यानुसार भक्त की बुद्धि यदि स्थिर है तो वह सेवक (अनन्य भक्त) 'बिगत अभिमाना' है।

संगति : स्वनिष्ठ कर्तृतावच्छेदक (दो० ३२) का विवेचन करने के अनन्तर 'केहि बिधि' की व्याख्यानुसार कैंकर्य में सदा स्थित हनुमान्‌जी अपने में स्वतन्त्र कर्तृत्वात्मक प्रभुत्व को कार्यकर्तृतावच्छेदक मानते हैं फिर भी स्व में अभिव्यक्त कर्तृत्वात्मक प्रभुत्व इस प्रकार दर्शा रहे हैं जो स्वाम्यादेशपालक भक्तिमान् में अबाधित रूप से प्रगट होता रहे उसका वर्णन मारुति कर रहे हैं।

चौपाई— ***साखा मृग कै बड़ि मनुसाई । साखा तें साखा पर जाई॥ ७॥***
नाघि सिन्धु हाटकपुर जारा । निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥ ८॥
सो सब तव प्रताप रघुराई । नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥ ९॥

दोहा— ***ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।***
तव प्रभावँ बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल॥ ३३॥

भावार्थ—शाखामृग (वानर) ने एक शाखा से दूसरी शाखा पर जाना उसका आनन्द है यह वानर का स्वतन्त्र कर्तृत्व है। समुद्र पार करना, लंका जलाना, निशिचरों को

---

[1] नीतिसार ४।५५-५८

मारना, वन उजाड़ना आदि सभी कार्य रघुनाथजी के प्रताप से संपन्न हुए हैं न कि उनके प्रति मेरी स्वतन्त्रकर्तृता है। हे प्रभो! उन किंकरों के लिए कुछ भी कृत्यसाध्य नहीं जिसके प्रति आप अनुकूल हों। आपके प्रताप से छोटा-सा कपास भी समुद्रस्थ अग्नि को भी जला सकता है।

शास्त्रीय व्याख्या

साखामृग : वानरस्वभावानुरूप अर्थ निरूपणीय होने से 'साखामृग' कहा है।

बड़ि मनुसाई : मानसिक सुख अत्यधिक रूप में मानना 'बड़ि मनुसाई' है अर्थात् महान् आनन्द का वाचक 'मनुसाई' शब्द है।

साखा तें : सुख का विषय व शाखामृग के अनुरूप कर्म 'साखा तें साखा पर जाई' है। वह पुरुषार्थ इसलिए कि लक्ष्य चूकता नहीं। लक्ष्य तक कूदकर पहुँचने में बाधा न होना अति सुखकर है। कूदनकर्तृता का अवच्छेदक शाखामृगत्व है अतएव वानर को शाखामृग कहना भी उपपन्न है। वह सिद्ध होने से जिज्ञास्य नहीं है किन्तु जिज्ञासानुरूपतया कर्तृतावच्छेदक कहना अपेक्षित है जो लोक के द्वारा निर्णीत होना असम्भव है।

नाघि : हनुमान्जी ने स्वकृत अलौकिक चार कर्म बताए हैं जो 'केहि बिधि दहेउ' से सम्बद्ध है उनमें से कोई दाह के पूर्ववर्ती है कोई उत्तरवर्ती है। इन चार क्रियाओं को पूर्ण करने का सम्बन्ध 'तव प्रताप' में है। अर्थात् 'केहि बिधि' (दो० ३२)शीर्षक की व्याख्या के अनुसार उक्त चारों क्रियाओं की कर्तृता का अवच्छेदक 'तव प्रताप' है।

'नाघि' सामुद्रिक यात्रात्मक कर्म है यह कार्य अपार समुद्रगमन है उसकी पूर्णता कर्तृसापेक्ष होने से 'नाघि' का स्मरण है।

'नाघि' से समुद्र के दक्षिण तीर से उत्तर तीर में वापस होना भी चिन्त्य है।

हाटकपुर : लंका का सुवर्णमयत्व होना प्रसिद्ध है उसीको 'हाटकपुर' से उल्लिखित किया है।

निसिचर गन बधि : 'रावन पालित' लंका प्रश्न (३३।५) का 'निसिचर गन बधि' उत्तर है अर्थात् रावण में पालन करने की शक्ति का समाप्त होना ध्वनित है।

बिपिन उजारा : 'निसिचर गन बधि' कार्य होने से 'बिपिन उजारा' प्रथमतः कीर्तित है।

सो सब : 'सो' शब्द क्रियाचतुष्टय का बोधक है। 'सो' से 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' वचनार्थ निर्णय के अवसर पर जिस प्रकार मीमांसा में ग्रहगत एकत्व अविवक्षित है, उसी प्रकार यहाँ चतुष्टयत्व अविवक्षित न होकर विवक्षित है अन्यथा एक क्रियामात्र से ही 'केहि' विध्याकांक्षा शान्त हो सकती थी परन्तु 'बिगत अभिमाना' का स्वरूप प्रगट नहीं होता अतः 'सो सब' कहा है।

तव प्रताप : 'तव' से क्रियाशक्तिनिधान श्रीराम विवक्षित हैं।

'प्रताप' से उत्साहसंपृक्त प्रभुत्व यद्यपि ज्ञात है तथापि यहाँ प्रभुसमवेत क्रियाशक्ति की तीव्रता या उपधायकता 'प्रताप' से विवक्षित है। जो कैंकर्य में स्थित हनुमान्जी में उच्छलिततया प्रगट है। यह व्याख्यान 'बिगत अभिमाना' शीर्षकानुरूप है। परन्तु समझना यह है कि परतीर से इस तीर पर पहुँचते ही उपर्युक्त क्रियाशक्ति अन्तर्हित हो गई।

हनुमान्‌जी पुनः पूर्ववत् किंकररूप में समा गए। यही हनुमान्‌जी का आन्वीक्षिकीकौशल है जो भक्ति की यथार्थता को प्रकाशित कर रहा है इसी से वे क्रियाचतुष्टय के कर्त्ता रूप में अभिमानी नहीं हुए किंबहुना उन्होंने वास्तविक तत्व के रूप में 'तव प्रताप' को प्रगट किया। इस प्रकार 'केहि बिधि' प्रश्न उत्तरित हुआ।

रघुराई : निग्रहानुग्रहसामर्थ्य व पालन का भार राजा पर होना 'रघुराई' से स्पष्ट है।

नाथ : 'नाथ' भावप्रकाशन पृ० १०७।१७ में व्याख्यात है।

न कछु मोरि प्रभुताइ : उक्त क्रियाचतुष्टय के कर्ता हनुमान्‌जी 'मोरि' घटक अस्मच्छब्दार्थ हैं। इसी अर्धाली में निर्दिष्ट 'न' समभिव्याहृत 'प्रभुताई' से स्वतन्त्ररूप से स्व में उक्त क्रियाशक्ति का अभाव हनुमान्‌जी अपने में प्रत्यभिज्ञात कर रहे हैं।

ता : 'ता' शब्द व्यक्तिवाचक है जो प्रभु की कृपापात्रता के प्रति योग्य होता है।

प्रभु कछु : अप्रतिहत सर्वशक्तिमान् को 'प्रभु' से सम्बोधित किया है। 'कछु' से प्रभु में कृत्यसाध्यत्वाभाव विवक्षित है।

अगम नहिं : 'ता' शब्दार्थ व्यक्तिविशेष में कृत्यसाध्यता प्रयोजक रूप में सामग्री की अपूर्णता व प्रतिबन्धकप्रयुक्त विघ्नों से असफलता न होना 'अगम नहिं' से व्यक्त है।

जा : तच्छब्दनिर्दिष्ट व्यक्ति यहाँ यच्छब्दार्थ है। 'जा' 'ता' से नित्य सम्बद्ध है।

तुम्ह अनुकूल : त्रयी के विरोध में रहने वाले आगमाभिमत प्रमाणान्तर प्रमित अर्थ के अनुष्ठाता को हतबल कराने की स्थिति प्राप्त कराकर, निगमागमस्थापना के द्वारा वर्णाश्रम एवं तदनुगामी जगत् का पालनकर सुचारु रूप से संचालन करने का संकल्प लिया हो वैसे कर्त्ता के प्रति, कार्यपरिपूत्यर्थ अनुग्रह करना 'तुम्ह अनुकूल' से बोध्य है।

तव प्रभावँ : त्वद्गत प्रभुत्व रूप स्वकार्यसाधनसामर्थ्य 'तव प्रभावँ' है। उसका प्रकाश हनुमदादि अनन्य सेवकों में निर्बाध है।

बड़वानलहि : 'जारा' प्रश्न होने से तदनुबन्धितया बड़वानल उक्त है।

जारि सकइ : रूई में बड़वानल के शमन की योग्यता न होते हुए भी उसने बड़वानल का शमन करना 'जारि सकइ' है।

खलु : 'खलु' अव्यय, अनधिगत, अबाधित, अर्थ निश्चयपरक है जो भक्तिसिद्धान्ताभिमत है।

तूल : किंचिन्मात्रा में अग्नि का स्पर्श होते ही रूई का जलना प्रसिद्ध है पर उसमें बड़वानलदाहकता का उदित होना असम्भव नहीं है। जैसा कि अयोध्याकाण्ड में प्रभु ने लक्ष्मणजी को चित्रकूट में (दोहा २३१।७-८) समझाना सर्वविदित है।

राजनीति के मत से कहना यह है कि उक्त संवाद परराष्ट्रविजय को ध्यान में रखकर हुआ है। जो सब वानरों को प्रोत्साहित कर रहा है फलतः बलवत्तरानपि प्रहर्तुं प्रवृत्तिरूप शौर्य 'तूल' के बहाने दर्शाया है।

संगति—दोहा ३१ एवं ३२ के संवाद को याद में लाकर हनुमान्‌जी भक्तिसिद्धान्तोक्त शब्दप्रमाण्यमूर्धन्यता के प्रति शंकात्मक दोष की पुनरावृत्ति न होने की प्रार्थना कर रहे हैं।

चौपाई— नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायिनी॥ १॥

भावार्थ—हे नाथ! आप मुझमें सब सुख की खान भक्ति को सुस्थिर करें व दोष (अप्रामाण्यादि शंका) की पुनरावृत्ति न होने का अनुग्रह करें।

शास्त्रीय व्याख्या

भगति : जहाँ तक निकट पहुँचकर प्रभुसेवा का सौभाग्य प्राप्त हो उतने निकट में रहने का अधिकार पाने के बाद पूर्ववत् शंकाकुलत्वोपलक्षित भक्ति यहाँ 'भगति' से बोध्य है।

सुखदायनी : बिम्बरूपब्रह्म मिलने के बाद प्रतिबिम्ब या अवच्छिन्न जीव को जो सुख प्राप्त होता है वही सुख भक्तों को प्रभुसेवा से प्राप्त होता है।

चिन्त्य है कि हनुमान्जी का उदर्य अग्नि इतना शुद्ध है कि उसको विषयभोग की रुचि न होकर भगवदादेशपालन में ही रुचि लेने का स्वभाव हो गया है। जिसे 'सुखदायनी' भक्ति कहकर प्रकट किया है।

देहु : सीताजीसदृश माया के अभिनय को देखकर प्रत्यक्ष प्रबल की ओर झुकाव न होने हेतु 'देहु' प्रार्थना है।

कृपा करि : भक्ति में शंकोपहितत्व या उक्त शंकाविशिष्टत्व हो तो जीव ने सम्पादित भक्ति का वैयर्थ्य होगा उससे आत्मत्राण होना केवल एकमात्र प्रभु की इच्छा पर निर्भर है अत: 'कृपा करि' कहा है।

अनपायनी : परम सान्निध्यरूप मोक्षप्राप्ति के अतिरिक्त सारूप्यादिप्राप्ति ईप्सित न होने से वैसे मोक्ष की प्राप्ति न करना 'अनपायनी' का निष्कर्ष है।

अथवा—शब्दप्रमाण पर विश्वास रखने वालों ने प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों के बल से शब्द के प्रति अप्रामाण्यशंका से सदा निर्मुक्त होना ही अनपायित्व है वही तथ्य भक्ति में चिन्त्य है जो श्रीरामकृपा से ही साध्य है।

संगति—हनुमान्जी की प्रार्थना सुनकर प्रभु स्वीकृत्यात्मक उत्तर सुना रहे हैं इसलिए कि भविष्यत् में उनकी माया नर्तकी हनुमान्जी को शब्दप्रमाण से च्युत कभी नहीं करेगी।

चौपाई— ***सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी । एवमस्तु तब कहेउ भवानी ॥ २ ॥***

भावार्थ—हे भवानि! हनुमान्जी की श्रेष्ठ सरल वाणी सुनकर प्रभु ने एवमस्तु कहा।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि प्रभु : भक्तिसिद्धान्तस्थापनानुकूल वस्तुतथ्य की ओर ध्यान रखते हुए वक्तृच्चरित शब्दार्थ का बोध होना 'सुनि' है।

प्रभु का कर्तृत्वेन निरूपण है। अर्थात् प्रभु के दिये वचन से माया या सीताजी के अभिनय से हनुमान्जी सिद्धान्तच्युत नहीं होंगे।

परम सकल कपि बानी : अर्थत: व अनुष्ठानत: अविसंवादिनी, सेवा में औत्कट्य तथा उसमें अतृप्ति, भक्ति में ही साध्यता तथा साधनता आदि 'परम' से बोध्य है। 'सरल' से कायिक, वाचिक, मानसिक एकरूपता ज्ञातव्य है। कपिस्वभाव का विलयन, भ्रम, प्रमाद; विप्रलिप्सा, करणापाटवात्मकचतुष्टयदोषशून्य व धर्म-ज्ञान-वैराग्यैश्वर्यसम्पत्ति आदि से युक्त कपि 'कपि' से बोध्य है।

प्रसाद, लालित्य, स्पष्टता, अर्थवत्ता, आकांक्षापूर्ति आदि से युक्त वाणी 'बानी' से समझना है।

एवमस्तु : कपितात्पर्यविषय की प्राप्तव्यता के प्रति 'एवमस्तु' कहा अर्थात् स्वामिप्रीतिमत्ता को अबाधित रखना 'एवमस्तु' है।

तब : प्रभु ने हनुमान्‌जी की अनपायित्व भक्ति के प्रति औतसुक्य देखने का आनन्तर्य 'तब' है।

कहेउ : हनुमान्‌जी जैसे योग्यता से संपन्न अनन्य भक्तों की उपर्युक्त आकांक्षा को देखकर उसके शमनहेतु श्रीराम एवमस्तु कह देते हैं जैसा कि यहाँ 'कहेउ' से प्रगट है।

शिवचरित्र व हनुमच्चरित्र का वैधर्म्य

शिवजी मोहिनी माया को देखकर उसके पीछे दौड़े पर कतिपय क्षणों के अनन्तर उन्होंने स्वयं होकर प्रत्यक्ष को बाधित कर उसे अप्रमाण समझते ही प्रशम की ओर झुकना व देवी पार्वतीजी के सामीप्य में रहने पर भी लज्जादि का अनुभव न करना प्रसिद्ध है वैसा सोच हनुमान्‌जी को प्राप्त नहीं है वे श्रीरामोपदेश को सुनकर ही सीताभिनय के प्रत्यक्ष को अप्रमाणित कर सके फलतः वे अभिनय के प्रति काष्ठकुड्याश्मसन्निभ हो गए। यही शिवजी व हनुमान्‌जी के चरित्र में वैधर्म्य है।

संगति—सुन्दरकाण्ड के मंगलाचरण में भक्तिं प्रयच्छ का पूर्ण व्याख्यान करने हेतु रावण के अशोकवन में हनुमत्प्रवेश से आरम्भ कर यहाँ कहे उपसंहार के साथ शिवजी अपना अनुभव गा रहे हैं।

चौपाई— उमा राम सुभाउ जेहिं जाना । ताहि भजनु तजि भाव न आना ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे उमे! जिसने श्रीराम के सहज प्रकृतिप्रदत्त स्वभाव को समझा उसको भजनातिरिक्त भाव का स्पर्श नहीं सुहाता।

शास्त्रीय व्याख्या

उमा : 'भवानी' सम्बोधन के बाद 'उमा' सम्बोधन श्रीरामदासभाव में पहुँची पत्नी के प्रति अति प्रीति का परिणाम है।

राम सुभाउ : मीमांसोक्त प्रकृतिस्थानापन्न दासभक्ति का सर्वांगोपसंहार पूर्ण होने के अनन्तर श्रीराम का स्वभाव सूर्यप्रकाशवत् दासों के हृदय में चमक रहा है जो स्वगत धर्म होने से सदा धर्मी श्रीराम के सहज अनुकूल है उसी स्वभाव को 'राम सुभाउ' कहकर समझाया है।

अथवा—'सुभाउ' से जीवों के लिए श्रीराम की अनुकूलता समझायी है। आशय यह कि श्रीराम ने मनुष्यों को वेद, पुराण, आगम आदि के माध्यम से निषिद्ध, निन्द्य, असभ्य आचरण से हटाकर शुद्ध नैतिक अनुष्ठान कराने हेतु विधि का सृजन कर जीवों पर महान् अनुग्रह किया है। जैसा कि 'पुंसोत्यनुग्रहो ह्येष भवद्भिर्यन्त्रियुज्यते'[१] वचन से स्पष्ट है।

जेहिं जाना : तर्कपद्धति से कार्यसम्पत्ति के कर्तृत्व पर विचार करना, स्व में वैसे ही गुणों का आधान करने हेतु जो जिसके लिए आदिष्ट कर्म (धर्म) है उसको दासभाव

---

[१] श्रीमद्भागवत १०।४१।४८

में रहकर पूर्ण करने की सतत चेष्टा करना, किसी से असूया न करना, पर कृतकर्म दोष को न सोचना आदि इतिकर्तव्य दासता में सहकारी हैं ऐसा परिचय प्राप्त करने के लिए हेतुतया बुद्धि के अन्तर्गत गिने गए तत्त्वाभिनिवेशात्मक अष्टमगुणवान् होना 'जेहिं जाना' है।

ताहि : 'जेहिं जाना' में व्याख्यात बुद्धिविशेषवान् 'ताहि' है।

अथवा—उपर्युक्त पूर्वपक्षोत्तरश्रवण करके प्राप्त अनिर्णय से संपन्न हो भजन करने वाला व्यक्ति यदि प्रभु से उपेक्षित होगा तो विरक्त प्राणी की दृष्टि में भी भजन उपेक्ष्य होगा या भजन के प्रति अप्रामाण्यबुद्धि होकर रहेगी। ऐसी प्रसक्ति न होने का अभिनिवेश जिसे प्राप्त है वह 'ताहि' है।

भजनु तजि : 'भजनु तजि' से 'ताहि' शीर्षकोक्त अभिनिवेशियों का अनुभव सुना रहे हैं।

अथवा—'भजनु तजि' से भजन का त्याग बोध्य है अर्थात् सदा रुचिपूर्वक भगवदादेश पालन करने वालों की बुद्धि भगवदादेशपालन में आसक्त रहती है। उसमें कमी होना 'भजन तजि' है।

भाव न आना : श्रीरामस्वभावचिन्तनधारा में भजनत्याग आदि भाव मनस् को रुचिकर न लगना 'भाव न आना' है।

इत्थंच परिष्कृत भजन की न्यूनता में सर्वथा अरुचि होना या उपेक्षा करना इष्ट नहीं है न तो अतिरिक्त विषय ही रुच्य है जो 'भाव न आना' से स्फुट है।

संगति—अनुभव गाने के अनन्तर शिवजी उपर्युक्त संवाद का प्रयोजन कह रहे हैं।

चौपाई— यह संबाद जासु उर आवा । रघुपति चरन भगति सोइ पावा ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह संवाद जिसके हृदय में भर गया वह बुद्धि के अष्टम गुण से सम्पन्न हो रघुपतिचरण की भक्ति के प्रति निष्ठावान् होकर रहेगा।

शास्त्रीय व्याख्या

संबाद : तत्वजिज्ञासा में पूर्वोत्तरपक्षमुखेन हुई हनुमद्रामकथा 'संबाद' है। जिसमें असूया का लेश नहीं है न तो वह जय और पराजय से सम्बद्ध है।

जासु : संसार में अनसूयु थोड़े ही हैं अतः 'जासु' से दुर्लभता सूचित है।

उर आवा : बुद्धि के शुश्रूषादि आठ गुणों में अन्तिम गुणात्मक तत्वाभिनिवेश है उसका उदित होना 'उर आवा' है। यह 'ताहि' शीर्षक में व्याख्यात है। विस्मृत के प्रति प्रत्यभिज्ञा होना भी 'उर आवा' का भाव है।

रघुपति चरन भगति : रघुपतिचरणभक्ति लब्धव्य है उसका पर्यवसान शास्त्रस्नेह है।

ज्ञातव्य है कि ब्रह्म व जीव का तादात्म्य होने में मध्यवर्ती माया प्रतिबन्धक है यह माया उन प्राणियों के लिए नियुक्त है जो रजस्तमस्सत्वगुणसंपृक्त लौकिक वरों की याचना में लगे रहते हैं या केवल सतत शास्त्रादिप्रोक्त धर्ममात्र में लगे रहते हैं उन प्राणियों को तत्प्रयुक्त पाप से छुट्टी होने से माया उनका पीछा नहीं छोड़ती। उस माया का अपसरण तब तक नहीं होता जब तक मनस् 'रघुपति चरन भगति' में एकाग्र नहीं होता।

सोइ पावा : 'यह संबाद जासु उर आवा' से बोध्य विषयात् अन्यत्र रही रघुपतिचरणभक्ति

भक्तिपदार्थ न होकर भक्त्याभास है। इस प्रकार भक्तिसिद्धान्ताभिमत सुन्दरतम भक्ति की शिक्षा देने हेतु शिवजी ने लक्षण भक्ति व लक्ष्यभक्ति को ध्यान में रखते हुए दास भक्ति के लिए अपेक्षित सर्वांगोपसंहार पूर्ण किया।

संगति : हनुमान्‌जी ने याचित अनपायिनी भक्ति की प्रार्थना के उत्तर में भक्ति के प्रति श्रद्धा उदित हो गई जिससे अब शंका को अवकाश नहीं उसी हर्ष में हनुमान्‌जी व कपिवृन्द प्रभु का जय-जयकार कर रहे हैं।

अथवा—'यह संबाद जासु उर आवा रघुपति चरन भगति सोइ पावा' में कहे भक्ति-प्राप्ति का प्रकाशन कपिवृन्दों के हर्ष व प्रभु का जय-जयकार से शिवजी प्रगट कर रहे हैं।

चौपाई-सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृन्दा । जय जय जय कृपाल सुखकन्दा ॥ ५ ॥

भावार्थ—अनपायिनी भक्तिदायक रघुनाथजी के वचन सुनकर सामाजिक कपिसैन्य ने आनन्दकन्द कृपालु प्रभु की जय-जयकार की।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि : अनपायिनीत्व की प्रार्थना पर एवमस्तु से सम्बन्ध जोड़ना 'सुनि' का निष्कर्ष है। स्थायी निष्कपट आदेशपालन में अनपायिनीत्व होना भक्ति का परमोत्कर्ष है उसके प्रति प्रभु की अनुकूलता में भक्ति की स्थायिता का मूलतत्व समझना 'सुनि' है।

प्रभु बचन : एवमस्तु इत्यादि वचन 'प्रभु बचन' हैं।

कपिबृन्दा : भक्ति के प्रति साशंक अंगदादि सभी दास व सब सैनिकों ने शंकाशून्य होना 'कपिबृन्दा' से स्मृत है।

जय जय जय : 'जय' की त्रिरुक्ति हर्षप्रयुक्त है। एक उत्कर्षार्थक, दूसरी पराहंकार-खण्डनार्थक और तीसरी उत्साह के साथ शकुन निमित्तक है।

कृपालु : अनेकविध शंकाओं से घिरे रहने वालों को शंकानिर्मुक्त करने वाले कृपालु ही होते हैं वही कार्य श्रीरामजी ने पूर्ण किया है अत: श्रीराम को 'कृपालु' कहा है।

सुखकन्दा : प्राणिमात्र के सुख का आश्रय व विषयास्पृष्ट सघन सुख तादात्म्यापन्नता 'सुखकन्दा' से समझनी है।

संगति—दक्षिण दिशा से वापस आये कपिसैनिकों में अनपायिनी भक्ति से प्राप्त उत्साह व शकुन परखकर श्रीराम ने यात्रा के प्रति अपनाया उत्साह शिवजी व्यक्त कर रहे हैं।

चौपाई— तब रघुपति कपिपतिहि बुलावा । कहा चलैं कर करहु बनावा ॥ ६ ॥
अब बिलंबु केहि कारन कीजे । तुरत कपिन्ह कहुँ आयसु दीजे ॥ ७ ॥

भावार्थ—तब रघुपति ने सुग्रीवजी को बुलाकर कहा कि आप चलने की व्यवस्था करें अब विलंब किस कारण करना? आप वानरों को अविलम्ब चलने का आदेश दें।

शास्त्रीय व्याख्या

तब : जय ध्वनि के हर्ष में कपिसैन्य व द्रष्टा देव सभी जिस समय नाचने गाने लगे वह काल 'तब' से बोध्य है।

अथवा—सुग्रीवजी ने सभी वानरों के रूप में अवतीर्ण देवों को युद्धार्थ चलने की प्रेरणा ध्यान के माध्यम से देने का समय 'तब' से ज्ञातव्य है।

रघुपति : सभी को भक्तिशास्त्र व निगमागमशब्द की मूर्धन्यता पर अडिग होने के उपदेष्टा श्रीराम 'रघुपति' हैं।

अथवा—देशकाल एवं शक्ति आदि को देखकर चक्रवर्तित्व की स्थापना हेतु प्रयत्नशील श्रीराम 'रघुपति' से बोध्य हैं।

कपिपतिहि बोलावा : कपिनायक सबके स्वामी होने से सुग्रीवजी को 'कपिपतिहि' कहा है। जय की ध्वनि होने के बाद सुख में सुग्रीवजी कुछ पीछे हो गए। अतः 'बोलावा' कहना उपपन्न है।

चलैं कर करहु बनावा : 'किं कुर्याम्' आकांक्षा होने से तच्छमनार्थ कर्तव्यत्वेन प्रधान कर्म का आदेश 'चलै कर' से कहा है।

'बनावा' से यात्रासामग्री पूर्ण करने का संकेत है।

अब : शत्रुपक्ष में दुर्बलता, प्रकृतिभेद व स्वपक्ष में देशकालानुकूल्य ज्ञात है। अतः 'अब' कहा है।

बिलंबु : वानरों को बुलाने व एकत्रित करने में अपेक्षित काल से अधिक समय बिताना 'बिलंबु' से ग्राह्य है।

केहि कारन कीजे : अपनी ओर से प्रेरणा पाने की आकांक्षा में रहे राजा की ओर से विलंब देखकर 'केहि कारन' जिज्ञासित है।

तुरत कपिन्ह कहुँ : 'तुरत' से यात्रामुहूर्त संकेतित है। सहाय व साधनोपाय सुग्रीवाधीन है तत्सज्जीकरणार्थ 'कपिन्ह कहुँ' निर्दिष्ट है।

आयसु दीजे : शब्दप्रमाण के प्रति दार्ढ्य होने से वानर-भालुओं को संघटित करने हेतु कहा आदेश 'आयसु दीजे' का व्याख्यान है। वह इसलिए कि सब वानरों व भालुओं के लिए आदेशमात्र पर्याप्त है क्योंकि राजा एवं प्रजा में संघटन पूर्णतया स्थिर है।

संगति—लंकादाह होने के पश्चात् आश्वस्त देव ईप्सित की स्थापना की पद्धति में प्रभु का कौतुक देखने की इच्छा से पंपासरोवर पर आए देवों ने प्रभु का उत्साह देखकर हर्ष में पुष्पवर्षा कर अपने भवन की ओर जाना कवि कह रहे हैं।

चौपाई— *कौतुक देखि सुमन बहु बरषी । नभ तें भवन चले सुर हरषी ॥ ८ ॥*

भावार्थ—प्रभु का कौतूहल (परराष्ट्रनीति) देखकर देवों ने पुष्पवृष्टि की व आकाशमार्ग से अपने-अपने भवन की ओर चले।

शास्त्रीय व्याख्या

कौतुक : पूर्णावतार ने भक्ति का रहस्य प्रगट करने व अभूतपूर्व विजय की अभिलाषा से युक्त होना 'कौतुक' है। जैसा कि 'अभीष्टाननुभूतार्थाभिलाषः कौतुकं भवेत्' (भाव० प्र० १।२९।१२) से स्फुट है।

सुमन : वानररूप में अवतीर्ण देवों ने श्रीराम के द्वारा भक्ति के रहस्य सुन कर श्रीरामपदारविन्द में मनस् को लगाना 'सुमन' का व्यंग्यार्थ है।

बहु बरषी : फूलों की झड़ी लगाना 'बहु बरषी' है। वर्षा से हर्षपूर्वक मनस् का समर्पण करना भी चिन्त्य है। चित्रकूट में देवों ने सुमन से जो वर्षा की उससे अधिक वर्षा

यहाँ होना 'बहु बरषी' है; क्योंकि देवों को अतिशीघ्र निष्कंटक होने का अवसर प्राप्त है।

अथवा—श्रीराम के अत्यधिक उत्साह का अनुमोदन देव 'सुमन बहु बरषी' से कर रहे हैं।

अथवा—ब्रह्माजी के आदेश पर (१।१८८।२-६) देवों ने वानर रूप में जहाँ-तहाँ अवतीर्ण हो निवास किया था। उसके कार्यान्वयन का समय आया जानकर हर्ष में देवों ने बहुत फूल बरसाये हैं।

नभ तें : नीतिमान् शुचि जब स्व व परराष्ट्र में नैतिक अभीष्ट अननुभूतार्थ के प्रति अभिलाषा करते हैं तब उनकी कार्यसिद्धि के प्रति छिपे सुरों की सहायता सुलभ होना 'नभ तें' से समझाया है।

भवन : लंकादाह, पुरी का अरक्षण आदि विकट समस्याओं से पीड़ित रावण व तत्तदधिकारियों के द्वारा उपेक्षित स्वर्गस्थ देवभवन 'भवन' से ज्ञातव्य हैं।

सुर : श्रीराम की सेवार्थ अंशतः वानरादिरूपों में अवतीर्ण होते हुए भी स्वस्वरूप में स्थित हर्षयुक्त देव यहाँ 'सुर' से विवक्षित हैं।

हरषी : सिद्धि के काल की उपस्थिति देखकर मनःप्रसाद होना 'हरषी' है।

संगति—७वीं चौपाई में उक्त विलम्ब की व्याख्या के अनुसार नान्तरीयक कार्य की पूर्णता समझाने के साथ प्रभु का आदेश प्राप्त कर सुग्रीवजी ने यात्रा हेतु किया प्रथम कार्य शिवजी संक्षेप में सुना रहे हैं।

दोहा— *कपिपति बेगि बोलाए आए जूथप जूथ।*
नाना बरन अतुल बल बानर भालु बरूथ॥ ३४॥

भावार्थ—सुग्रीवजी के आदेश से अनेकविध सैनिक यूथपों की टुकड़ियाँ आ पहुँची। सब पृथक्-पृथग् वर्णवाले हैं बल भी अतुल है। वानर-भालू ऐसे दो भेद ही सैन्य में विविक्त हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

बेगि : बुलाने में विलम्ब न होना 'बेगि' से ध्वनित है।

कपिपति का बुलाना सुनकर उत्साहपूर्ण हो शीघ्र यूथपों ने पहुँचना 'बेगि' है। यतः 'बेगि' शब्द 'आए' से भी अन्वित है। हनुमान्‌जी जैसे द्रुतगामी दूतों की संख्या विपुल होने से शीघ्रता में तत्तद् राज्यों में पहुँचकर सेना को बुलाना व पहुँचना असम्भव नहीं है।

जूथप जूथ : कपिपतिद्वारा यूथपति किष्किन्धा में पहुँचने के लिए आदिष्ट हैं, अतः 'जूथप' कहा है। वे भी यूथपति महत्संख्याक (१८ पद्म) होने से कवि ने 'जूथप जूथ' कहा है।

नाना बरन : अनेकविध बन्दर-भालुओं की विजातीयता के विवेकार्थ 'नाना बरन' कहा है। 'बरन' देवचिह्न का भी उपलक्षक है। अर्थात् जिन-जिन देवों का वर्ण वर्णित है। उन-उन रंगों के वानर-भालू हैं।

अतुल बल : नैसर्गिक बल की अतुलनीयता 'अतुल' है जो भिन्न-भिन्न यूथप होने का कारण है।

वानर भालु : 'वानर भालु' से अनुगत रूप में जातिद्वय मर्यादिततया ज्ञेय है।

संगति—यूथप का स्वाभाविक इन्द्रियजय उनमें विनयसम्पन्नता, वृद्धसेविता यूथाधिपतियों में बल की अधिकता व सुसज्जता को देखकर युद्धार्थ यथासमय पहुँचने हेतु दीर्घकालायात्रा का आरम्भ श्रीराम कर रहे हैं जो हनुमान्‌जी के द्वारा प्राप्त सीतासंदेश में संकेतित है।

चौपाई— ***प्रभु पद पंकज नावहिं सीसा । गर्जहिं भालु महाबल कीसा॥ १॥***
देखी राम सकल कपि सेना । चितइ कृपा करि राजीव नैना॥ २॥
राम कृपा बल पाइ कपिन्दा । भए पच्छजुत मनहुँ गिरिन्दा॥ ३॥
हरषि राम तब कीन्ह पयाना । सगुन भए सुंदर सुभ नाना॥ ४॥

भावार्थ—प्रभुपदकमल पर मस्तक रखकर वानरसमेत भालुओं ने गर्जना की। श्रीराम ने अनुपेक्षाभाव से एक साथ पूरी वानरसेना पर दृष्टि से कृपावृष्टि की। परिणाम में सभी वानर भालु अधिक समृद्धबल हो गए मानों पर्वतों को पंख आए हों। बलशाली सैन्य को देखकर श्रीराम ने हर्ष में लक्ष्य (लंका) की ओर प्रयाण किया उस समय अनेकों शुभ शकुन हुए।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रभु पद : प्रभु या राजा अथवा गुरुजी व गुरुजी के गुरुजी दोनों का एक स्थान पर सान्निध्य होने पर प्रभु व गुरुजी के गुरुजी को प्रणाम करने का विधान सेवकों के लिए होने से यूथपनाथ के रूपमें यहाँ राजा सुग्रीवजी का उल्लेख नहीं है।

पंकज : प्रणाम करते हुए आगन्तुक सैनिकों को प्रभु के चरण कमल के रूप में दृष्टिगोचर होना 'पंकज' से व्यक्त किया है।

नावहिं : जन्मवैयर्थ्य का दु:ख मिटना 'नावहिं' का परिणाम है।

सीसा : यहाँ भी प्रभु ने अपनी मायावैभव से सबको एक साथ चरणस्पर्श कराना 'सीसा' का भाव है। जैसा कि चित्रकूट में प्रत्येक अवधवासी को प्रभु ने एक साथ दर्शन देना चिन्तित है।

गर्जहिं : गर्जना युद्धालंकार है अभी वह सबके लिए शोभनीय है। 'गर्जहिं' से नवागत व किष्किन्धावासी सैनिकों की समानशीलता प्रयुक्त सुख व्यक्त है।

महाबल : तत्तद्देशस्थ वानरसैनिकों ने राजसन्देश सुनकर वहाँ आने में देर न करना तथा थकान का अनुभव न करना 'महाबल' का भाव है।

कीसा : 'कीसा' वानर व भालु जाति का उपलक्षक है।

देखी : श्रीरामकृपापात्रता वानर-भालु सैनिकों में होना 'देखी' से निर्विवाद है। श्रीराम की माया 'देखी सकल' से अनुमित है।

चितइ : श्रीराम जैसे राजा की उपादेयता व अनन्यथासिद्धता समझाने हेतु 'चितइ' कहा है। इस हेतु से नायक की अपेक्षा वर्णित है जैसा कि—

मरुपृष्ठान्युदंभाँसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः॥[1]

---

[1] रघुवंश महाकाव्यम् ४। ३१

में उक्त है। राक्षसयूथ के लिए वानरयूथ वध्य व भोज्य हैं। अतः वानरों के बल-संस्कार राक्षसों को देखते ही सुप्त न हों तदर्थ 'चितइ' कहा है।

कृपा करि : कृतकबलप्राप्ति का उपाय 'कृपा करि' है। 'कृपा' के उल्लेख का प्रयोजन वध्य-भक्ष्य (वानर-भालू) ने वध्य व भक्ष्य न होकर राक्षसों ने वध्य होना है यतः प्रकृतिविरुद्ध होने पर भी एकमात्र विरोधियों को श्रीरामकृपा ही उलटने में सक्षम है।

राजिव नैना : कृपा का चिह्न प्रभु की शान्तमयी ललिता दृष्टि है जो 'राजिव नैना' से अवगत है।

राम कृपा बल : पूर्व चौपाई में 'चितई कृपा करि' उल्लिखित है अभी 'राम कृपा बल' कहा है। उसका तात्पर्य यह कि रावण के साथ युद्धहेतु आए वानर-भालु वध्य व भक्ष्य प्रकृत्या सिद्ध है परन्तु उनमें वधिकता व राक्षसों में वध्यता आरोपित करनी है वह तभी सम्भव है जब श्रीरामकृपा के साथ उनका बल प्राप्त हो अतः 'राम कृपा बल' दोनों कहा है।

पच्छजुत : पर्वतों ने पंखयुक्त होना पुराणप्रसिद्ध है। गिरि पंखबल से उड़ते थे। वैसे ही वानर-भालुओं के लिए बुद्धि व बल पक्षस्थानापन्नतया ज्ञातव्य है। अतः उसी के बल पर वानर-भालुओं का उड़ना भी सिद्ध है।

मनहुँ : 'मनहुँ' उत्प्रेक्षाबोधक न होकर प्रत्येक ने अधोलिखित अनुमिति को प्राप्त करने में है उसका स्वरूप इस प्रकार है—'अहं श्रीरामकृपाबुद्धिबलयुक्तः दासभावेन स्थित्वा लोकपालनमात्रसाधकं धर्मं स्थापयितुं श्रीरामाज्ञया प्रवृत्तत्वात्'।

गिरिन्दा : 'गिरिन्दा' का साधर्म्य बुद्धि-बलयुक्त सर्वसैनिकसमष्टिरूप इकाई में है। अभी श्रीरामकृपायुक्त बलवान् सैनिकों में शत्रुद्वारा प्रहरिष्यमाण शस्त्रास्त्रों से व अप्रतिहतता व्यक्त है। फलतः कोई भी सैनिक मृत नहीं होगा।

हरषि : मंत्रशक्ति, उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति का उपचयाधिक्य होना 'हरषि' है। शक्ति की तरह देश-कालानुकूल्य भी 'हरषि' से सूचित है।

राम : नेतृत्वप्रदर्शनार्थ, सूक्ष्मबुद्धिपुरस्कर्त्ता श्रीराम 'राम' से ध्वनित हैं।

तब : किसी भी सैनिक में वैमत्य न होना एवं सम्पूर्ण दृष्टादृष्ट सामग्री का एकत्रित होना 'तब' से समझाई है।

कीन्ह पयाना : यह प्रयाण पूर्व में हुई बन्दरों व श्रीराम के मध्य संपन्न संयोगसन्धि, प्रतिकारसन्धि व कांचनसन्धि का सूचक है।

सगुन : दैव की अनुकूलता, भविष्य में होने वाले जय के प्रति निमित्तक सूचना 'सगुन' है।

सुन्दर : शकुन में स्व लक्षणसम्पत्ति का पूर्ण होना 'सुन्दर' है।

सुभ नाना : 'सुभ' शब्द विजयप्राप्त्यर्थक है। राजा के दल को उत्साहित करने हेतु 'नाना' कहा है।

एक शकुन की सूचना पर्याप्त है तथापि तर्करसिक होने से अपने निश्चय में दार्ढ्य लाने हेतु शकुनान्तर भी देखना इष्ट मानते हैं।

संगति—व्याप्तिसमन्वित नीति का निरूपण करते हुए श्रीरामसदृशमंगलमयचरित्रकर्त्री

सीताजी को भी शकुन से श्रीरामयात्रारंभ की सूचना देते हुए प्रकृति, नीति को विकसित कर रही है।

चौपाई— जासु सकल मंगलमय कीती । तासु पयान सगुन यह नीती॥ ५ ॥
प्रभु पयान जाना बैदेहीं । फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं॥ ६ ॥

भावार्थ—जिनका चरित्र जन्मतः ही मंगलमय कीर्तिकर होता है उनकी यात्रा शकुनमयी फलदायिका ही होती है। इसी प्रकार फड़कते वाम अंगों ने यह सूचना दी कि हे वैदेहीजी! आपके द्वारा प्रेषित हनुमत्सन्देशानुसार श्रीराम ने यात्रा प्रारम्भ की है।

शास्त्रीय व्याख्या

जासु : प्रतिज्ञादि पंचक वाक्य के अन्तर्गत कहा 'यत्र यत्र धूमः' से परिगृहीत व्याप्य के समान यहाँ भी व्याप्य भूतमंगलमय विशेषणीभूत श्रीराम 'जासु' से संकेतित हैं। व्यापक के अन्तर्गत 'तासु पयान सगुन' ज्ञातव्य है।

सकल : व्याप्य के अन्तर्गत 'यो यः' की वीप्सा के बोधनार्थ 'सकल' उच्चरित है। 'सकल' का अन्वय कृति बोधक 'कीती' से है।

मंगल : 'मंगल' से प्रशस्ताचरण परिगृहीत है।

कीती : पूर्वपरम्परागत व विश्वसुखकर सच्चरित्ररूप लोकसंग्राहक आचार 'कीती' से बोध्य हैं। एवंच 'यस्य-यस्य शिष्टादृतं सुखकरं लोकसंग्रहात्मकं सद्वृत्तं नीतिसारोक्तं तस्य तस्य प्रयाणे अविजयासमानाधिकरण विजयकारणभूत दैवानुकूल्यसूचकशकुनसमुच्चयविशिष्टं भवति' यह व्याप्ति स्मर्तव्य है। इससे भाग्यनिर्माण होने का उपाय विदित है।

कीर्त्तिकर कर्म ही नीति में सद्वृत या लोकसंग्रहसंकेत से स्वतन्त्रतया निरूपित हैं जो धर्मस्थापनाप्रकरण से पृथक् है उसका निदर्शन सूर्यवंश के अन्तर्गत इक्ष्वाकु व निमि आदि के चरित्र में प्रसिद्ध है। इस प्रकार भक्ति, नीति व देवोत्सव निरूपित है।

तासु पयान : 'कीती' शीर्षकोक्त विशेषणविशिष्ट कीर्तिमान् व्यक्ति 'तासु' शब्दार्थ है। राजकीय विजययात्रा 'पयान' है।

सगुन : भविष्यत् में शुभ फलबोधक निमित्तवाचक 'सगुन' शब्द है।

नीती : 'कीती' में उक्त व्याप्ति नीति में प्रतिपादित होने से 'नीती' कहा है जो नीतिसारीयजयाजयबोधकनिमित्तप्रकरण से स्पष्ट है।

प्रभु पयान : प्रभु ने युद्धार्थ की हुई यात्रा सीताजी के लिए साध्य (अनुमेय) है इस प्रयाण में श्रीराम सेतु के बहाने अलौकिक शक्ति के प्रयोक्ता होंगे यह भी सीताजी ने समझना होगा अन्यथा वे अतिशीघ्र लंका में नहीं पहुँच सकते।

जाना : 'जाना' से अनुमिति ज्ञेय है। वर्तमान काल पक्ष है जो अनुमान का अंग है। अंग फड़कना हेतु है। अर्थात् प्रयाण की अनुमेयता का साधक है।

बैदेही : आन्वीक्षिकीसहित राजविद्या में अतिनिपुणा सीताजी विदेहतनया होने से 'बैदेही' नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

फरकि बाम : शकुनशास्त्रानुसार स्त्रियों के वाम भाग का पौनःपुन्येन फड़कना शकुन है।

कहि देही : भाषाशास्त्र में स्वाभाविक क्रियाएँ भी चेष्टात्मक शब्द के रूप में संकेतित हैं। वे शब्दवत् प्रमाण हैं उनका अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में माना जाना मीमांसाभिमत है उसी के अनुसन्धान में 'कहि देही' कहा है। ऐसे प्रयोगों में 'जानामि' ऐसा अनुव्यवसाय होने से तथाकथित बुद्धि को अनुमिति में अन्तर्भूत करना तर्करसिकों का स्वभाव है औरों की दृष्टि में चेष्टाजन्या बुद्धि शाब्दबुद्धि ही है। जैसे साहित्यिकों की रसानुभूति ब्रह्मसुख है।

संगति—जो मंगलमय कीर्ति से विमुख है उनका पर्यवसान में विनाश होना अपरिहार्य है। इस उक्ति से रावण पक्ष में अनुत्साहारम्भ एवं अपशकुनोंकी सूचना ग्रन्थकार कह रहे हैं।

चौपाई—*जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई । असगुन भयउ रावनहि सोई॥ ७॥*

भावार्थ—शकुन के रूप में सीताजी के जो-जो अंग स्फुरित हुए वे सभी अंग रावण के स्फुरित हुए जो उसके अशुभ के सूचक थे।

शास्त्रीय व्याख्या

जोइ जोइ : सीताजी के पक्ष में सर्वथा अमंगलशून्यता 'जोइ जोइ' पुनरुक्ति से व्यक्त है। अर्थात् जिस-जिस अंग का स्फुरण सीताजी को मंगल की सूचना दे रहा था उस अंगस्फुरण ने रावण को अमंगल की सूचना देना 'जोइ-जोइ' का आशय है।

जानकिहि : राजा जनकजी ने चित्रकूट में पुत्री के तेजस् को देखकर पुत्रीरक्षण होना सोचा था उसकी यथार्थता का प्रत्यक्ष 'जानकिहि' से ध्वनित है।

असगुन भयउ : वाम अंगों के स्फुरणों ने पुरुष के अमंगल की कल्पना करने में शकुनशास्त्र की प्रमाणता मननीय है।

सोइ : 'जोइ' से 'सोइ' व्याख्यात है। रावणादिकों को लंका में विपरीत सूचना होने से उनको पराजय अनुमित हुआ।

संगति—शकुनपुंज देखकर समृद्धोत्साह वानरसैन्य का व्यूह आगे बढ़ा उसकी इच्छाचारिता ग्रन्थकार वर्णित कर रहे हैं।

अथवा—शत्रु को युद्ध से विरत करने के लिए भयानक उत्पात दिखाने हेतु लंकावासी समूह की दृष्टि से प्रकृति में हुए वैपरीत्य को ग्रन्थकार गा रहे हैं।

चौपाई— ***चला कटकु को बरनैं पारा । गर्जहिं वानर भालु अपारा॥ ८॥***
नख आयुध गिरि पादप धारी । चले गगन महिं इच्छाचारी॥ ९॥
केहरि नाद भालु कपि करहीं । डगमगाहिं दिग्गज चिक्करहीं॥ १०॥

छन्द— **चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खर भरे।**
मन हरष सब गंधर्ब सुर मुनि नाग किंनर दुख टरे॥
कटकटहि मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं।
जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ गुन गन गावहीं॥ १॥

भावार्थ—सैनिकों की गिनती कौन करे। वानर-भालु सब गरज रहे हैं। चारों ओर नख, पर्वत, वृक्ष, आयुधधर ही फैले हैं। वानर-भालु यूथपयूथ इच्छया वेष बनाकर कोई आकाश, कोई भूमि पर सिंहगर्जना करते हुए चले। शत्रुपक्ष के दिग्गज योद्धा भी डगमगाने लगे। दिग्गज चिंघाड़ते हैं, भूमि में कम्प हो रहा है, पर्वत हिलने-डुलने लगे, समुद्र में

खलबली मच गई। गन्धर्वादि भयशून्य हो हर्षमग्न हो गए। वानरादि सैनिक कोटि-कोटि की संख्या में दौड़ने लगे। चारों ओर 'जय श्रीराम' ध्वनि गूँजने लगी। सभी कोसलपति के गुण गा रहे हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

कौ बरनै पारा : 'पदुम पद्म अठारह जूथप बन्दर' कहकर यूथपसैनिकों की गिनती आगे स्फुट होगी। सृष्टिकर्त्ता प्रभु की माया के द्वारा सैनिकयूथपान्तर का निर्माण होना असम्भव नहीं। इसलिए 'को बरनै पारा' कहा है।

नीति यह समझाती है कि परचक्र को देखकर विजिगीषु ने अपार सैन्यशक्ति, आयुध आदि की असंख्यता माया से दिखाकर उसी इन्द्रजाल से शत्रु को दहला देना अपेक्षित है उस दृष्टि से प्रथमतः असंख्यता 'बरनै पारा' से दर्शायी है।

गर्जहिं : 'गर्जहिं' से उत्साह स्फुट है। गर्जना का प्रयोजन शत्रु को कंप कराना ही न होकर वरदृप्त रावण के हृदय में अवध्यता के प्रति शंका उत्पन्न कराना है।

नख आयुध : नखायुध शत्रु को सोचने के लिए विवश कर रहा है; क्योंकि अनेकविध शस्त्रास्त्रों के प्रतीकार को रावण जानता है परन्तु नखायुध में समाई संहारिका शक्ति का प्रतीकार रावण के लिए सोच का विषय है।

इच्छाचारी : वानरों का प्रतिरोध एकायनादि मार्ग पर करना शत्रु न सोचे इसलिए कि सभी इच्छाचारी हैं।

केहरि नाद : सत्त्वप्रचुर अत्यर्थबल प्राप्त होने से वानर-भालुओं की शारीरिक नसें सिंह-नाड़ी समानधर्मा हो गईं। फलतः वानर-भालू की नाड़ियों से सिंहनाद होना 'केहरि नाद' है।

करहीं : वानर-भालुओं से सिंहनाद होना असम्भव था फिर भी सम्भव होना 'करहीं' से प्रगट है।

डगमगाहिं : डगमगाना उत्पातसूचक है। शत्रु-सैन्य के सत्व की समाप्ति व भय से दहलने के कारण योद्धाओं के पैर का स्थैर्य निकलना 'डगमगाहिं' से कहा है।

दिग्गज : लंकात्मक प्रत्यन्त देश के निवासी राक्षस योद्धा 'दिग्गज' से स्मरणीय हैं।

ज्ञातव्य है कि आध्यात्मिक दृष्टि से रावण यदि विश्वरूप तत्व का ध्यान करता तो भी श्रोत्रदेवतात्मक दिशाओं में गजों की भयानक-सी वाणी ही सुनाई देती। लंका में उत्पात, वाम अंगस्फुरण से हुए अपशकुन आदि दृश्य होने के अनन्तर रावण ने युद्ध से निवृत्त होना ही राजनीति है अन्यथा नीत्याभास ही कहना होगा।

चिक्करहिं : 'चिक्करहिं' पूर्व चौपाई की उक्ति का अनुवाद है।

डोल महिं : अमंगलमयी पाप भुगतने वाली लंका में दूसरा उत्पात भूकम्प है। अभी तक रावण के भय से लंकाभूमि व शैल मूक हो अमंगल की सूचना नहीं दे रहे थे। अभी वे भयशून्य हो सूचित कर रहे हैं। रावण ने अभी तक अपने तपःप्रभाव से अमंगल को दबाकर, अपशकुन शास्त्र को अप्रमाणित कर स्व को ईश्वर रूप में घोषित कर रखा था। आज श्रीरामकृपाबलयुक्त अपार सैन्य को देखकर अपशकुनशास्त्र ने अपने को प्रमाणित रूप में सिद्ध कर रावण को लंकाविनाश से अवगत करा दिया। इस प्रकार जय पराजय

के प्रति निमित्तशास्त्र की प्रतिष्ठा भी चिन्त्य है।

गिरि लोल : पुराणों में गिरि का चलना अशुभ सूचकत्वेन उल्लिखित होने से शिवजी 'गिरि लोल' कह रहे हैं।

सागर खर भरे : प्रकृति का यह खेल है कि तंत्रागमसेवक रावण ने पतिव्रतारूप वर्णाश्रम धर्मसंपृक्त निगमागमसम्मत ईश्वर से विरोध किया। परिणाम में श्रुति ही आगमसंयुक्त हो उसको मारने में अग्रसर हो रही है। समुद्र को उसका पार्ष्णिक बल प्राप्त होते ही 'सागर' में खलबली होना विस्मय नहीं है।

मन हरष सब : पहले सिंहनाद की भयावहता गाई उसमें निगमागमसेवियों के लिए प्रसन्नताकरत्व होना 'मन हरष' से निरूपित है।

ज्ञातव्य है कि रावण के भय से सुरादिवृन्द ने लंका की सभा में भीत हो उपस्थित होना पहले कहा जा चुका है अब वह समय समाप्त होने से सभी हर्षान्वित हो गये। फलतः त्रिलोकवासी निगमागमसेवी में से एक भी ऐसा नहीं था जिसका हृदय उल्लसित न हुआ हो। अतः 'मन हरष सब' कहा है।

अथवा—'सामान्यविधिरस्पष्टः उपसंह्रियेत विशेषतः' इस उक्ति की प्रसक्ति यहाँ न होना 'सब' उक्ति का फल है। यदि स्पष्टबोधक 'सब' शब्द न होता तो उपसंहार के बल से कहना यह होगा कि वक्ष्यमाण 'सुर' आदि शब्द से श्रीरामसान्निध्य में रहे देवगण समझे गये होते किन्तु यहाँ उपसंहारन्याय न होने से रावणसान्निध्य में रहे देवगण भी समझने हैं।

गंधर्ब सुर मुनि नाग किंनर : 'गन्धर्ब सुर नाग किंनर' कहकर शिवजी ने अन्तरिक्ष-मर्त्य-पातालपर्यन्त के निवासी समझने हैं; क्योंकि सभी ब्रह्मदत्तवरप्राप्त रावण से पीड़ित थे।

श्रीरामरूप में प्रगट विराट् ने स्वप्रयत्न से मनस् को चलाकर तत्तस्थानीय देवताओं को मंगल दृष्ट कराना सुरादिकीर्त्तन से ध्वनित है; क्योंकि प्रभु अपने उपासकों (सुर-मुनि) के समक्ष आनन्दतत्व व अलौकिक शक्ति को प्रगट करने आए हैं।

दुख टरे : गंधर्व-सुर-नाग-किंनरकन्याओं के अपहरण का टलना 'दुख टरे' है।

अथवा—सभीत रावण ने गंधर्व, सुर, नर, मुनि, नाग, किन्नर, लंकापुरी व सीताजी पर ध्यान न देना 'दुःख टरे' से ध्वनित है; क्योंकि रावण विचलितमनस्क धराशायी होकर रहेगा।

कटकटहिं मर्कट : त्रैलोक्य में सीताहरण के प्रति होनेवाले क्रोध का अनुभाव 'कटकटहिं' है।

प्रबल प्रताप : वरप्रभावित या अप्रभावित तेजस् से सम्पन्न रिपु ने निर्वीर्य होना 'प्रबल प्रताप' है वह 'कोसलनाथ' का विशेषण है।

कोसलनाथ : यह श्रीराम का नाम विशेष है। भांलु-वानर सभी कोसलनगरस्थत्वेन श्रीराम को सेव्य समझते हैं।

गुन : श्रमाननुभूति, उत्साहवृद्धि आदि गुणसंचय 'गुन' से ध्वनित है।

जय राम : 'जय राम' यह महामंत्र है।

संगति—अन्यान्य की युद्धयात्रा का वैधर्म्य प्रकृत यात्रा में सुना रहे हैं।

छन्द— **सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहिं मोहई।**
कह दसन पुनि-पुनि कमठ पृष्ट कठोर सो किमि सोहई॥
रघुबीर रुचिर प्रयान प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठ खर्पर सर्पराज सो लिखत अबिचल पावनी॥ २॥

भावार्थ—सत्यसंकल्प प्रभु की कृपा ने वानरयूथ में बल इस प्रकार स्थापित किया कि उसके समष्टिबोझ को शेषजी सहन न कर सके जो ब्रह्माजी के मूलाधार में कुण्डलिनी रूप में विराजमान हैं। उन्हीं के सहारे सृष्टि स्थिर है। परिणाम में शेषजी दबने लगे तो उन्होंने कमठ की पीठ पर दाँतों को गाड़ दिया। यह क्षत शिवजी को शोभायमान प्रतीत हो रहा है इसलिए कि मानों शेषजी दन्तक्षत से रघुपतियात्रा का क्रम कमठ की पीठ पर लिख रहे हों।

शास्त्रीय व्याख्या

सहि सक न : ब्रह्मकल्पित सृष्टि के अन्तर्गत रहे बलवानों से लंकास्थित राक्षस वध्य नहीं हो सकते थे। तब प्रभु ने अत्युत्कृष्ट बल का आधान करने हेतु स्व संकल्प से बलवानों को निर्मित किया। उस विशेष भार से पूर्ण पृथ्वी का भार शेषजी के लिए असह्य होना 'सहि सक न' का भाव है।

उदार अहिपति : पुष्पवत् भासमान भूभार के सहिष्णु, विश्वाधार शेषजी 'उदार' हैं। वैसी उदारता शेषजी में ही है। ब्रह्माजी के मूलाधार में रही ज्वाला तर्कमय ज्ञान से पूर्ण हो उच्छलित होती है वही वेदवाणी विश्व का पालन करती है। अतः विश्व के आधार शेषजी हैं उन्हीं के अंशभूत सर्प प्राणियों के उदर में कुण्डलिनी के रूप में स्थित हैं अतः शेषजी अहिपति हैं।

बारबारहिं मोहई : प्रभु की संकल्पशक्तिरूपा उदर्यअग्निज्वाला शत्रुबल की प्रतिद्वन्द्विता के रूप में प्रगट है उसको भूल कर प्राकृत दोषजनित पीड़ा दूर करने में अपेक्षित चिकित्सा न पाकर धैर्य का पारावार पुनः-पुनः टूटने से शेषजी वारम्वार मोह में आ रहे हैं जो 'बारबारहिं मोहई' से व्यक्त है।

गह दसन : बलपर्याप्त्यनुयोगिता में झुके शेषजी ने मोह में आकर आधारस्थानापन्न कमठपृष्ठ को दंश करना सर्पस्वभावप्रदर्शनानुरूप है।

शेषादि की सत्ता

स्मर्तव्य है कि यद्यपि पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने वाले वैज्ञानिकों को शेषादिकों का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है तथापि श्रीरामायणोक्त अर्थ को बाधित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कवियों या पुराणों की दृष्टि विज्ञानदृष्टि से भिन्न है। योगी उपासना की दृष्टि से शरीर में ही उपास्य तत्वों को देखने या ईश्वर को उसी दृष्टि में चिन्तन करने के अभ्यासी होते हैं। जैसे कि सूर्यरथ की कल्पना से स्पष्ट है। कुण्डलिनी (सर्पिणी) का भान भी शरीर में उसी प्रकार का है उसी को कवियों ने गाया है। योगमत में जगत् ही विराट् पुरुष का शरीर है। उसमें शेषजी मूलाधार में हैं कमठपृष्ठ उनका आधार है। ये सब उस विराट् पुरुष का एक महान्

शरीर है जिसमें ब्रह्मा आदि सभी देव प्रकट हैं। उस दृष्टि से एक महान् शेषजी भी हों तो उसमें कोई विस्मय नहीं है वही यहाँ प्रदर्शित है। यह प्रभु की अलौकिक शक्ति योगियों के लिए प्रत्यक्षवेद्य होने से सत्य है। जब श्रुति व उनके अनन्य सेवक हतप्रभ होने की अवस्था में आते हैं तब प्रभु अलौकिक चरित्र प्रगट कर उनकी व स्व प्रमाणता की सुरक्षा करते हैं उसी का यहाँ दिग्दर्शन है। प्रकृत में समाधिस्थ शिवजी के सामने जो दृश्य है; वही उन्होंने कहा उसमें साधारण जनों ने शंका कर नीति को ठुकराना अनुचित है; क्योंकि नीतिधर्म समझाना ही यहाँ ध्येय है। उसकी एकरूपता में बाध न होने से कवितात्पर्यविषय सिद्ध व अबाधित होने से यह चरित्र अप्रमाणित नहीं कहा जा सकता।

इस पर एक प्रश्न और भी हो सकता है कि अपार वानर सैन्य सीमित देश में कैसे रहा? वह कैसे चला? उसका उत्तर यही है कि निगमागममतानुसार स्वमत में कुछ दृश्य सत्य नहीं है। कल्पित में तो कोई विरोध नहीं होता। केवल कहना यही है कि जिन महात्माओं ने जैसा देखा वैसा कहा तात्कालिकों ने उसी रूप में अनुभूत किया। उनकी दृष्टि में देश काल आदि सभी पदार्थ वैसे ही प्रतिभासित हुए यह उनका साकार स्वप्न है।

पुनि पुनि : मोह में आकर शेषजी ने पौनःपुन्येन दाँत गड़ाना इसलिए सफल हुआ कि वानरयूथ की प्रयाणपरम्परा की अतिप्रबलता समझानी है।

कमठ पृष्ट : 'कमठ पृष्ट' की कठोरता प्रसिद्ध है उसने अपने पीठ पर मन्दर पहाड़ के चलने पर भी व्यथा का अनुभव न करना पुराणप्रसिद्ध है।

किमि सोहई : रेखाओं की परिवर्तित अवस्था में कमठ पृष्ठ ने अशोभित प्रतीत होना 'किमि सोहई' से सूचित है। उसके उत्तर में 'सुहावनी' कहा है।

रघुबीर रुचिर : 'रुचिर' से आनन्दरूपा स्नेहवल्ली का समानरूप में प्रसारण होना समझना है। रघुवीरजी का यही वरीयष्ट्व है कि उन्होंने सम्पूर्ण वानरसेना की प्रयाणगति में रुचिरतानुरूप बलसम्पत्ति का उपचय कराया है।

प्रयान प्रस्थिति जानि : 'प्रयान प्रस्थिति' से यात्रा की गति दर्शायी है। शिवजी व वामदेवादि योगियों ने मूलाधारस्थ कमठपीठ पर शेषजी द्वारा लिखित 'प्रयान प्रस्थिति' की पंक्ति को समझना 'जानि' है।

सुहावनी : दशन रेखा सुहावनी इसलिए कि ब्रह्ममोहलीला में बलरामजी ने जिस प्रकार व्रजवासियों के परमस्नेह को गोपालों पर देखा वैसी ही 'रुचिर' शीर्षकोक्त स्नेहवल्ली कमठपीठ पर दृष्टिगोचर हुई। अतः शिवजी ने 'सुहावनी' कहना उपपन्न है।

जनु : कमठ पृष्ठांकन का कारण सर्पराज का मोह होते हुए भी उस दशन में श्रीरामप्रयाणपद्धति रूप में अंकन शिवजी ने समझना 'जनु' का आशय है।

कमठ खर्पर : लेखांकन का आधार कमठपृष्ठ ने होना 'कमठ खर्पर' है।

सर्पराज : 'कमठ पृष्ठ' व 'सर्पराज' दोनों परस्पर अधिकरणत्वेन एवं कर्तृत्वेन अन्वित हैं।

लिखित : श्रीरामप्रयाणप्रस्थान की पद्धति 'लिखित' का विषय है।

अबिचल : जैसा कि शुकदेवजी के श्रीमुख से अचानक स्नेहवल्लीमयी ब्रह्म-

मोहलीला प्रगट हुई उसी प्रकार यह विशेष श्रीरामप्रयाणप्रस्थान की पद्धति में श्रीरामात्मक स्नेह का अविचल पावित्र्य प्रगट होना शिवजी को विस्मयजनक मालूम हो रहा है।

पावनी : 'फटिक सिला बैठे दोउ भाई' से प्रारम्भ कर प्रयाणप्रस्थान तक की कथा सुनने वाले के हृदय में स्नेहमयी भक्ति के अंकुर की उत्पादिका होने से यह कथा 'पावनी' है।

संगति—यात्रा का पड़ाव सुना रहे हैं।

दोहा— एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर।
जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर॥ ३५॥

भावार्थ—इस प्रकार कृपासागर श्रीराम समुद्रतीर पर आ पहुँचे। जहाँ-तहाँ वानर-भालु सैनिकवृन्द फल खाने लगे।

शास्त्रीय व्याख्या

एहि बिधि : भक्तिविरोधितत्वों को अवकाश न देते हुए सागरतीर पर पहुँचना, रास्ते में चलते हुए स्नेहवल्ली की समृद्धि होना, योगियों को अपनी सेवा से सुखी करना, श्रीराम का जय जय मंत्रजप करते हुए मार्ग पार करते श्रम का अनुभव न होना, बल की पूर्णता को बनाए रखना, नखायुध से सुसज्जित रहना, एकमत से अभेद्यभाव रखना 'एहि बिधि' है।

जाइ : 'अब बिलम्बु केहि कारन' (३४।७) को सुनकर उसके उत्तर में विलम्ब न करते हुए पहुँचने का भाव 'जाइ' से स्पष्ट है।

कृपानिधि : उस समय में उपस्थित सम्पूर्ण योगियों में रही स्नेहमयीवल्ली की दिदृक्षा का उपशमन करने की योजना बनाना 'कृपानिधि' से व्यक्त है।

उतरे : जहाँ पर बिभीषणजी का आगमन होना है वह देश 'उतरे' का अधिकरण है।

सागरतीर : अलौकिकशक्त्युपबृंहित वीरप्रधान स्नेहतत्वात्मक शुद्ध स्नेह प्रगट करने के अनुकूल देशविशेष 'सागर तीर' से ज्ञात है।

जहँ तहँ : जैसे चित्रकूट में पहुँचने पर भरतयात्रियों को स्थानशोधन नहीं करना पड़ा वैसे ही वानरी सेना को भोजनार्थ फल खोजने की अपेक्षा नहीं हुई। पेड़ों में फल स्वयं ही उपस्थित हो गए। इसका स्पष्टीकरण 'जहँ तहँ' से स्फुट है।

खान फल : प्रकृतिप्रदत्त सेवा वानरों को फलदान से दृश्य हो रही है।

बिपुल : सैनिकयूथों की बहुलता 'बिपुल' से सूचित है। इस प्रकार यात्रा का एक चरण पूर्ण है जिसमें देशकालानुकूल्य वर्णित है। उत्तर चरणारम्भ लंकाकाण्ड में होगा।

ज्ञातव्य है कि यात्राविधिक्रम से निगमागमसम्मति के विरोधी तत्वों को श्रीराम ने व्यवहारतः अप्रमाणित करने का यह श्रीगणेश किया है। इस प्रकार सुन्दरकाण्ड का सुन्दरीकरण मननीय है। इसकी फलश्रुति आगे दोहा ३७।७ में द्रष्टव्य है।

संगति—शत्रुपक्ष में भेद स्पष्ट कर स्वपक्ष में शक्त्युपबृंहित स्नेहमय आत्मा का प्रदर्शन कराने हेतु यहाँ बिभीषणजी को लाना है उसका उपक्रम शत्रुपक्ष में हुई शंका से प्रारम्भ कर रहे हैं।

चौपाई— उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब तें जारि गयउ कपि लंका॥ १॥

भावार्थ—लंका में तभी से निशाचर सशंक हो गए जबसे कपि (हनुमान्‌जी) लंका को दग्ध कर चले गये।

शास्त्रीय व्याख्या

उहाँ : मारुतिद्वारा पदाक्रान्त लंकादेश तच्छब्दार्थ है।

निसाचर : लंकावासी प्रत्येक प्राणी 'निसाचर' से बोध्य है।

ससंका : पापाशयी प्राणी क्रूर होते हैं उनको 'मृत्युर्भविष्यति वा' ऐसा सन्देह होना शंका है। शंका की उपपत्ति में निम्न सिद्धान्त मननीय है—

शंका सन्देहरूपा स्यात् स्त्रीनीचप्रकृतिश्रिता।
स्वात्मोत्था च परोत्थेति सा पुनर्द्विविधा भवेत्॥[1]

इस वचन से शंकोत्पत्ति स्फुट है। प्रकृत में कहना यह है कि प्रकृति ने अति क्रोध में आकर लंकादाह सम्पन्न किया व रावण के दुर्नय को याद कर उस निमित्त से सभी निशाचर सशंक हुए। यद्यपि रावण के लिए सीताहरण कोई नया कार्य नहीं है। उसका कारण राक्षसधर्म है। उसमें परदारापहरण निन्द्य नहीं माना जाता अत: वह दुर्नय नहीं था। परन्तु उसकी सफलता न देखकर लंकावासियों को सीतापहरण की दुर्नयता समझ में आ रही है। अत: शंका होना स्वाभाविक है। उसका स्वरूप इस प्रकार है विजिगीषु समुद्र पार कर लंका पर चढ़ाई करेगा अथवा सम्भव है कि वह हममें से किसी एक को स्वपक्ष में मिलायेगा। उस अवस्था में लंका ध्वस्त होगी। इस चिन्ता से व्याप्त प्रजा को निद्रा न होना शंका का परिणाम है।

जारि गयउ : लंकादाह होना आपदा है जो ब्रह्मदत्तवरसमाप्ति का सूचक है।

कपि : अभीतक वानर राक्षसों के वध्य होने से मृत्युमुख में जाते थे। वैसा न होने से आश्चर्यद्योतक 'कपि' शब्द है।

लंका : अजेय ने जित होना भयावह है क्योंकि अनात्मवान् के नाश से तत्सम्बद्ध समूह का नाश भी निर्णीत है।

ज्ञातव्य है कि सम्पूर्ण देशवासियों का आक्रोश सुनकर राजा ने अपना हठ त्यागना होता है। इस नीति को ध्यान में लाकर रावण ने सीताप्रत्यावर्तन कर्त्तव्य था। इस प्रकार यह एक विजिगीषु का युद्धशामक नैतिक प्रयोगविशेष कवि ने प्रस्तुत किया है जो सेवक व सेव्यों के लिए मननीय है।

संगति—देशव्यापी परक्रौर्य व स्वदुर्नयप्रयुक्त शंका के प्रतीकार के प्रति मन्त्रिपरिषद् में विचार करने हेतु प्रजा का सोच मन्दोदरीजी के माध्यम से कवि गा रहे हैं।

चौपाई— ***निज निज गृहँ सब करहिं बिचारा । नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥ २॥***
जासु दूत बल बरनि न जाई । तेहि आए पुर कवन भलाई॥ ३॥
दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी । मन्दोदरी अधिक अकुलानी॥ ४॥

भावार्थ—अपने-अपने घर में सब विचार कर रहे हैं कि अब तो निशिचरकुल उबरेगा नहीं। जिसके दूत के बल की इयत्ता समझी नहीं जा सकती वह स्वयं लंका में प्रवेश

---

[1] भावप्रकाशन १६। ३-४

करेगा तो हमें कौन बचा सकता है? अर्थात् कोई नहीं। दूतियों से ऐसा पुरजनसमाचार सुनकर मन्दोदरीजी अति व्याकुला हो गईं।

शास्त्रीय व्याख्या

निज निज गृह : सम्पूर्ण गृहियों का शंकाकुल होना 'निज निज गृह' का भाव है।

बिचारा : 'बिचारा' से लंकानाश की अत्यासन्नता शंकित है। यतः अप्रतिबध्य, अनन्यथासिद्ध नाशक तत्व की आसन्नता देखते हुए 'नहिं' शीर्षकोक्त वक्ष्यमाण प्रतिज्ञात्मक न्यायाभिमतावयव अवगाहित हो रहा है। यह विचार हनुमान्जी के लंका से लौटकर वापस जाते ही पुरजनों के हृदय में उदित हुआ उसी को कवि ने स्वभावोक्ति से गाया है। 'बिचारा' का दूसरा भाव यह कि आगम के पक्षपाती रावण के प्रभाव से निश्शंकता में रही राक्षसियाँ आगमदौर्बल्य प्रत्यक्षतः सिद्ध समझकर भविष्यत् में अरक्षण की आशंकाक्रान्त राक्षसियों ने आगम प्रमाण के प्रति उक्त आशंका का विचार करना 'बिचारा' है।

नहिं : 'निशिचराः सर्वे विनशिष्यन्ति' यह प्रतिज्ञा 'नहिं' से स्पष्ट है।

जासु : पूर्ण बुद्धि-बल से युक्त दूत को भेजने वाले उत्साहादिगुणों से सम्पन्न विजिगीषु 'जासु' शब्दार्थ हैं।

बल बरनि न जाई : 'बल' से दुष्ट के प्रति पीडनात्मिका शक्ति समझनी है। रावण के दबाव में रही प्रकृति देशकालानुकूल्य की प्रतिक्षा कर रही थी अभी उसकी प्राप्ति का परिणाम यह हुआ कि दूतबल को उपमान से उपमित नहीं किया जा सकता। यही 'बल बरनि न जाई' से समझना है।

तेहि आए : दूत के स्वामी यहाँ पहुँचते हैं तो लंकास्थ मन्त्री, सेनापति, राजपुत्र, चतुरङ्गिणी सेना सत्परामर्श की न्यूनता में किंकत्तर्व्यविमूढ़ता के कारण मन्त्रणा या बल से शत्रु का प्रतिरोध नहीं कर सकती। राजा रावण की अशूरता एवं अबुद्धि विजिगीषु के दूत ने समझ ली है। वह अपने स्वामी को शीघ्र ही ले आकर लंका पर आक्रमण करेगा और सीताजी को जीत कर ले जायेगा। इस प्रकार 'तेहि आए' से निशाचरों की किसी प्रकार से भलाई न होना समझना है।

पुर : 'पुर' से दुर्ग विवक्षित है।

कवन भलाई : अनिष्टसम्भावना निर्णीत होने से हितसमाप्ति की कल्पना में 'कवन भलाई' कहा है।

'कवन' से योद्धृमात्र में तेजःक्षय परिज्ञात होना स्फुट है। यह हेतु है जो 'नहिं' शीर्षकोक्त प्रतिज्ञात अर्थ का साधक है।

दूतिन्ह : राजा के प्रति प्रजा की प्रीति पुनः स्थापित करने में प्रतिबन्धक तथ्य को बढावा देना, क्रुद्ध आदि कृत्यपक्ष की समृद्धि होना, प्रजा की व्यथा को न समझना, प्रजा का आक्रोश व उनकी उपेक्षा आदि समझने हेतु मन्दोदरीजी ने दुर्ग में अनेकों चरवृन्द नियुक्त किये थे उनका समूह 'दूतिन्ह' से उक्त है।

सुनि : 'सुनि' का निष्कर्ष हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतु तद्विरोधि दुर्व्यवस्था का यथार्थतया परिचय कराने में है।

अथवा—आगम की प्रमाणता के प्रति सबने शंकाक्रान्त होना 'सुनि' से स्पष्ट है।

पुरजन बानी : चारों ओर से समानाकारता में चल रही 'कवन भलाई' आदि शब्दावली 'पुरजन बानी' का अर्थ है।

मन्दोदरी : दूति का जाल सर्वत्र बिछा रहने से मन्दोदरीजी में नैतिकसर्वज्ञत्व, नायिकात्व, परीक्षकत्व, नीतिमत्ता, सामुदायिक व वैयक्तिक-हितकर्तृत्व निर्विवाद है। यतः वे अंतःपुर की धीसचिवा नीतिसंपृक्त श्रुत्यनुगामित्व में स्थिता हैं।

अधिक अकुलानी : 'अकुलानी' शब्द अतिशयित पीड़ार्थक है। ऐसी पीड़ा पतिव्रता सीतातिरिक्त स्त्री के हरण से प्रजा को नहीं हुई जो अभी हो रही है। प्रजा की व्याकुलता का आधिक्य 'अधिक' का भाव है।

अथवा—'प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च प्रियं हितं' इस सिद्धान्त के विरोध की उपस्थिति एवं आगमप्रामाण्यभंग प्रसक्त होने से अधिक व्याकुल होना उचित है।

संगति—मन्दोदरीजी ने विलम्ब न कर मन्त्र का समय देखकर सीताप्रत्यावर्तन की प्रार्थना के लिए रावण के समीप में जाना शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— रहसि जोरि कर पति पग लागी । बोली बचन नीति रस पागी ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्दोदरीजी हाथ जोड़कर पति के चरणों को छूते हुए नीतिरस से ओतप्रोत वचन बोलीं।

शास्त्रीय व्याख्या

रहसि : लंका में रही राक्षसियाँ लंकादाह के बाद उसी समय से शंकाकुला हो गईं। उसका परिचय दूतियों के द्वारा रानी मन्दोदरीजी को प्राप्त हुआ तब तक मन्त्रणा का समय उपस्थित हो गया जो दिवस का षष्ठ भाग था (षष्ठे स्वैरविहारं मन्त्रं वा सेवेत)[1] उस समय राजा स्वच्छंदविहारोत्सुक नहीं हैं ऐसा समझकर मन्त्रणाहेतु समय पाना 'रहसि' है।

जोरि : पत्नी कार्य करते समय दासी होने से उन्होंने अंजलिबन्धन करना 'जोरि' है।

पति पग : राजा को अधर्म, अनर्थ व द्वेष्य तत्वों से निवृत्त करना अनुजीवी, बन्धु, मित्र, भार्या के लिए विहित है जो अनुजीविवृत्त में उक्त है। तदर्थ पति के चरणों को पकड़ना समयोचित राजसेवात्मक धर्म है।

अथवा—मानी व्यक्ति मानभंग की असहिष्णुता के क्लेश में विग्रह के लिए उद्यत होता है वह दोष अपने ऊपर भी प्रसक्त होगा उससे बचने के लिए मन्दोदरीजी ने किया पादस्पर्श राजनीति की दृष्टि से उचित है क्योंकि आगमक्षोभ व निगमविरोध को दूर कराने व सीतासमर्पणकार्य पूर्ण करने में यह स्पर्श सहायक हो सकता है।

नीति रस : प्रमाणत्रयप्रमित क्षात्रधर्म व तदंगतया विहित धर्म 'नीति' है।

नीतिरस में रहे वीर व उनकी पत्नियों के हृदय में उत्साह के साथ तर्क, धृति एवं मति का स्थायित्व बना रहता है। मन्दोदरीजी पतिव्रता होने से वह निगमागमसम्मत राक्षस-धर्म की प्रतिपादिका हैं। यदि वे उपेक्षिता होंगी तो भविष्यत् में विजिगीषु निगमविरोधी लंका पर आक्रमण करेगा तो अनर्थ होगा। ऐसा समझकर वे लंकाध्वंसप्रागभाव को स्थिर

---

[1] कौटिलीय अर्थशास्त्र १।१९।१६

रखना चाहती हैं तदर्थ सीताप्रत्यावर्तन को उपायरूप में सोचती हैं। आशय यह कि यदि मन्दोदरीजी के उदर्याग्निज्वाला से उच्छलित वाणी को रावण प्रमाणित करता है तो वह वाणी सबको आस्वाद्य होगी तथा राक्षसवर्ग बल, पुष्टि, आरोग्य से सम्पन्न होगा ऐसा सोचकर शिवजी ने 'नीतिरस' कहा है।

पागी : प्रति वचन में नीतिरस का प्रवाह होना 'पागी' है। 'पागी' का परिणाम मन्दोदरीजी ने अपनाए निगमागमसम्मत नीति-धर्म को स्मरण रखना होगा तभी मन्दोदरीस्मरण में पापनाशकता बनी रहेगी। यही युक्ति ताराप्रभृति के स्मरण में भी स्मर्तव्य है।[1]

संगति—राक्षस प्रजा को बचाने हेतु उपायरूप में कर्त्तव्यबोधक वचन मन्दोदरीजी सुना रही हैं।

चौपाई— कन्त! करष हरिसन परिहरहू । मोर कहा अति हित हियँ धरहू ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे स्वामिन्! आप हरि (श्रीराम) के साथ विरोध न करें। मेरा कहना हित समझकर उसे हृदय में धारण करें।

शास्त्रीय व्याख्या

कन्त : नायिका के प्रति आनुकूल्य में रहे पति के लिए 'कन्त' सम्बोधन है।

कान्तेति नायको ब्रूते दक्षिणः पूर्ववल्लभः॥[2]

अभी तक रावण ने कान्तत्व अपनाया होने से 'कन्त' सम्बोधन सार्थक है।

करष : श्रुति व श्रुत्यागमसेवक से विरोध करना 'करष' है।

हरि : 'हरि' से श्रीराम, सुग्रीवादि श्रीरामभक्त वानर विवक्षित हैं। अपने प्रति अनुगृहीत आगम का कारण आगमैकवाक्यतापन्नश्रुत्यविरोध है। अन्यथा उनसे वैर करना निगमागम से विरोध करना है यतः श्रीराम दोनों के लिए पूज्य हैं।

परिहरहू : परिवर्जनार्थक 'परिहर' धातु कर्मकारक 'करष' से अन्वित है। 'परिहरहू' प्रार्थनापरक है।

मोर कहा : मन्दोदरीजी से प्राप्त प्रवर्तना (प्रार्थना) को समझकर कार्यनिष्पत्ति होने के अनन्तर अहित न होना पूर्वेतिहास में सिद्ध हो चुका है उसकी स्थिरता बनी रहने हेतु 'कहा' कहा है। एतावता मच्छब्दार्थ स्फुट है। 'मोर कहा' से स्व का आप्तत्व, बुद्धिमत्व ध्वनित है तथा दोषाभाव भी सूचित है।

अति हित : श्रुतिविरोध होने पर आगमानुयायी ने आगम में अप्रामाण्यरूप आपाद्य समझकर श्रुत्यविरोध में आगमप्रामाण्य स्थापित करना 'अति हित' है।

अथवा—दूत को पुरप्रवेश करने की अनुमति लंकिनी देवी ने देना दूतकार्य से अनुमित है उसके अनुबन्ध में सन्धि करना 'अति हित' है।

अथवा—निगमागमसेवी के समक्ष ब्रह्मदत्तवरप्रभाव क्षीण हो गया है, प्रकृतिमण्डल में दुर्बलता दृष्टिगोचर हो रही है, अनीति को देखकर सम्पूर्ण प्रजा क्षुब्धा हो चुकी है, बलवान् से दुर्बल ने विग्रह करना अनीति है, पतिव्रतासीताहरणात्मक कुपथ्य का फल

---

[1] अहल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरी तथा । पंचकन्या स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥

[2] भावप्रकाशन २७१। १३

आसन्न है। अतः उक्त दोषों के निराकरणार्थ सीतासमर्पणोपहार देकर विजिगीषु से तत्काल उपहारसन्धि करना लंका के हित में 'अति हित' होगा।

हियँ धरहू : योगक्षेमसाधन कहकर सीताप्रत्यावर्तन कर्तव्य है उसकी उपेक्षा न कर सीताप्रदान को अभी संकल्पित बनाए रखना 'हियँ धरहू' का आशय है।

संगति—अक्षयकुमारवध के शोक से निवृत्त मन्दोदरीजी प्रजारक्षण सिद्ध्यर्थ रावण से अनीति न करने की प्रार्थना कर रही हैं।

चौपाई— समुझत जासु दूत कइ करनी । स्रवहिं गर्भ रजनीचर धरनी ॥ ७॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई । पठवहु कन्त! जो चहहु भलाई ॥ ८ ॥

भावार्थ—दूतचरित्र स्मृत्यारूढ होने मात्र से भय में गर्भ च्युत हो पृथ्वी पर गिर रहे हैं। हे मनोरथपूरक! यदि आप हित चाहते हैं तो उनकी पत्नी (सीताजी) को सचिवों के पहरेदारी में सम्मान के साथ उपहृत करें।

शास्त्रीय व्याख्या

समुझत : आपके बल, ओजस्, तेजस् को हजारों प्रकार से स्मरण करने पर भी हनुमत्कृति ने मनस् से न हटना 'समुझत' का निष्कर्ष है। किंबहुना हनुमच्चरित्र के संस्कार ही पुनः पुनः उद्‌बुद्ध होते जा रहे हैं। फलतः राक्षसवंश ही उच्छिन्न हो रहा है। वंशनाश की प्रत्यक्षविषयता 'समुझत' से स्मर्तव्य है।

जासु : जिसके भय से ब्रह्मास्त्र भी दूत को बाँध न सका ऐसे अप्रतिभट, लंकाभयोत्पादक श्रीराम यत्पदार्थ हैं।

दूत : अजेय दुर्ग को पराजित करने वाले, श्रीरामादेशपालक, अशंक हनुमान्‌जी 'दूत' से ज्ञेय हैं।

करनी : समुद्र पार क्रिया से प्रारम्भ कर लंकादाहान्त कर्म 'करनी' से बोध्य हैं।

स्रवहिं गर्भ : एक भी गर्भवती राक्षसी गर्भच्युति से अवशिष्ट नहीं बची। यदि यही व्यवस्था रही तो राक्षसवंश ही समाप्त हो जायेगा जिसे 'स्रवहिं गर्भ' से मन्दोदरीजी ने समझाया है।

ज्ञातव्य है कि गर्भस्राव से दूत में अलौकिक शक्ति निर्णीत हो चुकी है। वह दूत ब्रह्मकल्पितसृष्ट्यतिरिक्तसृष्टिकर्त्ता से सृष्ट है उसकी सहायतार्थ ब्रह्मकल्पितातिरिक्ति अग्निसमूह उपस्थित हो गए। ये अज्ञाततत्व पूर्व में अनुक्त हैं उनके प्राकट्य से लंकाजनपद का नाश अनुमित होना 'स्रवहिं गर्भ' उक्ति का प्रयोजन है।

नारि : जिस नारी पर प्रहार करने हेतु चन्द्रहास आगे बढ़ने से कुण्ठित हो गया वह सीताजी 'नारि' से विवक्षित हैं। उसका अन्वय 'पठवहु' शब्द से है।

सचिव : रावण की सभा में उपस्थित होने वाले सचिव 'सचिव' से बोध्य हैं। तदतिरिक्त बिभीषणजी भी ज्ञातव्य हैं क्योंकि वे श्रीरामसान्निध्य में पहुँचकर यथावत् सीताजी को समर्पित कर सकते हैं।

पठवहु : मन्त्रिसम्मति प्राप्त होने व उनसे सीतादानरूप कार्य सम्पन्न होने पर आगमप्रामाण्य सुरक्षित हो सकता है। एक राजा ने दूसरे राजा से भेंट न करने की नीति

भी सीताप्रेषण से कार्यान्वित होगी इस तथ्य को ध्यान में रखकर श्रीराम रावण की अनुपस्थिति के प्रति रोष नहीं करेंगे। अतः मन्दोदरीजी ने 'पठवहु' कहा है।

जो चहहु : 'जो' से अनेक पक्ष सूचित हैं जैसे लंकाहितसाधनता अथवा लंकाध्वंस आदि। उनमें यदि प्रथम विकल्प मान्य है तो उस पक्ष की दृष्टि से 'जो चहहु' कहा है।

संगति—यदि 'जो चहहु' शीर्षकोक्त द्वितीय विकल्प मान्य है तो उस पक्ष से हिमाग्निरूपक से सीताजी में राक्षसकुलरूपी वन की दाहकता मन्दोदरीजी कह रही हैं।

चौपाई— ***तव कुलकमलबिपिन दुखदाई । सीता सीत निसा सम आई॥ ९ ॥***
सुनहु नाथ! सीता बिनु दीन्हें । हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें॥ १० ॥

भावार्थ—आपके कुलरूपी कमलवन के लिए सीताजी हिमकणसदृशी हैं। अर्थात् उनके संसर्ग में रहा राक्षसवंश भस्म हो जायेगा। हे नाथ! सीतासमर्पण नहीं होगा तो ब्रह्माजी व शिवजी भी आपका हित नहीं करेंगे।

शास्त्रीय व्याख्या

तव : लंकाकुलसंरक्षक रावण युष्मच्छब्दार्थ है।

आपका कुल कमलवन समृद्ध हो दण्डकवन आदि देशों में जाकर बसा था पर वह हिमाग्नि (सीताजी) के संसर्ग में मुरझा गया अतः अवशिष्ट लंकावासिकुलकमल सीतारूप हेमस्पर्श से रक्षणीय है। हम सभी अनीति के परिणाम में अक्षम्य दण्ड से दण्डित हो चुके हैं। उसकी पुनरावृत्ति न होने के विचार से नीति को राजा ने अपनाना होगा। वह सीतोपहारप्रदान से ही होगी तभी यह कुलरूपी कमल समृद्धता को प्राप्त हो सकता है।

सीता सीत निसा सम : लंकाकुल के रक्षक एकमात्र आप ही हैं। यदि ऐसा ही प्रमाद होगा तो सीताजी 'सीता सीत निसा सम' होकर कमलवन को जलाकर रहेंगी।

आई : चिन्त्य है कि पतिव्रता सीतास्पर्श से आप भी आरम्भ में ही मुरझा जाते वैसा न होने में सीताजी का संकल्प कारण है। उसका साक्षी गर्भस्राव है।

सुनहु : विजिगीषु की ओर से आक्रमण न होने में ब्रह्माजी व शिवजी का प्रदत्त वर रुकावट कर रहा था। अभी तक आपको उसी वर का पृष्ठ बल प्राप्त था व रघुवंश भी आप पर प्रत्यन्तवासी होने से लंका के प्रति उदासीन था आगे भी वह उदासीन रहेगा उसके पीछे शास्त्र नियामक रूप में आसीन है। फलतः आप ही एकमात्र युद्ध के प्रति प्रेरक हो रहे हैं उसके निवर्तन में सीतादान रूप उपाय अपनाना 'सुनहु' से समझना है।

नाथ : साम, दान, अर्थ, संभोग से लंकाराष्ट्र का प्रीणन एवं पालन करने का स्वभाव 'नाथ' से दर्शाया है।

सीता : शीतनिशासम पतिव्रता लंकादाहिका सीताजी 'सीता' शब्द से बोध्या हैं।

हित न : निगमागमसम्मता शीतनिशासमा सीताजी को अविलम्ब दूर करने में लंका का योगक्षेम, नैतिक सुख शान्ति 'हित' से स्पष्ट है। उसकी अप्रसक्ति 'न' से बोध्य है। वह 'न' 'कीन्हे' से अन्वित है।

बिनु दीन्हे : सीताजी के बदले अन्यनिष्क्रय या प्रतिनिधि की व्यावृत्ति 'बिनु दीन्हे' से ध्वनित है।

संभु अज कीन्हे : 'हित न' की उपपत्ति ब्रह्माजी व शिवजी की उपेक्षा में द्योत्य है। अज व शंभु दोनों निगमागमसेवी श्रीराम के हितसाधन में ही सहायक होंगे। ये तीनों देव धर्म व नीति की स्थापनार्थ परस्परपूरक हैं। सीतासमर्पण न होने पर हे पतिदेव! आप उदासीन, मध्यम पार्ष्णिग्राह व तदासार बल से शून्य होंगे। अपने पार्श्व में कोई भी बलवान् समाश्रय उपलब्ध न होने से विग्रह करना अज्ञतापूर्ण कार्य ठहरेगा इत्यादि गूढार्थ 'कीन्हे' में ध्वनित है।

संगति—नीतिरसयुक्त वचनों से मन्दोदरीजी बलवत्तर मृत्यु रूप आपत्ति बताकर रावण को चेतने का सुझाव दे रही हैं।

दोहा— रामबान अहिगन सरिस निकट निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तब लगि जतनु करहु तजि टेक॥ ३६॥

भावार्थ—श्रीरामके बाण सर्पसमूह की तरह हैं। राक्षससमूह मेढकतुल्य है। उनके बाणरूप सर्प जबतक नहीं ग्रसते तबतक ग्रास के पूर्व ही अभिमान को त्यागकर आप उक्त प्रयत्न करें।

शास्त्रीय व्याख्या

राम बान : वानरसमूह 'राम बान' से बोध्य है। इसलिए कि वे विना रोकटोक के लक्ष्य तक पहुँचकर पुनः लौट आते हैं।

अहिगन सरिस : 'अहिगन सरिस' कहने से वानरों में राक्षसों के प्रति भयाभाव ध्वनित किया है अर्थात् वे वानर सर्प की तरह छिप कर चुपचाप बैठे थे। रावणचापल्य ने उनको क्रोधित कर उभारा है। फलतः वानरों में शूरता जगी अब वे आपको (रावण को) मार कर ही स्वस्थ होंगे।

निकर निसाचर भेक : मेढक (भेक) अपने समूह में ट्राव ट्राव करते देखे जाते हैं उसी प्रकार आपने अपना समूह एकत्रित किया, आगममन्त्रों को कहते-कहते समय बिताया और मेढक की तरह आप उछले परन्तु विचाराभाव में आज आपका समूह मेढक की तरह सर्प (वानर) का भक्ष्य होने जा रहा है। अतः 'निकर निसाचर भेक' की संज्ञा कवि ने उन्हें दी।

जब लगि : युद्धारम्भ का पूर्वकाल 'जब लगि' से बोध्य है वही 'तब' से संकेतित होगा।

ग्रसत न : 'जब' व 'तब' से एतत्कालावधिकतया स्थित राक्षसकर्मक सर्पग्रासप्रागभाव रहना 'ग्रसत न' से बोध्य है। अभी वह प्रागभाव समाप्त होने की अवस्था में पहुँचा है।

जतनु : सीताप्रेषणानुकूल-व्यापारानुकूल प्रयत्न 'जतनु' से विवक्षित है।

तजि टेक : प्रमाणों की अवहेलना के साथ, आप्त, अविसंवादी मन्त्रियों की अवहेलना का साधक अहंभाव है उसका निरसन 'तजि टेक' है।

अथवा—अभियोक्ता के समक्ष स्वयं उपस्थित हो मस्तक झुकाना 'तजि टेक' है।

अथवा—दुर्ग के भीतर प्रजा के द्वारा अवहेलित होकर सीतादान करना इष्ट समझना 'तजि टेक' है।

इस प्रकार दोहा ३६।६ चौपाई में उक्त नीतिरस यहाँ तक व्याख्यात है।

संगति—'तजि टेक' सुनकर क्षुब्ध राक्षसस्वभावाक्रान्त रावण ने मन्दोदरीजी की उक्ति में नीत्याभास समझ कर स्वप्रहास से रानी में मूर्खता व्यक्त करते हुए पत्नीवचन में अप्रमाणता समझना कवि कह रहे हैं।

चौपाई— श्रवन सुनी सठ ता करि बानी । बिहसा जगत बिदित अभिमानी॥ १ ॥

भावार्थ—जगत्प्रसिद्ध, अभिमानी शठ रावण पहिले मन्दोदर्युक्ति सुनकर जोर से हँसा।

शास्त्रीय व्याख्या

श्रवन : पत्युक्ति में रही मधुरता, प्रियता व हितसाधनता को अवगाहित करने की शक्ति से वंचित होना 'श्रवन' से व्यक्त है।

सुनी : 'जो चहहु' शीर्षक में सूचित लंकाध्वंस के प्रातिकूल्य में पत्नी का अभिप्राय समझना 'सुनि' है।

सठ : पराजय समझकर भी सन्धि न करना, ध्वस्तप्राय लंका को अध्वस्त कहना आदि 'सठ' है।

अथवा—'मनस्यन्यत्' इस न्याय से अविसंवादिताविरोधी होना 'सठ' है।

ता करि : शिवकण्ठ से प्रगट रही 'नीति रस पागी' के अनुरूप बोलने वाली मन्दोदरीजी 'ता' से बोध्या हैं।

बानी : सैद्धान्तिक, दूरदर्शितापूर्ण वाणी 'बानी' है।

बिहसा : पत्नी को मूर्ख बनाकर लज्जित करने की चेष्टा करना 'बिहसा' का भाव है। उसके बहाने 'तजि टेक' अस्वीकृत हो रहा है। उसमें भेक आदि की अनन्वर्थता समझाई गई है। उसके अतिरिक्त 'जो चहहु' शीर्षक में सूचित दो अर्थों में से स्वाभिमत अर्थ भी ध्वनित है।

जगत बिदित : 'जगत' से प्रकृत में राक्षससमूह विवक्षित है। जैसा कि रावण ने राक्षसवृन्द के सामने माल्यवान् प्रभृति को दूर करने के लिए उनको तिरस्कृत करना प्रगट है।

अथवा—सम्पूर्ण विश्व ने रावण की अभिमानिता व तत्प्रयुक्त विनाश समझना 'जगत बिदित' है। यह तथ्य नीतिसिद्धान्त में उक्त होने से जगत् ने रावण को मानी समझना 'जगत बिदित' है।

अभिमानी : पूर्णतया पतनोन्मुख होने पर भी उत्कृष्ट समझना 'अभिमानी' है।

भाव यह कि 'अहं सर्वापेक्षया उत्कृष्टः' ऐसी पूर्वानुस्यूत वासना ही अभिमान है उसकी साकारता रावण ने तपोमाध्यम से वर पाकर पूर्ण की है। आगम ने रावण के स्वभाव को देखकर उसे प्रत्यन्त में राजा बना दिया। वह अभिमानी होने से शब्दप्रमाणाधीनता को नहीं स्वीकारता क्योंकि उसमें वह अपकर्ष समझता है। असुर अपने को अजेय समझकर अभिमानी होते हैं। इसी कारण से दैवी आसुरी सम्पत्ति में मैत्री नहीं होती।

संगति—'जो चहहु' में उक्त विकल्प के अनुसार मन्दोदरीमति को भला समझते हुए भी साकेतप्राप्ति के संकल्प के भाव को प्रगट न कर रानी के प्रस्ताव को स्त्रीस्वभाव

कहकर रावण उत्तर सोच रहा है; क्योंकि उसको जीवित रखना है।

चौपाई— *समय सुभाउ नारि कर साचा । मंगल महुँ भय मन अति काचा॥ २॥*

भावार्थ—मंगलावसर पर मन्दोदरीजी ने मनस् को भीत बनाना ठीक ही है क्योंकि यह भीति नारी के स्वभावानुकूल है।

शास्त्रीय व्याख्या

समय : भविष्यत् में निर्णीत मृत्यु होने की सम्भावना 'समय' है।

नारि कर साचा : स्त्रीत्वेन स्त्रियों में भय के उत्कट संस्कार आजीवन रहते ही हैं। अबला कहने का कारण भी उक्त भय ही है। वे ही संस्कार मन्दोदरीजी में अभी उद्भूत हुए हों तो उसमें विस्मय नहीं है। अत: स्त्रीस्वभाव के प्रति वीरों ने हँसना ठीक है। उत्कट भय के संस्कार की अव्यभिचरितता 'साचा' से स्पष्ट है।

मंगल : युद्ध में मरे हुए जीव ने अयोध्या, मथुरा, माया, सरयू, त्रिवेणी, मुनि आदि के संसर्ग में अति पवित्र मानव देह प्राप्त कर मुक्त होना 'मंगल' है।

अथवा—युद्ध में उपस्थित होकर असिधारातीर्थ में बली होना भी योद्धाओं के लिए मंगल है।

भय : असिधारातीर्थ में योद्धाओं को भेजने हेतु उन्हें सुसज्जित करने के समय तुम्हें भय उत्पन्न हो रहा है इसका कारण तुम्हारे मानस ने मंगल का अवगाहन नहीं किया; वह ठीक नहीं। अत: भय दूर करने का संकेत 'भय' से स्फुट है।

मन अति काचा : भय होने की उपपत्ति में मनस् में धैर्य-स्थैर्य न रहना 'मन अति काचा' है। चिन्त्य है कि रावण यदि मन्दोदरीवचन नहीं ठुकराता हैं तो युद्धसंस्कारारूढ क्रोधमय मनस् में रही श्रीराममयता सदा के लिए विलुप्त होगी। इस तथ्य की ज्ञात्री होने पर भी उसने डरना 'मन अति काचा' से कथित है।

संगति—उपर्युक्त विचार को ध्यान में रखकर बाहर से अवहित्था करते हुए पत्नी के सामने 'मंगल महु' का व्याख्यान रावण स्वयं कर रहा है जो बाधितार्थक होने से अप्रमाण है।

चौपाई— *जौं आवइ मर्कट कटकाई । जिअहिं बिचारे निसिचर खाई॥ ३॥*

भावार्थ—यदि वानरी सेना विपुल मात्रा में यहाँ पहुँचेगी तो निशाचर बहुत दिन तक उन्हें खाते रहेंगे।

शास्त्रीय व्याख्या

जौं : श्रुतिसेवी श्रीराम के साथ वानरी सेना यहाँ पहुँचने में सफल होगी ही नहीं क्योंकि यह पुरी दुर्गम है फिर भी उसके आने की सम्भावना 'जौं' से व्यक्त है जो शास्त्रीय भाषा में कृत्वाचिन्तया कहा जाता है। यदि उक्त सम्भावना साकार हो जाय तो उसका उत्तर आगे स्पष्ट होगा।

मर्कट कटकाई : निगमागम पक्ष का अनुगामी हुए भी देव राक्षसी सेना को देखकर भयभीत हो पीठ दिखाते हैं वैसे ही लंकावासी योद्धाओं को देखते ही वानरी सेना हतबुद्धि होगी। उनके उत्साहसम्बन्धी सभी संस्कार विलुप्त हो भय के संस्कार उद्बुध होंगे। फलत:

वे मूर्च्छित होंगे। इस प्रकार वानरी सेना की भक्ष्यता स्पष्ट है।

जिअहिं : राक्षसतृप्ति 'जिअहिं' से स्फुट है।

बिचारे : 'बिचारे' राक्षस की तरह 'कटकाई' से भी अन्वित है। इस अन्वय में ज्ञातव्य है कि वैदिकी दृष्टि में अनधिकृत लंकापुरी में रावण आ बसा वैसे देश में श्रीरामभक्तों ने आना ही नहीं चाहिए। यदि वानरी सेना आ ही जायेगी तो निर्वीर्य हो जायेगी इससे उन्हें 'बिचारे' कहा है। इसकी उपपत्ति 'निसिचर खाई' में स्फुट है।

'निसिचर' से 'बिचारे' अन्वित किया जाय तो उस मत में भाव यह कि बहुत दिनों से दण्डकारण्य का सम्बन्ध लंका से विच्छिन्न हो गया है वहाँ से गौ, मनुष्य आ नहीं रहे हैं। अतः राक्षसों को वानरभोजन तृप्तिकर होने से उनको 'बिचारे' कहा है।

निसिचर खाई : शुचि, विनीत, निरहंकारी भक्त वानरसैन्य प्रत्यन्त प्रदेश में आ ही नहीं सकते यदि आते हैं तो वे निस्तेजस्क होंगे फलतः दैवसंपत्ति का ह्रास होगा और असुरसम्पत्ति वृद्धिंगत होगी उस अवस्था में 'अहं भोक्ष्ये मोदिष्ये' इत्यादि वचन सार्थक होंगे। इस तरह वानरों की भक्ष्यता होना निर्णीत है।

उपरोक्त रहस्य को श्रीरामजी जानते थे उन्होंने सीताजी एवं हनुमान्‌जी को भेजकर लंकाभूमि को पूर्ण शुचि बनाया जिससे वानरों का तेजस् यथावत् बना रहेगा। इस तथ्य के प्रति अभिमानी रावण अनभिज्ञ होने से 'निसिचर खाई' कह रहा है।

संगति—मन्दोदर्युक्त प्रस्ताव को उपेक्षित कर विषयान्तर की ओर महारानी को आकृष्ट करते हुए रावण अपनी कीर्ति का स्मरण करा रहा है।

चौपाई— कंपहि लोकप जाकीं त्रासा । तासु नारि सभीत बड़ि हासा ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिसकी टेढ़ी आँख की मुद्रा को देखते ही देव थरथराते हों उसकी पत्नी ने बेचारी वानरी सेना व उसका पड़ाव सुनते ही डरना उपहास का पात्र बनना है।

शास्त्रीय व्याख्या

कंपहि : कंप से श्रुति व श्रुतिपक्षानुयायी की दुर्बलता प्रत्यक्ष प्रमाण के बल पर सिद्ध है।

लोकप : 'लोकप' से दशों दिशाओं के अधिपति ज्ञातव्य हैं। वह 'त्रासा' से अन्वित है। वे सभी 'त्वं शरणं' कहते हुए सभा में उपस्थित हो मेरे कृपाकांक्षी है। ये सभी लोकपाल हविर्भोक्ता हैं।

जाकीं : सम्पूर्ण देवों के अधिकार का अपहर्ता रावण यच्छब्दार्थ है। उसी को रावण ने देवकंप का कारण कहा यही रावण का प्रमाद है क्योंकि देवों को भय होने का उपपादक रावण न होकर ब्रह्मदत्त वर है।

अथवा—महाभिमानी व्यक्ति पुरस्स्थित व्यक्ति के सामने अप्रस्तुत विषय का उपस्थापन कर उत्तर देता है तो वाद्युक्त विषय को बाधित न करने से प्रतिवादी निगृहीत माना जाता है। उसी कक्षा में पहुँचा रावण यत्पदार्थ है।

त्रासा : 'त्रासा' से कर्मतया लोकप अन्वित है अर्थात् आगमविद्यासेवाकर्त्ता के द्वारा सम्पन्न दण्डप्रणयन 'त्रासा' का लक्ष्यार्थ है। जब देव त्रास के कर्म हैं तब मानवों ने त्रास

का कर्म होना कैमुतिकन्यायेन सिद्ध है।

तासु नारि : 'जाकीं' शीर्षक में निरूपित यच्छब्दार्थ 'तासु' से बोध्य है। चौपाई १ में 'ता करि' शीर्षकोक्त तच्छब्दार्थ 'नारि' से चिन्त्य है।

सभीत : चौपाई २ के 'नारि कर साचा' शीर्षक में 'सभीत' निरूपित है।

हासा की उपपत्ति

श्रुति की तरह वैदिकेतरों के लिए शिवप्रोक्त आगम प्रमाण मार्गप्रदर्शक है। आगमसेवियों के सामने श्रुतिसेवियों ने घुटने टेके हैं। आगम ने अपने सेवक को अवध्य बनाया है ऐसी स्थिति में भय मानना उपहास का कारण है। अभी लंका में श्रीरामदूत ने पहुँचकर जो कार्य सम्पन्न किया है वह विजिगीषु का छलप्रयोग है मेरी अन्यमनस्कता से वह लाभान्वित हुआ है। समय पर आगम का उपयोग कर विजिगीषु को निर्वीर्य किया जायेगा। तदनुकूल स्थिति रावण को प्राप्त है इतना समझकर भी वीरांगना ने डरना रावण के हास्य की उपपत्ति है। इस प्रकार रावण ने निगम की दुर्बलता सिद्ध कर उत्तर पूर्ण किया जो अभिमानदोष का परिपाक है।

संगति—मन्त्रणाहेतु आमन्त्रित मन्त्रिगण सभा में उपस्थित हुए होंगे ऐसा सोचकर रावण ने रानी से आलिंगनमात्र कर उसका सभा की तरफ जाना कवि सुना रहे हैं।

अथवा—'जहाँ सुमति तहँ संपति नाना' (५। ४०। ६) के अनुसार मन्दोदरीजी ने नीत्यनुसार सुमति का निरूपण किया है; किन्तु 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इस गीतोक्ति (२। २७) से अवष्टब्ध कुमति की स्थापना दर्शाने हेतु रावण ने सभा में जाना शिवजी निरूपित कर रहे हैं।

चौपाई— ***अस कहि बिहसि ताहि उर लाई । चलेउ सभाँ ममता अधिकाई॥ ५॥***

भावार्थ—उपर्युक्त वचन स्वयं को सुनाकर हँसते हुए मन्दोदरी को गले लगाकर रावण सभा में चला गया।

शास्त्रीय व्याख्या

अस कहि : आगम की स्वतन्त्र प्रमाणमूर्धन्यता के बोधक पूर्वोक्त वचन 'अस कहि' से बोध्य हैं।

'कहि' से पूर्वोत्तरपक्ष न होकर रावण ने स्वयं को सुनाना 'कही' का भाव है।

बिहसि : मन्दोदरीजी के सामपूर्वक प्रणाम से प्रभावित रावण ने उत्तर रूप में अपनाई दो क्रियाओं में पहली हसनात्मक क्रिया 'बिहसि' है। जो मन्दोदरीवचन की अवमानना का सूचक है। नीतिज्ञा नायिका रानी 'बिहसि' को देखते ही मानस में रहे रावण से दूर हो गई। फलतः रावण से मन्दोदरीजी के मानस की अभेद्यता शिथिल हो गई।

ताहि उर लाई : 'ताहि' से उपर्युक्त वचनश्रावयित्री मन्दोदरीजी विवक्षित हैं। उत्तररूप में अपनाई दूसरी क्रिया 'ताहि उर लाई' है। प्रति यात्रा के नियमानुसार यात्रा के पूर्व रावण मन्दोदरीजी से आलिंगन का सुख लेता आ रहा है उसी सुख में आन्तरिक कर्मवाही स्नायुओं में स्फूर्ति पाने का अनुभव लेना आलिंगन का प्रयोजन है। उसके साथ ही नायिका की प्रसन्नता शुभ शकुन है वैसा न होना आगे व्यक्त होगा। फलतः इस समय

आलिंगन शकुन न होकर अपशकुन हो गया।

अथवा—श्रीरामकृपात्मक उपाधिमात्र से वानर सेना को बलवती समझना ठीक नहीं; क्योंकि श्रीरामकृपा से पूर्ण सभी देव मुझसे (रावण से) कंपित हैं। अतः श्रीरामकृपा का उपाधित्व मेरे सामने निरस्त है। अतः चिन्ता न करने के उद्देश्य से 'ताहि उर लाई' क्रिया है।

चलेउ सभाँ : पूर्वालिंगनापेक्षया प्रस्तुत आलिंगन में अन्तर देखते ही मन्दोदरीजी के मानस से विश्लेषण इष्ट समझकर ही रावण ने देर न करते सभा में जाना 'चलेउ सभा' का भाव है। यह समय दिवसीय पंचम प्रहर है उसका अतिक्रमण न करना भी स्मर्तव्य है।

ममता अधिकाई : आलिंगनसुख में मनस् का द्रुत होना 'ममता' है।

अधिकता इसलिए कि उत्तरकाल में पुनः आलिंगन होना नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत आलिंगन मोह का साधक न होकर संसार के यातायात से छुड़ाने में सहायक है। अर्थात् मन्दोदरी ने मृत्यु से छूटने में रावण को भारी सहायता दी। यतः उसने सोचा निर्णय अटूट रहता है। इस प्रकार मन्दोदरीमानसविश्लेषण व पतिव्रता के वैमुख्य से श्रीरामसंकल्प की पूर्ति में अवश्यम्भाविता निरूपित है।

संगति—निगमैकवाक्यतापन्न आगम से विमुख हो जय की आशा में रावण की प्रवृत्ति युद्धार्थ देखकर पत्नी मन्दोदरीजी ने मानस को पति रावण से विश्लिष्ट करने की सहेतुकता कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— मन्दोदरी हृदयँ कर चिन्ता । भयउ कन्त पर बिधि बिपरीता॥ ६ ॥

भावार्थ—मन्दोदरीजी ने हृदय में विचारा कि विधाता अब पति से विपरीत हो गया।

शास्त्रीय व्याख्या

मन्दोदरी : रावणशरीरात्मक मूर्ति में ईश्वरसेवाकर्त्री, प्रभुआज्ञापालिका, रावणपत्नी मन्दोदरीजी 'मन्दोदरी' शब्द से ज्ञातव्य हैं जो पतिव्रत में तत्परा व नीतिज्ञा हैं।

हृदयँ कर : अभी तक पतिव्रत व पति-पत्नी के अभिन्न हृदयप्रभाव से लंका अमर थी पर रावणविश्लेष के परिणाम में मन्दोदरीजी के विश्लिष्ट हृदय में लंकाध्वंस का चित्रण उतरना 'हृदयँ कर' का भाव है।

चिन्ता : 'चिन्ता' से सत्परामर्श विवक्षित है। परामर्श की यथार्थता, लंका की अमरता, रावण की स्व पर से ममता का ह्रास तथा जीवनलीलापूर्ति 'चिन्ता' के विषय है।

भयउ : 'भयउ' 'बिधि बिपरीता' से अन्वित है।

कन्त : 'कन्त' से रावण की दक्षिणता स्मृत है जो पूर्व में (३६।६) व्याख्यात है।

बिधि बिपरीता : निगम व आगम दोनों में प्रामाण्यबुद्धि की समता रखने वाले सेवक 'बिधि' के अनुयायी हैं। अभी तक आगमसेवी रावण अजेय बना हुआ था उसकी अहंकारिता पर अंकुश न पहुँचने से अभी तक विधि की अनुकूलता प्रतीत होती थी पर उसके निगमविरोध की अन्तिम चोटी देखकर आगम ने विपरीत होना 'बिधि बिपरीता' है।

ज्ञातव्य है कि पत्नीद्वारा यदि पति की उपेक्षा होगी तो उसका पतिव्रत धर्म लुप्त होगा। इसका उत्तर 'बिधि बिपरीता' से प्रगट है। आशय यह कि निगम व आगम दोनों ने संघटित

हो रावणमृत्यु सोचा है तो उसके आनुगुण्य में अपने को ढाल कर पति को श्रीराम के सान्निध्य में पहुँचाना भार्या का भार्यात्व है। यह विवेक मन्दोदरीजी को होने से पतिव्रत उपेक्षित नहीं बल्कि पतिव्रत धर्म में स्थैर्य है।

अथवा—विधिवैपरीत्य समझकर बुद्धिमती, विवेकवती, नीतिज्ञा मन्दोदरीजी, बिभीषणजी, माल्यवान्, शुकसारण आदि सभी रावण की ओर से हटकर श्रीराम की इच्छा का अनुसरण करेंगे। यह नीतिपक्ष होने से उसमें रहना पतिव्रतादि धर्म की सफलता श्रेष्ठ है।

संगति—मन्त्रिणी मन्दोदरीजी से विश्लिष्ट रावण ने अन्तःपुर से चलकर यथासमय सभा में पहुँचते ही जो सुना वह शिवजी बता रहे हैं। जिसमें रावण में नीत्या असर्वज्ञत्व, व उपरिबुद्धित्वाभाव का आरोपण स्पष्ट है जो पतिव्रता के अपमान का तात्कालिक फल है।

चौपाई— बैठउ सभाँ खबरि अस पाई । सिन्धु पार सेना सब आई॥ ७॥

भावार्थ—सभागृह में पहुँचते ही रावण को समुद्रतीर पर सेना समेत विजिगीषु के पहुँचने की सूचना प्राप्त हुई।

शास्त्रीय व्याख्या

बैठेउ : मन्दोदरीजी से भेंट करने की अवधि में एकत्रित हुए मन्त्रिमण्डल ने आपस में मन्त्रणा कर मन्त्रबीजवपन करने हेतु स्वस्थतापूर्वक मन्त्रियों का बैठना व रावण ने विराम लेना 'बैठेउ' का भाव है।

सभाँ : 'सभाँ' से तथाविध पूर्वमन्त्रिपरिषद् समझनी है। सम्भव है कि मन्त्रियों ने विजिगीषु की गतिविधि समझने हेतु हनुमान्‌जी के पीछे दूतों को भेजा हो उन्होंने ही श्रीरामसेना की गतिविधि मन्त्रियों को सुनाई।

खबरि : चरों व दूतों से विजिगीषुसैन्य व उनका पड़ावस्थल, सैन्य-व्यूहरचना, योद्धनियुक्ति, युद्धसामग्री, सेना का प्रतिशोध आदि सभी 'खबरि' के अन्तर्गत बोध्य हैं।

असि पाई : असि का व्याख्यान उत्तरार्ध में उक्त है।

सिन्धु पार सेना : मौल, श्रेणी आदि भेद से विभक्त सेना 'सेना' है। उसका व्यूह के साथ संघटितरूप में सिन्धुतीर पर पहुँचना 'सिन्धु पार' से बोध्य है।

सब : यूथपति, सेनापति, वानर व भालु सैन्य आदि 'सब' से विवक्षित हैं।

आई : विजिगीषु ने सेना के साथ समुद्र के दक्षिण तीर पर आना 'आई' है। जल की खाई विस्तृत होने से सेना लंका में नहीं आ पहुँची। अब वह पार होना सोच रही है।

संगति—समुद्र के दक्षिण तीर पर वानरी सेना का पहुँचना सुनकर रावण अग्रिम कर्त्तव्य की रूप रेखा का निर्णय करने हेतु आन्वीक्षिकी में अकुशल, अविवेकी उपस्थित सचिवों से मन्त्रणा आरम्भ कर रहा है।

चौपाई— बूझेसि सचिव उचित मत कहहू । ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥ ८॥

भावार्थ—रावण ने सचिवों से मत देने का संकेत किया तो वे हँसते हुए कहने लगे कि आप स्वस्थ रहें भय की कोई बात नहीं है।

शास्त्रीय व्याख्या

बूझेसि : शासक राजा ने मन्त्रिपरिषद् को पूछने का विधान दण्डनीति में उपलब्ध

है अतः 'बूझेसि' कहा है।

सचिव : पूर्वमन्त्रिपरिषद् में २०, १६ या १२ संख्या में नियुक्त अधिकृत मन्त्री 'सचिव' से बोध्य हैं। यहाँ पर वे सभी राजेच्छा के अनुयायी स्वार्थलिप्सु हैं। उत्तर मंत्री आप्त माल्यवान् यहाँ उपस्थित है; किन्तु उनके मत का समर्थक कोई न होने से वे मौन हैं।

उचित : निगमैकवाक्यतापन्न, आगमसम्मत नीति व आन्वीक्षिकी से अनुमोदित उपदेश में औचित्य समझना 'उचित' का भाव है।

मत : चपलता से असंस्पृष्ट हिताहित समझाने में सहायक व पञ्चांगपूर्ण उपदेश 'मत' से बोध्य हैं।

कहहू : मतशुश्रूषु होने पर भी मन्त्री राजा के आशयानुयायी होने से वे मत देने के योग्य नहीं हैं फिर भी उनसे मत सुनने की इच्छा 'कहहू' से प्रगट की है।

ज्ञातव्य है कि शुक्रमतानुयायी रावण व मन्त्रिगण दण्डनीति को प्रधान मानते हैं उसकी जागरूकता में राजा ने मत माँगना रावण की शठता है। लंका में राजवचन ही सर्वतउपरि प्रमाण है उसके विरोध में जो भी वचन उपस्थित होंगे वे अनुष्ठानतः अप्रमाण ही होंगे फिर भी 'उचित मत कहहू' सुनाने का निष्कर्ष कीर्त्यकीर्ति विवेक में है। यदि मन्दोदरीजी के पक्ष का अनुगमन होगा तो निर्णय की सर्वोच्चता माननी होगी परिणाम में ऐसे प्रामाण्य में अपने को अपमानित होना पड़ेगा यह अपकीर्ति है। उसे उपेक्षित कर दण्डनीति के प्राधान्यानुगमन में कर्तव्य सुनाने के लिए 'कहहू' कहा है।

ते सब हँसे : उचित मत सुनाने हेतु जो आदिष्ट थे वे तच्छब्दार्थ हैं।

चिन्त्य है कि जैसे मन्दोदरीसंवाद में राजा ने अपने बल को सर्वतउपरि अजेय मानकर पत्नी के मत को उपेक्षित किया उसी प्रकार यहाँ भी मन्त्री यदि राजमतविरोध में कुछ भी कहते तो वे भी उपेक्षित ही नहीं दण्डित हो जाते इतना ही नहीं मन्त्रियों को पदच्युति का भय भी प्रतीत हुआ। फलतः उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए राजा में दण्डप्रणयनसामर्थ्य होते हुए भी आशंकित हो मत माँगने का वैयर्थ्य प्रगट करने हेतु हँसना 'ते सब हँसे' का भाव है।

मष्ट करि रहहू : 'मष्ट करि रहहू' रावण के प्रश्न का उत्तर है इसलिए कि अज व शंभु से प्राप्त वर की यथार्थता और विजय का सामानाधिकरण्य निर्णीत हो चुका है उस पर शंका या जिज्ञासा को अवकाश प्राप्त नहीं है। चिन्त्य है कि मन्दोदरीजी ने उस सामानाधिकरण्य का प्रतिषेध सर्वसाक्षित्वाभावरूप उपाधि के माध्यम से सुनाया था। उसकी वास्तविकता के निर्णयार्थ मन्त्रियों के सामने रावण ने जिज्ञासा प्रगट की। उसके उत्तर में मन्दोदर्युक्तिनिषेध का प्रतिप्रसव 'मष्ट करि रहहू' से करना कविकौशल है।

ज्ञातव्य है कि मन्त्रियों ने एकवाक्यता में अपना मत सुनाया है उसमें अचिरात्-फलदातृत्व गुण की यथार्थता के साथ मन्त्र के लिए अपेक्षित ज्ञान, प्रकाशन, प्रशंस्तता, अंग, व्यापार, उत्पत्ति, सिद्धि आदि सभी लुप्त हैं। एकमात्र आगमसिद्धिमत्ता पर रावण व पूर्व मंत्रिपरिषत्सदस्य राज्य को स्थिर मान रहे हैं जो कि अभी रावण से विमुख है। फलतः लंकाराज्य विनाश के कगार पर पहुँच चुका है। इस सूक्ष्म रहस्य को न परखना मन्त्रदोष है।

संगति—'मष्ट करि रहहू' शीर्षकोक्त सामानाधिकरण्य का व्याख्यान सुना रहे हैं जिसमें छिपी सोपाधिक व्याप्ति मंत्रिपरिषद् को ध्यात नहीं हो रही है।

चौपाई— जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं । नर बानर केहि लेखे माहीं॥ १॥

भावार्थ—देवों, असुरों को जीतने में कोई श्रम आपको नहीं प्रतीत हुआ तो नर-वानर को जीतने में सोचना वृथा है।

शास्त्रीय व्याख्या

जितेहु : 'जितेहु' से त्रैलोक्यस्वामित्व रहना बताया है। इससे अज आदि से प्राप्त वर का सामानाधिकरण्य व्यक्त है।

सुरासुर : सुर कहने से उनमें दुर्बलता ध्वनित की है। असुर कहने से वर्णाश्रमेतरों के लिए विहित आगमोपासनाप्रयुक्त अतिशयित समृद्धि व्यक्त की है। फिर भी मानवता को जिसने अपनाया है उसकी अप्रतिहत शक्ति की वास्तविकता मन्त्रियों ने न समझना मन्त्रिदोष है।

तब : ऐतिहासिक युद्धजेतृत्व 'तब' से ज्ञातव्य है।

श्रम नाहीं : नर-वानरों के समूहापेक्षया अधिक बलसम्पन्नों को जीतने में श्रम न होना 'श्रम नाहीं' से व्यक्त है। सुरादि को जीतने में बुद्धि व बल का क्षय नहीं हुआ न तो कोई परिश्रम ही करना पड़ा बल्कि उन जेयों ने स्वयं हार स्वीकार कर उपहार समर्पण किये। इस सिद्धि के रहते नर-वानरों के प्रति सोचना व्यर्थ है। अतः युद्ध होने पर भी आपको श्रम होना नहीं है।

नर बानर : श्रीराम व लक्ष्मणजी 'नर' से बोध्य है वे दोनों पृष्ठबलशक्ति से शून्य हैं; क्योंकि उनको निगमागम का बल प्राप्त नहीं है वे श्रुति से बहिष्कृत अशुचि देश में पहुँच रहे हैं। लंका में श्रीराम का आना दण्डप्रणयन की दृष्टि से आपके लिए हितावह है। वानरों के प्रति भी यही तत्व चिन्तनीय है।

केहि लेखे माहीं : 'मष्ट करि रहहू' शीर्षकोक्त व्याप्ति में छिपी उपाधि को हनुमान्जी ने लंकादाह से व्यक्त किया है। फिर भी उसको उपेक्षित कर रावण को प्राप्त वरगत विजयसामानाधिकरण्य के नैयत्य को यादकर 'केहि लेखे माहीं' कहा है।

संगति—निगमागमसम्मत मानवत्वाभावात्मक द्वितीय उपाधि को न समझने वाले केवल स्वजय एवं देवदत्तवर के नियत सामानाधिकरण्य के बोधक इतिहासबल से परामर्शात्मक मन्त्रणा को समझकर कार्य करने वाले मन्त्रियों के प्रति कवि शिवजी अपना मत प्रगट कर रहे हैं।

दोहा— सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइहि बेगिहीं नास॥ ३७॥

भावार्थ—मन्त्री, वैद्य व गुरु यदि प्रत्यक्षादिप्रमाणत्रय विरुद्ध बोलते हैं तो राज्य, धर्म व शरीर तीनों का अविलम्ब नाश होना निर्णीत है।

शास्त्रीय व्याख्या

सचिव : 'सचिव' से कुमन्त्रि विवक्षित हैं। जो निगमागमसम्मतमानव के प्रति

प्रमादी हैं। उसका पर्यवसान राजविनाश है। 'सचित' से 'भय आस' अन्वित है।

बैद : 'बैद' से चिकित्सक मननीय हैं जो अनाप्त स्वार्थी हैं।

गुर : 'गुर' से उपदेष्टा ग्राह्य हैं जो स्वार्थरत या भीत हैं। 'गुर' शब्द ज्योतिषी आदि का उपलक्षक है। एवंच भीत व लुब्ध के आदेश राज्यनाश के प्रति कारण है। उसका उदाहरण प्रस्तुत सचिव हैं।

यद्यपि 'गुर' में सब का अन्तर्भाव है तथापि प्राधान्यात् सचिवादि उल्लिखित हैं।

तीनि : सचिवादि तीनों की नियुक्ति राज्य, राजधर्म, व राजशरीर के रक्षणार्थ होती है या उनकी अभ्यर्हितता 'तीनि' से बोध्य है, जो रक्षणसाधनतापर्याप्ति का बोधक है।

जौं प्रिय ; 'जौं' शब्द सचिवादि का बोधक है। वह क्रियाविशेषण है।

'प्रिय' से राजा को तात्कालिक सुख पहुँचाना स्पष्ट है। स्वार्थसिद्धि-भयान्यतर-विशिष्ट-तादात्विक स्वसुख भी 'प्रिय' से बोध्य है।

बोलहिं : 'प्रिय' 'बोलहिं' का विशेषण है अर्थात् सहायादि पंचांग व सत्परामर्श का अभाव 'बोलहिं' से ध्वनित है। सचिवादिभेद से बोलने में वैजात्य होना सिद्ध है। जो मीमांसामत से सम्मत है।

भय आस : 'आस' से स्वार्थलोभ 'भय' से बलवदनिष्ट की भविष्यत् में उत्कट सम्भावना विवक्षित है ये दोनों 'प्रिय' की तरह क्रियाविशेषण हैं।

राज धर्म तन : 'राज धर्म तन' तीनों प्रतियोगितया 'नास' से अन्वित हैं।

'राज' से स्व-स्वगुण संपत्तिमत् सप्तप्रकृतिक राज्य विवक्षित है।

'धर्म' से निगमागमगमोक्त सामान्य व विशेष धर्म चिन्त्य हैं।

'तन' से राज्यरक्षक स्वामिशरीर विवक्षित है।

तीनि : राजादि का युगपत् नाश होना 'तीनि' का भाव है। जैसे सचिवादि तीनों के बल पर राज आदि तीनों की समृद्धि होना निर्णीत है। वैसे ही वैद्य मिथ्यायोगाद्यपचार व कुपथ्य से, सचिव कुमन्त्रणा से, गुरु विसंवादी नीत्याभासात्मक अधर्म से, शरीर, राज्य व धर्म तीनों का शीघ्र नाश कराते हैं।

इस नाश के मूल में कर्तृतावच्छेदकतया भय एवं लोभ होना अविस्मरणीय है। अतएव 'तीनि' की पुनरावृत्ति सार्थक है।

कर होइहि : स्तुति में दर्शाए बाधित गुणारोपमात्रक मन्त्रणा से राज्यफल मिलना सम्भव नहीं, वैद्य अनारोग्य अर्थात् धातुवैषम्य के अनुरूप कुपथ्य सेवन की ओर रोगी को प्रवृत्त करता है तो मृत्यूपधायकता सन्निकट है तथा गुरु निषिद्ध या अवैध कर्म कराता है तो उसने सामान्य व विशेष धर्मनाश के प्रति उपधायक होना 'कर होइहि' का भाव है।

बेगिही : 'तीनि' शीर्षकोक्त त्रिविध नाश की अपरिहार्यता को 'बेगिही' से दर्शाया है।

नास : राज्य, धर्म, तनु में नाश अन्वित है। आशय यह कि राज्य और राजा का रक्षण मन्त्राधीन है। मन्त्रणा के माध्यम से मन्त्री राज्य में सम्भावित व्यसनों का प्रतीकार करते हैं। परराष्ट्र में चरों को भेजकर वहाँ व्यसनसमृद्धि कराना सचिवों का दूसरा कार्य है। वैसा कार्य न करना राज्य का विनाश है। गुरु धर्म काम एवं अर्थ की चिरस्थायिता का उपदेश

देकर राज्य में त्रिवर्ग की समृद्धि कराते हैं यदि वे उससे च्युत होते हैं तो धर्म, अर्थ, काम तीनों युगपत् देश से लुप्त होते हैं। उसमें उपपत्ति यह कि राज्य को चलाने वाले पुरुषार्थ व दैव दो चक्रों में से दैव का विनाश यहाँ चिन्त्य है।

शिवोक्ति का विशेष प्रयोजन

मंत्री के साथ मन्त्रणा करने वाले राजा ने मन्त्रशुद्धि की ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है उसके अन्तर्गत मन्त्रणा के प्रति स्वामी ने यह सोचना होता है कि मन्त्रणा सन्तों के द्वारा निन्दित तो नहीं है! उसी पर ध्यान देने हेतु शिवजी ने निन्दा दर्शाना शिवोक्ति का विशेष प्रयोजन है।

इस प्रकार की अशुद्धि सर्वसाधारणों के लिए भी मननीय है। यदि राजा, शासक, मन्त्री या अन्य कार्यकर्त्ता उक्त तत्व पर ध्यान देते हैं तो वे शिवजी के निन्दापात्र नहीं कहे जा सकते हैं।

संगति—आशा या भय में डूबे स्वार्थी सचिव अशुद्ध मन्त्रणा करते हुए स्तुति मात्र कर रहे हैं। उनके प्रति शिवजी दु:खित हो अपना मत सुना रहे हैं।

चौपाई— सोइ रावन कहुँ बनी सहाई । अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई॥ १॥

भावार्थ— रावण के विनाश में सचिव सहायक हुए। सभी ने रावण की कीर्ति को पुन:-पुन: सुनाकर गुणारोपण किया जो सोपाधिक हेतु से युक्त थे।

शास्त्रीय व्याख्या

सोइ : पूर्वोक्त प्रस्ताव के पुरस्कर्त्ता व पूर्वमन्त्रिपरिषद् सदस्यों के सुझाव 'सोइ' से ज्ञेय हैं।

रावन कहुँ : राजा रावण के द्वारा नियुक्त सभी स्वार्थी एवं भीत मन्त्रियों ने एकमत हो एक ही आवाज उठाई जो विनाश की ओर ले जाने वाली थी। अर्थात् रावणगुणकीर्त्तन ही 'रावन कहुँ' से बोध्य है। 'कहुँ' 'सहाई' से अन्वित है।

बनी सहाई : रावण ने अपना मृत्यु व उसके उपाय के प्रति जो सोचा था उसके अनुकूल अनुमोदक अशुद्ध कुमन्त्रणा मन्त्रियों से प्राप्त है उसी को 'बनीं सहाई' से स्फुट किया है।

अस्तुति : जय व वरप्राप्ति एवं श्रमाभाव का सामानाधिकरण्यबोधक अनेकविध गुणगान करना 'अस्तुति' है।

सुनाइ सुनाई : 'सुनाइ' की पुनरुक्ति का परिणाम स्वविरोधी ने सुनाई मन्त्रणा के प्रति अरुचि होना ज्ञातव्य है।

संगति—निगमागमसम्मत मानवत्व से युक्त प्रभु का उत्तर तीर पर आना, सभा में राजा का पहुँचना व लुब्ध मन्त्रियों का सभा में सन्निवेश सुनकर लंकाहित सोचने वाले रावण के भाई बिभीषणजी का सभा में उपस्थित होना सुना रहे हैं।

चौपाई— अवसर जानि बिभीषनु आवा । भ्राता चरन सीसु तेहिं नावा॥ २॥

भावार्थ—यथासमय बिभीषणजी सभा में आ पहुँचे। बड़े भाई रावण को मस्तक झुकाकर उन्होंने नमस्कार किया।

शास्त्रीय व्याख्या

अवसर जानि : देश-काल का योग, सभा की स्थिति, वहाँ होने वाली मन्त्रणा को समझना 'अवसर जानि' है। यदि समय रहते राजा को वास्तविक स्थिति का ज्ञान न कराया जाय तो बिभीषणजी सन्तसभा में वाच्यतया (निन्दित) परिभाषित होंगे। अत: उन्होंने मन्त्रणा में सत्परामर्श के माध्यम से शुद्ध मन्त्रणा करना आवश्यक है तदर्थ देश और काल का योग होना 'अवसर जानि' है।

बिभीषनु : राजनीति को बिगड़ते देखकर राजा को नीतिप्रयोग समझाना अपना कर्त्तव्य समझकर प्रतिज्ञादि के ब्याज से रावण को स्वार्थानुमान कराने वाले अनुज 'बिभीषनु' पद से बोध्य हैं।

आवा : ज्ञातव्य है कि यद्यपि वसिष्ठजी ने श्रीरामराज्याभिषेकानुमति देकर दशरथजी को दिवंगत कराने की योजना बनाई व श्रीराम को वन में भजने की स्थिति को परम्परया अनुमोदित किया पर उन्होंने युक्ति से अवध को अराजकता से बचा लिया। वैसा कार्य स्वहितार्थी मन्त्रियों ने सम्पन्न नहीं किया। अत: बिभीषणजी का इस सभा में आना महत्त्वपूर्ण कार्य है। वे उत्तर मन्त्री हैं उनकी मन्त्रणा राजा को यदि स्वीकार्य होगी तो उनकी उपस्थिति सार्थक होगी व मन्दोदरीजी की अभिलाषा पूर्ण होगी यदि वैसा न होगा तो भी बिभीषणजी का सभा में आना व्यर्थ नहीं है क्योंकि वे इतिहासज्ञों के विचार में वाच्य (निन्दित) नहीं होंगे। अत: 'आवा' कहा है।

संगति—मन्त्रिपरिषद् के सर्वमान्य अनियुक्त सदस्य ने रावण से प्रश्नोत्तर के प्रति बोलने की अनुमति प्राप्त करना व उन्होंने सुनाए वचनों का आरम्भ शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन । बोला बचन पाइ अनुसासन॥ ३ ॥

भावार्थ—बिभीषणजी सभा में उपस्थित होने के पश्चात् ज्यों ही निज आसन पर विराजमान हुए वैसे ही उन्हें बोलने का अनुशासन प्राप्त हुआ।

शास्त्रीय व्याख्या

पुनि सिरु नाइ : अनुजीविवृत्त के अनुसार अनुष्ठान होना 'पुनि सिरु नाइ' का निष्कर्ष है।

निज आसन : उत्तरमन्त्री के सम्मानानुरूप आसन पर रावण के समीप प्रथम पंक्ति में उच्चतर आसन का संकेत 'निज आसन' से व्यक्त है।

बोला बचन : यद्यपि बिभीषणजी के वक्ष्यमाण वचन न्याय, नीति व निगमागमसम्मत होंगे फिर भी राजा की दृष्टि में नगण्य होंगे तथापि राजा ने स्वमत सुनाने के लिए बाध्य किया होने से 'बोला बचन' कहा है।

पाइ अनुशासन : ज्ञातव्य है कि मन्त्रणा के पृष्ठबल में सैद्धान्तिक निगमागमसम्मत समस्त विद्यादि की एकवाक्यता अपेक्षित है उसी हेतु से बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ रावण ने मन्त्रिपरिषद् को आहूत किया था परन्तु बिभीषणजी उस प्रसंग में न होने से वैसी मन्त्रणा न हो सकी। यत: उसमें उपस्थित सभी मन्त्रियों ने एक स्वर से अपना अनैतिक पक्ष सुनाया है जिसके पीछे आशा व भीति अन्यतर उपाधि छिपी है उसका पर्यवसान राजमृत्यु है। जो

राजा को इष्ट है।

रावण अभी बिभीषणजी द्वारा अपने मृत्यूपधायक कुमतिसिद्धान्त के प्रति उनका अभिमत जानना चाहता है। सन्त बिभीषणजी उसके अभिप्राय को जानकर भी निगमागमसम्मत नीतियुक्त मन्त्रणा सुनाएँगे पर उसमें स्व एवं अन्य मन्त्रियों का अभिमत प्राप्त न होने से रावण उसे ठुकराएगा।

अथवा—निगमागमसम्मत श्रीरामशरतीर्थ में मैं जैसे शरीर को छोड़ना चाहता हूँ वैसे ही तुम (बिभीषण) भी चाहते हो तो अपनी मन्त्रणा स्पष्ट करो परिणाम में मृत्यु को पाओगे यदि बचना चाहते हो तो वैसा अभिप्राय ध्वनित करो जिसके पर्यवसान में तुम्हारे साथ वैसा व्यवहार किया जायेगा।

संगति—राजा युद्धोत्सुक मुमूर्ष है वही होगा ऐसा जानकर भी बिभीषणजी निगमागमसम्मति के आनुगुण्य में स्वमति प्रकाशन की प्रतिज्ञा सुमतिसंबद्ध पूर्वपक्ष की ओर से कर रहे हैं; क्योंकि भावी परम्परा को नीतिसंगत प्रयोगविधि, अधिकारविधि एवं गुणविधि के अनुष्ठान की पूर्ण जानकारी होना वे इष्ट मानते हैं।

चौपाई— ***जौ कृपाल! पूँछिहु मोहि बाता । मति अनुरूप कहउँ हित ताता ॥ ४ ॥***
जो आपन चाहै कल्याना । सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना ॥ ५ ॥
सो पर नारि लिलार गोसाईं । तजउ चउथि के चन्द कि नाईं ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे कृपालो! तात! मुझसे आपको उत्तर की शुश्रूषा है तो मैं स्वमति के अनुरूप उत्तर सुनाने की प्रतिज्ञा करता हूँ—जो अपना कल्याण, सुयशस्, सुमति, शुभगति और नानासुख जीवित दशा में चाहता हो वह व्यक्ति परस्त्रीमुखदर्शन से दूर रहे जैसे चतुर्थीचन्द्रदर्शन निषिद्ध है।

शास्त्रीय व्याख्या

जौ कृपाल : 'जौ' से रावण की स्वायत्तशासकता स्पष्ट है। जैसा कि मन्दोदरीजी के संवाद से निर्विवाद है। प्रजापीड़ा दूतमुख से प्रतीत है। उसके परिहारोपाय के सूचनार्थ 'कृपाल' कहा है। प्रजापीड़ा सुनकर उसका प्रतीकार करने का स्वभाव 'कृपाल' में होता ही है।

पूँछिहु : पूछे गए उचित मत के उत्तर में मन्त्रियों ने 'मष्ट करि रहहु' कहा वैसा उत्तर न होना 'पूछिहु' से व्यक्त है। आशय यह कि भक्ति आदि शास्त्रानुमोदित निगमागमसम्मत नीति ही सुनानी होगी तभी औचित्य प्रगट होगा। यदि वैसा उत्तर देना है तो विजिगीषु श्रीराम का वास्तविक ईश्वरत्वसमानाधिकरणमानुषत्व स्वरूप समझना होगा तभी प्रयोगविधि निर्णीत होगा।

मोहि : नायकत्व, समानगन्धत्व एवं वाग्मित्व से संयुक्त निगमागमसम्मत परिज्ञानवान् बिभीषणजी अस्मच्छब्दार्थ हैं।

बाता : उत्तरितव्य विषय 'बाता' से चिन्त्य है; क्योंकि उसी में विजिगीषु के प्रति निगमागमसम्मति बताकर सीतादानक्रिया कही जाय तो लंकारक्षण होगा तभी राज्य व प्रजापालनधर्म सुरक्षित रह सकता है अन्यथा मृत्यु अवश्यम्भावी है। इत्यादि विषय 'बाता' से उन्नीत करने हैं।

मति अनुरूप : सर्ववादिसम्मत आप्तोक्तशब्दप्रमाणज प्रमा 'मति' शब्दार्थ है। उसका आनुगुण्य 'अनुरूप' है। मंत्र की पंचविध अंगसम्पत्ति जिसमें हो वैसा निर्णय मति शब्दार्थ है; क्योंकि पंचांगसम्मत मति होने पर ही प्रयोगविधि अनुष्ठेयतया अथवा भक्त के लिए मननीय है।

कहउँ हित ताता : वक्ष्यमाण वचन प्रतिज्ञारूप में 'कहउँ' से स्फुट है।

वर्तमान में बिभीषणजी के वचन रावण के लिए कर्णमधुर नहीं है तथापि भविष्यत् में मंगलकारी होने से हितकर हैं। उसका मथितार्थ राजत्व, प्रजापालनधर्म व तनुरक्षण है। रावण राज्यरक्षक होने से बुद्ध्या बिभीषणजी ने उसे 'ताता' कहकर अपना सहज मित्रत्वसमानाधिकरण सगन्धत्व स्पष्ट किया है।

जो आपन : अधिकारविधि में कथित उद्देश्यप्राप्त्याकांक्षी सभी 'जो आपन' से ध्वनित हैं।

बिभीषणजी यहाँ जो भी तथ्य सुनाने हेतु उद्यत हैं वह सिद्धान्त है उसका विरोध न करते हुए रावण व मन्त्रियों ने प्रयोगविधि का निर्णय करना होगा तभी वे उद्देश्यभूत कल्याणादि काम्य को पाकर सुखी होंगे। अत: 'जो आपन' समयोचित है।

कल्याना : बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टप्राप्ति कल्याण है। क्षेम का पर्याय 'कल्याना' है।

सुजसु : 'न्यायेन स्वधर्म पालकोऽयं' ऐसी प्रसृत बुद्धि यशस् है। प्रजा का मनोरंजन, न्यायत: पालन करने में जो शील अर्जित होता है। वही 'सुजसु' है।

सुमति : निर्दुष्ट हो राज्यरक्षण हेतुतया बुद्धि में कर्त्तव्य का प्रकाश होना 'सुमति' है। वही संपत्ति का निदान है।

सुभगति : जीवनयात्रा की निर्बाधता अन्त तक होते रहना 'सुभगति' है। जीवन के पश्चात् स्वागतपूर्वक उत्तम शरीर प्राप्त करना पारलौकिक 'सुभ गति' है।

सुख नाना : आभिमानिक, वैषयिक, मानोरथिक व आभ्यासिक भेद से शरीर के प्रत्येक छिद्र की सुचारुता या अनुकूलतया वेदनीय तत्त्व 'सुख नाना' से बोधित हैं।

इस प्रकार बिभीषणजी ने सर्वसाधारण की दृष्टि से पुरुषार्थ निरूपित किया।

पर नारि : प्रकरणानुरोधेन कहना यह है कि राजा ने राज्यरक्षण के लिए हेतुतया सप्तव्यसननिर्मुक्ति राजशास्त्र में विहित है। तत्प्रतियोगि व्यसन के अन्तर्गत स्त्रीव्यसन अति दुस्तर माना गया है। उसका संकेत 'पर नारी' से सुना रहे हैं; क्योंकि उसके सान्निध्य में कामज, क्रोधज सभी व्यसन समाविष्ट होते हैं।

ज्ञातव्य है कि पूर्वेतिहास में रावण ने अनेक स्त्रीहरण किया है तथापि वह कल्याण का उच्छेदक नहीं हुआ। यत: एकमात्र ब्रह्मरत्तवर से आगम तूष्णींभाव में था फिर भी स्त्रीहरण व्यसन ही कहा जायेगा उसका परिपाक निगमागमसम्मत श्रीराम की पत्नी का अपहरण हुआ उससे क्षुब्ध होकर आगम ने रावण को दण्डित करना चिन्त्य है।

लिलार : चक्षुष् प्राप्यकारी होकर विषय के प्रति जीव को आकृष्ट कराते हैं। ऐसा सोचकर 'लिलार' उल्लिखित है। 'लिलार' मुख का उपलक्षक है। मुख न कहकर 'लिलार' कहने से बिभीषणजी की स्त्रीव्यसन के प्रति अतिजुगुप्सा व्यक्त है।

ज्ञातव्य है कि परस्त्रीहरण से रावण ने पुरुषार्थ को समाप्त किया। अवशिष्ट रहा भाग्य (ब्रह्मवर) वह भी क्षीण हो चला; यतः निगमागमसम्मत मानुष प्रतिपक्ष में रहने से रावण पुरुषार्थ से वंचित हो गया है। इस प्रकार रावणपतन की मीमांसा संकेतित है।

गोसाईं : लंकारक्षणभारपर्याप्तिक रावण की ज्येष्ठता का बोधक 'गोसाईं' शब्द है।

तजहु : परनारीवर्जन समझाकर भक्तिसिद्धान्त स्थापित किया उसकी उपेक्षा यदि बनी रहेगी तो प्रस्तुत समस्या के सामाधानार्थ कर्तव्य रूप के निर्णय में कठिनाई व्यक्त है। अतः विनाश से बचने हेतु 'तजहु' कहा है।

चउथि चन्द : सम्भव है कि गणेश चतुर्थी के दिन चन्द्रदर्शन कर रावण युद्धार्थ गया हो पश्चात् वालि आदि से अपमानित हुआ हो। उसी की याद 'चउथि चन्द' से दिला रहे हैं।

इस प्रकार लंकारक्षणोदेश्यक अधिकार विधि की कार्यान्वयिता हेतु अभ्यर्हित प्रयोगविधि में अपेक्षित परदारवर्जनात्मक एक गुण समझाया जो निगमागम सम्मत है।

संगति—निगमागमसम्मति में ही दूसरा भूतद्रोहात्मक गुण गुणविध्यात्मक सुहृद्सम्मित उपदेश के माध्यम से बिभीषणजी सुना रहे हैं।

चौपाई— चौदह भुवन एक पति होई । भूत द्रोह तिष्ठइ नहिं सोई॥ ७॥

भावार्थ—चौदह भुवन का स्वामी भी क्यों न हो यदि वह भूत द्रोही होता है तो नीति में टिकता नहीं।

शास्त्रीय व्याख्या

चौदह भुवन : पाताल से लेकर ब्रह्मलोक तक गिनाये गए चतुर्दश भुवन पुराणों में वर्णित हैं।

एक पति : मनुष्य-आनन्दसमेत ब्रह्मलोकानन्द सभी सुख की पर्यांप्ति 'एक' में गाई है।

'पति' से बलातिशयितता अनभिभवनीयता स्पष्ट है। जो अहंकारिता (सर्वापेक्षया उत्कृष्टः) का आधार है। फिर भी वह विषयतृष्णा की अपूर्णता से तृप्त नहीं होता उसी हेतु से दूसरों के सुख के प्रति असूया करता है।

भूत द्रोह : श्रुति आदि प्रमाणत्रय से प्रमित सदाचार में रहे अजातशत्रु 'भूत' से बोध्य हैं। परस्वतन्त्रतापहर्तृत्वादि दोष 'भूत द्रोह' से बोध्य हैं।

'भूत द्रोह' शब्द अक्षमापरक है उसकी समृद्धि से वाक्पारुष्यादि व्यसनों ने अति मात्रा में उदित होना अर्थसिद्ध है।

ज्ञातव्य है कि विषयतृष्णा के दास हो भुवनपति (रावणादि) सबको नौकर बनाना इष्ट मानते हैं तब वह भूतों को त्रस्त करते हैं लेकिन अजातशत्रु परवश नहीं होते उसी रोष में अहंकारी भुवनपति असूया, ईर्ष्या में अजातशत्रु को मारने के लिए उद्यत होते हैं। फलतः भूतपति के लिए वे द्वेष्य होते हैं जो भूतद्रोह का पाक है।

अनागसां त्वं भूतानां कृतवान् द्रोहमुल्बणम्।
तेनेमां भो! दशां नीतो भूतध्रुक् को लभेत शम्?॥[1]

---

[1] श्रीमद्भागवत १०।४४।४७

से उक्त सिद्धान्त भागवत में भी स्फुट है।

तिष्ठइ नहिं : 'तिष्ठइ नहिं' से समूल विनाश समझना है। उसकी उपपत्ति यह कि सदाचारी अजातद्रोही पर आक्रमण होना आगम व श्रुति को अप्रमाण बनाने की चेष्टा है। तब उनकी प्रमाणता के रक्षणार्थ श्रुत्यागमसम्मत प्रभुत्व से युक्त मानवादि के रूप में अवतीर्ण हो प्रभु निगमागम की प्रतिष्ठा यथावत् करते हैं तदनुगामी के हाथोंमें राजनीति का भार सौंपते हैं। फलतः प्रभुकृपा से दुष्टों का दमन होकर साधुओं का पालनरूप द्वितीय गुण निरूपित है।

संगति—उपर्युक्त अधिकारविधि के कार्यान्वयन में अपेक्षित प्रयोगविधि की सार्थकता होने में तीसरा गुण सुना रहे हैं।

चौपाई— *गुन सागर नागर नर जोऊ । अलप लोभ भल कहहि न कोऊ॥ ८॥*

भावार्थ—आत्मगुणसम्पन्न आश्रितोपकारी नर होकर भी अल्प लोभ ने उसे ग्रासा तो वह निन्दापात्र होता ही है।

शास्त्रीय व्याख्या

गुन सागर नागर : राजपदाधिष्ठानपोषक पर-स्वहितकारिगुणवान् 'गुन सागर' से ज्ञेय हैं।

'नागर' से नागरकवृत्तसम्पन्न व्यक्ति ध्वनित हैं, जो कामसूत्र में उल्लिखित हैं।

नर जोऊ : ईषणाओं को अंकुश से निगृहीत करने वाले 'गुन सागर नागर नर' से बोध्य हैं।

गुणसागरत्व व नागरत्व की प्रतिष्ठार्थ संवरणमात्र से अर्थार्जनशिक्षा की व्यावृत्ति होने में 'जोऊ' की सार्थकता है।

अलप लोभ : गुणसागर नागर होने में लोभ की स्वल्पमात्रा ने प्रतिबन्धक होना 'अलप' का भाव है। पर स्व को स्वायत्त करने की इच्छा 'लोभ' है। ईषणाशून्य न होने की दशा में लोभ की समृद्धि होती है।

भल कहइ न कोऊ : लोभवृद्धि देखकर परिजन भी लोभी पर विश्वास नहीं रखते। यह अविश्वास अलक्ष्मी की उत्पत्ति का आधार है जैसा कि 'अविश्वासोहि जन्मभूमिरलक्ष्म्याः'[१] से उक्त है।

'भल कहहि न कोऊ' से लोभ की निन्दा स्मर्तव्य है क्योंकि स्त्रीषणा, लोकेषणा, पुत्रेषणा की पूर्तिहेतु प्राणी ने अर्थार्जन में आसक्त होना स्वाभाविक है उस अवस्था में वह काम प्रभृति लोभ का शिकार हुए विना रह नहीं सकता। एवंच नीत्यात्मक प्रयोगविधिको पूर्ण करने हेतु लोभाभावरूप गुण यहाँ गुणविधि से परिचित हो रहा है। इस प्रकार प्रयोगविध्यनुकूल प्रतिबन्धक तीन दोष (स्त्री, भूतद्रोह, अन्य लोभ) निरुपित हुए।

संगति—उपर्युक्त तीनों प्रकार के गुणविधि का अनुगमन न होने पर पारलौकिक दुर्गति सुना रहे हैं जो ईषणाओं को आजीवन नियन्त्रित करने में अंकुश के रूप में अति उपयुक्त हैं। अतः अनुगम के रूप में निगमागमसम्मत निषेध और विधि एक साथ

---

[१] नीतिवाक्यामृत।

ध्यानाकर्षणार्थ सुना रहे हैं।

दोहा— *काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पन्थ।*
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि सन्त॥ ३८॥

भावार्थ—हे नाथ! स्त्री, काम, द्रोह, द्रव्यलोभ व मद नरक के पंथ हैं। उन्हें त्यागते हुए रघुपति को आप भजें जिन्हें सन्त भजते हैं। अर्थात् आप उनका आदेश स्वीकार करें।

शास्त्रीय व्याख्या

काम क्रोध मद लोभ : धर्मार्थप्रतिघाती इच्छा 'काम' है। प्रबलों के प्रति वाक्पारुष्यहेतु अक्षमा 'क्रोध' है। शौर्यादिनिमित्तक दर्प अथवा मोहमें आनन्द 'मद' है।
परद्रव्य के प्रति श्रद्धा 'लोभ' है।

सब : असन्देह की स्पष्टता के द्योतनार्थ 'सब' शब्द है। 'सब' से मदादि चतुष्टय का अभाव संग्रहणीय है। अर्थात् उक्त चतुर्विध अभावों को स्व में सदा बनाए रखने में एकाग्रता समझाने के लिए 'सब' प्रयुक्त है।

नरक : 'नरक' से अतिशयित दीर्घकालव्यापी दु:ख ज्ञेय है। यह अपनयप्रयुक्त अनय का परिपाक है। उसमें अधिकृत वर्णाश्रम व तदितर निगमागमसेवी सभी हैं।

पन्थ : 'पन्थ' से भविष्यत् में अहित होने का संकेत ज्ञातव्य है। जैसे शास्त्राधिकृतों के लिए शास्त्रोक्त विधि-निषेध क्रमशः प्रवर्तक व निवर्तक हैं वैसी प्रवर्तकता, निवर्तकता शास्त्राधिकृतेतरों के लिए नहीं है तथापि वे नीतिरूप धर्मशास्त्राधिकृत होने से वर्णाश्रमेतर भी नीतिशास्त्र के विरोध में नरकभोक्ता माने जाते हैं। अत: 'नरक के पन्थ' कहा है।

परिहरि : कामादिवर्जन से स्वमण्डल की सुरक्षा व ईषणाओं की समाप्तिहेतु 'परिहरि' कहना अति मननीय है।

रघुबीरहि : रघुवीर त्रिदेव के साक्षी होने से उनके आदेश को परिमित, संकुचित, वृत्त्यवच्छिन्न जीवों ने न मानना स्व विनाश का कारण है। 'रघुबीरहि' कहने से नारदशाप के अनुसर्ता ध्वनित हैं।

भजहु : रघुपति के आदेश को प्रीतिपूर्वक निश्छल भाव से स्वीकार कर नामजप करना भजन है। यही सुन्दरकाण्ड का सुन्दर निष्कर्ष है।

भजहिं जेहिं : उपर्युक्त भजन के प्रति शिष्टाचार 'भजहिं' से स्फुट है जो स्मृति व श्रुति आगम का अनुमापक है। वक्ष्यमाण १-२ चौपाइयों में उक्त विशेषण विशिष्ट रघुवीर यच्छब्दार्थ हैं।

सन्त : निगमसेवी व आगमसेवी दोनों ही 'सन्त' से बोध्य हैं। उदाहरण के रूप में भरतजी, लक्ष्मणजी, वसिष्ठ मुनिजी अनसूयादि पतिव्रता, बिभीषणजी, माल्यवान्जी, मन्दोदरीजी, गुहजी, शबरीजी, सुग्रीवजी आदि स्मरणीय हैं।

संगति—'भजहु' की उपपत्ति में भजनीयता काल के काल सर्वज्ञ ब्रह्म में ही है। उन्होंने नर रूप में अवतीर्ण होना आगम-निगम के आधार से सुना रहे हैं।

चौपाई— *तात! राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहुकर काला॥ १॥*
ब्रह्म अनामय अज भगवन्ता। ब्यापक अजित अनादि अनन्ता॥ २॥

भावार्थ—हे तात! सर्वमत से श्रीराम केवल मानवपालक ही नहीं किन्तु समस्त भुवनों के पालक हैं। वे श्रीराम काल के काल, ब्रह्म, विकृतिशून्य, अजन्मा, ऐश्वर्यसम्पन्न, व्यापक, अजेय, अनन्त हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

तातः 'तात' शब्द आदर्शार्थक है जो बिभीषणोक्ति के प्रति संस्कारोत्पादन में सहायक है।

राम : श्रीराम 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' (अध्यात्मरामायण) इसलिए 'राम' हैं।

नहिं नर भूपाला : सन्तों के लिए नररूप राजा की उपास्यता भक्तिसूत्र से निषिद्ध है। उस दोष का अभाव 'नहिं' से दर्शाया है। क्योंकि श्रीराम मनुष्यजातीय नहीं है।

पार्वतीजी के प्रश्नबीजभूत कोटि में गाया राजपुत्रत्व 'भूपाला' से स्मर्तव्य है।

भुवनेस्वर : सुयशस्, सुगति, सुमति का आश्रयत्व 'भुवनेश्वर' से निर्णीत किया है। क्रोधादि व्यसनों से निर्मुक्त चतुर्दशभुवनचक्रवर्ती राजमण्डल की यथावत् स्थिति बनाए रखने में अपेक्षित सार्वभौमसत्ता का अस्तित्व श्रीराम में 'भुवनेश्वर' से वर्णित है।

कालहु कर काला : 'मृत्युर्धावति पंचमः' वचन का स्मरण 'कालहु कर काला' से कराया है। यह उक्ति रावण को भीत कराने हेतु सप्रयोजन है। एतावन्मात्रेण वह हठ छोड़ता है तो लंका सुरक्षित हो सकती है। इस प्रकार मन्त्रबीज के रूप में 'कालहु कर काला' कहना उपपन्न है।

ब्रह्म : नित्यविभूतिसंपन्न सगुण व निर्गुण तत्त्व 'ब्रह्म' से विवक्षित हैं।

अनामय : श्रीराम शाश्वत सत्य होने से वे आणवादि समस्त मल से अन्तः बद्ध नहीं हैं अतः 'अनामय' हैं।

अज भगवन्ता : ब्रह्म ने अवयवी न होना 'अज' है।

सर्वविध अणिमादि ऐश्वर्य की स्थिरता 'भगवन्ता' से दर्शाई है। अर्थात् उत्पत्ति ,धर्म, आगति, गति, यशस्, श्रीमत्ता 'भगवन्ता' शब्द से बोध्य है।

ब्यापक : आकाश से पृथ्वी तक रहे सभी भूत व प्रकृत्यादि अहं तत्त्व से तादात्म्यापन्न होना 'ब्यापक' का अर्थ है।

अजित अनादि अनन्ता : ब्रह्म की अजेयता शक्ति सर्वापेक्षया प्रबल व अकुण्ठित होने से श्रीराम में अजितत्व असन्दिग्ध है। ध्वंसप्रतियोगी न होना 'अनन्त' है। उपर्युक्त सभी विशेषण निर्गुण व सगुण उभयविध ब्रह्म में अक्षुण्ण हैं। वही निर्गुण ब्रह्म, सगुण अवतारी मानुषरूप में अवतीर्ण श्रीराम हैं।

श्रीराम के प्रति सर्वमतैकरूपता

कतिपय मनीषियों ने श्रुत्यनुयायी हो निर्गुण ब्रह्म में स्व जीव को विलीन करने में प्रतिबन्धक माया को दूर करने हेतु वेदान्तशास्त्र का मनन किया, अन्य मनीषियों ने माया में रहते हुए उसी ब्रह्म में दिव्यगुण मानकर उसकी उपासना में मनस् को समर्पित किया। निर्गुण व दिव्य गुणोपासकों व अन्य उपासकों ने ऐतिहासिक रूप में दिव्य को लौकिक प्रत्यक्ष का विषय बनाने हेतु कठोर उपासना व साधना की। उसकी सफलता में उस निर्गुण

ब्रह्म ने लौकिक प्रत्यक्षवेद्य श्रीराम रूप में प्रकट होना, ऐतिहासिक रूप में विख्यात है। इस प्रकार श्रुतिसम्मत एकवाक्यता निर्विरोध समन्वित है।

श्रीराम अवतारी के प्रति जिज्ञासित धर्मों को ध्यान में रखकर उक्त विशेषण यहाँ अनुदित हुए हैं परिणाम में नैतिक गुणसंपन्न श्रीराम में रहे गुण सम्बन्ध के प्रति विपरीत धारणा को अवकाश न देना अज आदि विशेषणनिरूपण का प्रयोजन है।

संगति—श्रुतिविरोध में आगमसम्मत उपासना कर रावण ने वरयाचना के समय वानर व मानवेतरावध्यता की प्रार्थना करते हुए नर-वानरों को उपेक्षित किया क्योंकि दशग्रीव ने नर-वानर को प्रकृत्या वध्य समझ रखा है उसे देखकर निगमागमसम्मत मानव रूप में अवतीर्ण श्रीराम ने अपनाये संकल्पित कार्य को बिभीषणजी सुना रहे हैं।

चौपाई— *गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपा सिंधु मानुष तनुधारी॥ ३॥*
जन रंजन भंजन खलब्राता। बेद धर्म रच्छक सुनु भ्राता॥ ४॥

भावार्थ—भूमि, द्विज, गौ व देवों का हित साधने हेतु दयासागर मानुषरूप में सगुण ब्रह्म अवतरित हैं उन्होंने जनरंजन व खलदलभंजनात्मक नीति का एक प्रयोग-विशेष आद्यन्त पूर्ण करने का संकल्प लिया है। हे बन्धो! आप उनकी वेदधर्मरक्षकता को सुनें।

शास्त्रीय व्याख्या

गो द्विज धेनु देव : 'गो' से वर्णाश्रम व तदितर निगमानुबन्धि आगमसेवी जनाश्रित भूमि ज्ञातव्य है।

पूर्ण सन्तुष्ट हो अष्टादश विद्याओं की सेवा में त्यागमय जीवन बिताने वाले 'द्विज' हैं। 'द्विज' शब्द परंपरया विद्यासेवा में अधिकृत प्राणिमात्र का उपलक्षक है।

भूमि पर निवासी प्राणियों के जीवनार्थ अपेक्षित दुग्धनदीप्रवाहप्रापक प्राणी 'धेनु' से स्मर्तव्य हैं। स्वाहा, स्वधा, वषट्कार में त्यक्त हविष् पर ही जीविका करने वाले देव, अधिदेव 'देव' शब्द से संगृहीत हैं। साधारणतया चतुर्दश भुवनवासी भी उपलक्षित हैं।

हितकारी : निगमागम की प्रतिष्ठा में तत्पर प्राणियों का हित विचारणीय है। प्रकृत में 'हितकारी' से यद्यपि प्रश्नवशात् देवादि का हित ही बोध का विषय है तथापि नीतिमत के अनुसार निगमागमानुयायी सभी का हित यहाँ मननीय है।

कृपासिंधु : शिवप्रोक्त तन्त्रात्मक आगम की सहायता से तम:प्रकृति जीवों एवं निगम की सहायता से सत्वप्रकृति जीवों को स्वलोक (साकेतलोक)-वासी कराना श्रीराम का कृपासिन्धुत्व है।

अथवा—काम-क्रोधादि के माध्यम से प्राप्त तन्मयीभावसम्पन्न सर्वविध प्राणियों को स्वसान्निध्यदाता होने से श्रीराम का कृपासिन्धुत्व प्रकाशित है।

मानुष तनुधारी : प्रभुत्व समानाधिकरण पारिभाषिकमानुषत्व (शास्त्रमात्रानुयायित्व) से सम्पन्न होना 'मानुषतनुधारी' है। निगमागम की प्रतिष्ठा व निश्छल सेवा में तत्पर भारतभूवासी वर्णाश्रमोपासकों के मध्य में अवतीर्ण होना 'मानुष तनु' है। मानुषतनुप्रयोजन नैतिक धर्म के अन्तर्गत कहे वृद्धसेवारूप अनुच्छेद्य महान् धर्म को अपनाने की शिक्षा देने में है जो महातपस्वी, प्रतापी रावणवध के प्रति प्रबलतर मुख्य कारण है। यह एक ऐसा

धर्म है जो किसी के द्वारा प्रतिबध्यतया उच्छेद्य नहीं हो सकता है। यदि सेव्य वृद्ध सत्यसन्ध उपलब्ध हों तो सोने में सुहागा है। इस धर्म की परम्परा का प्रारम्भ ब्रह्मपुत्र स्वायम्भुव मनुजी से प्राप्त है। यही निगमागमसम्मत महान् धर्म है। रावण ने अन्यान्य धर्मसेवियों पर रोक लगाकर उनको हतप्रभ किया पर सत्यसंध वृद्धसेवा को वह रोक नहीं सका उसी की शिक्षा देना 'मानुष तनुधारी' का मुख्य प्रयोजन है।

जनरंजन भंजन खल : 'जनरंजन' और 'खलभंजन' से ईश्वरत्व व मानुषत्व की अर्हता समझाई है। राजनीतिमत में न्यायतः पालनकर्त्ता राजा प्रजा के लिए नयनानन्ददाता होने से वह धर्मविजयी कहा जाता है। उसके लिए खलभंजन आनुषङ्गिक कर्म है उसकी पूर्णता के विना जनरंजन असम्भव होने से 'भंजन खल' कहा है। भयप्रसक्ति, आयुक्त, चोर, शत्रु व राजवल्लभों से प्रजा उत्पीड़ित होने पर बढ़ती है उसी के अन्तर्गत रावण को श्रीराम उच्छेद्य समझ रहे हैं। वे मानुषतया ईश्वर होने से शत्र्वादि भय का विनाश करके रहेंगे।

'खल' रूप में वे राक्षस परिगृहित हैं जो अहं के प्रति अपरिवर्तनीयस्वभाव वाले हैं।

बेद धर्म रच्छक : श्रुतियाँ ही वेद हैं। वेदों का रक्षण ही श्रीराम का रक्षण है; क्योंकि वेद श्रीराम के निश्वास हैं जैसा कि बालकाण्ड में गोसाईंजी ने कहे 'जिनके सहज स्वास श्रुतिचारी'[१] से प्रगट है। नीतिपालक श्रीराम का कार्य वेद व आगमधर्मरक्षण है। 'धर्म' से यहाँ वर्णाश्रम व तदितर धर्म समझने हैं क्योंकि रावण के त्रास से आगम भी अति पीड़ित है। अथवा 'बेद' से त्रयी, इतिहास, पुराण, स्थापत्य आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व, आगम तंत्र संगृहीत हैं उन-उन विद्याओं में निरूपित विधि-निषेध, कर्त्तव्याकर्तव्य सभी 'धर्म' हैं।

यदि उपर्युक्त विद्याएँ प्रतिष्ठित होती हैं तो निगमागमसेवी जगत् सुखी व समृद्ध होता है। उस अवस्था में सबका रक्षण हुआ यह कहना युक्तिसंगत है।

भ्राता : मातृ-पितृसम्बन्ध से प्राप्त सहज स्नेह 'भ्राता' से व्यक्त है। बिभीषणजी रावण को स्वस्थ देखना चाहते हैं। वे आगमानुयायी एकार्थाभिनिवेश से दूर हो लंकाहित चाहते हैं। अतः 'भ्राता' कहा है। इस उक्ति से बिभीषणजी की विश्वास्यता जनरंजनक्षमता निर्विवाद है।

संगति—वेद-धर्म के रक्षक होने से आगमधर्म भी सुरक्षित होगा तदनुसार नीति अपनाने की प्रार्थना कर्तव्य है उसके पूर्व आगमसम्मत तत्व के शरण में जाने की प्रार्थना बिभीषणजी स्फुट कर रहे हैं।

चौपाई— ताहि बयरु तजि नाइअ माथा । प्रनतारति भंजन रघुनाथा ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्रणतार्तिविनाशक रघुनाथजी के चरणों में मस्तक झुकाते हुए उनके प्रति अपनाए शत्रुत्व को त्यागें। यही आगमसम्मत मत है।

शास्त्रीय व्याख्या

ताहि बयरु तजि : निर्गुण-सगुण ब्रह्मत्वसमानाधिकरण परम्पराप्राप्त मानुषत्ववान् श्रीराम तच्छब्दार्थ हैं। श्रीरामरूप में अवतीर्ण मानुषब्रह्म से शत्रुत्व करना 'बयरु' है। नीत्युक्त उपायविकल्प की दृष्टि से श्रीराम से शत्रुत्व कर उनको दण्ड देना प्रतिलोम है। अतः यह

---

[१] १।२०४।५

शत्रुत्व नीत्याभास है।

अपनयात्मक प्रतिलोम दण्ड को त्यागना 'तजि' है।

नाइअ माथा : 'नाइअ' से निगमागमसम्मत मानुषदेही, धर्मसेवी श्रीराम के प्रति नमन करना समझा रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि आगमसम्मत निरहंकारिता मस्तक झुकाने से प्रगट होती है किन्तु वह आगमसेवी वर्णाश्रमेतरों को मान्य नहीं है। यह स्वभाव राक्षसों में कृत्रिम न होकर जन्मसिद्ध है जो भागवत में उक्त है। अतः 'नाइअ माथा' कहकर आगमसम्मति की अज्ञातज्ञापना व्यक्त की है। यह विधान कालत्रयाबाधित कव्युक्त 'नाइअ' प्रयोग (लोट् लकार) से स्फुट है। यह बिभीषणजी की दूरदर्शिता है।

प्रनतारति : 'नाइअ माथा' का परिणाम 'प्रनतारति भंजन' होने में है। आशय यह कि 'नाइअ माथा' होते समय प्रणत होना अपेक्षित है तभी विरोधपरिहारपूर्वक आदेशपालन सम्भव है अन्यथा प्रणतार्ति हुई नहीं कही जा सकती। यह वेदोक्त तथ्य धर्मानुयायी स्वायंभुव मनु ने पिता ब्रह्माजी के सामने अपनाए ऐतिहासिक चरित्र से स्पष्ट है।

रघुनाथा : अपने सेव्य रघुनाथजी के दयालुत्वादि को याद करते हुए बिभीषणजी की 'रघुनाथा' उक्ति भूषणस्वरूप में स्मर्तव्य है।

संगति—आगमसम्मत तत्व प्रगट करने के अनन्तर तदनुबन्धितया अभ्यर्हित तात्कालिक कर्तव्य सुना रहे हैं।

चौपाई— देहु नाथ! प्रभु कहुँ बैदेही । भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥ ६॥

भावार्थ—हे नाथ! आप पहिले प्रभु को वैदेहीजी समर्पित करें अनन्तर सातत्येन अहैतुकी भक्ति श्रीराम के प्रति अपनाएँ जिसमें स्थिर स्नेह व्यक्त हो।

शास्त्रीय व्याख्या

देहु : ब्रह्मस्वरूप, भुवनपालक रघुनाथजी के सामने पहुँचकर मस्तक झुकाना भूषण है। अतः 'देहु' कह रहे हैं जो प्रार्थनापरक है।

अथवा—वैदेहीहरणप्रयुक्त चौर्यदोष की चिकित्सा वैदेहीदान है जिसे 'देहु' से व्यक्त किया है।

नाथ : भाई बिभीषण का लालन प्रीणन पूर्णरूपेण रावण ने करते रहने की सूचना 'नाथ' सम्बोधन से सूचित है।

प्रभु कहुँ बैदेही : श्रीराम अप्रधृष्य प्रभुशक्तिसम्पन्न होने से बिभीषणजी ने उन्हें 'प्रभु' कहा है।

सम्प्रदानता की सूचना 'कहुँ' से व्यक्त है।

रघुनाथनिरूपित स्वत्ववती, परैरधृष्या, पतिव्रता सीताजी 'बैदेही' से बोध्या हैं।

भजहु राम : वैदेहीदानात्मक प्रथम कर्मनिरूपण के पश्चात् द्वितीय कर्म 'भजहु' से चिन्त्य है। 'भजहु' से अभी यह समझना है कि यदि श्रीराम का भजन मनस् से अपनाया जाय तो वे आपको क्षमा का पात्र मान लेंगे अन्यथा वे पतिव्रतापहारि अपराधी को दण्डित किये विना स्वस्थ नहीं होंगे। अतः 'भजहु श्रीराम' कहना उपपन्न है। श्रीरामाज्ञापालनपूर्वक

भजन करने में प्राणिमात्र अधिकृत होने से 'भजहु' प्रार्थना करना निगमागमोभयसम्मत है।

अथवा—आगमसम्मत पूर्वकृत सुकृत के भोग की कार्यकालावधि पूर्ति होना 'भजहु' से ध्वनित है।

बिनु हेतु : सहेतुक भजन करने पर रघुनाथजी का पूर्ण सहयोग प्राप्त नहीं होगा निर्हेतुक भजन के माध्यम से प्राप्त श्रीरामसहयोग जीव को आप्तकाम-आत्माराम होने में सहायक होता है उसकी प्राप्ति एकमात्र निर्हेतुक भजन में ही है समझाने के लिए 'बिनु हेतु' कहा है।

सनेही : एकाग्रताप्रयोजक अमर्ष में किए जाने वाले चिन्तन की व्यावृत्ति 'सनेही' से ध्वनित है।

संगति—आगम के शरण में रहा रावण यदि श्रीराम के द्वारा भी अवध्य होना सोचे तो उसका उत्तर बिभीषणजी सुना रहे हैं।

चौपाई— *सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा । बिस्वद्रोह कृत अघ जेहिं लागा॥ ७॥*
जासु नाम त्रयताप नसावन । सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन॥ ८॥

भावार्थ—आप उनके शरण में जायें वे विश्वद्रोही जैसे अपराधी को भी नहीं त्यागते हैं। अर्थात् श्रीराम निगमागम के द्वारा दुरपनेय पापों से मुक्त कर उसको अपने समीप में सदा के लिए रख लेते हैं। हे रावण! जिनका नाम जप्य या स्मरणीय होने पर आधिदैविकादितापत्रय का नाशक है वे चक्षुष् व पाणि के लिए वेद्य सौभाग्य से हुए हैं। इस तत्व को आप हृदय में समझें।

शास्त्रीय व्याख्या

सरन गए प्रभु ताहु : पुन: अपराध न करने की प्रतिज्ञा के साथ श्रीरामादेश में रहने का संकल्प 'सरन गए' का भाव है। निगमागम ने जिसे प्रायश्चित्तीयता से विमुख रखने की घोषणा की उसको भी शुद्ध करने की शक्ति रखना 'प्रभु' का निष्कर्ष है।

शरणागत व्यक्ति 'ताहु' है। वह 'न त्यागा' से अन्वित है।

न त्यागा : प्रायश्चित्तानर्ह अपराधी शरणागत है तो उसकी उपेक्षा न करना 'न त्यागा' है यह निगमागमोभयपक्षद्वारा त्यक्त की अशुचिता का उत्तेजक है। अथवा प्रतिप्रसव है।

'न त्यागा' कहकर भक्ति महारानी का सर्वत उपरिबुद्धित्व व राज्ञीत्व गाया है। उपरिबुद्धित्व को ध्यान में रखकर उसके द्वारा ही शुद्धि निर्णीत होने में प्रामाण्य कहकर श्रुतियों ने गाई निगमागमसम्मति भी प्राप्त है तदर्थ ही भक्ति को सम्मुख कराने हेतु अपराधी के अपराध विशेषों को निगमागम ने उपेक्षित करना उपपन्न है। अर्थात् प्रायश्चित्तानपनोद्य पापवानों को अपने अधिकार से शुद्ध न करना निगमागम का अपना विधान है। एवंच श्रीराम ने नीचकर्मा को दुर्गति से उद्धृत करने की शक्ति 'न त्यागा' से समझनी है।

बिस्व द्रोह : 'बिस्व' से प्रकरणप्राप्तत्वात् वर्णाश्रमनिवास-भूमिस्थली विवक्षित है। प्रस्तुत में वह ही रावण के आतंक से विशेष पीड़ित है। ध्यातव्य है कि यह भारतभूमि प्रभु की शरीरस्थित उदर्याग्नि की वासस्थली है उसमें किये जाने वाले कर्मकाण्ड विच्छिन्न होने पर चतुर्दशभुवन हवनद्वारा प्राप्य अन्नरसप्राप्ति के अभाव में दुर्बल होते हैं यही विश्वद्रोह है।

अघ जेहिं लागा : विश्वद्रोहात्मक अनैतिक पाप जिनको ग्रसता है वैसे जीव 'अघ जेहिं' से विवक्षित है।

'लागा' से उक्त पाप की सर्वतोभावेन दुरपनेयता स्पष्ट है। इस प्रकार सुमति ने बिभीषणजी के माध्यम से स्वमत प्रगट कर मन्त्रशक्ति पूर्णरूपेण व्यक्त की है।

जासु नाम : पारमार्थिक व्यावहारिक व नैतिक तत्त्ववान् श्रीराम यच्छब्दार्थ हैं।

उपर्युक्त यत्पदार्थ बोधक 'रा' अक्षरोत्तर 'म' अक्षर पौर्वापर्य आनुपूर्वी है वही 'नाम' से बोध्य है। उसकी विशेषता तापत्रयनाश के प्रति तब व्यक्त होती है जब वह यथावत् जप या स्मरणाश्रित हुआ हो।

त्रय ताप नसावन : आध्यात्मिक (कामादि विकृति) भौतिक व दैविक हुताशनादि से उद्भूत उष्णता चिन्ता आदि 'त्रय ताप' है। 'नसावन' की वास्तविकता सबके अनुभव का विषय है। उदाहरणार्थ जब जीव किसी कारण से सन्तप्त होता है तब उसके मुख से सहज ही श्रीरामनाम उच्चरित होता रहता है। उससे कतिपय क्षणों के लिए सन्तप्त जीव शान्ति का अनुभव करता है।

सुचिन्त्य है कि श्रीराम के पारमार्थिक व व्यावहारिक ऐसे दो प्रकार के स्वरूप शास्त्रों में निरूपित करने हैं। उनमें से पारमार्थिक निरूपण में वैदिक नामोपासना स्थापित करना बिभीषणजी का लक्ष्य मालूम होता है। दूसरा व्यावहारिक स्वरूप में श्रीरामादृत नीति प्रभृति आगमादि समस्त विद्याओं का पारस्परिक अंगांगिभाव स्फुट होता है। यह प्रकार शब्दप्रामाण्य की पूर्ण स्थिरता में ज्ञातव्य है। ये दोनों स्वरूप तापत्रयनाशक होने से 'नसावन' कहा है।

श्रीराम ब्रह्म होने पर भी उन्होंने स्वयं समस्त विद्याओं का अनुगमन कर नीति को अंगित्वेन अपनाया और तर्कशास्त्र की दृष्टि से धर्म एवं नीति आदि विद्याओं को समन्वित करने की प्रक्रिया सिखाई तथा अर्थ-काम समृद्धि, मित्रसंपत्ति के अर्जन के अनुगमन में कलाएँ प्रकाशित की हैं जिन्हें देखकर शिवादि आचार्यों ने श्रीराम को मंगलमय समझकर उनके नाम की उपासना अपनाई परिणाम में वे भी सत्य के अनुष्ठाता, त्यागी, शोकादि विकृति से शून्य हो पूर्णानन्द में निमग्न हो कृतार्थ हो रहे हैं। इस प्रकार नामोपासना को स्थिर बनाने हेतु श्रीरामचरितमानस की सार्थकता प्रगट है।

यद्यपि यह पौर्वापर्य चरित्र की दृष्टि से गाया पर इसका पारस्परिक सम्बन्ध योगपरक न होकर क्षेमरूप में ही मननीय है।

सो प्रभु : 'सो' से सोऽयं इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा के बोधक आगम शास्त्र से अभिमत- रूप में उपस्थित अर्थ ज्ञेय है। फलतः 'अयमुपस्थितः वर्तमानः समुद्रपारवासी रघुनाथः भक्ति-सिद्धान्ताभिमतश्रीरामादभिन्नो न वा' इत्यादि सन्देह निरस्त करना 'सो प्रभु' से व्यक्त हो रहा है।

प्रगट : 'प्रगट' से आगमोपास्य और प्रत्यक्षवेद्य का अभेद समझाया है।

इस प्रकार गोस्वामीजी ने विद्या, देवता समेत अखण्ड आनन्दमय सगुण ब्रह्म की उपासना के प्रति निगमागमसम्मति अपनी ओर से सुनाकर सुन्दरकाण्ड का सौन्दर्य स्थापित

किया। इसमें शिवचरित्रात्मक लक्षणभक्तिग्रन्थ में पार्वतीजी के द्वारा उपस्थापित प्रश्न के उत्तर की एक और कड़ी जुड़ गई है।

समुझु जिय रावन : कतिपय अंश बिभीषणजी ने उपदेश से स्मृत कराना एवं कतिपय अंश प्रत्यक्ष से दर्शाना 'समुझु' है।

अथवा-उपरिनिर्दिष्ट प्रत्यभिज्ञा को ध्यान में न लाकर सीताहरणादि कार्य आपने सम्पन्न किये। अब समय रहते आपको प्रत्यभिज्ञात करना 'समुझु' है।

उपदेश्य रावण के हृदय में प्रत्यभिज्ञा होने की योग्यता 'रावन' सम्बोधनाभिप्रेत है जो सुषुप्त-सी हो गई है।

संगति—अधिकारविधि के अन्तर्गत प्रयोगविधि को निर्दुष्ट रूप में बताकर पुनः नियमविधि निरूपित कर रहे हैं।

दोहा— बार बार पद लागउँ बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस॥ ३९ (क)॥
मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई यह बात।
तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसरु तात॥ ३९ (ख)॥

भावार्थ—बिभीषणजी पुनः-पुनः पैर पकड़कर विनयपूर्वक कह रहे हैं कि हे दसशिरस! आप मान, मोह, मद त्याग कर कोसलाधीश श्रीराम को भजें। मुनि पुलस्त्यजी ने शिष्यों के द्वारा यह सन्देशरूप में मुझे सुनाया जिसे मैंने तत्काल सुअवसर देखकर आपको सुनाया है।

शास्त्रीय व्याख्या

बार बार : अग्रज रावण ने अपने तपस् से ब्रह्माजी को देखकर उनसे अपने को सुरक्षित किया उसी सम्भावना में स्थित मान, मोह, मद से आक्रान्त दशग्रीव को देखकर उन दोषों को न अपनाने की प्रार्थना का पौनःपुन्य करना 'बार बार' से स्फुट है।

अथवा—आगमाभिमत श्रुतिसम्मत कार्य के प्रति दृढ़ता हेतु स्वयं ने बल देना अनुचित है। अतः रावण को प्रमादादि के घेराव से निवृत्त कराने हेतु, मर्यादा में स्थित आत्मीय, सहज बन्धु बिभीषणजी ने प्रार्थना का पौनःपुन्य करना 'बार बार' है।

पद लागउँ : पैर पकड़ते ही रावण ने बिभीषणजी के सुझाव को मानना पूर्व इतिहास से प्रसिद्ध है। उसी अनुभव में रहे बिभीषणजी ने अपनाया उपाय 'पद लागउँ' है।

बिनय करउँ दससीस : 'बिनय' को बिभीषणजी ने पैर पकड़कर प्रगट किया। 'करउँ' से नम्रतापूर्वक यही समझाया कि धर्मविजयी, भुवनपति से असफल विग्रह करना नीत्याभास होगा।

बिभीषणोक्ति एक बार ही प्रगट हुई उसको दश गुणित संख्या द्वारा सभी मस्तिष्क में पहुँचाना 'दससीस' का भाव है।

परिहरि : मदसंपुष्ट रावण को देखकर उसके प्रति असन्तुष्टा हो आगम विद्या उसकी ओर से विमुखा हो गई। एकवाक्यतासम्पन्न श्रुत्यनुगामी श्रीराम की ओर आगम का झुकाव हो गया। इस अभिप्राय को बिभीषणजी ने सूक्ष्मेक्षिकतया समझा है उसके प्रति पुलस्त्योपदेश

का आनुगुण्य समझकर अति आतुर हो उन्होंने रावण से दोषों के प्रति 'परिहरि' कहा है।

मान मोह मद : शौर्यादिनिमित्तक हर्ष 'मद' से बोध्य है। अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझना 'मोह' है। अवनतिसाध्ये उन्नतमनस्कता 'मान' है। मानादि का परित्याग पहिले मतिप्राप्तिप्रयोजकतया कहा अभी कुमतिप्राप्तदोषप्रयुक्ततया कामादिपरित्याग कहा है इससे पुनरुक्ति व्यावृत्त है।

भजहु कोसलाधीस : वस्तुतत्त्व को प्राप्त कराने वा[illegible]द्या के सेवी बिभीषणजी का 'भजहु' कहना परंपराप्राप्त आदेशपरक है जो निगमागमात्म[illegible]ण पुलस्त्यसन्देशाभिन्न है।

कौसल्याजी को मारने की चेष्टा में असफलता स्मृत [illegible]ने के लिए 'कोसलाधीस' कहा है।

मुनि पुलस्ति : बिभीषणोक्त उपदिष्ट तथ्य प्रमेय हैं क्योंकि उसमें प्रमाणसिद्धता जिस शब्द से सिद्ध है उसके उच्चारयिता 'मुनि पुलस्ति' है उनमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा व करणापाटव नहीं है। पुलस्त्य मुनि निगमागमसम्मत तत्व के ज्ञाता, निगमागम विद्या के समन्वय की कला में निपुण, योगीश्वर, प्रजापति, ब्रह्मपुत्र हैं।

निज शिष्य सन : शिष्य के द्वारा सन्देश पहुँचाने के पीछे पौत्र के प्रति वात्सल्य व बिभीषणजी में कामादि का अभाव समझना है।

कहि : वत्सल मुनि ने निगमागमसेवी, आदेशपालक बिभीषणजी के लिए रहस्यात्मक सन्देश सुनाना 'कहि' है। सन्देश सुनाने में पुलस्त्य मुनि ने अपने को रावण के द्वारा अपमानित होने के परिणाम में ब्रह्मदण्ड से बचाकर उसको दुर्गति से बचाना है।

पठई यह बात : निगमागमसम्मत वास्तविक तथ्य सुनाकर मुनि पुलस्त्यजी ने अपनी वत्सलता प्रगट करते हुए अपने को वाच्यता (निन्द्यता) से बचाना 'पठई' है।

'बात' से उक्त उपदेश ज्ञातव्य है जो आगम-निगमोभयसम्मत आदेशात्मक है।

तुरत सो मैं : लंका पर आक्रमण होने के पूर्व यथाशीघ्र सूचित करने में अपेक्षित विलम्ब से अतिरिक्तविलम्बाभाव 'तुरत' से चिन्त्य है।

प्रभु सन कही : किंसखत्वशून्य हो मैंने जो कहा उसे आप भी किंप्रभुत्वशून्य हो समझें यह भाव 'प्रभु सन' का है।

'कही' से बिभीषणजी में छलाभाव समझना है।

सुअवसरु : निराकांक्षता रखते हुए सुनाए वचन उन्मत्तवचन के समान उपेक्ष्य होते हैं। वैसी स्थिति अभी न होना 'सुअवसरु' से ध्वनित है।

अथवा—अभी समय रहते मन्त्रबीजवपन करने में देशकालानुकूल्य होना 'सुअवसर' है। अतः बिभीषणवाणी की शोभनीयता आप्त मन्त्री के द्वारा आगे प्रशंसनीय होगी।

इस प्रकार रावणकृत प्रश्न के उत्तर में बिभीषणजी ने सुनाये आदेश व उपदेश की मंत्रणा पूर्णतया निरूपित करने के साथ सुमति ने पूर्वपक्ष पूर्ण किया।

संगति—बिभीषणजी की अवसरकथित वाणी सुनकर अत्यन्त संतुष्ट हुए महासचिव माल्यवान्जी के अभिमत का उपक्रम शिवजी सुना रहे हैं। उसका प्रयोजन दूरस्थ या समीपस्थ विद्यावृद्ध विद्वान् मंत्रियों की एकवाक्यता प्रगट कर मंत्र की उत्तमता व्यक्त की है।

चौपाई—माल्यवन्त अति सचिव सयाना । तासु बचन सुनि अति सुख माना ॥ १ ॥

भावार्थ—सूक्ष्म मन्त्रज्ञ महान् सचिव माल्यवान्‌जी बिभीषणोक्त वचन सुनकर अति सन्तुष्ट हुए।

शास्त्रीय व्याख्या

माल्यवन्त : सर्वोपधाशुद्ध उत्तरमन्त्रिपरिषत्सदस्य विद्वान् माल्यवान्‌जी 'माल्यवन्त' शब्द से बोध्य हैं।

अति सचिव सयाना : हनुमद्द्वारा रावण को सुनाए उपदेश और लंकादाह से आगमानुमित विमुखता के प्रति पूर्ण विश्वास तथा अप्रमाण्यशंका को सर्वथा अवकाश न देना 'अति' का निष्कर्ष है।

प्रमाणत्रयप्रमित के ज्ञाता, नैतिक कार्य के वक्ता-प्रयोक्ता, राजनीति के विशेषज्ञ, लक्ष्यलक्षणोभयज्ञ, विद्यांओं के बलाबल को समझकर उसके अनुष्ठाता व निगमागम के प्रतिष्ठाता माल्यवान्‌जी 'सचिव सयाना' से बोध्य हैं।

तासु बचन सुनि : अवसरोचित प्रमाणत्रयनिर्णीतार्थ सम्बन्धी सारभूत वचन 'तासु बचन' है।

रावण के प्रश्न का उत्तर सुनाने वाले बिभीषणजी तच्छब्दार्थ हैं।

कर्णप्रिय होने के साथ-साथ वक्ता के तात्पर्यविषय अर्थ को निस्सन्देह रूप में समझना 'सुनि' है।

अति सुख माना : निगमागम की स्थापना में बिभीषणजी का योगदान व उनकी सात्विकता, राज्य की अविभज्यता, भ्रमप्रमादादिदोषरहितता शरीर, मनस् एवं वचन की एकरूपता प्रगट होने से माल्यवान्‌जी का बिभीषणजी पर विश्वास होना 'अति सुख' है।

बिभीषणजी को प्राप्त विद्याशमसुख माल्यवान्‌जी के विद्याशमसुख सम होना 'माना' है।

संगति—विद्याशमसुखातिशयितता में रहे माल्यवान्‌जी बिभीषणप्रोक्त नीति को कार्यान्वित करने हेतु रावण से आग्रह कर रहे हैं।

चौपाई—तात! अनुज तव नीति बिभूषन । सो उर धरहु जो कहत बिभीषन ॥ २ ॥

भावार्थ—हे तात! नीतिभूषणभूषित बिभीषणजी ने जो नीति सुनाई है उसे आप कार्यान्वित करें।

शास्त्रीय व्याख्या

तात! अनुज : लंकापुरी का रक्षण, भरण, पोषण जैसा आप करते रहे हैं वही कार्य प्रीतिपूर्वक बिभीषणोक्ति के अनुसार करते रहने का संकेत 'तात' सम्बोधन से ध्वनित है।

परिवार के रूप में नीतिभूषणयुक्त अनुज की सहजमित्र मौल के रूप में उपलब्धि होना राजा का अति उत्तम भाग्य है।

नीति बिभूषन : शक्ति-देशकाल के संयोग में प्रमाणत्रय के आधार पर साधनोपायभूत षाड्गुण्य में कुशलता 'नीति बिभूषन' से स्फुट है।

अथवा—आपके मौल संघ की अनुच्छेद्यता असन्दिग्ध है। किन्तु अभी सीताहरण से लंकाराजपरिवार में मौल संघ की अनुच्छेद्यता दृष्टिपथ में नहीं आ रही है। आपका भाग्य

अत्युत्तम है कि भाई के द्वारा नीति का शाश्वतीत्व पुन: समझाया जा रहा है जो शुक्राचार्यजी को भी मान्य है। राजनीतिपरामर्शार्थ ही विद्वान्, कुलीन, शूर, त्यागी मन्त्रिपद पर आसीन किये जाते हैं, उन्हीं के अन्तर्गत बिभीषणजी ने होना 'नीति बिभूषण' है।

उर धरहु : मन्त्रबीज को अविस्मरणीय करना 'उर धरहु' है। यह प्रयोगविधि है जो वर्तमान में देशकालानुकूल है।

जो कहत बिभीषन : श्रीराम का भगवत्त्व (पुलस्त्य महर्षि के वचन व खरदूषण-वध से स्पष्ट) और पूर्वपरिभाषित मानुषत्व नारिविरह से प्रकाश में आ चुका है उनके प्रति अपनानेयोग्य कर्तव्य 'जो' से विवक्षित हैं।

इदं इत्थं ऐसा दृढ़ निर्णय सुनाना 'कहत' है।

मन्त्र्यन्तर की व्यावृत्ति बिभीषणोक्ति से स्फुट है। इस प्रकार एकवाक्यता में विद्वान् माल्यवान् का मन्त्र (प्रयोगविधि) पूर्ण है।

संगति—प्रयोगविधि का कार्यान्वयन होना स्वाम्यधीन है। अत: रावण का अभिप्राय कवि प्रगट कर रहे हैं।

चौपाई— *रिपु उत्करष कहत सठ दोऊ । दूरि न करहु इहाँ हइ न कोऊ ?॥ ३ ॥*

भावार्थ—मन्त्री बिभीषण व माल्यवान्जी दोनों शठ मालूम होते हैं। ये केवल शत्रु का उत्कर्ष सुना रहे हैं। कोई उनको दूर क्यों नहीं करता?

शास्त्रीय व्याख्या

रिपु उत्करष : शत्रु की प्रभावोत्साह-मन्त्रशक्ति का उपचय कहना 'रिपु उत्करष' है। अर्थात् मुझको शत्रु के अपेक्षया अपकृष्ट कहना उत्कर्ष से बोध्य है।

श्रुतिमात्र को प्रबलतर प्रमाण मानकर मेरी सेव्य आगम विद्या को श्रुति के साथ एकवाक्यतापन्न करना आगम को अपकृष्ट करना है वर्णाश्रमेतरों के लिए अत्युत्कृष्टतया एकमात्र आगमविद्या उपस्थित है उसका अपकर्ष 'रिपु उत्करष' से ध्वनित है।

रावण के निर्णय में आभास

आगम ने अनुष्ठित विधिपूर्णता देखकर ही रावण को वरव्याज से लोक-दिक्पाल विजेता बनाया उसमें कोई बाधा नहीं है; क्योंकि रावणवध मानुषजातिमदतिरिक्त मानुष रूप में अवतीर्ण श्रीराम से होगा इसलिए कि उनमें त्रिदेवसाक्षित्व व पारिभाषिक मानुषत्व है। आगम व श्रुति उभयविध की दृष्टि में श्रीराम सेव्य हैं अत: श्रीराम का सेव्यत्व स्वीकार करना आगम का अपमान नहीं है। इस रीति से आगम को श्रुति के साथ एकवाक्यता करने में संकोच नहीं है, न तो बिभीषणजी के मत में आगम का अपकर्ष व श्रुति का उत्कर्ष ही है। यदि बिभीषणोक्ति प्रयोगाविधि कार्यान्वित किया जाय तो आगम के प्रति रावण की कृतघ्नता न होकर आदर ही प्रगट होगा। अन्यथा रावणकृत निर्णय दुष्ट होने से आभास होगा।

सठ दोऊ : 'रिपु उत्करष' शीर्षकसूचित विचार से रावण बिभीषणजी व माल्यवान्जी को 'सठ' मानता है।

अथवा—आजीवन स्वपक्ष का अभिमान प्रकट कर समय पर स्वपक्ष के त्यक्ता व परपक्ष की स्तुतिकर्ता 'सठ' है।

दूरि : आगमविद्या को संकुचित कर उसकी सार्वभौमता को विनष्ट करने वाले दोनों मन्त्रियों को दूर करने का विधान नीतिमत में उचित है, सोचकर बिभीषणजी एवं माल्यवान्जी को दूर रखने के विचार से 'दूरि' कहा है।

न करहु : 'न करहु' प्रश्नवाचक है इसलिए कि हनुमान्जी के पराक्रम को याद कर सभी राक्षस कर्मचारी भीत होने से किसी को माल्यवान्जी व बिभीषणजी को दूर करने का साहस नहीं हो रहा है।

ज्ञातव्य है कि माल्यवान्जी व बिभीषणजी दोनों श्रीराम का उत्कर्ष राजा को सुना रहे हैं अर्थात् जिसके दूत का पराक्रम इतना प्रबल है उस स्वामी का पराक्रम कैसा होगा, कहा नहीं जा सकता। 'तेहि आहे पुर कवन भलाई' इस चिन्ता में घिरे सभी कर्मचारियों का काष्ठवत् हो यथास्थान से न उठना देखकर प्रश्न करना ठीक है जो कि एक प्रकार से रावण का पराजय है।

हइ कोऊ : प्रकृत प्रश्न के उत्तर में इतर सदस्यों का बाध होने से पारिशेष्यात् दण्डप्रणेता के रूप में रावण अवशिष्ट है उससे दण्ड्य माल्यवान्जी व बिभीषणजी ही हैं उनमें से माल्यवान्जी स्वयं दूर होंगे, बिभीषणजी को रावण दूर करेगा।

मन्दोदरीजी व बिभीषणजी को वश करने के उपायों में वैचित्र्य

अपने पुत्र, पति आदि में निरतिशय पराक्रम देखकर भी परपराक्रम चक्षुर्गोचर होने पर अबला स्त्री स्वभाव से भीता होती है इस अभिप्राय से मन्दोदरी संवाद में रावण ने मन्दोदरी पर सामप्रयोग प्रयुक्त किया है। भाई बुद्धिमान् विवेकी मन्त्री होने पर भी अभी वह शत्रुपक्ष का पक्षपाती है उसको दण्डित कर अपने दोष को त्यक्त करने का अवसर देने व स्ववश करने हेतु रावण ने बिभीषणजी पर दण्डप्रयोग का विचार किया ऐसा मालूम होता है।

संगति—रावणोक्ति का उत्तर माल्यवान्जी ने अनुष्ठानतः दिया तदनन्तर प्रतापभानु के गुरु (बिभीषणजी के रूप में सुमति) जन्मान्तरोद्भूतसंस्कारोद्बोध में आकर प्रतापभानु (रावण) के मनोरथपूर्त्यर्थ गूढ रहस्य को सुनाने का उपक्रम कर रहे हैं।

चौपाई— माल्यवन्त गृह गयउ बहोरी । कहइ बिभीषनु पुनि कर जोरी ॥ ४ ॥

भावार्थ—रावण के बोलने पर माल्यवान्जी घर चले गए। बिभीषणजी ने हाथ जोड़कर पुनः कहना प्रारम्भ किया।

शास्त्रीय व्याख्या

माल्यवन्त : बिभीषणजी की प्रेरणा सुनकर, रावण क्रोध में हम दोनों को दूर कर रहा है जो लंकादुर्गध्वंस का कारण होगा। ऐसा सोचकर सभात्यागकर्त्ता नीतिकुशल सन्त माल्यवान्जी 'माल्यवन्त' शब्द से चिन्तनीय हैं।

ज्ञातव्य है कि राजा या गृहस्थ अथवा कोई भी स्वनाशासन्न स्थिति के अवसर पर प्रथमतः मूलभूत प्रमाणों (आगम, निगम, पुराण इत्यादि सद्ग्रन्थ) को अप्रमाणित करते हैं। जो आयुष्मानों के लिये दुर्गरूप में गाए गए हैं। पश्चात् वे शिष्ट, सन्त, विद्वानों को दूर करने की चेष्टा में रत रहते हैं यही उनके आसन्न पतन के आरम्भ का समय है।

गृह गयउ : श्रुत्येकवाक्यातपत्र आगम का अपमान न सहनकर माल्यवान्‌जी ने घर पर जाना 'गृह गयउ' से स्पष्ट है।

बहोरी : तूष्णींभाव में रावण को उपेक्षित कर माल्यवान्‌जी ने मित्रत्याग करना 'बहोरी' का भाव है।

विचार्य है कि रावण आगमात्मक दुर्गवासी हो अपने को अवध्य मान कर यह सोच रहा है कि वृद्ध माल्यवान्‌जी मुझे आगम विद्या के प्रति अप्रामाण्य बुद्धि का उदय कराने में कृतसंकल्प हैं यदि वैसा हुआ तो मैं साकेतवासी नहीं होऊँगा, इस विचार से रावण ने माल्यवान्‌जी के चले जाने की उपेक्षा कर दी।

कहइ : वक्ष्यमाण वचन 'कहइ' से बोध्य हैं। उनके अन्तर्गत कही नीति यहाँ स्मर्तव्य है। फलतः प्रमाणपरतन्त्रता प्रमाणत्रय निर्णीत अनुष्ठान में ही रहती है तो परिणाम में वह अनुष्ठित नीति त्रिकालाबाधित हो विपत्ति निदानत्व (उपादान कारण) शक्ति के अधिकरणत्व का अनधिकरण होती है यह नीति की अक्षुण्णता का बोधक आन्वीक्षिकीकौशल वक्ष्यमाण बिभीषणजी के वचन में निहित हैं।

बिभीषनु पुनि : मौल के अन्तर्गत बिभीषणजी आभ्यन्तर सम्बन्ध से आबद्ध होने से लंकाधिपति भाई रावण के दुःख में दुःखी व सुख में सुखी होते आ रहे हैं। जन्मान्तर में ये ही राजा प्रतापभानु के गुरु रहे वही वत्सलता अभी भी उनमें अक्षुण्ण बनी है। उसी संस्कार से बिभीषणजी अपमानित होने पर भी रावण से दूर रहना इष्ट नहीं मानते यही 'पुनि' का सार है।

कर जोरी : निगम के एकवाक्य में रहकर आगम का संकोच नहीं किंबहुना उसकी प्रमाणता की पुष्टि है ऐसा सोचकर मौल बिभीषणजी ने स्नेह से समझाने हेतु स्नेह करना 'कर जोरी' का गूढ़ रहस्य है। जो सुमति की व्याख्या में आगे मननीय है।

संगति—रावण को अजर-अमर होने का योग यथावत् अब तक प्राप्त नहीं हुआ था अतः बिभीषणजी (सुमति) भी स्वस्थ थे। अभी उसकी प्राप्ति का अवसर देखकर तदनुबन्धितया अपेक्षित तत्व, कार्य-कारणभावसम्बद्धमतिसंपृक्त सत्तर्क रावण को सुना रहे हैं।

अथवा—प्रमाणप्रमित नैतिक कल्प की अवहेलना व आदर के प्रयोजकतत्तन्मतिभेद व उसके सुपरिणाम एवं कुपरिणाम सुना रहे हैं।

चौपाई— सुमति कुमति सब के उर रहहीं । नाथ! पुरान निगम अस कहहीं ॥ ५ ॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना । जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥ ६ ॥

भावार्थ—पुराण तथा निगम ने सबके हृदय में सुमति व कुमति का निवास कहा है। जब सुमति उदित होती है तब संपत्ति नानाविधरीतिक (दिव्य, भौम, आन्तरिक्ष भेद के माध्यम) से स्वतः आती है यदि कुमति उदित होती है तो वह विपत्ति का मूल (उपादान) कारण बनती है।

शास्त्रीय व्याख्या

सुमति : 'सुमति' से ईश्समवेतज्ञानप्रभा की प्राप्ति समझनी होगी। यह प्रभा राज्य-

क्षेम व योगसम्बन्धिनी है वह प्रभात्मक मति 'सु' है अन्यप्रभा 'मति' मात्र है।

मतिरूप ज्ञानप्रभा में प्रमाणत्रय का वास्तविक सम्बन्ध बना रहा तो उस मति के विषय में यथार्थतत्व निर्णीत है वही नीति दृष्टि में हितावह हो सुमति है। शेष विचार 'कहहीं' शीर्षक में आगे द्रष्टव्य है।

कुमति : 'कुमति' प्रमाणत्रयज न होकर दोषज भ्रान्तिपरक है उसी में अनध्यवसाय अन्तर्भूत है। कुमति के परिचायक कामज आदि व्यसन हैं। उस स्थिति में बुद्धि कार्य करने में अन्यथासिद्धत्व व अनियतपूर्ववृत्तित्व का परिच्छेद नहीं कर पाती है। परिणाम में अंगवैकल्य, निष्फल क्लेश, विपत्ति, अपरिहार्य अन्तस्ताप आदि भोगने होते हैं।

सबके उर रहहीं : 'सुमति कुमति' का उल्लेख करने के अनन्तर 'सब' कहने से ईश्वर की व्यावृत्ति ज्ञेय हैं, वह 'सुमति' व 'कुमति' दोनों से अन्वित है।

सुमति व कुमति के उरोवास से उत्तरजन्म में प्रत्यभिज्ञाप्रयोजकतया मतिजसंस्कारोद्‌बोध चिन्तनीय हैं।

निष्कर्ष यह कि बुद्धि द्विक्षणास्थायी होने से 'सुमति' शब्द से जन्मान्तरीय शुद्ध ज्ञानज संस्कारोद्‌बोध एवं 'कुमति' से विपरीत संस्कारोद्‌बोध चिन्त्य हैं। फलतः उत्तर जन्म में वे संस्कार स्व-स्व विषय को प्रत्यक्षवत् प्रत्यभिज्ञात कराते हैं। जैसा कि 'भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि'[१] उक्ति से प्रमाणित है। अतः जन्मान्तर में अनुभूत विषय से सुमति व कुमति दोनों प्रकार के संस्कार प्राणियों के हृदय में रहने से 'सबके उर रहहीं' कहा है।

ध्यातव्य है कि यदि शिष्य बाल्यावस्था में ही विनीत हो गुरुभक्ति आदि के प्रति मनस्तुष्टिपूर्वक विद्या प्राप्त करता है तो सुमति से विपरीत संस्कार उद्‌बुद्ध हो नीति को प्रकाशित करते हैं अन्यथा कुमति संस्कारोद्‌बोध होने पर वृद्धापमानसहचरित विषयवासना में फँसकर शिष्य विपत्ति को निमन्त्रण देता है। यदि पढ़कर भी शिष्य कुमति ही उद्‌बुद्ध होती है तो वहाँ बलवत्तर दुर्भाग्य ही मानना होगा।

पुरान निगम : आगमसेवी होकर भी उसकी वास्तविक स्थिति को न समझकर जन्मान्तरीय संस्कारों से निगम को गिराने का प्रयत्न रावण के द्वारा प्रस्तुत करने से बिभीषणजी ने आगम न कहकर 'पुरान निगम' कहा है।

अस कहहीं : 'अस कहहीं' 'जहाँ' आदि दूसरी चौपाई में अन्वित है।

जहाँ : 'जहाँ' शब्द सुमति एवं कुमति के साथ रहे व्यापक के निर्देशार्थ व्याप्य का बोधक है। एवंच 'यत्र यत्र कारणात्मिका सुमतिः' इस प्रकार का निर्देश व्याप्य रूप में निर्दिष्ट है।

सुमति : स्थायी योगक्षेमकर, अर्थ का प्रकाश होना 'सुमति' का निष्कर्ष है। यह निर्देश पुराण एवं निगमोक्त होने से अपरिच्छद मोह का निरास करने में चिन्त्य है। इसकी व्याप्यता व्यापक (संपति नाना) निर्देश होने पर समझनी होगी।

संपत्ति नाना : संपत्ति से अत्यर्थ समृद्धि समझनी है। यह व्यापक है। अर्थात् सुमति है तो समृद्ध संपत्ति का रहना अर्थसिद्ध है। इस व्याप्ति को समझने के बाद बुद्धिमानों ने

---

[१] अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक ५।२

सम्पत्ति को लक्ष्य से दूर रखकर व्याप्य सुमति की ओर ध्यान देना चाहिए; क्योंकि व्यापकत्वात् सम्पत्ति की प्राप्ति निर्णीत है। अतः सम्पत्ति के अनुसन्धान में सुमति से दूर हटकर कुमति को अपनाना अनर्थ है। सुमति के प्रदर्शनार्थ ही शास्त्र की उपयुक्तता है यतः शास्त्र के विना सुमति सबको परिचित नहीं होती। कहने का आशय यह कि 'संपत्ति नाना' प्राप्ति के लिए शास्त्रसम्मत आचरण अपनाना होगा।

बिभीषणजी की सुमति देखकर ही उनके समीप में संपत्ति का आना भी व्याप्य के निर्णय में उदाहरण है। एवंच बिभीषण के सुमतिप्रभाव से लंका में समृद्धि टिकी है इसी को आगे शिवजी स्वयं स्पष्ट करेंगे।

उक्त व्याप्ति के अन्तर्गत व्याप्यरूप सुमति से आयुर्वेदादि शास्त्रप्रसूत सुमति भी ग्राह्य है उसी प्रकार संपत्तिरूप व्यापक निर्देश से आयुष्यादि सभी मननीय हैं।

'नाना' से 'दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितं'[१] वचन से सुमति मूलक सम्पत्तिप्राप्ति का मार्ग दर्शाया है।

जहाँ कुमति : सुमतिनिर्दिष्ट व्याप्तिविरुद्ध व्याप्ति 'जहँ कुमति' से दर्शाना लक्ष्य है। उसके अन्तर्गत व्याप्य का निर्देश 'जहाँ कुमति' से स्फुट है।

बिपति निदाना : 'बिपति' से तत्तच्छास्त्रोक्त उद्देश्य को न पाना बोध्य है।

'निदाना' से तत्तदुद्देश्य से वंचित होने में प्रधान कारण (उपादान) निर्दिष्ट है। किंवा कुमति निरस्त नहीं होगी तो संपत्ति प्राप्त होने पर भी उनसे स्वाभीप्सित उद्देश्यों का न पाना भी नियत है। अर्थात् कुमति सहचरित संपत्ति से क्षेम होना नहीं है न तो योग ही स्थायी बनना है। इस प्रकार पुरुषार्थविनाश सोचकर सुमति को समझाने के लिए कौटिल्य ने 'शास्त्रार्थानुष्ठानमिन्द्रियजयः' कहा है।

ज्ञातव्य है कि गोसाईंजी ने सुमति रूप कारण में संपत्ति रूप कार्य की व्याप्ति प्रगट कर कारण से कार्य का अनुमान समझाते हुए तर्ककुशलता प्रगट की है। आशय यह कि सुमति ही एकमात्र ऐसा कारण है जिसके रहने पर संपत्ति की प्राप्ति होनी ही है। इस प्रभाव में रहने वाले निगमागमसेवियों को समय-समय पर संपत्ति प्राप्त होती रहती है उनको संपत्ति का दौर्लभ्य भासित नहीं होता। यही युक्ति कुमति व विपत्ति के प्रति समझनी है।

दूसरा तथ्य यह कि अजर अमर होने की अर्हता जब तक अपने को प्राप्त नहीं है तब तक जीवों ने सुमति को अपनाना नीति व भक्ति को अभिमत है। उस अवस्था में यही उत्तर पक्ष है उसके विरोध में रही कुमति पूर्वपक्ष होने से दूषित है। इन्हीं का विवेचन बिभीषणजी ने करना नीति में उचित है।

संगति— रावणचरित्र विपत्तिबीजभूत कुमति कारण से प्रसूत होना समझा रहे हैं।

अथवा—जगदनित्यत्ववादी सिद्धान्त की पुनः स्थापना का संकेत स्फुट करने हेतु बिभीषणजी प्रथमतः कुमति का सिद्धान्त सुना रहे हैं।

चौपाई— तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता॥ ७॥

भावार्थ—हे राजन्! आपके हृदय में कुमति का वास हुआ है वही आपको हित

---

[१] श्रीमद्भागवत ७।१४।७

के प्रति अनहितभाव व शत्रु रूप में रहे कामादि को हित रूप में समझा रही है। इससे जगदनित्यत्ववादि मत सिद्ध होना समझाकर श्रीराम की प्रसन्नता व्यक्त हो रही हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

तव उर कुमति : अवनतिसाध्ये उन्नतत्वाभिमानी रावण युष्मच्छब्दार्थ है।

पूर्व चौपाइयों में 'उर कुमति' व्याख्यात है।

बिपरीता : कुमति का व्याख्यान विपरीतार्थपरक है उसका स्पष्टीकरण तदभाववति तत्प्रकारक है अर्थात् सीप को रजत समझने के समान हित को अनहित समझना 'बिपरीता' है। कुमति का परिणाम व्यसनोत्पत्ति व विपत्ति है।

हित : नीतिदर्शन में 'हित' से योगक्षेम व तत्साधन ज्ञातव्य हैं। हित के उपदेष्टा सुहृद् भी 'हित' से बोध्य हैं। जैसे माल्यवान्जी, बिभीषणजी आदि; क्योंकि उनका आचरण निगमागम पुराणसम्मति से बाहर नहीं है।

अनहित मानहु : हित के साथ अनहित का तादात्म्य ग्रन्थकार ने समझाया है। जो शास्त्रीय भाषा में 'बाधायां सामानाधिकरण्य' से संकेतित है। यत: हित व अहित दोनों तथ्य विरोधी होने से तादात्म्यापन्न नहीं हैं तथापि तादात्म्यतया कहना बाधायां से सुचिन्त्य है। ऐसा तादात्म्य साहित्य शास्त्र में तब मान्य है जब उसके द्वारा कोई अर्थविशेष यथार्थतया व्यंजनया बोधनीय होता है। पर नीतिशास्त्र में आपातत: भी व्यंजना अमान्य होने से दोनों विरुद्धों का तादात्म्य बताना दोषावह है। तथापि यहाँ अयथार्थ निरूपणीय होने से बाधायां हिताहिततादात्म्य कहना गुण ही है।

हित को अहित समझने में अन+हित उक्त है। इसी प्रकार अहित को हित समझना भी 'मानहु' से स्मर्तव्य है।

अथवा—कुमति का पक्ष भी क्वचित् बलवान् हो सुमति को दूषित करता है। यह तभी होगा जब सुमति 'यज्जन्य तदनित्यं' इस वेदान्तसिद्ध व्याप्ति को व्यभिचरित करने हेतु अग्रसर हो उसके पोषण में सुमति बिभीषणजी के रूप में कुमति व उसके सहायक कामादि को त्याज्यत्वेन सुना रही है वही उसका अपना पूर्वपक्ष है। यहाँ नीतिपक्ष से हित को अहित समझना कहा है वही पूर्वपक्षाभिमत हेतुघटक एकदेशवाक्य है।

'बिपरीता' शब्द हेतुवाक्य है। यद्यपि वह नीति में हेत्वाभास नहीं है तथापि तर्कोपबृंहित जगदनित्यत्व का विरोधी होने से भक्ति महारानी को भी इष्ट नहीं है अत: हेत्वाभास है उसकी उपपत्ति आगे स्फुट होगी।

कुमति रहने में नीति का अपचार होना निसर्गतया प्राप्त है जहाँ प्रमाण नहीं वहाँ प्रमा उदित होकर ही रहेगी ऐसा नहीं कहा जा सकता फलत: भ्रान्तियाँ भी परिणाम में अंकुरित होती हैं। भ्रमविषयवस्तु साक्षिभास्य ही है वृत्तिभास्य नहीं होती। वृत्यभास्य तत्व मायिक होने से वहाँ त्रिकालाबाधितत्व न होना ही अविद्या है वही कुमति है।

पूर्वपक्ष का भाव यह कि अभी कुमति त्यागकर सुमति अपनाई जाय तो रावण इसी जन्म में अजर अमर हो सकता है क्योंकि उसका योग आसन्न है। इसलिए कि वह पारिभाषिक (ईश्वरत्व समानाधिकरण शास्त्राज्ञापालकत्ववन्मानुषत्व) मनुष्य से अतिरिक्त

के द्वारा अवध्य है अभी यदि श्रीराम को सीताजी समर्पित होती हैं तो वे रावणवध नहीं करेंगे। इस प्रकार रावण की अवध्यता ठहरती है। फलतः बालकाण्ड की १६४ दोहे की उक्ति चरितार्थ होकर रहेगी।

परन्तु उक्त जगन्मिथ्यात्वविरोध होने से तत्काल में सुमति का मत पूर्वपक्ष है।

रिपु प्रीता : रावण के वधार्थ जन्म लेने वाले श्रीसीताराम व उनका परिवार कार्यज 'रिपु' है।

अथवा—अहित मन्त्रियों को हितकर समझना 'रिपु प्रीता' है। यह प्रीति तात्कालिक है। रावण ने उनका विविक्त रूप न समझना प्रीति का दोष है।

अथवा—सीताजी की प्रीति का आलम्बन बनना 'रिपु प्रीता' है।

संगति—रिपु प्रीता का फल सुनाकर सीताजी के प्रति रहा प्रेम निरस्त होगा; इस सम्भावना में बिभीषणजी सीताजी में रिपुत्व सुना रहे हैं जो सुमत्याधायक व कुमति का नाशक है।

चौपाई— काल राति निसिचर कुल केरी । तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥ ८॥

भावार्थ—जिस सीताजी को आपने प्रीति का आलम्बन माना वह निशिचरकुल के लिए कालरात्रि है।

शास्त्रीय व्याख्या

कालराति : 'कालराति' से अपरिहरणीयत्व बलवदनिष्ट (अनिष्ट) मृत्यु लक्ष्यमाण है।

सीताजी निशाचरकुल को समाप्त करने का संकल्प लेकर आपके माध्यम से यहाँ पहुँची हैं इसलिए सीतास्पर्श होते ही आपका मरण न होना उपपन्न है। अतः निशाचरकुल के लिए कालरात्रित्व सीताजी में स्मरणीय है।

तेहि सीता : कालरात्रिरूपिणी सीताजीको जिसने प्रीति का आलम्बन माना वह रावण तच्छब्दार्थ है।

प्रीति घनेरी : हनुमद्द्वारा लंकादाह व पुत्रवध होने पर भी सीतात्याग में शोक पर्यवसायी द्वेष करना 'प्रीति घनेरी' है वही मोह है। 'घनेरी' से मन्दोदरीप्रेम की व्यावृत्ति समझनी है।

संगति—स्वोक्ति के प्रति रावण की उपेक्षा देखकर क्षुब्ध विवेकी बिभीषणजी प्रार्थनापूर्वक स्व पक्षोक्त प्रतिज्ञा के उपसंहार में निगमन सुनाकर विरोधिलक्षणया कुमतिपक्ष स्थापित कर रहे हैं।

दोहा— तात चरन गहि मागउँ राखहु मोर दुलार।
सीता देहु श्रीराम कहुँ अहित न होइ तुम्हार॥ ४०॥

भावार्थ—हे तात! चरण पकड़कर कह रहा हूँ कि स्निग्ध हो मेरी माँग पूर्ण करें। श्रीराम को सीताजी लौटा दें। ऐसा करने में आपका अहित नहीं होगा।

शास्त्रीय व्याख्या

तात चरन गहि : महत्तरवाचक 'तात' शब्द उपेक्षा न होने की दृष्टि से सम्बोधनात्मक हुआ है।

पुलस्त्य मुनि के भेजे सन्देश का निष्कर्ष अभी प्रार्थनीय है जो अभी तक प्रजा में अप्रकाशित गूढ़ मन्त्र बीज के रूप में छिपा है। पुलस्त्योक्ति का कार्यान्वयन करने की प्रार्थना करना ही मुख्यतया 'चरन गहि' का भाव है।

ज्ञातव्य है कि आगम व निगम विद्याएँ तभी उच्छेद्य हो सकती हैं जब वे दण्डनीति के अभाव में सबको अपने वश करने में असमर्थ होती हैं। अत: अपने को बली बनाने हेतु विद्याओं ने अनुच्छेद्य राजनीति का आश्रय लेना नीति में प्राप्त है। इस तथ्य का प्रदर्शन श्रीराम प्रभृति चारों भाइयों के चरित्र में स्पष्ट है। भरतजी की अनुपस्थिति में श्रीराम ने राज्य लेना अनुचित समझकर पिताजी के द्वारा राज्य देने पर भी उसे न लेना नीति ही है। उसी प्रकार भरतजी ने राज्य लेने तथा अपनी स्वीकृति देने में उनको कोई अधर्म प्रसक्त नहीं था पर वह कार्य नीति से बहिर्भूत है सोचकर उन्होंने नीति का अनुगमन कर धर्म को नीति का अंग बनाना उचित समझकर नीति की छत्रछाया में धर्म को अंगरूप में रखा तब अवध में धर्मविद्या टिकी। उसी प्रकार स्त्रीहरण राक्षस धर्म होने पर भी पद्मपुराणोक्त गोभिलोक्ति के अनुसार पतिव्रतारक्षण नीति होने से उसका अनुगमन रावण के द्वारा न होना देखकर बिभीषणजी ने चरण पकड़कर नीति को रावण के द्वारा मनवाना महत्वपूर्ण स्पृहणीय कार्य है।

मागउँ : श्रीरामभक्त, भक्तिसिद्धान्त पर दृढ़ विश्वास में रहते न विपत्ति का न तो कर्मविपाक का अनुभव ही करते हैं। फलत: उन्हें याचना व शरण का अवसर ही प्राप्त नहीं है। भक्त यदि याचना करते हैं तो भक्तिसिद्धान्त का विरोध होता है प्रस्तुत में भक्त बिभीषणजी ने उस आपत्ति को स्वीकृत कर याचना करना नीतिसंगत होने से श्रीराम व भक्ति महारानी की संतुष्टि ने उनके प्रति पूर्णतया बने रहना स्मर्तव्य है।

राखहु मोर दुलार : प्रार्थना का विषय 'राखहु' है वह कर्मकारकतया 'दुलार' से अन्वित है।

ध्यातव्य है कि अस्मच्छब्दार्थ यहाँ निगमागम की प्रतिष्ठा के आकांक्षी, नीत्यनुगन्ता, याचक, बिभीषणजी समझने होंगे। रावण की कार्यप्रणाली नीति की दृष्टि में अपनय होने से उसका पुरस्कर्ता रावण सन्धेय ही नहीं अपितु उच्छेद्य है वह प्रसक्ति न हो इस हेतु से 'तात' न कहकर स्वयं प्रियबालक रूप से हठ करते हुए पुलस्त्यनिष्कर्ष को कार्यान्वयन करने की माँग 'दुलार' में बिभीषणजी कर रहे हैं।

सन्धेयता न होने की उपपत्ति

सन्धेय होने के लिए राजा को सत्यवान्, आर्य, धार्मिक, भ्रातृसंघातवान् या बली होना चाहिए। किन्तु सीतापहरण के समय पंचवटी में रावण का विप्रवेष लेना प्रसिद्ध है इस प्रकार रावण सत्य नहीं है।

रावण-आगम की सम्मति को नहीं समझता है न तो निगम की ही सम्मति में है। अत: वह धार्मिक नहीं है। आर्य भी नहीं है; क्योंकि नीत्युक्त उपायविकल्प के अन्तर्गत सामादि का यथावत् प्रयोग नहीं कर रहा है। बिभीषणजी व माल्यवान्जी जैसे आप्त को दूर करने वाला होने से रावण भ्रातृसंघातवान् भी नहीं है। इस प्रकार देशकालाननुकूलता

मन्त्र की दूष्यता, तेजोभंग होने से रावण का अबली होना भी प्रगट है।

सीता देहु : नीतिसम्मत मन्त्रबीज की सफलता व दुलार की विषयता 'सीता देहु' में समझनी है।

'सीता देहु' के उल्लेख से सीतादान के विना भजनादिका वैयर्थ्य समझाया है।

सीता देहु आवृत्ति की सार्थकता

प्रथमतः (३९।६) 'देहु' वचन अपूर्वविधिपरक है अर्थात् राक्षसधर्म से प्राप्त सीतादान से अतिशयिततर अदृष्ट की उपलब्धि स्फुट की है।

प्रस्तुत 'सीता देहु' रूप द्वितीय वचन में नियमविधि दर्शाया है उसका पर्यवसान सीता देयैव परक है।

राम कहुँ अहित न होइ तुम्हार : श्रीराम की सम्प्रदानता 'श्रीराम कहुँ' से स्पष्ट है।

सीताजी के दान से सम्भावित बलवदनिष्ट का अभाव व अबध्यता 'अहित न होइ' से अनिष्ट सामान्याभाव दर्शाया है।

नीतिच्युति होने से आगम को पीड़ित करने वाला रावण युष्मच्छब्दार्थ है।

इस प्रकार बिभीषणजी ने रावणपृष्ट विषय का सुमति प्रतिष्ठापरक उत्तर पूर्ण किया।

संगति—मन्दोदरीजी, माल्यवान्‌जी, बिभीषणजी के द्वारा निगमागमसम्मत नीतिसंगत उत्तर सुनकर भी मदमानविशिष्ट रावण पर उसका विपरीत परिणाम सुनाने का उपक्रम शिवजी कर रहे हैं।

अथवा—जगन्मिथ्यात्त्वबोधक श्रुत्युपष्टब्ध व्याप्ति के बल से विभूषित कुमतिस्थापना के हर्ष में शिवजी नीत्युपष्टब्ध सुमति की स्थापनाऽनुकूल गाए पूर्वपक्ष को अनूदित कर उत्तरपक्ष स्थापना का क्रम सुना रहे हैं। उत्तर में '**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**'[१] वचन से उपलब्ध '**यज्जन्यं तदनित्यं**' इस व्याप्ति के संबल में कुमति की स्थापना परिलक्षित होगी।

चौपाई— *बुध पुरान श्रुति संमत बानी । कही बिभीषन नीति बखानी॥ १॥*

भावार्थ—बिभीषणजीने विद्वान्, पुराण एवं श्रुतिसम्मत अभिनन्दनीय नीति सुनायी जो उनका वैभव है।

शास्त्रीय व्याख्या

बुध पुरान श्रुति : निगमागम के विज्ञ सभी 'बुध' से ज्ञेय हैं जो मीमांसादि शास्त्रों में पारंगत हैं। अभी बिभीषणोक्त क्रम के अनुगमन में माल्यवान्, पुलस्त्य महर्षि आदिको ध्यान में लाकर 'बुध' प्रथमतः उच्चरित है।

श्रुत्यर्थ को असन्दिग्धरूप में प्रगट करनेवाला ग्रन्थ पुराण है। कर्तव्याकर्तव्यबोधक आदेशात्मक वचन 'श्रुति' है। बुध एवं पुराणों के प्रामाण्यज्ञापनार्थ श्रुति का पुराण के अनन्तर उल्लेख करना कविकौशल है।

संमत बानी : 'परिहरि काम क्रोध', 'सीता देहु' व 'भजहु श्रीराम' आदि उक्त वाणी 'संमत बानी' से स्मर्तव्य है। 'संमत' से बिभीषणवचन में 'ईश्वरसमवेत प्रमासमानाकारक बोधजनकत्व, असन्दिग्धार्थत्व, दोषशून्यत्व, आकांक्षादिमत्व, अनुपेक्षणीयत्व, झटिति

---

[१] श्रीमद्भागवद्गीता २।२७

अनुष्ठानार्हत्वादि' व्यक्त हैं। बिभीषणजी के माध्यम से भक्ति महारानी ने अपने को आश्रयलाभ की आकांक्षा में कही वाणी 'बानी' से बोध्य है।

नीति बखानी : मन्त्रोत्साहप्रभुत्व से उपचित, धर्मविजयी, शरणार्ह, दयालु, क्षमावान् विजिगीषु श्रीराम से विग्रह न कर सन्धि करना नीति है। वह धर्म की प्रतिष्ठा व भक्ति की संवर्धिका, अनुच्छेद्या है। उसको अपमानित करने पर भक्तिसहित आगमादि सर्वविद्याओं ने परराष्ट्र से सम्मिलित न होना निर्णीत है।

ज्ञातव्य है कि यदि रावण पुलस्त्य महर्षि के निष्कर्ष को स्वीकृत कर सीतासमर्पण से आगम को प्रसन्न करता है तो लंका को अजेय बनाए रखने में आगमशक्ति अकुण्ठित रहेगी। रावण भी अजर, अमर हो अनन्त काल के लिए चिरंजीवी बना रहेगा तथा लंका में शान्ति का द्वार खुला रहेगा।

संगति— प्रस्तुत में अभी सुमति का पक्ष दूषित है; क्योंकि वेदान्त (जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः) सिद्धान्त का विरोध हो रहा है। उसके परिहार में अभी कुमति को अपनाकर रावण ने श्रीराम की कृपापात्रता प्राप्त करना सोचा है। उसी उपक्रम को शिवजी सुना रहे हैं, जो अत्यन्त स्पृहणीय, भक्तिसम्मत, वेदान्तसिद्धान्तप्रतिष्ठात्मक है।

चौपाई— सुनत दसानन उठा रिसाई । खल तोहि निकट मृत्यु अब आई ॥ २ ॥

भावार्थ—बिभीषणजी (सुमति पक्ष के वचन) द्वारा कहे वचनों को सुनकर रावण क्रोध में उठा। उसने कहा कि हे दुष्ट! मृत्यु तुम्हारे निकट आ गई है।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनत : बिभीषणवचन सुनते ही रावण ने विचार किया कि क्या यह शत्रुपक्ष से मिला हुआ है? क्या इसी ने हनुमान्जी को सीतावास का संकेत देकर अशोकवन में भेजा था? क्या इसी ने लंकादाह की योजना बनाई? इत्यादि प्रश्नों से शंकित हो शत्रुपक्ष का सुरक्षाकर्ता, शत्रु का गुणगानकर्ता, कृतघ्न होने से यह लंका में रहने लायक नहीं है ऐसा निर्णय कर बिभीषणजी की नीति को मूलतया निकृष्ट अर्थ में समझना 'सुनत' का भाव है।

दसानन : स्थायिक्रोधमनोवृत्तिक, रौद्रस्वभाववान्, तर्कमति से शून्य, स्वाभीप्सितप्राप्ति के प्रति दृढ़संकल्प रावण 'दसानन' पद से बोध्य है। उसने सुमति पक्ष को पूर्वपक्ष में रखकर उस मत में श्रुतिविरोधात्मक हेत्वाभास दश+आनन ने समझना 'दसानन' का भाव है।

अथवा—नीतिपक्ष के प्रति क्रोध की मात्रा बढ़ने से विकृतरूप व विकृतचेष्टादि के अन्तर्गत दशों मुखों का पुरुषमय व्यापार प्रगट होना एवं उद्धत प्रकृति होना 'दसानन' का भाव है।

उठा रिसाई : शत्रु (श्रीराम) कीर्तिश्रवणप्रयुक्त आवेग उदित होना 'उठा' का भाव है। असूया, ईर्ष्या, अवमान आदि 'रिसाई' से अनुमेय है। ये तीनों तत्व क्रोधवृद्धि की अवस्थाविशेष के परिचायक हैं। जो बिभीषणजी पर पैर के प्रहार से पूर्ण प्रगट होंगे।

अथवा—स्व की इच्छा का प्रतिघात होने पर स्वामी ने बिभीषणजी के प्रति क्रुद्ध होना 'रिसाई' है।

खल : खल शब्द रावण के क्रोध की प्रारंभिक अवस्था का द्योतक है। 'खल' का

व्याख्यान आगे रावण स्वयं करेगा। 'खल' संबोधन से रावण यह कहना चाहता है कि बिभीषणजी अपने अनुचर होकर भी शत्रुंपक्ष की प्रशंसा करने से वस्तुगत्या अक्षम्य अपराधी हैं फिर क्यों न उन्हें दण्डित किया जाय?

तोहि निकट मृत्यु : श्रुतिपोषित भक्ति की स्थापना में संयत बिभीषणजी युष्मच्छब्दार्थ हैं, जो पूर्वपक्ष के अनुयायी हो कुमति के प्रस्तुत उत्तर पक्ष को पराजित करने में तुले हैं। रावण के अनुसार यह उनका मोहविशेष है।

अथवा—सहज मित्र बिभीषणजी को दूर करना भी उनकी मृत्यु है। जैसा कि श्रीराम ने काल के साथ वार्ता करते हुए बीच में ही लक्ष्मणजी का आना देखकर उन्हें स्व से दूर कर मृत्युदण्ड प्रणीत किया था; क्योंकि लक्ष्मणजी के लिए प्रभु से दूर होना मृत्युदण्ड ही था।

रावण का विवेक

नीतिसंवलित श्रुत्यनुमोदित भक्तिरानी की इच्छा को ठुकराकर, आगमसेवा से ब्रह्माजीद्वारा प्राप्त अवध्यता पक्ष को त्यागना प्रकृत में मोक्षपथानुगुण श्रुत्यनुयायी रावण का विवेकविशेष है। जो भक्ति महारानी के लिए मननीय है।

अब आई : अभी तक आगम के प्रति अप्रमाणत्व की चर्चा जिसने की हैं उसकी पूर्णता का समय 'अब' से ध्वनित है।

रावण को सीताप्रदान के प्रति अवध्यतार्थ प्रेरणा देने वाले बिभीषणजी 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' (भगवद्गीता २। २७) से पुष्ट सिद्धान्त के विरोधी हैं। उसका उत्तर न सूझने से क्रोध में उन्हें दण्डित करने हेतु रावण 'मृत्य अब आई' कह रहा है।

संगति—बिभीषणजी ने सुमति को दृढ़ करने हेतु पूर्वपक्ष की ओर से जिस प्रकार पुलस्त्यवचन का पार्ष्णिक बल सुनाया। उसी प्रकार 'मृत्यु अब आई' के उपपत्त्यर्थ सिद्धान्तानुगत कुमति की स्थापना में अपेक्षिततया प्रत्यक्षप्राप्त अनुभव का बल रावण सुना रहा है।

चौपाई— *जिअसि सदा सठ मोर जियावा । रिपु कर पच्छ मूढ! तोहि भावा॥ ३॥*
कहसि न खल! अस को जग माहीं । भुजबल जाहि जिता मैं नाहीं॥ ४॥

भावार्थ—हे शठ! तुम्हारा जीवन सदैव मुझसे पूर्ण हुआ है। हे मूर्ख! शत्रुपक्ष से तुम्हें अपना हित प्रतीत हो रहा है। हे खल! ऐसा कौन-सा स्थान है? जहाँ पहुँचकर मैंने उसके अधिपति के अहंकार को मर्दित न किया हो।

शास्त्रीय व्याख्या

जिअसि सदा सठ : रावण के आश्रित होकर बिभीषणजी ने त्रिवर्गसमृद्धिमान् हो सुखपूर्वक जीवनयापन करना 'जिअसि' से स्मृत करा रहा है। कभी भी युद्ध में साथ नहीं दिया, न दौत्य किया, न तो मौलबन्धुत्वप्रयुक्त कार्य ही प्रगट किया तो भी आज तक मैंने कुछ भी न कहना 'सदा' का आशय है।

उपरोक्त दूसरी चौपाई के अन्तर्गत 'सुनत' शीर्षक में गाए रावण के विचारों से बिभीषण जी अभी 'सठ' हैं। अर्थात् स्व एवं परपक्ष में कलह उत्पन्न कर स्वार्थसाधना

'सठ' का स्वभाव है।

मोर जियावा : अन्नदाता, भयत्राता रावण मच्छब्दार्थ है।

बिभीषणजी ने मौल होने पर भी कर्मकर दासों की तरह रावण के द्वारा पोषित होने का संकेत 'जियावा' से व्यक्त है। यद्यपि बिभीषणजी में दासकर्मकरविकल्पोक्त साधर्म्य नहीं है तथापि कुमति की स्थापना में तत्काल वह सामर्थ्य ज्ञात होने से 'मोर जियावा' कहना अति भूषण है।

रिपु कर : रावण की बुद्धि में बिभीषणजी का शठकार्यकारित्व प्रगट होने से उनमें स्वार्थसाधने की कला में निपुणत्व होने का अनुमान 'रिपु कर' का भाव है।

अथवा—रिपु की स्तुति करते स्वबन्धु को तेजोहीन करने की कला को प्रगट करना 'रिपु कर' से ध्वनित है।

मूढ : आगम को अप्रमाणित कर अल्पज्ञता, भीरुता अपने में आशंकित करते हुए स्व की अहितसंभावनामात्र से परशरण होने में हित समझना, वानरकृत दाहमात्र से परपक्ष से मिलने का संकेत राजा को सुनाना मूढता है। अतः रावण ने बिभीषणजी को 'मूढ' कहा है।

तोहि भावा : शठत्व, मूढत्व, खलत्वविशिष्टत्वेन अभिमत बिभीषणजी युष्मच्छब्दार्थ हैं। 'भावा' से मृत्युदण्डप्रयोजक स्वामिद्रोह व्यक्त किया है।

कहसि न खल : जितत्त्व व विजेतृत्त्व अन्यतरान्तर्गत उत्तरकोटिक का भुवनत्वावच्छेदेन विवेक करने हेतु रावण अपनी ओर से स्व में जेतृत्त्व स्वभावसिद्ध का स्मरण कराने हेतु 'कहसि न' कहकर जितत्त्व के प्रति युक्ति पूछ रहा है।

जग माहीं : रावणावध्यताविरोध में प्रभावोत्साह, मन्त्रसम्पन्न श्रुत्यभिमानी संसारी राज्याधिपति के बारे में 'जग माहीं' प्रश्न स्फुट है अर्थात् ऐसा कोई नहीं है।

'माहीं' शब्द निगमागम भेद से जगत्द्वयवृत्ति का बोधक है। वह वक्ष्यमाण 'नाहीं' से सम्बद्ध है।

भुजबल : सभी श्रुत्यभिमानी प्रतिभट के रूप में स्थित जो-जो राजन्यवर्ग, लोकपाल व दिक्पाल कोश, दण्ड व तेजस्संपन अनाक्रम्य थे, उन सभी प्रतिभटों का जेय के रूप में स्मरण 'भुजबल' से बिभीषणजी को कराना रावण का लक्ष्य है। ध्यातव्य है कि रावण ने श्रुतिसेवियों को किंकर्त्तव्यविमूढ बना रखा है। अभी तक श्रीराम को जो भी सफलता प्राप्त है वह मेरी निष्क्रियता से प्राप्त है। ऐसा समझकर बिभीषणप्रस्तावित हेतु में स्व की निष्क्रियतारूप उपाधि बिभीषणजी को समझाना 'भुजबल' का अभिप्राय है।

जिता मैं नाहीं : अपना प्रभुत्व सर्वत्र स्थापित करने के लिये परराष्ट्र पर चढ़ाई करना नीतिसम्मत है तदनुसार कौन प्रतिभट अवशिष्ट है? अर्थात् कोई भी नहीं। एवंच 'यदा-यदा रावणो जेतुं चेष्टते तदा-तदा सर्वोऽपि प्रतिभटः सफलो न' अतः यह व्याप्ति स्मर्तव्य है जो किसी भी उपाधि से संवलित न होने से निर्दुष्ट है।

संगति—जन्मान्तरीय संस्कारोद्बोधन से आक्रान्त बिभीषणजी का रिपुपक्षाभिमान से विचलित न होना समझकर रावण, उन्हें परपक्षमें मिलने का निर्देश सुना रहा है।

चौपाई— मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती । सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीति ॥ ५ ॥

भावार्थ—मेरी राजधानी के निवासी होकर यहाँ का विधान मान कर तपस्वी पर प्रीति रखते हो? यदि ऐसा है तो हे शठ! उन्हीं से मिलो और उपर्युक्त नीति सुनाओ।

शास्त्रीय व्याख्या

मम पुर बसि : श्रुतिप्रमाणानुयायी जगत् का विजेता रावण मच्छब्दार्थ है। 'मम' से रावणस्वामिक लंका विवक्षित है। हम लोगों का रक्षण बाल्यकाल से प्रमाणमूर्धन्य आगम के द्वारा होता आ रहा है। अभी उसी को अप्रमाण करना क्या उचित होगा? यह प्रश्न 'पुर बसि' उक्ति से ध्वनित है।

तपसिन्ह पर प्रीती : तापस शक्तियाँ मेरे सामने हतबला हो अभिभूत हो चुकी हैं। अतएव श्रुति का दौर्बल्य व आगम की मूर्धन्यता सिद्ध है। वैसे दुर्बल शक्तिमान् का आश्रय लेना 'प्रीती' से स्फुट है। जो नीतिविरुद्ध अकृतज्ञता का प्रकाशक है।

मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती : 'मिलु' शब्द सन्धिबोधक है। वे तपस्वी श्रीराम-शरणाकांक्षी हैं। उनके सामने तुमने अकांक्षित होकर जाना 'जाइ' है।

निराश्रयी तपस्वियों को अपनी नीति सुनाने को कहना 'कहु' का भाव है।

नीति का आश्रय दुर्बलों के लिये माना गया है। वे ही नीति के प्रति अधिकारी हैं। राक्षससंप्रदाय दण्डनीति को मानता है। उसकी व्यावृत्यर्थ नीतिमात्र कहना उपपन्न है।

संगति— अभी तक शठ व मूर्खादि संज्ञाद्वारा वाग्दण्ड बिभीषणजी पर कार्यकारी न हुआ देखकर बिभीषणजी पर तीक्ष्ण दण्ड का प्रयोग करना आवश्यक समझकर रावण उसका प्रयोग कर रहा है जो मानी के लिये मृत्युरूप है।

चौपाई— अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा । अनुज गहे पद बारहिं बारा ॥ ६ ॥

भावार्थ—इतना कहकर रावण ने चरण से बिभीषणजी को ताड़ित किया। अनुज पुनः-पुनः रावण के पैर पकड़ता ही रहा ऐसा शिवजी ने उमाजी को सुनाया।

शास्त्रीय व्याख्या

अस कहि : दृश्यमात्र की वध्यता के सिद्धान्त का बल पाकर कुमति को अपने पक्ष की स्थापना का अवसर प्राप्त हो रहा है। ऐसा सोचकर शिवजी 'अस कहि' पर जो दे रहे हैं।

चरन प्रहारा : बिभीषणवचन सुनकर क्रोध की छठवीं अवस्था में पहुँचे रावण ने चरण से बिभीषण पर प्रहार करना उसके क्रोध का अनुभाव है। इस प्रकार कुमति पूर्णतया बलवती हो सुमति को हटाने में सफल हो गयी।

अनुज गहे पद : दृश्यमात्रनिष्ठ की वध्यताबोधक श्रुति से आश्रित कुमतिप्रतिष्ठा में अपने को प्रतिबन्धक समझकर लंकास्थली से हटने के पूर्व उसको नम्रता से आप्यायित करने का कार्य 'अनुज गहे' से कवि ने वर्णित किया है। अर्थात् श्रीराम के द्वारा रावण ने वध्य हो उनके चरणों के पास पहुँचने में सुमति ने प्रतिबन्धक न होना 'गहे पद' का निष्कर्ष है।

अथवा—बिभीषणजी सात्त्विक, वीर, निगमागमधर्मसेवी, विद्यावृद्धसम्मत तथ्य को अपनानेवाले मित्र व्यवहारज्ञ होने से अग्रज के पद पर माथा टेक कर विनम्रता के बल से यथासम्भव प्रजा व राजा का हित करना चाहते हैं। इसलिये पद पकड़कर

अपनी सत्त्ववृत्ति को प्रगट करते हुए प्रतिपक्ष की कुमति को जगत् के सामने प्रगट कर रहे हैं। यदि वे अग्रज के चरणों को बारंबार नहीं पकड़ते तो प्रजा की दृष्टि में दुष्ट माने जाते। फलतः वे प्रजानुरागपात्र नहीं होते न रावण ही प्रजा के विराग का पात्र होता। अतः बिभीषणजी ने 'अनुज गहे पद' होना उनकी महती नीति है। उसका फल बिभीषणजी में प्रजानुराग एवं रावण में प्रजाविराग स्पष्ट होना है।

बारहिं बारा : पुनरुक्ति से कही चरणप्रहार की आवृत्ति उपर्युक्त विषय के दार्ढ्य के द्योतनार्थ है। इसका अन्वय आठवीं चौपाई में करना होगा जो नमस्कारानन्तर्य का सूचक है।

ज्ञातव्य है कि निगमागमैकवाक्यता को समझकर स्व-स्व के लिए सेव्यरूप में प्राप्त निगमागमविद्या की प्रमाणमूर्धन्यता को अंगीकृत करते हुए सुमतिमान् सात्त्विक सन्त जहाँ रहते हैं वहीं रमा का स्थिर क्रीड़ांगण होता है। इस सिद्धान्त की चरितार्थता लंका में स्फुट है। व्यतिरेक में यह कहना है कि सुमतिमान् सन्त, कुमति से पीड़ित हो अपनी निवासस्थली से दूर होते हैं तो उसी क्षण में उनके निवासस्थली का वैभव, लक्ष्मी व जनपदवासियों का आयुष्य तत्काल क्षीणता की ओर अग्रसर होता है। यह कारणेन कार्यानुमानसंबद्ध व्याप्ति को प्रकृतं पूर्वापर चरित्र से समझाना सुन्दरकाण्ड का सौन्दर्य है।

संगति—उपर्युक्त व्याप्ति के मूलभूत तथ्य का प्रकाशन करने का अवसर पाने के हर्ष में शिवजी छठीं और आठवीं चौपाई के मध्य सुमतिमान् सन्त का सात्त्विक चरित्र सुना रहे हैं।

चौपाई— उमा! सन्त कर इहइ बड़ाई । मन्द करत जो करइ भलाई॥ ७॥

भावार्थ—हे उमे! सन्त शुद्ध सत्व प्रकृति की यही महत्ता है कि वे अपकारकर्ता की भी भलाई करते रहते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

उमा : रावण ने किये सीताहरणादि चरित्र को देखकर उसको सुमति (बिभीषणजी) शापित कर श्रीराम के सायुज्य मुक्ति से वंचित कर सकती थी जैसा कि ब्राह्मणोंद्वारा प्रतापभानु को दिया शाप बालकाण्ड में स्फुट है। वैसा न कर सुमतिमान् बिभीषणजी ने रावण का भला करने में रहना, सन्त स्वभावानुरूप है उसको ध्यान में रखने हेतु 'उमा' सम्बोधन किया है।

सन्त कर : 'सन्त' शब्द आस्तिक्यादि गुण संपत्तिमान् का बोधक है। आस्तिक्यादि गुण निम्नलिखित हैं।

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचः।
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानं च निर्दंभता॥
कर्मानिन्दितमस्पृहं च विनयो धर्मः सदैवादरात्।
एते सत्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणाः कोविदैः॥[१]

बड़ाई : 'बड़ाई' शब्द महत्ता का बोधक है जो राजस् तामस् मनोवृत्ति में सम्भव

---

१. भावप्रकाश (वाग्भट)

ही नहीं। अतएव कुमतिमान् असात्विक में रहे आस्तिक्यादि गुण केवल दंभमात्र हैं परन्तु यहाँ पर शिवजी सुमतिमान् बिभीषणजी को परिक्षोत्तीर्ण देखकर उनकी बड़ाई गा रहे हैं। इसका सत्यापन श्रीरामजी के द्वारा बिभीषणजी को अपने पक्ष में मिलाने के अनन्तर प्रगट होगा। 'बड़ाई' से संस्तुत गुणसमर्थन की वास्तविकता ज्ञेय है। जैसा कि 'बारहिं बारा' शीर्षक में उक्त है।

मन्द करत : 'मन्द' से विवेकहीन कुमति बोध्य है। कुमति की प्रतिष्ठा में सुमति का ताड़ित होना मतिमन्दता का द्योतक है। वैसे मन्द के अभीप्सित तत्त्व को सम्पन्न करना 'करत' है।

भलाई : सुमति ने कुमति की प्रतिष्ठा करना 'भलाई' है। आशय यह कि रावण की अवध्यता स्थिति आसन्न होने पर कुमति ने रावण को वध्य बनाने में योगदान करना देखकर सुमति ने उसे शापित न करना 'भलाई' है।

अथवा—श्रीरामपक्ष में मिलकर कुमति का चिन्तित कार्य पूर्ण करने में सहयोग देना 'भलाई' है।

संगति—चरणप्रहारजनित व्यथा के प्रतिशोध में बिभीषणजी रावण को शापित कर सकते थे वैसा न कर सुमति बिभीषणजी ने चरणप्रहार को इष्टापत्ति के रूप में प्रगट करते हुए रावण का भला चाहना सुना रहे हैं।

चौपाई— *तुम पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा । राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥ ८ ॥*
सचिव संग लै नभ पथ गयऊ । सबहिं सुनाइ कहत अस भयऊ ॥ ९ ॥

भावार्थ—पितृसदृश होने से आपने मुझे मारा ठीक ही है परन्तु हे नाथ! आप हमारी यह उक्ति ध्यान में रखें कि आपका कल्याण श्रीरामभजन से ही होगा—ऐसा कह सचिवों को साथ लेकर बिभीषणजी आकाशमार्ग से चलते हुए उन्होंने सबको स्वमनोरथपूर्ति व कुमति का वक्ष्यमाण रीति से अनुमोदन सुनाया।

शास्त्रीय व्याख्या

तुम : कुमतिप्रयुक्त मानमदान्ध, अग्रज, चरणप्रहर्ता रावण युष्मच्छब्दार्थ है।

पितु सरिस : रावण अग्रज होने से उसमें पितृसाम्य होना शास्त्रसम्मत है उसने पुत्र को दण्डित करना न्यायोचित है। जैसा कि गणेशपुराण के वचन 'पितृधर्मेण तेन त्वं तांड़ितोऽनर्थकृद्यदि। तत्रापराधो नैवास्ति श्रुतिस्मृतिपुराणतः' (उ० खण्ड अ० २३, श्लोक२१) से निर्विवाद है।

भलेहिं : रावण के चरणप्रहार को आपाद्य न समझ कर इष्टापत्ति से आपाद्यता को निरस्त करना 'भलेहि' का भाव है। 'भलेहि' 'मारा' से अन्वित है।

मोहिं : रावण की इच्छा व उसके सन्मान के विरुद्ध बोलने वाले बिभीषणजी अस्मच्छब्दार्थ हैं।

राम भजे : श्रीराम की सभी आज्ञाएँ निगमागमपुराणसम्मत हैं। उनमें से न्यायसंगत श्रुत्यनुमोदित आगममान्य आज्ञा को स्वाधिकारानुसार स्वीकारना 'राम भजे' से बोध्य है।

अथवा—अतिएकाग्र हो धारावाहिक चिन्तन करना 'राम भजे' है।

हित : भविष्यत् में नरकासमानाधिकरण नरकदु:खाभावविशिष्ट सुखमात्र अनुभूत होना ही 'हित' है।

नाथ : अभी तक आपने मेरा मनोरथ पूर्ण किया है, मुझको कभी पीड़ित नहीं किया न तो शरीरदृष्ट्या नीत्युक्त दण्ड से मुझे दण्डित ही किया है। अत आप 'नाथ' हैं।

'नाथ' संबोधन से भजन के प्रति ध्यानाकर्षण कराना सुमति का लक्ष्य समझ में आता है। जो कि अरण्यकाण्ड में दोहा २३ चौपाई ४-५ में उक्त रावणचिन्तन से एकवाक्यतापन्न है।

तुम्हार : चरणप्रहारकर्ता प्रतिलोमदण्ड का प्रणेता रौद्र रावण 'तुम्हारा' से चिन्तनीय है।

सचिव संग : बिभीषणजी के संपर्क में रहे सचिव बिभीषणजी की तरह दण्डित न हों इस आशय से 'सचिव संग' कहा है।

अथवा—सचिवों का जीवनरक्षण बिभीषणजी के द्वारा सुसंपन्न हुआ है। वे स्वामी से पृथक् होकर कुमति की छत्रछाया का आश्रय लेना उचित नहीं मानते। इस अभिप्राय से 'सचिव संग' कहा है।

अथवा—बिभीषणजी से लंका पालित है। उनके पश्चात् तदाश्रित सचिवों के प्रभाव से कुमति की स्थापना में विघ्न होगा ऐसा सोचकर 'सचिव संग' कहा है।

नभ पथ गयऊ : राक्षसों के लिए शतयोजन विस्तीर्ण समुद्र पार आने-जाने का मार्ग 'नभ पथ' से बोध्य है। उत्तरतटाभिमुख तत्संयोगानुकूल व्यापार का आरंभ 'गयउ' से बोध्य है।

विपत्ति की सामग्री के अन्तर्गत प्रतिबंधकाभाव भी होना आवश्यक है। तदनुसार सबकी अनुपस्थिति से प्रतिबन्धकाभाव की स्थापना करने हेतु उनका जाना (सुमति का अभाव) 'गयऊ' से दर्शाया है।

सबहिं सुनाइ : 'सबहिं' से सभा में उपस्थित सचिव, सेनापति, प्रहरी, दर्शक, सैनिक, भृत्य व राजा आदि बोध्य हैं। कुमति की सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा होने के कारण उसको विपत्तिनिदान समझकर उसका परिणाम सुनाना 'सुनाइ' है। उसका निष्कर्ष रावण की भलाई में ही है।

कहत : कुमति के प्रतिष्ठापक उपरोक्त 'सबहि' 'कहत' के अकथित कर्म हैं; क्योंकि 'कहत' शब्द द्विकर्मक है। स्मरणीय है कि दोहा ४१।५ के अन्तर्गत 'मम पुर बसि' शीर्षकोक्त विषय का ध्वनितार्थ यह कि बिभीषणजी ने आगम को अप्रमाण समझकर स्वपक्ष की स्थापना से अपने को मोड़ दिया। इतना ही नहीं अपितु निगमैकवाक्यता के प्रातिकूल्य में आगमसेवी रावणादि की ओर से अनभिमुख होकर रावण स्वयं ही अभी अप्रमाण हो रहा है। ऐसा सोचकर आगम की प्रमाणता के रक्षणार्थ निगम के साथ मिलने का मार्ग प्रशस्त किया है। यदि वह न अपनाया जाय तो आगमप्रदत्त अवध्यता व श्रुतिसंकल्पित वध्यता की सत्प्रतिपक्षितस्थिति का निवरण नहीं हो पाता।

अस भयऊ : 'अस' से वक्ष्यमाण वचन ज्ञेय हैं। अर्थात् वक्ष्यमाण वचन के सभी अर्थ एक साथ संगृहीत हैं। कहते-कहते नभो मार्ग से जाना 'भयऊ' का भाव है। फलत: उत्तरश्रवण की अनपेक्षा स्फुट है।

संगति—आगम के बल पर प्रमाणत्रयप्रमित श्रीराम से विरोध करने के साथ किए

भक्त के किए अपमान का परिपाक बिभीषणजी सुना रहे हैं।

दोहा— राम सत्यसंकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।
मै रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥ ४१॥

भावार्थ—प्रभु श्रीराम सत्यसंकल्प हैं। तुम्हारी सभा काल के वश हो चुकी है। मैं रघुवीर के शरण में जा रहा हूँ। भविष्यत् में तुम मुझपर कोई आरोप न देना।

शास्त्रीय व्याख्या

राम सत्य संकल्प : निगमागमोभयसम्मत व श्रीरामायणप्रतिपाद्य प्रभु 'श्रीराम' से बोध्य हैं। श्रीराम की सत्य पर आधारित त्रिकालाबाधित प्रतिज्ञा 'सत्य संकल्प' है।

अथवा—प्रभु ने स्व या पर के लिए कर्त्तव्यतया कथित विधान 'सत्य संकल्प' है। उसके अन्तर्गत श्रीराम का एक विधान यह भी है कि भक्ति महारानी से सुरक्षित राजनीति-मन्त्रिणीसहचरित निगम व आगम के मत को न अपनाकर उनमें से किसी एक को ही प्रमाण माना जायेगा तो वह विपत्तिनिदान है, वही कुमति है। उसमें अन्यथात्व न होना सत्य है। अभी उसी कुमति की प्रतिष्ठा जगन्नाश्यत्वसिद्धान्त मूलक श्रुति के बल पर तत्काल में स्वीकृत हुई है। उसका निष्कर्ष अवध्यता आसन्न होने पर भी रावण ने उसको झटककर अपने हाथों से ही स्व को वध्य बनाया है। फलतः 'यज्जन्यं तदनित्यं व्याप्ति को चरितार्थ किया है।

प्रभु : जिसका विधान अपरिवर्तनीयतया सम्मत है उस कार्यविशेष को वर्धनीय करने या परिवर्तनीय बनाने में समर्थ सर्वसाक्षी ही 'प्रभु' शब्द से बोध्य हैं।

सभा : सम्पूर्ण विश्व को भक्ति के प्रति प्रेरित करने हेतु अवसर पर उपस्थित बिभीषणजी के द्वारा त्यक्त सभा 'सभा' से विवक्षित है।

काल बस : विद्वान् रावण ने सुमति कुमति को विविक्त रूप में जानते हुए भी कुमति को प्रतिष्ठित करना व सुमति को दण्डित कर उसको दूर करना 'कालबस' का अनुमापक है।

'काल' से मृत्युनैकट्य ज्ञातव्य है। श्रीराम ने उसको ही संकल्पित कर रखा है। 'बस' से 'कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम्' होना स्फुट है।

तोरि : अनात्मवान्, अरिसंपत्ति को बढ़ाने वाला, आश्रितों को मृत्यु मुख में झोंकने वाला, आगमानभिमतकार्यकर्त्ता रावण युष्मच्छब्दार्थ है। वह षष्ठ्यन्त हो 'सभा' से अन्वित है।

मैं रघुबीर सरन : निगमागमोभयसम्मत श्रीरामायणग्रन्थप्रतिपाद्य श्रीराम के सेवी बिभीषणजी मच्छब्दार्थ हैं। सत्यसंकल्पवत्वे सति; नीतिपुरस्कर्त्ता, आत्मगणुसम्पन्न, राजशिरोमणि श्रीराम 'रघुबीर' हैं। 'सरन' से भक्त्यनुप्राणितों को आश्रय (अभय) दान करना बोध्य है।

ज्ञातव्य है कि जैसे बिभीषणजी ने पुलस्त्यादिवचनैकवाक्यता में भगवदिच्छात्मक संकल्प का अनुसरण करते हुए रघुपति के शरण में जाकर सत्यसंकल्प के प्रति पूर्ण भक्ति व्यक्त की है। वैसा ही साधुत्व पतिव्रताओं में दिखाई देता है।

चिन्त्य है कि सुमति के प्रतिपक्ष में रहकर कुमति को बढ़ावा मिलता रहेगा तो सुमति अनुपस्थित होती रहेगी। यह प्रभु के क्रोध का व्यक्त चिह्न है। साधु सन्तों ने निष्काम निश्छल हो सातत्येन भगवदुक्त विधिनिषेध का यथावत् पालन करना ही शरणगति है, यही

सुमति है। उसकी स्थापना सिद्धान्त के रूप में मान्य है तो लोकस्थिति बनी रहेगी। उसी को 'रघुपति सरन' से सूचित किया है।

अब जाउँ : निगमासमसम्मत व पुलस्त्य मुनि से सूचित सुमति को अपमानित होने का समय 'अब' से बोध्य है। 'जाउँ' का भाव यह कि लक्ष्मणजी को कैकेयीयाचित वर से अयोध्या को अशुचि समझकर छोड़ना अपेक्षित हुआ वही दोष लंकापुरी में रावण के द्वारा हुए सुमति के अपमान से प्राप्त है। अर्थात् लंका में आगमस्नेहवल्ली का सूखना बिभीषणजी ने समझकर लंका से दूर होना 'जाउँ' से समझाया है। रघुपति के शरण में पहुँचकर उसी स्नेहवल्ली का पोषण करना बिभीषणजी का लक्ष्य है।

देहु जनि खोरि : पतिव्रता सीताजी को त्रास देना व प्रतिव्रता मन्दोदरीद्वारा उक्त सुमति की अवहेलना से आगमकर्तृकसुरक्षा का कुण्ठित होना देखकर यदि बिभीषणजी ने नैतिक कर्तव्य नहीं सुझाया होता तो उनपर वाच्यतादोष आरोपित होता उस दोष का निरसन 'देहु जनि खोरि' से सूचित है।

इस प्रकार सुमति की उपस्थिति सदा के लिए (रावण मृत्यु तक) कठिन व कुमति की स्थापना अबाधित हुई।

संगति—भगवदभिमत वध्यत्व पक्ष को बल प्राप्त कराकर पुष्ट रही कुमति की पूर्ण स्थापना हुई देखकर, प्रतिबन्धकभूत सुमति के जाने के परिणाम में विपत्ति का प्रारम्भ कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— *अस कहि चला बिभीषनु जबहीं । आयूहीन भए सब तबहीं ॥ १ ॥*
साधु अवग्या तुरत भवानी । कर कल्यान अखिल कै हानी ॥ २ ॥
रावन जबहिं बिभीषनु त्यागा । भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा ॥ ३ ॥

भावार्थ—उपरोक्त वचन सुनाकर जैसे ही बिभीषणजी चले वैसे ही सम्पूर्ण सभा आयुर्हीना हो गई। हे भवानि! साधु की अवज्ञा तत्काल ही साध्वपमानकर्त्ता को मंगल से वंचित करती है। जिस घड़ी में रावण ने बिभीषणजी को त्यागा उसी घड़ी में रावण विभवहीन हो गया यही उसका दुर्भाग्य है।

शास्त्रीय व्याख्या

अस कहि चला : कुमति की प्रतिष्ठा यद्यपि वध्यत्वबोधक शब्द के बल से अभी सुशोभित है तथापि विपत्तिनिदानत्व कुमति में तत्काल में न रहने से विपत्ति के आरम्भ का काल 'अस कहि' से सुना रहे हैं।

'अस' से 'अब जाउ देहु जनि खोरि' वचन विवक्षित है।

सभा के साथ सभी सदस्योंसहित रावण को जैसे बोध हो वैसा व्यापार 'कहि' पद का अर्थ है। पहले 'सबहि सुनाइ कहत अस भयऊ' कहकर 'अस कहि चला' सुनाने का निष्कर्ष कुमति की प्रतिष्ठा और सुमतिसंपर्काभाव के परिपाकरूप दुष्परिणाम के निर्णय की अटूटता में है।

'चला' से प्रयोगप्राशुभाव अर्थात् चलने में विलम्बाभाव समझाया है। इस प्राशुभाव से 'निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा' (श्रीमद्भागवत १०।७४।४०) वचन

अन्वर्थक है।

बिभीषन : सर्वसम्मान्य श्रीरामदूतकृत उपद्रव के अनन्तर भी श्रीरामभक्तापमान में ग्लान्यभावप्रयुक्त अशुचिता के स्पर्श से दूषित आगमोपेक्षित लंका को त्यागने वाले बिभीषणजी 'बिभीषन' शब्द से बोध्य हैं।

जबहीं : दोहा ४०। ६ के अन्तर्गत 'बिपति निदाना' शीर्षकोक्त कारणेन कार्यानुमान-प्रणाली को स्मृत कर 'जबहीं' कहा है जो ४१। ३ चौपाई की एकवाक्यतापन्न है। अर्थात् बिभीषणजी का निवास लंका में होने से उन पर रही भगवत्प्रीति का लाभ रावण को हो रहा था; क्योंकि वे साधुओं की अवज्ञा से अत्यन्त दूर हो निगमागमसम्मत श्रीराम के कृपाभाजन थे उनको लंकात्याग का समय 'जबहीं' से ध्वनित है जो कालवृत्तितया व्याप्य का निदर्शक है।

आयुहीन : 'आयुहीन' 'जबहीं' शीर्षकोक्त व्याप्य का व्यापक है। बिभीषणजी के निवास से लंकावासी आयुष्मान् हो निश्शंक एवं विषयभोगासक्त थे। उनके आयुर्मर्यादा की पूर्णता 'आयुहीन' से स्फुट है।

सब तबहीं : श्रीरामशरणागत श्रीरामसेवकातिरिक्त लंकावासी सभी 'सब' पद से बोध्य हैं।

आयुर्हीनतारूपध्वंस या अतिस्वल्पायुरूप व्यापक की प्रसक्ति होने में विलम्बाभाव 'तबहीं' से ज्ञातव्य है। यह भी पूर्ववत् कारणेन कार्यानुमान को समझाने में दृष्टान्ततः चिन्त्य है।

साधु अवग्या : 'साधु अवग्या' से निगम व आगमसेवी दोनों आचार्यों का अपमान कहा गया है उनमें आगम के आचार्य प्रथम पूज्य श्री शिवजी हैं उनके द्वारा प्राप्त या प्राप्तव्य आयुरादि की मर्यादा (अन्तिम अवधि) साधरणतया 'साधु अवग्या' से ध्वनित की है।

राजा साधु या दुर्जन हो उसको प्राप्त हो रही सफलता के पीछे यह समझना होगा कि उसके देश, ग्राम, द्रोण, स्थानिक या खर्वट में कम से कम एक साधु का अस्तित्व बना है उसके आश्रय से आगमादि विद्याएँ व विज्ञान में साफल्य प्रगट होता रहता है। वे साधु क्षुब्ध एवं अपमानित हो स्वस्थान से दूर हो जाते हैं तो परिणाम में आयुर्हीनता, ताप, विपत्ति आदि उपस्थित हो जाती है। यह परिपाक प्रस्तुत में रावणकृत अवज्ञा से प्रगट है।

ज्ञातव्य है कि अभी तक लंका में रावण ने बहुतों की अवज्ञा की है फिर भी वह अवध्य ही बना रहा एतावतापि आयुर्हीनताप्रयोजक साधुअवज्ञा में अन्वयव्यभिचार नहीं है क्योंकि ब्रह्मदत्तवर ने आयुर्हीनता को रोक रखा था फलत: उन अवज्ञाओं ने रावण की बुद्धि को मोह से ऐसा ग्रासा कि वह विद्वान् होते हुए भी श्रीराम, सीताजी, हनुमान्जी, माल्यवान्जी, मन्दोदरीजी व बिभीषणजी को अवहेलित करने से नहीं रुका। उसका दृश्य फल ब्रह्मदत्तवरप्रभाव की समाप्ति है।

तुरत भवानी : अवज्ञा के उत्तर क्षण में होने वाला मोह 'तुरत' से विवक्षित है। उसका परिपाक आयुर्हीनता का फैलाव है। 'भवानी' सम्बोधन पूर्वजल में सतीजी के द्वारा शिवजी के वचन (१।५२।६) की अवहेलना व उसका फल स्मृत कराने में है।

कर कल्यान : 'कर' शब्द अकल्याण के प्रति अवज्ञानिष्ठ कर्तृत्व का बोधक है।

'कर' 'हानी' शब्द से अन्वित है।

'कल्यान' शब्द त्रिवर्ग व मंगल की समृद्धि का बोधक है। एवंच अवज्ञाकर्त्ता समझे या न समझे स्वरूपतः अवज्ञा में कल्याणहानिकर्तृत्व रहना निर्णीत है। आशय यह कि साधु-अवज्ञा का प्रारम्भ होते ही आगम, निगम व तद्द्वारक सम्पत्ति तथा त्रिवर्गसमृद्धि के सहायक समीपवर्ती सभी ने नाशप्रतियोगी होना 'कल्यान' से ध्वनित है जिसको नीति की भाषा में व्यय से संकेतित किया जाता है।

अखिल कै हानि : 'अखिल' से क्षय बोध्य है अर्थात् राजा व तदाश्रित सभी चेतनों का क्षय समझना है। इसलिए कि उनके रक्षक आगम-निगम दोनों शक्ति से शून्य हो निर्माल्य होते हैं।

ज्ञातव्य है कि राजा या शासकवर्ग यदि कलिधर्म (अर्थलोलुपता, चपलता व मान) से स्पृष्ट हो आगम-निगमसेवी साधुओं को अपमानित करते, अनीति का कार्य करते हुए कामज, क्रोधज, व्यसन और अनात्मगुण से सम्पन्न अनार्य होते हैं तो अखिल कल्याणहानि होना अर्थसिद्ध है।

रावन जबहिं : वरप्राप्ति से दृढ़दर्पी, आगमादिसेवी साधुवचनों का अपमानकर्ता व बिभीषण पर चरणप्रहारक रावण 'रावन' शब्द से बोध्य है।

उपर्युक्त (४०।६) व्याप्यात्मक अवज्ञाधात्वर्ध संप्रदान अकल्याण के आसन्न होने का समय 'जबहिं' से चिन्त्य है। वह बिभीषणत्याग में अधिकरणतया अन्वित है।

बिभीषनु त्यागा : भक्ति महारानी की सेवा में संलग्न व शब्दमात्रप्रतिपाद्य धर्माविरोधी तत्त्वानुष्ठान में प्रवृत्त श्रीरामसेवक बिभीषणजी 'बिभीषण' शब्द से बोध्य हैं। जो चिर काल से श्रीरामदर्शन के प्रति साकांक्ष थे।

अशुचित्व से आक्रान्त लंका को, त्यागने के अनुकूल समय देखकर उसे त्यागना 'त्यागा' है।

भयउ बिभव बिनु : त्याग के उत्तरक्षण में ही ऐश्वर्य ने अपने को अनाश्रित समझकर त्यागना 'भयउ बिभव बिनु' है। 'बिभव' से तपःप्रयुक्त सफल संकल्प मात्र से साध्य ऐश्वर्य ज्ञातव्य है वह लंका में अभी तक अभिलाषमात्रोपनीत हो रहा था उसी को आगम ने क्रोधित हो रावण से दूर होने को कहा। इस प्रकार सर्वविध विभवस्य सर्वेषामायुषश्च क्षयः 'बिनु' से स्फुट है।

ध्यातव्य है कि 'निगमागमोभयसाधारण्येन साधुअवज्ञा विभवनाशं प्रति कारणं' ऐसा स्वतन्त्र कार्य-कारणभाव व व्याप्यव्यापकभाव शिवजी ने बताकर साधु नीतिमानों को साधुअवज्ञारूप महाविपत्ति निदानात्मक कुपथ्य से दूर रहने का उपदेश देना उनका लक्ष्यबिन्दु मालूम होता है। यही तथ्य अयोध्याकाण्ड में श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी को समझाते हुए चित्रकूट में अपने को साधुसभांकुश में रहने का संकेत किया। फलतः निगमागम की एकवाक्यता सभी विद्वानों के लिए सदा मननीय है। उसके टूटने पर अभेद्य कहलाने वाला दुर्ग भी भेद्य हो जाता है उसमें विस्मय नहीं करना चाहिए। जैसा कि भाग्य ने क्षीण होना, व्यसनी होना, मदमानमत्त होना, प्रभु की उपेक्षा का भाजन होना, सम्पूर्ण विद्याओं का

निर्वीर्य होना इत्यादि विषयों को समझाने से सुन्दरकाण्ड का सौन्दर्य प्रगट है।

तबहिं : 'तबहिं' से 'यदा-यदा साध्ववज्ञा तदा तदा विभवनाशो, भाग्यनाश:, कार्याकार्ययो: मोहो विपत्तिनिदानं' यह व्याप्ति स्पष्ट है। उक्त व्याप्ति के निर्णय को सुनकर दुष्ट के घर में रही सम्पत्ति व साधु के घर में रही असम्पत्ति से तत्तद्वान् के प्रति क्रमश: भगवत्कृपा या भगवदुपेक्षा का निर्णय करना उचित नहीं किन्तु साधुकर्मक अवज्ञा को ही हेतुरूप में मानने का संकेत प्राप्त है।

अभागा : तपस्या के प्रभाव से सर्वथा सुरक्षित लंकाराज्य के अधिपति रावण ने साधुअवज्ञा से अचिरात् ध्वस्त होना उसका 'अभागा'पन है। गुर्ववज्ञाजन्य दुरदृष्ट ने रावण के मदमान को स्थिर रखा फलस्वरूप में वह दशानन तपस्वी विद्वान् होने पर भी मदमान में ही डूबता रहा जिससे उसकी बुद्धि अभिभूत होती गई मोह बढ़ता गया जो विजिगीषु के द्वारा प्राप्तव्य पराभव का प्रधान कारण है। इस प्रकार अजितेन्द्रिय रावण का दुर्गहीन होना उसके 'अभागा'पन से ध्वनित है।

ज्ञातव्य है कि रावण ने स्वपक्ष को भेदनीति के माध्यम से छिन्न-भिन्न किया जिससे विजयानुकूल देशकालानुकूल्य से वह पूर्ण वंचित रहा एवंच प्रकाशयुद्ध में उसने अपने को मृत्यु का अधिकारी बना लिया यही कुमतिप्रतिष्ठा का परिणाम है। इस रीति से सिद्धान्तपक्ष की ओर से कुमति बलवती होने पर भी कुमति ने दृश्यमात्र में रही जगद्वध्यता व्याप्ति को व्यभिचार के दोष से बचा लिया।

संगति—दोहा ४२ चौपाई १ से सम्बन्ध जोड़ते हुए नभोमार्ग को पार करते बिभीषणजी ने जो प्रश्नोत्तर हृदय में प्राप्त किए उनके प्रकाशन का उपक्रम शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं । करत मनोरथ बहु मन माहीं॥ ४॥

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी को अभिमुख कर उत्तर दिशा की ओर हर्षपूर्वक चलते हुए बिभीषणजी चित्त में अनेकों मनोरथ (प्रश्नोत्तर) कर रहे हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

चलेउ हरषि : रावणकृतभर्त्सना श्रीरामरूप इष्ट की प्राप्ति का कारण हो रही है। अत: प्रस्तुत यात्रा में रही इष्टप्राप्ति व भर्त्सना में श्रीरामप्राप्त्युपधायकता जानकर बिभीषणजी को हर्ष हो रहा है फलत: अपमानादिनिमित्तक व्यथादि का अनुभव न होना तथा चलने में आवेग व तीव्रता होने पर भी श्रम न होना 'चलेउ हरषि' वचन से इंगित हो रहा है।

रघुनायक पाहीं : बिभीषणजी की गति की अभिमुख दिशा में विराजनेवाले श्रीराम 'रघुनायक' से बोध्य हैं। 'पाहीं' से श्रीराम की प्राप्यकर्मता उल्लिखित है।

करत मनोरथ : वक्ष्यमाणफलप्राप्ति के साधक व बाधकाभावसम्बन्धी मानसिक चिन्तन का होना 'मनोरथ' है अत: बिभीषणजी का चलना मानोरथिक सुख से ओतप्रोत मालूम होता है।

मन माहीं : मानोरथिक सुख का साधन इन्द्रिय 'मन' से बोध्य है। मानसप्रत्यक्षविषय व चाक्षुषप्रत्यक्षविषय की यथार्थ अभिन्नता परत: प्रमाणतया गृहीत होने में 'मन माहीं' ध्यातव्य है।

अथवा—भारतीय विशाल भूमि के दण्डक प्रदेश से उच्छिन्न धर्म-नीति की पुन: उसी प्रदेश में स्थापना करने के उद्देश्य से अवतीर्ण श्रीराम की कार्यपूर्ति में सहायक रूप से शत्रुपक्ष से समागत व्यक्ति (बिभीषणजी) को विजीगिषुपक्ष ने स्वीकृत करना मानसिक मनोरथ है। इस मनोरथ की पूर्णता में निगमागमसम्मत श्रीरामतत्व की सेवा करने का सौभाग्य बिभीषणजी को प्राप्त होगा। परिणाम में अनुष्ठानत: सर्वविद्याएँ समुच्चित हो आपस में घुलकर दण्डकादि देश में विचरती रहेंगी। इसके उदाहरण रूप में भरतचरित्र स्मर्तव्य है। उन्होंने विद्या के बलाबल को देखकर समयानुरूपतया उन-उन विद्याओं को प्रचारित करते चित्रकूट में पहुँचने के बाद सम्पूर्ण विद्याओं को एकसूत्र में बाँध कर त्रयीधर्म की पूर्ण स्थापना की। यद्यपि शिवजी ने बिभीषणजी के भक्तिसिद्धान्त से मनोरथ को विस्तार के साथ गाया है तथापि बिभीषणजी को श्रीरामजी से मिलने का आदेश प्राप्त होने तक जो भी संवाद हुए हैं उनमें प्रस्तावित शंकासमाधान भी राजनीति के मत में 'बहु' से बोध्य हैं जो राजनीतिवेत्ताओं के लिए मननीय हैं।

संगति—बहुत मनोरथों में से भक्तिसिद्धान्तानुसार बिभीषणजी के प्रमुख ध्येय तत्व श्रीराममूर्ति पूर्णतया दृश्य होने की आशा में उन्होंने जो सोचा उसको शिवजी विस्तार के साथ गा रहे हैं।

चौपाई— *देखिहउँ जाइ चरन जलजाता । अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ॥ ५ ॥*
जे पद परसि तरीं रिषिनारी । दण्डक कानन पावनकारी ॥ ६ ॥
जे पद जनकसुताँ उर लाए । कपट कुरंग संग धर धाए ॥ ७ ॥
हर उर सर सरोज पद जेई । अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई ॥ ८ ॥

भावार्थ—उस पार पहुँचकर मैं अति शीतल मृदु व सुखदायी चरणों को देखूँगा। मुनिपत्नी को तारने वाले, दण्डकवन को पवित्र करने वाले, छली मृग के पीछे दौड़ने वाले जिन चरणों का निवास सीताजी के हृदय में है श्रीविश्वेश्वर के हृदयरूपी सरोवर में रमने वाले उन कमलात्मक पदों को आज मैं देखूँगा यह मेरा परम सौभाग्य है।

शास्त्रीय व्याख्या

देखिहउँ : 'देखिहउँ' से आज तक सातत्येन समृद्धि के पथ पर बढ़ते रहे मनोरथ की प्रमुखता व्यक्त कर रहे हैं जो बिभीषणजी के अति उत्सुकता का व्यंजक भी है।

जाइ : जाने का कर्म परतीर है उसकी प्राप्त्यर्थ जाना 'जाइ' है। अत्युत्कट मनोरथ में रहे बिभीषणजी अभी तक लंका में स्वस्थ कैसे बैठे रहे? इसके उत्तर में भक्ति-सिद्धान्तानुसार यहाँ भाग्यवाद स्मरणीय है। प्रभु ने रावण की सेवाहेतु बिभीषणजी को अनुज बनाकर भेजा वह सेवा प्रभु से भेंट कराकर रहेगी। इस आशा में उनका लंकानिवास बिभीषणजी की श्रीरामभक्ति है। इससे स्पष्ट है कि बड़े भाई रावण की सेवा करने पर भी उन्होंने रावण से धनादि भोग की आकांक्षा कभी नहीं की न तो स्वयं भक्तिविरोधी कार्य करने हेतु अग्रसर हुए। फलत: श्रीरामजी भक्त बिभीषणजी की सेवा से आकृष्ट हो सीताव्याज से समुद्रतीर पर आ पहुँचे।

राजनीतिमत से बिभीषणकृत अनुजसेवाकार्य, एक महान् आदर्श है जिसमें विश्वास्यता

व भक्तिसम्मान आदि नीतितत्व प्रगट हो रहे हैं। इससे भक्तिसम्मान में श्रीरामदर्शनोपधायकता समझनी है भक्ति ने बिभीषणजी को रावणकृतप्रहार के बहाने लंका त्यागने की प्रेरणा दी है। उसके पीछे हनुमद्दर्शन का योगदान भी सहायक है क्योंकि सत्संग अपवर्ग का हेतु माना गया है जो भक्त के अन्तिम जन्म का सूचक है।

चरन जलजाता : उत्सुकतापूर्ण दर्शनात्मक मनोरथ का विषय 'चरन' से समझाया है।

प्रभुचरणों के प्रति भक्तों का यह अनुभव है कि चरणद्वय का प्रवेश हृदय में होते ही भक्त को आप्तकामता अनुभूत होती है जैसा कि 'इच्छापिधानं निजपादपल्लवं' से श्रीमद्भागवत में स्फुट है। जिस भाव से भक्त के द्वारा चरण अपेक्षित रूप में चिन्तित होंगे। वे उसी रूप में दृश्य होंगे। तत्सम्बन्ध से चरणधूलि भी वैसी ही दृश्य व प्रणम्य होगी। फलतः उपासक मोह से आवृत नहीं होगा। जैसा कि बालकाण्डीय मंगलाचरण में उक्त है। इस प्रकार 'चरन' की परमातिशयित दर्शनयोग्यता व अनुपेक्ष्यता स्पष्ट है। 'जलजाता' वर्णनमात्रपरक न होकर वैयंजनिकपरक है इसलिए कि प्रभु के चरण अति कोमल हैं।

अथवा—'जलजाता' कहकर प्रभु श्रीराम की शुद्ध सत्वप्रकृति को बिभीषणजी ने अपनी शुद्ध प्रतिभा के माध्यम से मानस में प्रकाशित किया है। इस प्रकाशन की उपयोगिता श्रीराम की कार्यसिद्धि के पीछे अपेक्षित नीति के आधारभूत सत्त्व को दर्शाने में है। 'चरन' से बुद्धि स्फुट है। ऐसी सत्वप्रचुर बुद्धि के अधिष्ठाता शास्त्रनीतिसमन्वित भक्ति के अनुगन्ता श्रीराम के प्रति निगमागमसम्मति भी इंगित है।

अरुन : अति कोमल प्रभुचरणों की लालिमा चक्षुष् के लिए स्पृहणीय हो रही है। आरुण्यादि गुणों के उल्लेख से चरण में जलजगतसाधर्म्य ध्वनित करना कविकौशल है।

मृदुल : 'मृदुल' से त्वगिन्द्रियस्पृहणीयता व्यक्त है।

ज्ञातव्य है कि शुद्ध सत्व शीतल तेजोमय मृदुल आनन्दात्मा के समान संसार में कोई भी दूसरा न होने से वैसी आरुण्यसंपृक्त मृदुलता एकमात्र श्रीरामचरण में ही है।

चरण दर्शन की अर्हता

श्रीरामचरित्र के समीक्षक बिभीषणजी ने शरणभूत श्रीराम के कतिपय चरित्र ध्यान में लाए मालूम होते हैं। जैसे—(१) नारदशापानुगमन में निश्छल चारित्र्य हेतु शास्त्रमर्यादामात्रानुसरण। (२) पंचवटी में रहे श्रीसीताराम के विरोध में परराष्ट्रिय नेता का राजनैतिक दुष्ट चरित्र। (३) शास्त्र-नीति के आदेशों के पालक साधुओं से मिलकर उनको स्व कार्य में रत रहने का आदेश देना एवं (४) श्रीराम ने निराकांक्ष होते हुए भी साकांक्ष हो शत्रुपक्षपीड़ितों से भेंट करने की प्रतीक्षा करना। इत्यादि तत्वों को यथार्थतया समझकर श्रीरामचरण प्राप्त होने की आकांक्षापूर्त्यर्थ बिभिषणजी लंका से श्रीरामदिदृक्षा में आ रहे हैं फलतः उभय पक्ष (श्रीराम-बिभिषण) में रही उत्कट आकांक्षा मीमांसानुसार प्रकरण में पर्यवसित है। तथापि उत्कटैकतर बिभीषणाकांक्षा के अनुरूप गुणसंपत्ति अपने में दर्शाना श्रीरामचरण की दयालुतात्मक विशेषता है।

सेवक सुखदाता : जिनका उद्देश्य विधेय एकमात्र श्रीरामादेशपालन ही है वे सेवक हैं उसी पंक्ति में बिभीषणजी आते हैं। सेवकों को जब कभी तपस्, श्रद्धा व संघ के प्रति

शंकाएँ उदित होती है तब उसका समाधान श्रीरामचरण का ध्यान करने पर प्राप्त हो जाता है उसमें प्राप्त हुआ आनन्द सेवकों के लिए अनिर्वचनीय होता है। उसी अनुभव को 'सेवक सुखदाता' कहकर व्यक्त किया है।

जे पद : 'जे पद' आठवीं चौपाई में गाए 'देखिहउँ तेई' से अन्वित है। लक्षणज्ञ बिभीषणजी ने महर्षि पुलस्त्य व पुराणादि के माध्यम से 'श्रीरामचरणौ प्रभोः सेव्यस्य पादारविन्दे नान्यस्य' ऐसा निर्णय किया है पर 'पुरः उपस्थितौ प्रभोरेव' ऐसा निर्णय केवल शब्दप्रमाण से नहीं समझा जा सकता। अतः निगमागम ने 'मुनिपत्न्युद्धार' आदि लक्षण निरूपित किये हैं। उन लक्षणात्मक हेतुओं को देखकर बिभीषणजी 'श्रीरामचरणौ प्रभोरेव' ऐसा निर्णय करने में समर्थ हुए हैं। वे पद 'जे पद' से विवक्षित हैं।

तरीं रिषिनारी : 'जे पद' शीर्षक वाक्यार्थ का साधक 'तरीं रिषिनारी' यह हेतु-वाक्य है।

पाषाणशरीर से वेष्टित जीव को उस शरीर से पृथक् कर मुनिपत्नीशरीर से सम्बद्ध करना 'तरीं' से समझना है।

'रिषिनारी' से गौतमपत्नी ज्ञातव्य है। जो वेद और पुराण में प्रसिद्ध अहल्या से संकेतित है।

शिला ने पत्नी के रूप में प्रगट हो मुनि को नमस्कार करना और उसको पवित्रात्मा गौतमजी ने स्वीकारना प्रत्यक्षवेद्य होने के साथ श्रुति की एकवाक्यता को ध्यात कर 'अयम् प्रभुः शरणं' ऐसा निर्णय होना आगमानुयायियों के लिए चिन्तनीय है।

दण्डक कानन : त्रयी के प्रतिष्ठापरक ब्रह्माजी के मानस पुत्र भृगुजीने भोजवंश में अवतीर्ण दण्डक राजा के अपचार से देश की अशुचिता देखकर उसको शापित किया। फलतः वह देश धर्मकृत्य के अनुकूल न रहा। ऐसा वह देश 'दण्डक वन' से प्रसिद्ध है।

पावनकारी : प्रत्यक्ष व त्रयीप्रमित अशुचि देश में श्रीराम ने रहकर स्वयं अपवित्र न होते हुए राक्षससमूह को ध्वस्त कर उक्त देश की पवित्रता स्थापित की। अब उस देश ने धर्मप्रतिष्ठापक विप्रवृन्दों के लिए निवासार्ह होना 'पावनकारी' से स्पष्ट है।

जे पद : 'जे पद' पूर्व चौपाई में व्याख्यात है वह 'उर लाए' से अन्वित है।

जनकसुता : 'जनकसुता' से ब्रह्मविद्या विवक्षित है वह सर्वथा विषयों से असंस्पृष्ट हो श्रीरामादेशपालनकर्त्री व पूर्णतया अन्तर्मुखी होने से दुःखग्रस्त नहीं है।

उर लाए : विमुक्तात्मा जनकसुता जानकीजी ने विषयविधया सदा चिन्ताव्यापारेण श्रीरामपद को हृदय में रखना 'उर लाए' है।

संग धर धाए : श्रीमद्भागवत में वर्णित दक्षिणागमात्मक पांचरात्रसंहितासम्मत तत्व 'कपट कुरंग संग धर धाए' से ध्वनित है जैसा कि—

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष! ते चरणारविन्दम्॥[१]

में उक्त है। इस प्रकार सात्वतन्त्रात्मक आगमसम्मतत्व भी स्पष्ट है।

---

[१] श्रीमद्भागवत ११।५।३४

हर : शिवजी समस्त आगम के प्रथम आचार्य हैं 'हर' कहने से उनका स्वभाव विशेषतया स्फुट हो रहा है, यह कि वे अपने उपासकों को ईप्सित वर देते हैं। वर पाकर उपासक यदि दृप्त हो निगम या आगम की अवहेलना करते हैं तो महेश्वर उपासकों को दत्त समस्त वर की शक्ति को अपकृष्ट कर देते हैं। जैसा कि सीताजी पर चलाये चन्द्रहास से व्यक्त हैं।

उर सर : शिवजी का हृदय राजपुत्र श्रीरामचरणों के प्रति प्रीतिमान् होता हुआ मम भाव में पूर्ण ओतप्रोत द्रवीभावापन्न है। द्रवीभावापन्न की सार्वकालिक अभिव्यक्ति से 'उर' को 'सर' की संज्ञा दी है।

सरोज पद : 'सरोज पद' का पारमार्थिक अर्थ भगवदुक्त पुराणादि ग्रन्थ व तर्क हैं; जो भक्तों को धैर्य के साथ शीतलता प्रदान करते हैं तथा ध्यानस्थ योगियों को होने वाले ताप का शमन करते हैं।

अहोभाग्य : राजनीति के अनुगन्ता निराकांक्ष श्रीराम ने सापेक्षता व्यक्त करना तथा शास्त्रानुसरणसंकल्प के चारितार्थ्य में रहे राजपुत्र की सेवा का अवसर पाने में बिभीषणजी अपना अहोभाग्य समझ रहे हैं। जो हनुमत्सत्संग से उद्‌बुद्ध जिज्ञास के विषय हुए हैं।

मै : उभयाकांक्षाप्रकरण (श्रीराघवेन्द्र व बिभीषणजी) से सम्बद्ध होने वाले बिभीषणजी मच्छब्दार्थ हैं।

देखिहउँ : 'अहोभाग्य' शीर्षक के अनुसार बिभीषणजी की आकांक्षापूर्ति की अवश्यंभाविता 'देखिहउँ' का भाव है।

तेई : 'तेई' का सम्बन्ध 'जेइ' से है। पूर्व चौपाई में उक्त 'उर लाए' आदि से विशिष्ट श्रीरामचरण 'तेई' शब्दार्थ है। ज्ञातव्य है कि जिन चरणों के शरण में पहुँचना है प्रस्तुत में वे चरण स्वयं ही उपस्थित हैं ऐसी प्रत्यभिज्ञा के यथार्थ निर्णयार्थ 'जेई' सम्बद्ध प्रमाणत्रय-प्रमितत्व का सम्बन्ध 'तेई' से दर्शाया है।

संगति—श्रुत्यर्थ श्रीरामचरण व उपस्थित राजपुत्र श्रीरामचरण का अभेद प्रतीत होने पर कहना यह है कि उन चरणारविन्दों के द्वारा अपनी मनोरथपूर्ति भी निर्णीत है क्योंकि वे अभी तक भक्तों की मनोरथपूर्ति करते आए हैं। इसके स्फुटीकरण में दशरथनन्दन श्रीरामचरित्रों को याद कर रहे हैं।

दोहा— ***जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरत रहे मन लाइ।***
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥ ४२॥

भावार्थ—जिनके चरण की पादुका को भरतजी ने अपने हृदय में रखा है। उनके चरणों को आज मैं इन आँखों से देखूँगा।

शास्त्रीय व्याख्या

जिन्ह पायन्ह : ब्रह्मदण्ड से पीड़ित मुनिपत्नी का उद्धार करने वाले, दण्डक वन को पवित्र करने वाले एवं जनकसुता शिवजी के हृदय में निवास करने वाले प्रभु के सरोजपद 'जिन्ह पायन्ह' से ध्वनित हैं।

पादुकन्हि : प्रभुचरणशक्ति जिस खड़ाऊ में तेजोरूप से निवास कर रही है वह

पादुका 'पादुकन्हि' से बोध है।

ज्ञातव्य है कि तेजस्सम्पन्न पादुका प्रभु ने स्वयं होकर भरतजी को सौंपी उसके पीछे आगमाविरोधी निगमसेवी भरतजी की प्रसन्नता चिन्तनीय है क्योंकि आन्वीक्षिकीकौशल से विद्याओं का बलाबल सोचकर तदनुगुणतया भरतजीने विद्याओं का समुचित उपयोग किया है। वैसे सेवक के मनोरथ को पूर्ण करना रघुनाथजी का सहज स्वभाव है। ऐसा ही विनय बिभीषणजी के चरित्र में उनकी सुमति से अनुमित हो रहा है। उसी के बल से वे प्रभु के द्वारा स्वमनोरथपूर्ति की आशा रखते हैं। इस आशा की पूर्णता को समझाने में 'पादुकन्हि' कहा है।

भरत : अपने अधिकार को समझकर अवधराज्य के प्रति सन्तुष्टि प्रगट न कर, ईर्ष्या, असूयारहित निश्छल हो प्रभु के आदेशमात्र को शिरोधार्य करते हुए तदविरोधेन पादुकाभिक्षार्थी भक्त भरतजी 'भरत' शब्द से बोध्य हैं।

मन लाइ : उपर्युक्त रीति से पादुका को हृदय में सदा के लिए रखना 'मन लाइ' है।

ते पद : भरतसाधर्म्य स्व में समझकर मनोरथपूर्ति की पूर्ण आशा में 'ते पद' आदि कहा है।

बिलोकिहउँ : भरतसाधर्म्यसम्पन्न बिभीषणजी अपने में प्राप्तव्यदर्शनकर्तृत्वाधिकार समझकर 'बिलोकिहउँ' कह रहे हैं। निगमाविरोधेन आगम की सेवा करते हुए मुझ पर हनुमान्‌जी ने अनुग्रह किया है, वे मेरी ओर से श्रीराम को शरण मानने हेतु प्रसन्नता व्यक्त करेंगे फलतः 'बिलोकिहउँ' मनोरथ सफल होकर रहेगा।

इन्ह नयनन्हि : राजनीतिमतेन अनार्यस्वभाववान् प्रत्यन्तवासियों ने भारतवासियों को या भारतवासियों ने प्रत्यन्तवासियों को साथ रहना समानशीलव्यसन न होने से दुर्लभ है फिर भी प्रेमपूर्वक अनार्य ने आर्य को देखने का सौभाग्य प्राप्त होना विस्मयकर हो रहा है जो 'इन्ह' से ध्वनित किया है।

त्वक् व मनस् इन्द्रिय के लिए अवेद्य होने पर भी श्रीरामचरणों ने चक्षुरिन्द्रिय के लिए योग्य होने में सामग्री प्राप्त कराना 'नयनन्हि' से स्पष्ट है। इस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय की प्राप्यकारिता की सार्थकता ज्ञातव्य है।

अब जाइ : आगम-निगमानुयायी श्रीराम के रूप में प्रभु का अवतरण होने से उनका दर्शन होना सम्भव नहीं इसलिए कि वर्णाश्रमसेवी अति शुचि को आटविकों का संग होने में नैतिक प्रतिबन्ध था अभी वह प्रतिबन्ध नहीं रहा क्योंकि परस्पर साकांक्ष गुणवानों को पारस्परिक दर्शन करने में आन्वीक्षिकीसंपृक्त नीति ने उपर्युक्त प्रतिबन्ध को संकुचित किया है। अतः अब दर्शन होना निश्चित होने से 'अब जाइ' कहा है।

उक्त योग्यताप्राप्ति होने से देखने का समय 'अब' का निष्कर्ष है।

'जाइ' के लिए जितना विलम्ब होना अपेक्षित है उतना ही विलम्ब देखने के प्रति समझाया है।

संगति—गमनव्यापार से प्राप्तव्य अप्रतिहत फलसिद्धि सुना रहे हैं जो श्रीरामदर्शन के प्रति दैवानुकूल्य का बोधक है।

चौपाई— एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा । आयउ सपदि सिन्धु एहिं पारा ॥ १ ॥

भावार्थ—इस प्रकार बिभीषणजी साथियों सहित प्रीतिपूर्वक विचार करते हुए अतिशीघ्र सिन्धु के इस तीर पर आ पहुँचे।

शास्त्रीय व्याख्या

एहि बिधि : राजपुत्रचरण व प्रभुरूप में स्थित श्रीरामचरण के स्वरूप में अभेदानुमापक ऋषिपत्न्युद्धारक व तदतिरिक्त निगमागमसम्मत तत्त्व के आश्रय में रहने वाले भक्तों की मनोरथपूर्तिकर्ता के चरित्र 'एहि बिधि' से चिन्त्य हैं।

'एहि बिधि' 'बिचारा' से अन्वित है।

करत सप्रेम : चौपाई ४ 'करत मनोरथ' से दोहा ४२ 'अब जाइ' तक के लम्बे विचारनिरूपण में श्रीराम के त्याग, सत्य व शौर्यसम्बन्धी चरित्र के विचारों की विविधता इतनी लम्बी हुई कि सौ योजन लम्बा सामुद्रिक आकाशमार्ग विना परिश्रम के पार हुआ। जो 'करत' से स्फुट है। 'करत' 'बिचारा' से अन्वित है।

'श्रीरामो मे चिन्तितं हितं साधयेत्' ऐसा अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित निश्चय प्रेम है।

'स+प्रेम' क्रियाविशेषण है। उसके कहने से तर्कतः उक्त निश्चय में दार्ढ्य होकर बुध्यष्टगुणात्मक तत्वाभिनिवेश में पहुँचना समझाया है।

बिचारा : तत्वाभिनिवेश की ओर दृष्टि पहुँचाने वाला सत्परामर्श 'बिचारा' है।

प्रसंगात् कहना यह है कि निगमागमसम्मत श्रीरामतत्व की पुष्टि में अपेक्षाकृत विषय-गान करना कविकौशल है।

आयउ सपदि सिन्धु एहिं पारा : चरणचिन्तन में एकाग्र मनोवृत्ति होने से शरीर में श्रमानुभूति न होना 'आयउ' से इंगित है।

आवेग से आने की गति 'सपदि' से स्फुट है।

सिन्धु का उत्तर तीर 'एहि पारा' है जहाँ सदलबल श्रीराम समासीन हैं। इस पार पहुँचकर श्रीरामचरणप्राप्ति होना बिभीषणजी के लिए नीतिमत से संध्यादि षड्गुणों के अन्तर्गत,समाश्रय कहना होगा क्योंकि रावणादि सभी शत्रुओं से श्रीराम अधिक बलवान् है। इस प्रकार आश्रयार्थी ने किया लंकात्याग पूर्णतया निरूपित हुआ।

संगति—शत्रुपक्ष की ओर से आए अज्ञात शरणार्थी की अभिलाषापूर्ति के पूर्व विजिगीषु (श्रीराम) ने स्वपक्ष का सर्वविध समर्थन होने की अपेक्षा ध्यान में लाने के पश्चात् अभ्यागत को भेंट देना नीतिसम्मत होगा। इस तथ्य के अनुगमन में कवि विजिगीषु के कर्मसचिवों ने अभ्यागत के प्रति भेंट देने हेतु किए समर्थनसंबंधी विचारों का निरूण प्रारम्भ कर रहे हैं।

चौपाई— कपिन्ह बिभीषनु आवत देखा । जाना कोउ रिपु दूत बिसेषा ॥ २ ॥

भावार्थ—सजग कपियों ने (कर्मसचिवों ने) बिभीषणजी को आते देखकर उनको शत्रु की ओर से भेजा गया दूतविशेष समझा।

शास्त्रीय व्याख्या

कपिन्ह : परिग्रह (पड़ाव) के अन्तः रहे सचिव, सैनिक एवं ध्यान से चारों ओर

देखने वाले प्रहरी वानर 'कपिन्ह' से बोध्य हैं। वे धर्मानुशासित होने से प्रमादी नहीं हैं।

बिभीषनु आवत देखा : रावण की ओर से प्रताड़ित, हनुमच्छिक्षादीक्षित, श्रीसीताराम-चरणोपासक अभ्यागत आश्रयार्थी साधु बिभीषणजी 'बिभीषनु' पद से कथित हैं।

स्वपरिग्रहाभिमुख हो दक्षिण दिशा से नभोमार्गागमनकर्तृबिभीषणदर्शन 'आवत देखा' से कहा गया है।

जाना : साकांक्ष अर्थज्ञानकारणज बोध 'जाना' से बोध्य है। यत: बिना पदज्ञान के अर्थसंकेतप्रयुक्त क्रिया को समझकर श्रोता या द्रष्टा को विषय परिचित हो जाय तो वैसा समझना भी बोध ही माना जाता है जो मीमांसासम्मत है। अर्थात् कपियों ने बिभीषणजी के आन्तरिक भाव को उनकी चेष्टा से समझ जाना 'जाना' का निष्कर्ष है।

कोउ रिपु दूत : बिभीषणजी को आते देखकर उनके प्रति जिज्ञासा का विषय 'कोउ' से स्फुट कर रहे हैं। दक्षिण दिशा से अभ्यागत का आगमन देखकर प्रकरणत: ज्ञात होना स्वाभाविक है कि प्रभुशक्ति (प्रभु, मंत्र उत्साह) से अपरिचित अरि ने अपनी ओर से हनुमत्पराक्रमानुमित सर्वविध उपचयसम्पन्न विजिगीषु से सन्धि करने हेतु निसृष्ट, परिमितार्थ व शासनहारक में से अन्यतम दूत बनाकर भेजा हुआ यह 'रिपु दूत' है।

बिसेषा : यह प्रकाशदूत है न कि गुप्तचर है। इसमें विश्वासाधायक सन्तलक्षण संपत्तिमत्ता होना 'बिसेषा' का भाव है। इसमें 'रिपु' अन्वित है जो शाकपार्थिवगण की तरह रिपुप्रेरित के रूप में ज्ञेय है।

संगति—जनपदनिवेश में परराष्ट्र से आये अभ्यागत व्यक्ति के आने की सूचना स्वामी विजिगीषु को देना कर्त्तव्य है। ऐसा सिद्धान्त याद कर प्रहरियों ने अपने स्वामी के सामने जाना सुना रहे हैं।

चौपाई— ताहि राखि कपीस पहिं आए। समाचार सब ताहि सुनाए॥ ३॥

भावार्थ—बिभीषणजी को उसी स्थान पर ठहरा कर प्रहरीदल ने कपिराज सुग्रीवजी से अभ्यागत के आने का वृत्तान्त सुनाया।

शास्त्रीय व्याख्या

ताहि राखि कपीस पहिं आए : अभ्यागत शरणार्थी बिभीषणजी तच्छब्दार्थ हैं। प्रकाशरूप में उपस्थित अभ्यागत में गलत शंका न होने से निरपराध बिभीषणजी को आदरपूर्वक सैन्यदल में ठहराना 'राखि' है।

सीधे श्रीराम के समीप में पहुँचकर उनको अभ्यागत के आने की सूचना देना मर्यादानुकूल नहीं है ऐसा सोचकर प्रहरीदल प्रथमत: उत्तरमन्त्री सुग्रीवजी के यहाँ पहुँचा जो 'कपीस पहिं आए' से व्यक्त है।

समाचार सब ताहि सुनाए : अभ्यागतविशेषागमनवृत्तान्त 'समाचार' है।

हनुमान्जी ने प्रथम भेंट के समय बिभीषणजी के शरीर पर देखा पुलकित्व, दृष्टि में रहा उल्लास-विकास-नैर्मल्य, प्रसादाकांक्षित्व, दैन्य, रावण के प्रति निर्वेद, श्रीरामदिदृक्षा आदि 'सब' से ज्ञातव्य हैं। प्रत्यक्षानुमान से निर्णय करने में समर्थ नीतिज्ञ कपीश सुग्रीवजी तच्छब्दार्थ हैं। जो प्रहरीदल के वचनों के श्रोता हैं।

अभ्यागतवृत्तान्तविषयकयथार्थ बोधानुकूल वचन सुनाना 'सुनाए' से बोध्य है।

संगति—शारीरिक स्थिति आदि अनुभाव सुनते ही पूर्वपरिचित अभ्यागत को रावण का भाई समझकर उसकी सूचना श्रीराम को देने हेतु सुग्रीवजी ने प्रभु के समीप में पहुँचकर उन्हें वृत्तान्त सुना रहे हैं।

चौपाई— *कह सुग्रीव सुनहु रघुराई । आवा मिलन दसानन भाई॥ ४॥*

भावार्थ—सुग्रीवजी विलम्ब न कर श्रीराम के समीप में पहुँचकर उनको रावण के भाई बिभीषणजी के आगमन की सूचना दी।

शास्त्रीय व्याख्या

कह : परराष्ट्रसम्बन्धी राजकार्य के उपस्थिति होने पर विलंब न करना 'कह' से ज्ञात है।

यद्यपि प्रहरीदल ने दूतविशेष कहा तथापि 'विशेष' शीर्षक की व्याख्या व पूर्वपरिचय के अनुसार सुग्रीवजी ने उनको रावण का भाई समझा है अत: उसके प्रति स्वत्वेन स्वीकृति या अस्वीकृति पर उपर्युपरिबुद्धि ने निर्णय करना होगा उसके अनुकूल निर्णय होने की अपेक्षा में 'सुनहु' कहकर सुग्रीवजी ने दशाननभ्राता की ओर श्रीरामजी का ध्यान आकृष्ट किया है।

रघुराई : समुद्रतीर पर पहुँचने के बाद अग्रिम रूपरेखा का निर्णय करने में संलग्न श्रीराम 'रघुराई' शब्द से बोध्य हैं।

अथवा—बिभीषणजी के प्रति जो व्यवहार कर्त्तव्यतया निर्णीत होगा वह सब राजा रघुपतिजी के अधीन है क्योंकि बिभीषणजी रावणभ्राता होने से स्वामिप्रकृति है इसलिए 'रघुराई' सम्बोधन सार्थक है।

आवा मिलन दसानन भाई : नीतिनिर्णयार्थ संक्षेप में विषयोपस्थापन करना 'आवा मिलन' का भाव है।

बिभीषणजी सन्तलक्षणयुक्तता के साथ सामान्यधर्मसम्पन्न, प्रमादरहित, साधुसभासेवी रावण के पूर्ण विश्वासपात्र दुलारे भाई होने से उन्हें 'दसानन भाई' कहा है।

'भाई' कहकर रावण की सुमतिमान् बिभीषणजी के प्रति सहज मित्रता बताई है।

संगति—'भाई' सुनते ही प्रभु के सामने एक ओर भरतजी दूसरी ओर वाली स्मृत्यारूढ़ हो दोनों के चरित्र कल्पित हुए। उनमें से एकतरकोटिकचरित्रसमशीलत्वनिर्णयार्थ मन्त्रिपरिषत्सदस्य सखा से मन्त्रणा हेतु प्रभु अंगतया जिज्ञासा प्रकट कर रहे हैं।

चौपाई— *कह प्रभु सखा बुझिऐ काहा । कहइ कपीस सुनहु नरनाहा॥ ५॥*

भावार्थ—प्रभु ने कहा कि हे सखे! तुम क्या सोचते हो? तब सुग्रीवजी उत्तर सुनाने के पूर्व प्रभु को नरनाथ से सम्बोधित कर अपना मत सुना रहे हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

कह प्रभु : शिवजी ने अग्रिम श्रीराम का चरित्र सुनाने के पूर्व अपनी ओर से 'कह' कहा है। इसलिए कि वक्ष्यमाण संवाद में नैतिक चरित्र अति आदर से चिन्त्य हैं। 'कह' कर्तृकारकतया 'प्रभु' से अन्वित है।

निग्रहानुग्रह सामर्थ्यवान् कर्मादिसकलकारकचक्र के प्रवर्तक श्रीराम 'प्रभु' शब्द से बोध्य हैं।

अथवा—स्वकीयसिद्धान्तपक्ष की स्थापना के पूर्व सखा से मन्त्रणा करने वाले श्रीराम 'प्रभु' शब्द से स्मर्तव्य हैं।

सखा : परराष्ट्रसम्बन्धिचिन्तन अति दुरूह होता है क्योंकि उसके छिद्र अतिगुप्त होते हैं। अभ्यागत परराष्ट्रिय व्यक्ति के प्रति यदि स्वयं निर्णय करते हैं तो मंत्रिमण्डल अप्रसन्न हो सकता है उस दोष से बचने हेतु मित्रगुणसम्पन्न, मन्त्रणा के योग्य, विवेकी, उत्तरमन्त्रिपरिषद् के सदस्य, विश्वासी, आप्त एवं विद्वान् सखित्व का भार वहन करने वाले होने से सुग्रीवजी को 'सखा' कहा है।

बुझिऐ काहा : परराष्ट्रागत व्यक्ति के शारीरिक, वाचिक, स्वाभाविक अनुभावों को पहिचान कर नीति निर्णीत करना 'बुझिऐ' का आशय है। 'काहा' से निर्णय की जिज्ञासा स्फुट है।

'बुझिऐ' शब्द पूर्वपक्षनिरूपणापरक है। वह पक्ष वृथा न होकर व्याप्तिपक्षधर्मतोभयविशिष्ट सद्धेतुनिर्णयार्थ अपेक्षित होने से सार्थक है।

कहइ कपीस : 'कहइ कपीस' शिवजी का वचन है।

ज्ञातव्य है कि पूर्वपक्ष के पूर्व शिवजी ने 'कह प्रभु' कहा अभी पुनः सुग्रीववचन सुनाने के पूर्व भक्तशिरोमणि शिवजी 'कहइ कपीस' कह रहे हैं उसका आशय मन्त्रबीजवपन के साथ श्रीराम-सुग्रीव वचनों के प्रति नीति व भक्ति की गरिमा समझाने में है।

'कहइ कपीस' से नेतृरूप में स्थित सुग्रीवजी के अग्रिम अभिमत में सबकी (बन्दरों) एकवाक्यता सूचित हैं।

सुनहु : परराष्ट्र से आए शरणार्थी में शत्रुभाव की सम्भावना में 'सुनहु' कहा है।

नरनाहा : नीतिसमृद्ध त्रयी की स्थापना वर्णाश्रमराज्य में कर्त्तव्य है तदधिकृततया विवक्षित मानवसमाज 'नर' शब्द से बोध्य है। त्रयीप्रभृति विद्याओं में अधिकृत नरों के पालन, प्रीणन आदि के प्रति कृतसंकल्प होना 'नरनाहा' से स्फुट है।

संगति—'सुनहु' के अनन्तर सुग्रीवजी प्रथमतः सीमित बुद्धिदण्डोभय शक्तिमानों के मत से नीतिमताभिप्रेत सैद्धान्तिक तत्त्व सुना रहे हैं।

चौपाई— जानि न जाइ निसाचर माया । काम रूप केहि कारन आया॥ ६॥
भेद हमार लेन सठ आवा । राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥ ७॥

भावार्थ—मायाकुशल राक्षसों की वंचना (सर्वथा अर्थाभाव) जानी नहीं जा सकती। अभ्यागतोपस्थापन के पीछे मायावी रावण का क्या हेतु है कहना कठिन है। हो सकता है कि यह हम लोगों का छिद्र या दुश्चेष्टतया यथावदुन्नीत कृत्य पक्ष समझने के लिए आया हो। इनके मनस्, वचन व करनी में एकरूपता नहीं होती। अतः इसको बाँधकर रखना ही श्रेयस्कर नीति है जो सीमित बुद्धिदण्डोभय शक्तिमदभिमत है।

शास्त्रीय व्याख्या

जानि न जाइ : 'जानि न जाइ' 'माया' से अन्वित है। यथार्थज्ञानविषयता न होना

'जानि न जाइ' से बोध्य है। मायावी के कल्पित विषय में तद्वत्ता के साथ ज्ञाता को इन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से असंबद्ध विषय प्राय: बाधित होते हैं या तो तद्वत्ता के प्रति प्रमाणिकतत्त्व तिरोहित होता रहता है।

निसाचर माया : माया की अधिकृत जातिविशेष 'निसाचर' से बोध्य है। माया निशाचरों की जीवनसंगिनी है जो सृष्टि के आदि में ही ब्रह्माजी से उन्हें प्राप्त है।

अभिमुख को वंचित करते रहना ही 'माया' है वह मानुषी और अमानुषी रूप में विभक्त है। अमानुषी दिव्या होती है। इसमें देह को रूपान्तरित करना सहज है। राजाओं के समीप में तापसव्यंजन, भिक्षुक, बटु आदि मानुषी माया के प्रणयनार्थ नियुक्त किये जाते हैं जो गुप्तचर का कार्य करते हैं वे सत्यव्रतों से इतर वेषान्तर में अति निपुण होते हैं।

कामरूप केहि कारन आया : अमानुष होकर मानुष की तरह रूप धारण करना उनकी कामरूपता है।

प्रयोजनार्थक 'कारण' शब्द 'केहि कारन' से उल्लिखित है। नीतिदृष्टि से कतिपय कारण सुग्रीवजी स्वयं आगे वर्णित करेंगे।

भेद हमार लेन : माया के सामान्य प्रयोजन के विचार से 'भेद' कहा है।

शंकोत्पत्ति से वानरदल में भेद की प्रसक्ति होना कठिन नहीं है क्योंकि हमलोगों का संघ अति विपुल है उनमें सभी वानर तर्ककुशल न होने से अकुशल वानर शत्रु की प्रशंसा सुनकर, तर्ककुशल वानरों के प्रति शंकित हो सकते हैं। फलत: अभ्यागत राक्षस आपसे या हमसे वानरों को विश्लिष्ट कर अभिन्न को भिन्न करने में सफल हो सकता है। अभ्यागत के प्रयत्न से वानरों में किसी प्रकार भ्रम, भय, शंका उत्पन्न हो जाय तो उनका विश्लिष्ट होना सम्भव है। उसको सुग्रीवजी ने 'भेद' कहकर प्रभु के सामने मन्त्रबीज रूप में अपना पूर्वपक्ष स्थापित किया है।

सठ आवा : मनस्यन्यत् जैसी स्थिति के आचरिता, कल्याण का अकर्ता, कलह-संवर्धनकर्ता अभ्यागत 'सठ' से ज्ञेय है। सुग्रीवजी शरणागत को शठ तदन्य अन्यतर कह रहे हैं अर्थात् शठत्वाभावविशिष्ट शरणागत आश्रयार्थी है तो उसको आश्रय देना नीति है। यदि शठ स्वभावसम्पन्न मायावी हो तो अभ्यागत अभयदान का पात्र नहीं है। नीतिमत में किसी पर विश्वास रखना सुसंगत नहीं माना जाता उसमें भी यदि परराष्ट्र से अकारणात् कारणाद्वा विश्लिष्ट हो तो वह विश्वासार्ह है ऐसा सर्वथा नहीं माना जाता। अत: उसे 'सठ' कहना उपपन्न है।

वानर परिग्रहा (छावनी)-भिमुख कर्मक संयोगानुकूल व्यापार 'आवा' शब्द से बोध्य है।

पूर्णतया छिद्रान्वेषण कर वानरदल में शंका तर्जन अन्यतर उत्पन्न कराकर वानरदल को अशुचि बनाते हुए उस छिद्र में प्रवेश करने हेतु आना 'आवा' से संकेतित है।

राखिअ बाँधि : स्वदण्ड (सैनिक) की रक्षा के प्रति अकौशल या अपनय (छिद्र) देखने हेतु अभ्यागत व्यक्ति ने शत्रु को मर्म बताने का अवसर न देने हेतु उसको यहीं पर बाँधकर रखना 'राखिअ बाँधि' है।

मोहि अस भावा : अशठ बिभीषणजी के प्रति शठ की भावना से उसे दण्डित करने की प्रेरणा देने वाले सुग्रीवजी अस्मच्छब्दार्थ हैं। राक्षसजातिस्वभाव के अनुबन्ध में अभ्यागत की मायिकता, कामरूपता, शाठ्य, भेद, चरचक्षुष्मत्ता को परखकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य को निर्णीत करना तदनन्तर बन्धन, वध, अर्थहरण अन्यतम दण्डप्रणयन का निर्णय करना 'भावा' से स्पष्ट है।

प्रस्तुत प्रसंग में मननीय यह है कि तत्काल में कुमति की स्थापना में राजनीति ने बिभीषणद्वार से दिया सहयग एवं सुमति के द्वारा संपादित उपनिषद् (वेदान्त) विद्या की प्रमाणमूर्धन्यतास्थापना से प्रसन्ना भक्तिमहारानी ने राजनीति को मन्त्रिपदाभिषिक्त किया है उसी के माध्यम से सम्पन्न निर्णय शिवजी यहाँ श्रीराम-सुग्रीव संवाद में स्फुट कर रहे हैं।

उपरोक्त मत का निष्कर्ष यह कि शठ बिभीषणजी को यहीं बाँधकर दूर रखा जाय उन्हें अन्तः प्रवेश करने से रोका जाय। इस प्रकार सुग्रीवजी ने पूर्वपक्ष पूर्ण करते हुए सुन्दरकाण्ड में भक्ति महाराज्ञी की प्रतिष्ठा का आरम्भ करना शिवजी का कौशल है।

संगति—स्व संघ में बिभीषणजी के द्वारा शक्यमान भेद को रोकने का उत्तर भक्तभयहारी श्रीराम दे रहे हैं।

चौपाई— ***सखा! नीति तुम्ह नीकि बिचारी । मम पन सरनागत भय हारी ॥ ८ ॥***

भावार्थ—हे सखे! तुमने नीतिदृष्टि से ठीक विचार किया है। किन्तु शरणागत के भय का हरण करना भक्तिदृष्टि से मेरा पण है।

शास्त्रीय व्याख्या

सखा : प्रश्न पूछते समय पूर्व चौपाई में सखा कहने के अनन्तर अभी पुनः 'सखा' कहने का प्रयोजन यह कि श्रीराम की अनन्त शक्ति को समझकर भी उन्हें नैतिक सम्बन्ध से रिझाना इष्ट मानकर नैतिकतया सम्भावित अपनी दुर्बलता, प्रमाद, आशंका, अशुचिता व कुमति का प्रवेश आदि यथार्थ तथ्यों का निरूपण करना सुग्रीवजी के सखित्वानुबंधि संवाद का प्रकाशक है। इस प्रकार 'सखा' की पुनरुक्ति सार्थक है।

नीति तुम्ह : मनोविकृति प्रयुक्त अन्धत्वयुक्त छिद्र को देखकर उसके बहाने प्रविविक्षु कुमति दूत को दूर रखने हेतु तदुपायबोधक परराष्ट्रसम्बन्धी आचरण यहाँ 'नीति' से विवक्षित है।

'मनस्येकं, वचस्येकं, कर्मण्येकं' सिद्धान्त के पुरस्कर्ता नीतिविद् स्वामिहितसाधक सुग्रीवजी युष्मच्छब्दार्थ हैं।

नीकि बिचारी : अकारणात् कारणाद्वा विश्लिष्ट हो आए शत्रुदूत के प्रति 'अयं शठः मायावी परछिद्रान्वेषकोऽविश्वास्यः'—ऐसा विचार करने में औचित्य होना 'नीति बिचारी' का तात्पर्य है।

मम पन : दोहा ४३।९ चौपाई से प्रारम्भ कर ४४।८ तक कहे बलादि से संपृक्त प्रभु श्रीराम 'मम' शब्दार्थ हैं जो सुमतिसंयुक्त भक्ति का एकमात्र आलंबन है।

'पन' से प्रतिज्ञा विवक्षित है जो कालत्रय में अबाधित है।

अथवा—शठत्वव्याप्य स्वभाव व तद्देह (राक्षस) धारित्व के बल पर अभ्यागत को

सुग्रीवजी ने भेदकर्त्ता ठहराया है उसका उत्तर श्रीरामजी 'मम पन' से दे रहे हैं। यही श्रीरामाश्रित भक्ति का उपरिबुद्धित्व व राज्ञीत्व है।

सरनागत भयहारी : सुग्रीवजी आदि भी शरणागत हैं उन्हें श्रीरामि का भयहारकत्व ज्ञात है इसलिए 'सरनागत भयहारी' कहना उपपन्न है।

शरणागत दो प्रकार के होते हैं (१) सुमति (२) छलमति। प्रकृत में सुमति शरणागत ही विवक्षित है उनका पृथक् पृथक् विवेचन कर्मभेद से आगे दोहा ४४। ७ में स्फुट होगा।

सुमति शरणागत की विशेषता

प्रथम पक्ष से चिन्त्य है कि भक्तिसिद्धान्त को अपनाने वाले भक्त, प्रभु के संग में रहते हुए इतने पवित्र होते हैं कि उनमें बल, मन्त्र, दया, दीनरक्षण आदि नैतिक कर्म अति तीव्र हो अभिमुख में आए व्यक्ति के तेजस् या मति का अभिभव करते हैं। अतः भक्त या प्रभु ने शरणागत को दूर रखने की नीति को अपनाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

'भय' से भविष्यत् में होने वाले दुःख समझने हैं। यदि वही नहीं तो सुमति शरणागत को त्रास न होना अर्थसिद्ध है।

आशय यह कि नीचसंग में रहने पर भी वहाँ से हटकर स्वशरण में पहुँचने वाले विरले ही होते हैं; क्योंकि नीचसंग में रहकर अनीति में रुचि न रखना, नीति में ही प्रीति रखना आति दुर्लभ है पर वैसे नीतिमान् राक्षस मानव आदि में से कोई भी यदि प्रभु के शरण होते हैं तो उनको अभयदान करना, प्रभु का व्रत है।

संगति—सुग्रीवजी को श्रीरामजी का तेजस् बल आदि से विशिष्ट श्रीराम ने सुनाये पण के श्रवण से हनुमान्जी ने प्रसन्न होना शिवजी सुना रहे हैं। जो प्रसंग के बाहर होते हुए भी भक्तिस्थापनात्मक सौन्दर्य व मध्यस्थता की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है।

चौपाई— सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना । सरनागत बच्छल भगवाना ॥ १ ॥

भावार्थ—शरणागतभक्तवत्सल भगवान् के वचन सुनकर हनुमान्जी हर्ष में आ गए।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि : सुमति के प्रति प्रभु 'ममपन सरनागत भयहारी' वाक्य के अभिप्राय को समझना 'सुनि' का भाव है।

हरष हनुमाना : आगम के बल पर अकाण्ड ताण्डव नृत्यकर्त्ता रावण के राज्य से हटकर श्रौत आगम सम्मत श्रीराम के पालकत्व को सोचकर आए बिभीषणजी के प्रति सम्मानपूर्वक दी हुई स्वीकृति जानकर हनुमान्जी ने सुखी होना 'हरष' से ध्वनित है।

श्रीरामजी व सुग्रीवजी से सख्य कराकर दोनों को संहत करानेवाले तथा बिभीषणजी को स्वपक्ष में संगृहीत करने का संकल्प रखने वाले सन्त बुद्धिमनां श्रेष्ठ हनुमान्जी 'हनुमाना' से बोध्य हैं।

अथवा—बिभीषणजी के प्रति सुग्रीवजी के विपरीत उद्गारों को सुनकर श्रीरामसेवक के हृदय में क्षोभ होना स्वाभाविक था क्योंकि सुमति बिभीषणजी को दण्डित करने का विचार कपिराज ने व्यक्त किया था उसका समाधान प्रभु के द्वारा होना जानकर अति प्रसन्नता में आये सख्यसंधिकारयिता श्रीरामसेवक 'हनुमाना' से स्फुट है।

सरनागत बच्छल : भगवान् की नित्यस्वभावात्मक शरणागतवत्सलता प्रेमरूप है। भक्तों या पुत्रों के प्रति मातृभाव रखने वाले प्रभु की रति 'बच्छल' से सम्बोधित है।

भगवाना : उत्पत्त्यादि व ऐश्वर्यादि षड्विधगुणसम्पन्नता ने श्रीराम में निरुपाधिकतया रहना 'भगवाना' से दर्शाया है।

अथवा—ऐश्वर्य के बल से सबको पुनः संघटित करना 'भगवाना' से भाषित है।

ध्यातव्य है कि श्रीराम के उक्त पण को सुनकर शिवजी ने सुखी हो उनके स्वभाव का वर्णन करना स्व की भक्तिविशेष का परिचायक है जो पार्वतीजी के लिए भी अति सुखकर है।

संगति—अपने में रही भक्ति के तेजस् को भूलकर शरण न देनेवाले भक्तों को श्रीराम सावधान कर रहे हैं।

अथवा—८वीं चौपाई का सम्बन्ध जोड़ते शिवजी श्रीरामोक्ति को व्यतिरेकेण अनूदित कर रहे हैं जिसका प्रयोजन सुमति शरणागत को अभय न देने पर दण्ड होना ही है।

दोहा— सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥ ४३॥

भावार्थ—अपने समीप आए शरणागत को अपने अहित की कल्पना में जो भक्तितेजस्संपन्न नर दूर करता है वह कायर पापमय है वैसे नर को देखना अपराध ही नहीं स्व हानि भी है।

शास्त्रीय व्याख्या

सरनागत कहुँ : यद्यपि प्रभु ने सुमति का उल्लेख नहीं किया है तथापि दोहा ४४। २ चौपाई एवं ४ चौपाई की उक्ति की एकवाक्यता में स्वसिद्वान्तानुगत मत की एकरूपता में यहाँ सुमति को शरणागत समझना होगा।

प्रभु के विना प्रकारान्तर से मेरा रक्षक कोई नहीं है ऐसी अनन्य निष्कपट भावना रखनेवाला यहाँ पहुँचा अभ्यागत वास्तविक शरणागति के लायक है क्योंकि सुग्रीवजी ने जो शंका अभी बिभीषणजी के प्रति उठाई वैसी शंका शरणागत सुमति के प्रति करना उचित नहीं है। यत: बिभीषणजी ने श्रीरामजी को छोड़कर अन्यत्र शरण लेना नहीं स्वीकारा। फलत: कृत्यसाध्यता प्रयुक्त निर्वेद बिभीषणजी में होना स्वाभाविक है जो 'कहुँ' से कथित है।

जे तजहिं : 'जे' शब्द से अहितानुमान कर शरणागत का त्यागकर्त्ता बोध्य है।

ज्ञातव्य है कि सुग्रीवजी आरम्भ में शरणागत ही थे उनको यदि दूर ही रखा जाता तो सुन्दरकाण्ड में भक्ति की स्थापना का अवसर प्राप्त न होता। इसी का स्मरण उपर्युक्त पण से चिन्त्य है। ज्ञातव्य है कि भक्त का त्याग न करने का कारण श्रीराम ने अपनायी वह मति है जो आप्त सत्यसन्ध पितृमातृ आज्ञापालन से प्राप्त तेजस्विता का परिपाक है।

निंज अनहित : अपने पक्ष में मन्त्रिमण्डल, मित्रबल व स्वबल व सम्पन्नता होने पर भी निज अनहितसाधकतया शरणागत में रहे परपक्षसम्बन्ध को हेतु मानकर 'निज अनहित' का अनुमान करना 'अनुमानि' है। इस 'अनुमानि' का व्यंग्यार्थ यह कि प्रभु के प्रति रहे निष्कपट छिद्रशून्य प्रेमसम्बन्ध होने पर भी उनके प्रभाव को भूलकर भक्त्यसंपृक्त नीतिमत से 'शरणागतोऽयं रक्ष्यो न वा' ऐसी शंका से भक्तिवैमुख्य अपने में सिद्ध करना है। यही

'निज अहित' है। फलतः उक्त शंकाक्रान्ति के परिणाम में भक्ति साधक से विमुख होगी। इस अनहित की परम्परा में विघटन आदि दोष दृष्टिगोचर होंगे। परिणाम में शरणागत को बाँधने पर भी अनहित होकर ही रहेगा।

ते नर पावँर पापमय : उपर्युक्त भक्तिवैभव व स्वशरणागति फल के भोक्ता मानव व अहित की सम्भावना से नीति के नाम पर भक्ति को ठुकराने वाले सभी प्राणी 'ते नर' पद से विवक्षित हैं।

'नर' इसलिए कहा कि सभी जातियों के प्राणिमात्र नर पर आश्रित हैं यदि नरजाति सुधरी तो सब सुधरे यदि नरों में ही कपट, छल, छिद्र आया तो उनके साथ सबका विनाश अवश्यम्भावी है।

तर्क के नाम पर अकुशल विद्या का बोझ उठाने वाले अरसिक, मन्दमति, निस्तेजस्क नर 'पावँर' से बोध्य है।

नीति ने ब्रह्मविद्या, सत्संग, तर्क आदि की उपयोगिता शरणागतपालन में बताई उसका अनुष्ठान न करना ही यहाँ 'पाप' से विवक्षित है।

'मयट्' प्रत्यय से तदात्मत्व समझना होगा। इस प्रकार 'जे तजहिं' शीर्षकोक्त शंकाकुल अभक्तों को दण्डित करना भी सूचित है।

तिन्हहि बिलोकत हानि : 'ते नर' शीर्षक में सूचित व्यक्ति तच्छब्दार्थ हैं। अथवा भक्ति व प्रभु की स्वायत्तता भूलकर नीतिवेत्ता हो जो नीत्यायत्तमार्गमात्र में ही रहते हैं वे 'तिन्हहि' से बोध्य है।

भक्ति के अनुष्ठाता होकर साधक उसके प्रति अशक्ति की भावना से प्रभावित हो भक्तिविमुख होता है तो उसको दण्डित करना 'बिलोकत हानि' का भाव है।

अथवा—सुग्रीवजी के कथनानुगमन में श्रीराम बिभीषणजी को त्यागते हैं तो उनके संसर्ग में आये कपिराज की भी हानि होना स्वाभाविक है। यह आपत्ति 'हानि' से सम्बोध्य है। इसको इष्टापत्ति कहकर किष्किन्धापति नहीं टाल सकते। फलतः उनका भी हनुमान्‌जी की तरह भक्ति एवं प्रभु की दासता में पूर्ववत् पूर्णतया स्थिर होना चिन्तनीय है।

संगति—जहाँ अपराधी की शुद्धि के प्रति कर्मकाण्ड, राजदण्ड आदि सम्पूर्ण विद्याएँ मौन हो जाती हैं वहाँ भक्ति की अपनी स्वायत्तता व दुरदृष्टनिरासक शक्ति का वर्णन श्रीराम कर रहे हैं।

चौपाई— कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आए सरन तजउँ नहिं ताहू ॥ १ ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥ २ ॥

भावार्थ—करोड़ों ब्रह्महत्या से घिरे व्यक्ति की शुद्धि के प्रति सभी विद्याएँ असमर्थता का अनुभव करती हैं, किन्तु वैसा व्यक्ति भी यदि शरणागत हो मेरी ओर आता है तो मैं उसे त्यागता नहीं क्योंकि करोड़ों जन्म में किए पातक जब नष्ट होते हैं तभी जीव मेरे सम्मुख होने का प्रयत्न करता है।

शास्त्रीय व्याख्या

कोटि बिप्र बध : ज्योतिष् में चाप का अन्तिम छोर 'कोटि' से व्यवहृत है उसी

छोर को यहाँ 'कोटि' से दर्शाया गया है। अर्थात् धर्मशास्त्र में पापों का अन्तिम छोर विप्रवध है जिसे यहाँ 'कोटि बिप्र बध' से दर्शाया है। तदवधित्वेन 'विप्रवध' अन्वित है।

अथवा—विप्रवधकर्त्ता राक्षसों के संसर्ग में रहे बिभीषणजी भी विप्रवधतुल्य महापातकयुक्त होने से 'कोटि बिप्र बध लागहिं' के अधिकारी हो गए। इसका प्रायश्चित्त 'आए सरन' में व्याख्यात है।

अथवा—सूक्ष्म तथ्य यह है कि विप्रवधक्रिया स्वरूपत: दृश्य होने से अपनय है वही यहाँ विवक्षित है उस अपनयकर्त्ता का सम्मान नीतिदृष्टि से मान्य नहीं है। उसका यहाँ प्रतिवाद किया मालूम होता है क्योंकि भक्तिसिद्धान्तानुसार विप्रवधकर्त्ता वस्तुगत्या शरणागत है तो वह हन्तव्य नहीं है।

लागहिं जाहू : वैदिक प्रायश्चित्तानपनोद्य होने से विप्रवध तज्जनित पाप का सम्बन्ध बने रहना 'लागहिं जाहू' है।

आए सरन : तीन ब्रह्महत्याएँ होती हैं तो वेदों व स्मृतियों में उसकी शुद्धि होना संभव है। तदनन्तर चतुर्थ की निष्कृति वहाँ विहित नहीं है। प्रकृत में विप्रवध की गणना भी दुर्लभ है वैसी दशा में उस प्राणी को अनन्तकाल के लिए नरक ही भोग्य है ऐसा सुनकर पश्चात्ताप से संतप्त हो भगवत्पादमूल या भगवच्छरण में आने वालों के प्रति प्रभु ने 'आए' कहा है।

प्रभु के अभिमुख होना 'आए' है अर्थात् बिभीषणजी ने जो भी आगमसम्मत कर्म अपनाए हैं वे सभी प्रभु की आज्ञा समझकर किए होने से 'आए' कहना उपपन्न है।

'आए' में दो क्रियाएँ ज्ञातव्य हैं एक अभिमुख होना दूसरा अभिमुख हो प्रभुद्वारा विहित आज्ञा का पालन करते रहना। उनमें से द्वितीय क्रिया यहाँ प्रथमत: बताई क्योंकि यहाँ वही विचारणीयतया उपस्थित है।

सरन : जब से बिभीषणजी ने जन्म पाया तब से वे निरन्तर आगमशरण में होने से प्रभु 'सरन' में बैठे हैं। कोटिविप्रवधकर्त्ता के पापनिर्हरण के लिए प्रभु ने बताई शरणागति एक महती चिकित्सा है। आशय यह कि अगत्या आपदा में फँसकर कोटि विप्रवधरूप पाप होने पर भी उसका प्रायश्चित्त प्रभु के आभिमुख्य में तदुक्त आदेश पालन करते हुए समय व्यतीत करना 'सरन' है।

तजउँ नहिं ताहू : उपरोक्त शीर्षक के अनुसार जो शरणागत हैं उन्हें प्रभु किसी भी अवस्था में उपेक्षित कर दण्ड नहीं देते बल्कि उनको निर्मल कर सदा के लिए स्मृति का विषय बनाए रखते हैं।

सनमुख : 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं' यह अंश न्याय भाषा में व्याप्य व अवश्यंभाविकार्यानुमापक है। द्वितीय भाग 'तबहीं' व्यापक है। यह कालिक व्याप्ति है अर्थात् प्रभु ने अपनाई राजनीत्यात्मक रक्षण कर्तृता को समझकर आन्वीक्षिकी के बल से असम्भावना एवं विपरीत भावना को निरस्त कर जो साधक शासनात्मक निगमागम को प्रमाणमूर्धन्य मानकर (जिसको जिसके लिए अधिकृत माना है) तदनुसार ही अपनी अनुगामिता स्वीकार करते हैं वे प्रभु के 'सनमुख' हैं। एवंच अशुद्ध स्थिति में पहुँचे जीवों

ने अपने लिए शुध्यर्थप्राप्ति निर्देश समझकर तदनुसार रहते हुए निगमागम के प्रति हठ न करना निगमागम का सम्मान व त्रयी व आगम के प्रामाण्य का आदर है। ऐसा आदरभाव यदि उदित होता है तो उस भावना के मूल में भी निगमागम की व्यवस्था ही आधार है अर्थात् निगमागम ने कोटिविप्रवधकर्त्ता को प्रायश्चित्त न बताकर अपनी ओर से उससे घृणा नहीं की बल्कि उन्हें भी प्रभु की ओर सन्मुख होने का मार्ग प्रशस्त किया। यह प्रभु के द्वारा अनुपेक्षणार्थ शरणागत होने की पूर्वभूमिका गाकर श्रीशिवजी ने भक्ति एवं त्रयी की अनुगामिनी राजनीति के सुन्दर समन्वय का मार्ग जीवों को दर्शाया है।

जीव मोहि जबहीं : उपरोक्त शीर्षक में कहे वासना के उद्गम में अधिकृत सभी प्राणी होने से 'जीव' कहना सार्थक है। निगमागमानुशासन से अपराधियों के लिए शरणागतोपाय के बोधकर्ता, प्रकाशयिता प्रभु 'मोहि' पदार्थ हैं। निष्कर्ष यह कि साम्मुख्य-रूपकारणेन कार्यानुमान होने का समय 'जबहीं' से व्यक्त है।

जन्म कोटि अघ : निगमागमशासनपद्धत्या विनीत हो शासनपालनरूप साम्मुख्यात्मक पुरुषार्थ न करने का परिणाम कोटिविध कृत पाप व तत्तज्जन्म में सम्पन्न हुए करोड़ों पापों का संचय है। 'अघ' से कामादिविकृति स्मरणीय है।

'कोटि अघ' 'पापवन्त कर सहज सुभाऊ' शीर्षक में (अगली चौपाई) व्याख्यात होगा।

नासहिं तबहीं : भोग से जिस प्रकार पापध्वंस होना कहा गया है उसी प्रकार कोटिजन्मकृत पापध्वंस के प्रति भगवच्छरणागति को कारण माना है जो कि निगमागमसम्मत व्यवस्था से ही उपपन्न है। उसके मूल में तृणारणिमणिन्याय चिन्त्य है।

'तबहीं' से कोटि जन्मकृत अघनाशात्मक कार्य में व्यापकता दर्शाई है।

इसमें यह स्मर्तव्य है कि कालप्रवाह में बहते जीव को प्रभु के पास जाने का समय आसन्न होता है तो वह जन्म अन्तिम होने से वह प्रभुभजन की मधुरता-महत्ता का वेत्ता होता है।

संगति—उपर्युक्त व्याप्य-व्यापकभाव की उपेक्षा होने पर पापध्वंस की सर्वथा अप्रसक्ति समझा रहे हैं।

चौपाई— पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥ ३॥

भावार्थ—पापवन्तों की सहज प्रवृत्तियाँ श्रीरामभजन की ओर होती ही नहीं न तो उन्हें भजन में सुख ही प्राप्त होता है। अथवा पाप से पुण्य भी संगृहीत है। वह संसार के बन्धन में जीवों को हर्षित कर उन्माद की ओर ले जाता है। तब उस पुण्यवान् जीव को भी मेरा भजन सुहावना नहीं लगता है।

शास्त्रीय व्याख्या

पापवन्त कर : जन्म जन्मान्तरीय पापकर्मज भावनाओं से संपृक्त इन्द्रिय, मनस् आदि करणविशिष्ट पुरुष 'पापवन्त' से बोध्य हैं।

सहज सुभाऊ : जन्मतः प्राप्त संस्कार 'सहज सुभाऊ' से बोध्य हैं। उसको ब्रह्मप्रकृति, क्षात्रप्रकृति आदि संकेत से महर्षियों ने शास्त्रों में संकेतित किया है। श्रीकृष्ण ने भी उसी को गीता में गाया है। जहाँ वह प्रगट नहीं है वहाँ शुचि-कुलीनता का अभाव

ही समझना होगा। विषयी व्यक्तियों की दृष्टि से कहना यह है कि स्वभाव के अन्तर्गत प्रतारणा, विप्रलिप्सा, अहं-मम का अभिमान व राग-द्वेष के अतिरिक्त कामादि तृष्णाएँ भी बोध्य हैं। ये सभी तत्व प्रभुभजन के प्रति प्रतिबन्धक हैं। उन प्रतिबन्धको की शक्ति को दुर्बल बनाने हेतु उत्तेजक या अंकुश रूप में साधुसभासंग को माना गया है। वह नहीं तो पापवन्तों के उक्त स्वभाव का अकाट्य होना निर्णीत है।

भजन मोर तेहि : आभिमुख एवं शरणागति के अनुरूप कार्य करना 'भजन' है। उसमें कर्मतया 'मोर' अन्वित है।

शरणागतवत्सल व अभयव्रत के दाता श्रीराम यहाँ 'मोर' शब्दार्थ हैं।

भाव न काऊ : श्रीरामभजन से निवृत्ति होना 'भाव न काऊ' का भाव है।

'काऊ' से निगम व आगम दोनों के अनुयायी विवक्षित हैं।

संगति—पापध्वसं का कार्य-कारणभाव समझाकर बिभीषणजी में अकाट्य पाप का ध्वंस समझाने हेतु प्रवृत्तिव्याघात रूप तर्क के माध्यम से उनमें पापध्वंस (अभाव) रूप अभाव प्रभु कह रहे हैं।

चौपाई— *जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई । मोरें सनमुख आव कि सोई॥ ४॥*

भावार्थ—अभ्यागत रावण का भाई यदि दुष्टहृदय होता तो क्या वह मेरे सम्मुख आता?

शास्त्रीय व्याख्या

जौं पै : 'जौं पै' उक्ति आपादकत्वबोधनार्थ है उसका स्वरूप 'यद्ययं' से स्फुट होता है।

दुष्ट हृदय : पापवन्त स्वभाववान् शठ, प्रतारक, छली, अकर्मा, अभक्त व्यक्ति 'दुष्ट' से बोध्य हैं।

'हृदय' कहने से जन्मतः प्राप्त स्वभाव समझना है। जैसा कि हनुमद्विभीषण-संवाद में बिभीषणकृत मनोरथ की एकवाक्यतापन्नता में है।

सोइ होई : शरणागताकांक्षी अभ्यागत रावणभ्राता 'सोई' से समझना है।

'यदि इत्यादि' अभिलापक आहार्यारोपबोधक शब्द 'होई' प्रश्न से समझाया है। उसका पर्यवसान 'अयमभ्यागतो न शठाद्यन्यतमः' समझाने में है। एवंच 'यद्ययं शठादि दुष्टान्यतमः स्यात्' इस प्रकार का आपादक समझना है।

मोरे सनमुख : विश्व को मोहजाल में फँसाने वाली माया के पति श्रीराम मच्छब्दार्थ हैं।

आव कि सोई : निगमागमसम्मत सन्मार्ग में सर्वविध पुरुषार्थसिद्धि निर्णीत होने पर भी मायाजाल में फँसा विश्व उसमें मनोरथासिद्धि समझकर दुष्टमार्ग से मनोरथ-सिद्धि करना चाहता है। परिणाम में वह अनेकविध विषयासक्त हो जाता है। उस भ्रान्ति से हटकर जीव ने प्रभु की ओर आना 'सनमुख' है। उपरिबुद्धि पवित्रात्मा श्रीराम आन्वीक्षिकीसहायता से स्व और पापवन्त के स्वभावानुरूप आपाद्य (सम्मुखमागन्तुं स कदापि न प्रवर्तेत) 'मोरे सनमुख आव कि सोई' प्रश्न से समझा रहे हैं।

चिन्त्य है कि आगम व निगम के माध्यम से जो विधि प्राप्त है वे सभी प्रभु की दया का ही विस्तार है परन्तु दोनों प्रकार के विधि पापवन्तों को कठोर प्रतीत होते हैं। अतः

शठादि व्यक्ति प्रभु के सन्मुख कभी नहीं आते ऐंसा समझाने हेतु ही 'आव कि' से प्रश्न उपस्थापित कर सनमुख आने वालों के प्रति दुर्भाव न करने पर बल दिया है। फलतः ऐसा आपाद्यारोपेण आपादकारोपात्मक तर्क सुनकर सुग्रीवजी अतिप्रसन्न हो गए तथा साम्मुख्य में आए अभ्यागत को अभयदान करने के पण का औचित्य भी समझ गए। यही प्रवृत्तिव्याघात का फल है जो संगति में स्मृत है।

संगति—श्रीराम सम्मुखतारूप शरणागति के हेतु सहकारिकारणतया अपेक्षित पथ्य व कुपथ्यनिवृत्ति बता रहे हैं जिससे उक्त पापध्वंसगत व्याप्ति में उक्त उपाधि की अप्रसक्ति हो परिणाम में न्यायावयवभूत चतुर्थ उपनयरूप अवयव के उच्चारण में निश्शंकता प्राप्त होगी।

चौपाई— निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनःप्रसाद से संपन्न अर्थात् अहं ममाभिमान से शून्य व्यक्ति मुझे पाते हैं। मुझे कापट्य, छल एवं छिद्र नहीं सुहाता है।

शास्त्रीय व्याख्या

निर्मल : 'अहं मम' के राग में फँसकर जीव स्वाधिकार से च्युत न हो कामादिकों का यथोचित सेवन करते हैं तो उनका मनस् निर्मल होता है। इस अवस्था में निगमागम की प्रमाणमूर्धन्यता व तदनुयायिता में अभिनिविष्ट मनस् ने शंकाशून्य होना 'निर्मल' है।

जन सो मोहि पावा : अपनी-अपनी मर्यादा के अविरोध में स्थित स्वाधिकारानुरूपतया जिन निगमागमसेवियों को निर्मलमन होने की स्थिति प्राप्त है तो 'जन' से संगृहीत हैं।

'सो' से पूर्वनिर्दिष्ट निर्मल मनस्स्थिति की सापेक्षता दर्शाई है।

वेद के द्वारा प्रमाणित व मनुजी ने[१] आँखों से देखकर श्रीराम का वासुदेवत्व निर्णीत किया वे ही सानुज श्रीराम दशरथनन्दन हो पंचवटी में निवासार्थ आए। इत्यादि तथ्य हनुमान्जी ने बिभीषणजी के समक्ष प्रगट किये हैं। वे प्रभु श्रीराम निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप में रहे श्रीराम 'मोहि' पदार्थ हैं।

श्रीरामसाम्मुख्यान्तर्भाविमनःप्रसादमूलक आनन्त्य (मोक्ष) प्राप्त होना 'पावा' है जो सालोक्यादि का उपलक्षक है।

मोहि कपट छल छिद्र : इस अर्धालि में संकेतित कापट्य, छल एवं छिद्र के प्रति अप्रसन्न श्रीराम 'मोहि' घटक मत्पदार्थ हैं। अकल्याणकारिता विसंवादिता 'छल' से स्फुट है।[२] जैसे प्रव्रज्याप्रत्यवसितादि (सन्यास धर्म से च्युत)।

अर्थतः मूलतः बाधित होने पर भी असत्व का प्रदर्शनमात्र करते रहना विसंवादिता 'कपट' से बोध्य है।

'छिद्र' से दोष बोध्य है उसके अन्तर्गत लोभ, भय, मान एवं क्रोध प्रमुख हैं।

न भावा : दोषयुक्त जन के प्रति अपनी उपेक्षा, अरुच्यता, असंस्तुति, अप्रियता होने से 'न भावा' कहा है। तथाकथित जनमानस भाग्य के अधीन हो उच्चावच गति में पड़कर वे संसार में भ्रमण करते रहते हैं।

---

[१] बालकाण्ड दोहा १४३

[२] असद्धेत्वोर्हेत्वन्तराभासात् प्रतिपक्षद्वयशब्दार्थारोपेण दूषणं छलम् (न्यायपरिशुद्धि)

'न भावा' का निष्कर्ष कुपथ्यवर्जनपूर्वक विषयस्पृहा से शून्य जन संघर्षमय जीवन से मुड़ने में ही सुख मानते हैं जो 'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये' से सुन्दरकाण्ड के आरम्भ में स्पष्ट है।

संगति—कृत्वाचिन्तया दोहा ४४।८ के अन्तर्गत 'सरनागत भयहारी' शीर्षकोक्त छलमति को ध्यान में रखकर प्रश्न है कि अभयदान के संप्रदानकारक (तमो राज: प्रकृति) में अर्हता नहीं रहेगी तो वह विजिगीषु अभियोक्ता के संघ में रहा छिद्र अभियोज्य अरि को सूचित करेगा जिससे प्रभु का अभयादि पण विपरीतकार्यसम्पादक होगा। इसका उत्तर कवि सुना रहे हैं।

अथवा—चरकार्यकर्तृत्व की आशंका में सुग्रीवजी ने जो प्रश्न नीतिपक्ष से उठाया था उसका उत्तर सुना रहे हैं उससे भक्तिप्रतिष्ठा में नीति की पूर्णता स्पष्ट होगी अन्यथा नीतिवैकल्य के साथ उसका मंत्रित्व मननीय होगा।

चौपाई— भेद लेन पठवा दससीसा । तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ ६ ॥

भावार्थ—रावण ने छिद्र समझने हेतु प्रव्रज्याप्रत्यवसित की तरह भक्ति के छद्म में अभ्यागत को भेजा हो तो भी मुझे कोई भय नहीं है न उसमें मेरी हानि ही है।

शास्त्रीय व्याख्या

भेद लेन : कृत्वाचिन्त्या का जो नैतिकपक्ष उठाकर सुग्रीवजी ने प्रभु के सामने जिस विश्लेषण की आशंका उपस्थापित की थी वह भेद है। जैसे—(१) भालुओं के अपार सैन्यसागर के नियामक अनेकों यूथपों व उनके अतिरिक्त राजा, युवराज, श्रीराम तथा लक्ष्मणजी में मैत्रीभंग कराने हेतु विश्लेषण की सामग्री उपस्थापित करना। (२) किष्किन्धा को निमित्त बनाकर उसके प्रति लोभ उत्पन्न कराकर युवराज अंगद व राजा सुग्रीव में भेद उत्पन्न कराना। (३) शत्रु ने दण्डित करने का भय दिखाकर स्वपक्ष में मिलाना। इनके अतिरिक्त बुद्धिमानों के बीच में उपर्यधोभाव दिखाना इत्यादि।

पठवा दससीसा : विजिगीषुदलगत लोभादि छिद्र समझकर उस द्वार से आक्रमण या अभियोग करने का सफल कर्तृत्व साधने हेतु अभ्यागत के स्वामी ने अपनी ओर से प्रेरणा देकर उसको भेजना 'पठवा' का आशय है।

चरों को भेजने में प्रधानता एकमात्र दशवदन में समझाने हेतु 'दससीसा' कहा है।

अथवा—सम्भव है कि और भी चर यहाँ आये हों या आते हों। इस अनेकता का बोधक 'दससीसा' शब्द है।

न कछु : प्रकाश अथवा अप्रकाश में रहकर अभ्यागत ने हम लोगों के संघ में भेद करने हेतु भर्त्सन या शंका का प्रयोग किया तो भी उसको निरस्त करने का उपाय अपने पास पूर्ण है। ऐसी स्थिति में भय व हानि होने का कोई कारण समझ में नहीं आता। इस प्रकार 'न कछु' से भेद के प्रति इष्टापत्ति दर्शाई मालूम होती है।

भय हानि : दोषाभाव की सिद्धि 'भय हानि' के बाध से निर्विवादित है। 'भय' से शत्रु का भेद लेने का संकल्प ध्वनित है। 'हानि' से क्षय और व्यय होना व्यक्त है। उन दोनों का अन्वय 'न' से है अर्थात् मेरा अनिष्ट (भय) होना नहीं है न तो क्षय-व्यय ही।

क्योंकि तथाकथित भेदियों को दण्डित करने में लक्ष्मणजी की पूर्ण समर्थता आगे गाएँगे। उसके मूल में 'क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे'[१] स्मर्तव्य है। न 'भय' आदि कहकर भेद को उखाड़कर निर्मूल बना दिया फलस्वरूप अब वानर-भालुओं के क्षय होने एवं पराजित होने की शंका सर्वथा उन्मूलित हो गई।

कपीसा : सुग्रीवजी को श्रीरामरूप दुर्ग का आश्रय प्राप्त होने से कपीश्वर की स्थिरता समझायी है।

संगति—जो व्यक्ति छलादि से युक्त हो लोककण्टक बने रहते हैं उनका लक्ष्मणजी द्वारा दण्डित होना एवं जो नर छल, छिद्र, एवं कपट से दूर हो प्रभुशरण होते हैं उनमें कृपापात्रता होना प्रभु कह रहे हैं।

चौपाई— जग महुँ सखा निसाचर जेते । लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते ॥ ७ ॥
जौ सभीत आवा सरनाईं । रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे सखे! जगत् में जो भी निशाचर हैं उनका सफाया करने में लक्ष्मणजी के लिए एक निमेष पर्याप्त है। सभीत होकर जो मेरे शरण में आता है मैं उसकी सुरक्षा प्राण की तरह करता हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

जग महुँ सखा : निगमागमसेवी संस्कृत देश 'जग' से विवक्षित है तदधिकरणकत्व 'महुँ' से दर्शाया है।

'सखा' संबोधन की तृतीयावृत्ति से सुग्रीवजी में अजेयता, बलादिदोषराहित्य व दुर्गाश्रयता व्यक्त की।

निसाचर जेते : पंचपर्वाविद्या के तमो, मोह आदि गुणों की अधीनता में रहने वालों को सत्य, न्याय, वचनप्रामाण्य आदि के प्रति अतिद्वेष रहता ही है। तथाविध प्रकृति निशाचरों में जन्मसिद्ध है। ये सभी आटविक, अनार्य, अन्यायाधिष्ठित होने से आक्रमण करने हेतु विशाल दल एकत्रित करते हैं। अतः 'निसाचर जेते' कहा है।

लछिमनु हनइ : अगणित, अतिप्रबल उपस्थित आटविकों को धराशायी करने की पर्याप्ति अर्जित करने वाले लक्ष्मणजी 'लछिमनु' से बोध्य हैं।

ज्ञातव्य है कि भगवत्सेवक उपासना व सेवा के माध्यम से भगवद्दत्त क्रियाशक्तिपुंज को अपने में एकत्रित कर लेता है। फलतः संसार में उसके सामने विरोधी क्रियाशून्य हो जाते हैं। इस प्रकार लक्ष्मणजी के रूप में अहंगत क्रियाशक्ति का प्राकट्य बताकर लक्ष्मणजी के आश्रय में रहकर युद्ध करने की प्रेरणा प्रभु ने कपिराज को दी है।

'लछिमन' से अहंत्वविशिष्ट क्रियाशक्ति समझनी है। वह कर्तृकारकतया 'हनइ' से अन्वित है।

'निसाचर जेते' में व्याख्यात शत्रुदल का सामुहिक हनन 'हनइ' से बोध्य है।

निमिष महुँ तेते : दीर्घकाय विशाल आटविक सैनिकसमूह को मारने में समयावधि का बोध 'निमिष' से कराया है। अत्यन्त शुचि ईश्वरोपासक को हानि पहुँचाने हेतु जो भी

---

[१] सुभाषित रत्न भाण्डागारम् ३१२। २५७

शत्रुवर्ग व आटविक उपस्थित होते हैं वे सभी हतप्रभ होते रहते हैं। परिणामत: वे सभी विना श्रम के ही निर्वीर्य होने से एक निमेष में वध्य हो जाते हैं।

शत्रु का समूल उन्मूलन होना 'तेते' से स्फुट है।

इस प्रकार भेदप्रसक्तिप्रयोजक शंका, स्नेहरागापनयन, तर्जन आदि जो भी सम्भावित हैं उन सभी का समाधान पूर्ण है।

जौं सभीत आवा : 'जौं' शब्द यद्यर्थक है। अर्थात् विमुखता को सर्वथा त्यागना 'जौं' का निष्कर्ष है। जो अत्यन्त भयभीत होता है वही शरणागत होता है (क्योंकि उसे अन्यत्र कहीं भी प्राणत्राण (नरकत्राण) होना दीखता नहीं) अत: उसे 'सभीत' कहा है।

'श्रीरामं विना अन्य: विपदं निवारयितुं न कोऽपि शक्त:' भाव में आना 'आवा' है।

सरनाई : शरण आए बिभीषणजी स्वस्वार्थ की अभिलाषापूर्ति के प्रति उत्सुक न होकर शत्रुपीड़िता, प्रभु की अनन्यसेविका श्रीसीताजी की रक्षा के इच्छुक हैं। उसी हठ में बिभीषणजी शत्रु से प्रताड़ित, भयग्रस्त हो दशरथनन्दन श्रीराम के शरण हुए हैं। वैसा आदर्श जीवन व्यतीत करने वाले 'सरनाई' से चिन्त्य हैं।

रखिहउँ : उपर्युक्त सम्पूर्ण अर्थ का निगमन बोधक 'रखिहउँ' शब्द है उसका भाव बाध व सत्प्रतिपक्ष न होने में है।

ताहि प्रान की नाईं : 'ताहि' से पूर्वपरामृष्ट विषय उद्देश्यविशेषण होते हुए भी उसका त्याग न होना स्मर्तव्य है। दारैरपि धनैरपि प्राण रक्ष्य हैं। जैसे वेदों की प्रामाण्य् की अखण्डता पर बाधा उपस्थित होने पर उसके रक्षार्थ प्रभु का अवतरण होता है। उसी प्रकार विभीषण तुल्य शरणागत की रक्षार्थ प्रभु ने सब कुछ करने हेतु सदा सन्नद्ध होना 'प्रान की नाईं' का भाव है। इस प्रकार दोहा ४३।८ के अन्तर्गत 'सरनागत भयहारी' शीर्षकोक्त सरलमति व छलमति का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

संगति—नीतिसमन्वित भक्तिसिद्धान्त की स्वायत्तसिद्धिकता उपसंहृत कर शिवजी प्रभु के अपनाये अभयदान का फल सुना रहे हैं।

दोहा— ***उभय भाँति तेहि आनहु हँसि कह कृपानिकेत।***
जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत॥ ४४॥

भावार्थ—प्रसन्न हो प्रभु ने जब अभ्यागत शरणार्थी को लाने का आदेश सुनाया तो जय कृपाल कहकर वानरयूथ अंगदजी व हनुमान्‌जी के नेतृत्व में चला।

शास्त्रीय व्याख्या

उभय भाँति तेहि : स्वयं की सुरक्षाकामना से या पर की प्रेरणा से हम (श्रीरामदल) को हतप्रभ करने की कामना में आना 'उभय भाँति' से बोध्य है। उसका संक्षेप अशठ व शठ है।

अभ्यागत ने साथ में सचिव लाए होने से उन सभी को लाना है। अत: 'तेहि' बहु वचन है।

आनहु हँसि : स्वाधिष्ठित देशकर्मक आनयन क्रिया की प्रेरणार्थ 'आनहु' कहा है।

रावण को उच्छिन्न करने हेतु अपेक्षित प्राथमिक योजना में मर्यादापुरुषोत्तमत्व स्थिर रहा देखकर स्व में हुई प्रसन्नता 'हँसि' से स्पष्ट है।

नीतिशास्त्र के अनुसार बिभीषणजी को लंका देय होगी तो वह लंकाराज्य के पूर्ण भेदक हो अपने को सहायक होंगे। यह अंश प्रगट होने का अवसर 'हँसि' से बोध्य है।

कृपानिकेत : शरणागतमात्र को अभय देने वाले श्रीराम 'कृपानिकेत' हैं।

'कृपानिकेत' से सुग्रीवजी, अंगदजी, समुद्रजी आदि को प्राप्त रक्षण भी यहाँ संकेतित है।

जय : आदेश की स्वीकार्यता, दासता, हर्ष आदि 'जय' से ध्वनित है।

'जय' शब्द उत्कर्षातिशय या पराहंकारखण्डन का बोधक माना गया है।

कपि : 'जय' कहने व अभ्यागत को उपस्थापित कराने में वानरयूथ की प्रमुखता होना 'कपि' से स्पष्ट है।

अथवा—जिस वानरयूथ ने अभ्यागत के आने की सूचना दी थी वे कपि यहाँ 'कपि' से ध्वनित हैं।

अंगद हनू समेत : अभ्यागत व्यक्ति परराष्ट्र से आया राजा का भाई है। उसके स्वागत में अंगदजी का उल्लेख है। हनुमान्जी की उपस्थिति अभ्यागत की पहिचान करने में अति उपयुक्त है।

संगति—विलम्ब न करते हुए आदर के साथ बिभीषणजी की उपस्थिति होने का क्रम होना ग्रन्थकार सुना रहे हैं।

चौपाई— सादर तेहि आगे करि बानर । चले जहाँ रघुपति करुनाकर॥ १॥

भावार्थ—बिभीषणजी को आदरपूर्वक उन्हें आगे कर वानरयूथ वापस लौटने लगा जहाँ करुणासागर श्रीरघुनाथजी विराजमान हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

सादर तेहि : शरणागत को सापेक्ष समझकर भी उपेक्षित न कर सम्मानित करना 'सादर' का भाव है जो श्रीरामादर्शानुकूल है।

अथवा—बिभीषणजी को लाते समय 'त्वं अस्मात्तः उत्कृष्टः' ऐसा भाव जिस अभिनय में प्रगट हो वह अभिनय अपनाना 'सादर' है।

शठंत्वाशठत्वान्यतरविशिष्ट अभयदानसंप्रदान बिभीषणजी तच्छब्दार्थ हैं।

आगे करि बानर : 'आगे करि' से स्वच्छन्द रूप में बिभीषणजी को आगे करने के परिणाम में उनकी चाल को पकड़कर मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त करने का विधान व्यवहाराध्याय में क्लृप्त है।

हनुमान्जी, अंगदजी आदि प्रमुख यूथप 'बानर' से चिन्त्य है।

चले जहाँ : शत्रुगृह से आए व्यक्ति को श्रीराम का निश्शंक हो दर्शन प्राप्त करने की अनुमति सुनकर तीरस्थ वानरों ने भी साथ में चलना 'चले' का भाव है।

यह छावनी परप्रतिग्रह है जो सैनिकों के विश्रामस्थल से दूर है। यहाँ पर श्रीराम के दर्शन की निर्बाधता स्पष्ट है। इससे मालूम होता है कि प्रस्तुत समय के पूर्व जो संवाद हुआ वह स्थान मन्त्रणास्थान है। अतः 'जहाँ' कहना उपपन्न है। उसी स्थान पर बिभीषणजी को ले आने की अनुमति प्राप्त है।

यह वह स्थान है जहाँ कि लक्ष्मणजी भी एक साथ विराजमान हैं।

करुनाकर : भक्तिसिद्धान्तोक्त स्वायत्तसिद्धिक असाधारण कर्म की परिणति व उपर्युक्त (सुग्रीव-श्रीराम) संवाद की चरितार्थता को देखकर शिवजी प्रभु को 'करुनाकर' कह रहे हैं। उसमें श्रीरामजी की उचितकारिता की आस्वाद्यता भक्तों के लिए पोषक है।

संगति—सम्मानपूर्वक आगे चल रहे बिभीषणजी को प्राप्त दर्शन का विषय बता रहे हैं। जिसके लिए बिभीषणजी लालायित व उत्कण्ठित थे।

चौपाई— ***दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता । नयनानंद दान के दाता॥ २॥***

भावार्थ—दूर से ही बिभीषणजी ने नयनानन्द के दाता दोनों भाइयों को युगपत् देखा।

शास्त्रीय व्याख्या

दूरिहि ते देखे : अभी बिभीषणजी उद्दिष्टस्थल तक नहीं पहुँचे हैं तथापि चक्षुष् ने दूरस्थ के साथ प्राप्य क्रियाकारित्व को पूर्ण करना 'दूरिहि' का भाव है।

रावणद्वारा प्रताड़ित, मनोरथपूर्ति की आशा में डूबे बिभीषणजी 'ते' से बोध्य हैं। उत्कण्ठित नेत्रों ने देखना 'देखे' है।

द्वौ भ्राता : 'तरुणौ रूपसंपन्नौ सुकुमारौ महाबलौ पुण्डरीकविशालाक्षौ'[1] आदि पद्यों में उक्त दो ध्येय मूर्ति ही 'द्वौ भ्राता' से बोध्य है।

यद्यपि दोहा ४४।७ में लक्ष्मणजी को सम्पूर्ण विरोधी निशाचरों का एक निमेष में उन्मूलक बताया; फिर भी सत्वगुणसम्पत्ति के प्रतीक होने से लक्ष्मणजी में नयनानन्द-जनकतापर्याप्ति भी 'द्वौ' से स्मर्तव्य है।

भ्राता से लक्ष्मणजी में सहजमित्रता व बन्धुता भी मननीय है।

नयनानन्द : लक्ष्मणजी व श्रीराम में 'नयनानन्द' से अनुमित वृद्धाभिसम्मति की प्राप्ति स्पष्ट की है। जैसा कि—

राजास्य जगतो हेतुवृद्धेर्वृद्धाभिसम्मतः।
नयनानन्दजननः शशांक इव तोयधेः।।[2]

से व्यक्त है। नयनानन्द की उक्ति से निगमागम के द्विविध आचार्योंद्वारा श्रीराम की वन्द्यता निर्विवाद है।

दान के दाता : संसार में विपद् व संपद् उभयावस्था में निर्विकार उदासीन हो विचरण करने वाले नयनानन्ददाता नहीं होते हैं परन्तु अपवाद के रूप में श्रीराम व लक्ष्मणजी प्रसिद्ध हैं यत: उनकी यह निर्विकारिता भक्तों के नयनों को अति सुख देने वाली हो रही है। फलत: उनमें नयनानन्ददातृत्व व नयनानन्दप्राप्तिकर्मत्व होना समझना है।

संगति—दोनों भाइयों में निर्विकारिता समान होते हुए भी श्रीराम की अपनी अलौकिक अनितरसाधारण विशेषताविशेष को देखकर बिभीषणजी की प्यासी आँखों ने उत्कण्ठा में एकटक देखना सुना रहे हैं।

चौपाई—***बहुरि राम छबिधाम बिलोकी । रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी॥ ३॥***

---

[1] श्रीरामरक्षास्तोत्र।

[2] नीतिसार १।१९

भावार्थ—श्रीराम की एकमात्र अनितरसाधारण छवि को देखकर संसार में वैसी छवि कहीं भी न होने से सर्वलक्षणलक्षित शोभा से आकृष्ट बिभीषणजी की आँखे विना पलकों को झुकाये स्थिर हो श्रीराम को एकटक निहारती रह गयीं।

शास्त्रीय व्याख्या

बहुरि राम छबि धाम : श्रीराम की शोभा श्रीराम में ही है उस शोभा को पौनःपुन्येन देखना 'बहुरि' है।

संसार में किसी की तुलना से अतुलनीय अनुपमेय श्रीराम 'राम' से बोध्य हैं। 'राम' शब्द लक्ष्मणजी के व्यावृत्त्यर्थ है। सामुद्रिकशास्त्रोक्त शारीरिक पूर्ण सम्पत्ति, तेजस्, मनोबलात्मक ओजस्, बल, साध्वाभिगामिक और आत्मोपकारि गुणविशिष्ट शोभा 'छबि' से बोध्य है। 'छबि' भावप्रकाशन में व्याख्यात है—

रूपोपभोगतारुण्यैर्योऽलंकारोङ्गसंश्रयः ।
सा शोभा सैव कान्तिः स्यान्मन्मथाप्यायिताच्छबिः ॥
दक्षता शौर्यमुत्साहो नीचे कुत्साधिके मुहुः ।
स्पर्धाऽधिक्रियते यत्र सा शोभेति प्रकीर्तिता ॥
स्वप्रभावप्रकटनं शोभेति परिकीर्तिता ॥[1]

बिलोकी : आगमोक्त पद्धतिक ध्यानसन्निकर्ष से जो मनोगम्य हो रहे थे उसी मूर्ति ने अभी चक्षुःसंयुक्त हो नयनों की पिपासा का उपशमन करना 'बिलोकी' से कहा है।

रहेउ ठटुकि : प्रीति में डुबकी लगाने के साथ मार्ग में जो सन्देह बिभीषणजी को सता रहे थे। उनका उन्मूलन होना 'रहेउ' है।

प्रीति दर्शनज आवेग में पलकों की द्रुतगति होना चाहिये थी किन्तु वैसा न होकर पलक में स्तम्भ का उदय होना 'ठटुकि' है।

एकटक : पलकों पर स्तम्भ का आक्रमण होने के परिणाम में पलक स्थिर हो गये जो अद्भुतता का परिचायक है। इस प्रकार प्रथम श्रीरामदर्शन में प्यासी आँखों की बढ़ती उत्कण्ठा की अभिवृद्धि में कुछ कमी आयी।

संगति—श्रीराम के तत्तदंगों पर शरीरगुणसंपत्तिदर्शनाकांक्षी बिभीषणजी की आँखोंका पहुँचना सुना रहे हैं।

चौपाई— *भुज प्रलम्ब कंजारुन लोचन । स्यामल गात प्रनत भय मोचन ॥ ४ ॥*
सिंघ कंध आयत उर सोहा । आनन अमित मदन मन मोहा ॥ ५ ॥

भावार्थ—बाहु दीर्घ हैं। नयन कमल की लालिमा लिए हैं। शरीर मेघश्याम है। वे प्रणतार्ति के भय के हर्त्ता हैं। स्कंध सिंहवत् शोभायमान हैं। वक्षःस्थल अति विस्तृत है। मुख अगणित मदन को मुग्ध कर रहा है।

शास्त्रीय व्याख्या

भुज प्रलम्ब : सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार प्रभु का आजानुबाहु होना 'भुज प्रलंब' से दर्शाया है। रक्षण आकांक्षित होने से तदौचित्येन भुज प्रलंब प्रथमतः वर्णित है।

---

[1] भावप्रकाशन ८-१६; १०-३; २२५-९

कंजारुन लोचन : प्रशमाभरणपराक्रमोचित वीररसस्थायिउत्साहभावयुक्त शान्तमूर्ति 'कंजारुन लोचन' से चिन्त्य है। इसमें क्षात्र तेजस् की झलक दृश्य हो रही है।[१]

स्यामल गात : धीरप्रकृति विश्वासार्हता की स्थिति में सफलमनोरथपूर्तिवर्षा का होना 'स्यामलगात' से ध्वनित है।

प्रनत भय मोचन : 'प्रनत भय मोचन' की पूर्ण उपपत्ति दोहा ४३।८ के अन्तर्गत 'सरनागत भयहारी' शीर्षक में निरूपित है।

सिंघ कंध : राग में आकर बिभीषणजी ने देखना दोषयुक्त माना जाय तो तत्परिहारार्थ शिवजी ने 'सिंह कंध' कहना कविकौशल है। नीतिकल्पतरूक्त लक्षण यहाँ स्मर्तव्य है।

तन्वंसो विजयी राजा स्वधर्मनियतस्थितिः।
शुभाशयश्च सुश्लिष्टस्कन्धो वीर्यबलोद्गमः॥

(नीतिकल्पतरु) पुरुषलक्षणशाखा ७३

आयत उर सोहा : 'आयत उर सोहा' इस प्रकार व्याख्यात है—

विस्तीर्ण मांसलं वक्षो भूपतेर्जायते ध्रुवम्।
समेन वक्षसा साधुक्रियानिष्ठश्च सन्मतिः॥

(नीतिकल्पतरु) पुरुषलक्षणशाखा ८९

अमित मदन मन मोहा : कामदेव प्रभु के मानस पुत्र हैं। रमास्पद बिम्ब के प्रतिबिम्ब हैं अर्थात् तदधीनता में ही रमा के मुखावलम्ब हैं।

'अमित' कहने से प्रभु की मुखाकृति की परम सुन्दरता वर्णित है। इस प्रकार शिवजी ने 'साधु ते होइ न कारज हानी'[२] की उपपत्ति पूर्ण की।

संगति—श्रीराम में नयनानन्ददानकर्तृत्व बताकर उसके परिणाम में उद्‌भूत पिपासाशमन के पश्चात् प्रगट हुई बिभीषणजी की सुखकर वाणी प्रगट कर रहे हैं।

चौपाई— *नयन नीर पुलकित अति गाता । मन धरि धीर कही मृदु बाता॥ ६॥*
नाथ दसासन कर मैं भ्राता । निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥ ७॥
सहज पापप्रिय तामस देहा । जथा उलूकहि तम पर नेहा॥ ८॥

भावार्थ—आँखें डबडबा आईं। शरीर रोमांचित हो गया। बिभीषणजी ने मानस में धीरता को स्थिर कर अति कोमल वाणी में कहा कि हे नाथ! मैं दशानन का भाई हूँ। राक्षसवंश में मेरा जन्म है। हे देवरक्षक! मुझे पाप कर्म में प्रीति है। जैसे उल्लू को अंधेरी रात ही सुहावनी लगती है।

शास्त्रीय व्याख्या

नयन नीर : प्रभु निराकांक्ष क्रियाशक्ति आदि से पूर्ण हैं फिर भी उन्होंने नीतिदृष्ट्या मेरे (बिभीषणजी) आगमन की साकांक्षता में स्वदर्शन का अवसर देना बिभीषणजी को ज्यों ही स्मृत हुआ त्यों ही दोनों नयन आनन्दाश्रु से पूर्ण हो गए। यह हर्ष का सात्विक भाव है। 'नीर' शब्द से मंगलार्थक श्रु ध्वनित है। जैसा कि उक्त है—

---

[१] रक्तान्तनेत्राः पुरुषा धैर्योदार्यगुणान्विताः (नीतिकल्पतरु)।

[२] श्रीरामचरितमानस ५।६।४

श्रु शब्दो मंगलार्थः स्यात् प्रयुक्तः शीतवारिणि।[१]

ज्ञातव्य है कि बिभीषणजी श्रीरामको अनिमिष हो अद्‌भुत रूप से एकटक देख रहे थे। इससे आँखों में पानी भर आना स्वाभाविक है उसे कवि 'नयन नीर' से प्रगट कर रहे हैं।

पुलकित अति गाता : पुलक रोमांच का बोधक शब्द है।

रोमाञ्चः कोपरुग्भीतिहर्षशीतादिभिर्भवेत्।
तं चोत्सुकासकृद्गात्रसंस्पर्शैः पुलकैर्वदेत्॥[२]

बिभीषणजी सत्त्वगुण से प्रभावित होने से उनके दोनों भाव सात्त्विक हैं। केवल पुलकित कहने से सात्त्विकभावयुक्त प्रीति व्यंजित न होती अतः 'पुलकित अति' कहा है। श्रीराम को देखने के प्रति औत्सुक्य 'अति' से ध्वनित है। वह ऐसा समृद्ध हुआ कि आनन्दात्मा सत्त्वपूर्ण का संयोग चक्षुष् से होते ही बिभीषणजी के शरीर का प्रति अवयव शीतल जल से स्नापित हो गया जो 'अति गाता' से व्यक्त है।

मन धरि धीर : अश्रु के अतिरिक्त स्तम्भादि सात्त्विक भाव मनस्, वाणी व शरीर में उभर सकते थे। परन्तु राजप्रकृति होने से बिभीषणजी ने उन्हें रोकना 'मन धरि धीर' से स्फुट है।

अथवा—बिभीषणजी के सहजस्वभाव को 'मन धरि धीर' से दर्शाया है। आशय यह कि जीवन से प्रारम्भ कर अभी तक जो भी कार्य बिभीषणजी के हाथों से सम्पन्न हुए उसके मूल में धृति, मति एवं तर्क निहित थे उसी का प्रभाव था कि नीति के औचित्य को देखकर बिभीषणजी ने अभी तक रावण को नहीं त्यागा। जब देशकालानुकूल्य प्राप्त हुआ तभी उन्होंने रावण का त्याग किया।

मृदु बाता : 'मन धरि धीर' का प्रभाव मृदु यथार्थ नैतिक वाणी है।

स्पष्टमुल्लासि ललितं गुर्वोजस्वि समं मृदु॥[३]

इस उक्ति के अनुसार वाणी ने ओजस्वी होना 'मृदु' का आशय है।

मृदु के साथ गान्धार या निषाद स्वर भी 'बाता' से सना हुआ है जो शरणागति के अनन्तर की मनोवृत्ति का परिचायक कहा गया है।

'बाता' से स्पष्ट ललितपदाभिधायितारूप वाग्मिता उक्त है।

इस प्रकार शिवजी ने शरणागत बिभीषणजी की मनोवृत्ति दर्शाकर उनका मानस कर्म प्रगट किया है।

नाथ : आश्रित को साम, दान, अर्थ, भोग से प्रसन्न करने का स्वभाव रखने वाले स्वामी 'नाथ' शब्द का आशय है। 'नाथ' इस प्रकार व्याख्यान है—

सामदानार्थसंभोगैः लालयन् प्रीणयन् सदा।
भजते रहसि प्रीतः स नाथ इति कथ्यते॥[४]

---

१. भावप्रकाशन ३१।२२

२. भावप्रकाशन १४।१७

३. भावप्रकाशन १९१।१९

४. भावप्रकाशन १०७।१७

सुग्रीवजी के साथ मन्त्रणा कर श्रीराम ने बिभीषणजी को अभय दिया। उससे 'भजते रहसि प्रीतः' उक्ति सार्थक है तथा उन्हें सम्मानपूर्वक श्रीरामसाम्मुख्य प्राप्त हुआ जो सामादि से सन्तुष्ट करने के स्वभाव का परिचय दे रहा है। अतः श्रीराम को 'नाथ' कहना युक्तिसंगत है।

दसाननकर : अपना परिचय रावणभ्राता के रूप में देना ४३।४ से एकवाक्यतापन्न है।

मिथ्यात्व की सम्भावना को स्थान प्राप्त न हो इस दृष्टि से 'दसानन कर' कहना उक्त है। उसका निष्कर्ष एकार्थाभिनिवेश प्रयुक्त सहज शत्रुत्व में नहीं है; क्योंकि वे राज्यभोगाकांक्षी नहीं हैं न तो सुरद्वेष का सूचक है अपितु स्वरूपकीर्तनमात्रपरक है।

निसिचर बंस : सुग्रीवजी ने बिभीषणजी के प्रति जो आशंका व्यक्त की उसका प्रयोजक रावण-बिभीषणगत साधर्म्य था उसकी उपपत्ति जिस अंश में समान है उस अंश को वे 'निसिचर बंस' से स्पष्ट कर रहे हैं।

प्रतिज्ञातार्थनिर्वहणानिर्वहणपरीक्षण करने की नीति बतायी गयी है उसी का संकेत 'निसिचर बंस' से चिन्त्य है। अर्थात् प्रकृत में प्रतिज्ञातार्थनिर्वहण न करने का सहज स्वभाव 'निसिचर बंस' से स्फुट कर रहे हैं। अर्थात् निशाचर वंश ने अवज्ञा करना, 'अहं भोगी, उत्कृष्टोऽहं' ऐसी आसुरी संपत्ति के होने की सूचना 'निसिचर बंस' कीर्तन के व्यक्त कर रहे हैं। कहना यह है कि शुक्रशोणितसंयोग होते समय जो दोष उदित होगा वैसी प्रकृति उस पिण्ड की होती है। तदनुसार उत्तमप्रकृत्याधायक कफ उत्कट होने से बिभीषणजी का मनस् तामसप्रकृत्या अलिप्त हैं। केवल शरीर पिण्डादि राक्षसवंशानुरूप हैं।

अथवा—यद्यपि पिता ब्राह्मण थे तथापि 'बीजाद्योनिर्बलीयसी' वचन यहाँ स्मर्तव्य है। एवंच मातृद्वारक वंश यहाँ 'निसिचर बंस' से चिन्त्य है।

इस प्रकार सुग्रीवकृत शंकोत्थापन का मुख्य बीज स्फुट है।

सुरत्राता : नीति के पक्षधर, याज्ञिक कर्मसंरक्षक देव, जन्मतः बलवान् राक्षसों से पीड़ित होते हैं तो उस आपत्ति से देवों को बचाना 'सुरत्राता' का भाव है। यतः देवों का रक्षण न होने से शास्त्रप्रामाण्य, निगमागम पर रहे विश्वास ने लुप्त होना अर्थसिद्ध है।

सहज पाप प्रिय : श्रीराम के सम्मुख न होने का कारण 'सहज पापप्रिय' से स्फुट कर रहे हैं। इसमें देवों व राक्षसों का वैधर्म्य नियत रूप में निर्णीत किया है।

'पाप प्रिय' से मूर्तिमान् अनैतिक पाप विवक्षित है। निष्कर्ष यह कि तामस देह के लिए पाप ही अत्यन्त प्रिय होने से उन्हें वही रुचिकर होता है।

तामस देहा : 'तामस देहा' के लिए सात्विक पदार्थ रुच्य नहीं होते इसलिए कि तमोदेह में मूढ़ता, अन्धता, निन्दितकर्मप्रवृत्ति आदि का होना स्वाभाविक माना जाता है।

तम पर नेहा : तामस देहधारियों ने निगमागमसम्मत ईश्वरादेश की अवहेलना करने का कारण उस आदेश में रहे प्रकाश के सामने तामसों की आँखों का निमीलन होना है। इसी को शिवजी ने 'तम पर नेहा' से व्यक्त किया है।

'तम पर नेहा' कह कर बिभीषणजी मातृवंशानुरूप अपनी प्रकृति को बता रहे हैं। वे स्वयं वैसे नहीं हैं; क्योंकि पूर्वजन्म में प्रतापभानु के गुरु बिभीषणजी साधुसेवा व

विद्यासेवा में अग्रणी थे। वही संस्कार तामसदेहधारी बिभीषणजी को वेदागमबाह्य कर्मों से विरत कर रहे हैं। उसी प्रभाव से वे किसी सुर के प्रति आक्रामक नहीं हुए, न तो देवस्थल में निवास करने का प्रयत्न किया। जो स्थान तामस देह के लिए निवासार्ह माना गया है वहीं पर ग्लानिरहित हो निवास किया उसका फल श्रीरामसम्मुखता है जो उन्हें पूर्णतया प्राप्त हो रहा है। फिर भी बिभीषणजी ने अपने देह को शुचि न कहकर अशुचि और तामस कहा जो दीनता का बोधक है।

एवंच श्रीराम ने अपने सम्मुख होने और न होने के प्रति जो भी वचन सुग्रीवजी को सुनाए उनकी एकरूपता शरणागत बिभीषणवचनों में उपपन्न है।

संगति—इदंप्रथमतया सम्मुख में आने का कारण सुना रहे हैं। इसलिए कि बिभीषणजी ने क़िसी के शरण में आना अभी तक अप्रसिद्ध माना जाता रहा है।

दोहा— ***श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।***
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥ ४५॥

भावार्थ—स्वश्रोत्र से भवभंजक प्रभु का यशस् सुनकर श्रीचरणों के शरण में आया हूँ। हे आर्तिहरण शरणसुखद रघुपते! रक्षा करें।

शास्त्रीय व्याख्या

श्रवन सुजसु : कैवल्यपददाता, सुरों को अभय देने वाले, कामादिदोषों से रहित, सर्वाधिकारसम्पन्न ईशतत्त्व ही श्रीरामरूप में अवतीर्ण हैं ऐसा पुलस्त्य ऋषि, माल्यवान्जी व हनुमान्जी के द्वारा श्रवण करना 'श्रवन सुजसु' है उसकी एकरूपता में 'भंजन भवभीर' आदि कहना उपपन्न है। 'सुजसु' से मुनिपत्न्युद्धार, नाविकचरित्र, सीतास्वयंवर, दण्डक की निष्कण्टकता, लंकादाह में मेरा (बिभीषणजी) रक्षण आदि चरित्र स्मर्तव्य हैं। यह सुयशस्श्रवण प्रभुसानिध्य में लाने का कारण है।

आयउ प्रभु : इदंप्रथमतया मेरा आगमन होना 'आयउ' है।

मन्वाद्युपदिष्ट, न्यायसम्मत, शास्त्रपरतन्त्रता में रहते, निष्कपट रूप से नारदवचन पूर्ण करने का संकल्प लेने वाले श्रीराम यहाँ 'प्रभु' शब्द से बोध्य हैं। इनके चरित्र में अहंकारिताप्रयुक्त शंकोत्थापन को अवसर प्राप्त न होने से भेद का अवकाश उन्मूलित है।

भंजन भव भीर : ज्ञातव्य है कि समुद्रतट पर श्रीरामजी का आगमन रावणकृत अपराधप्रतीकार के हेतु नहीं है, न तो वैषयिक मनोरथपूर्त्यर्थ है, बल्कि बिभीषणकृत साधुसेवाप्रयुक्त प्रसन्नता का प्रदर्शक है। अथवा विरोधी तत्त्वों को अन्तःकरण से हटाकर हृदय में 'भंजन भव भीर' की कल्पना को स्थिरतया जागृत कराने हेतु है। इसलिए कि प्रतापभानु को पूर्व जन्म में थोड़ी सी चूक होने से मृत्यु के समय दुष्ट वासना के जागरण से तामस् देह की प्राप्ति हो गई। इस प्रकार से संसार में आने-जाने का अति दुस्तर कार्यक्रम लगा हुआ होने से संसार भवसागर है। उससे पार पाने में ये श्रीरामचरणारविन्द ही साधन हैं। ऐसा सोचना ही 'भवभीर' का आशय है।

त्राहि त्राहि आरति हरन : भक्ति का परिचायक चिह्न काम से हत न होना है। उसी कोटि में रहे बिभीषणजी को राज्यादिफलेप्सा नहीं है किन्तु उनको भवयातायात की पीड़ा

अति व्यथा दे रही है उसी के परिहार में 'त्राहि' की पुनरुक्ति है।

'भंजन भव भीर' समभिव्यवहार में 'आरति हरन' कहने से 'आरति' का निष्कर्ष भव आर्ति ही ज्ञेय है।

सरन : निगमागम ने ज्ञानतः कृत महापापियों को शुद्ध करने में अपनी असमर्थता प्रगट की फिर भी निगमागम ने वैसे अपराधियों को रघुपतिशरण में जाने को कहा जो साधुसेवा व विद्यासेवा के माध्यम से सम्भव है।

सुखद : श्रीरामतत्त्व के सान्निध्य में आभिमानिक, आभ्यासिक, वैषयिक, मानोरथिक सुख के अतिरिक्त विद्याशमं सुख सुलभ होना 'सुखद' का आशय है।

रघुबीर : 'बीर' कहने सें श्रीराम में दानवीरता, सत्यवीरता आदि अनेक गुणों का समाहित होना है।

सम्बोधनों की सार्थकता

'आरति हरन' से अभयदान, 'सरन' से सम्मुखागत को न त्यागना, 'सुखद' से भयहरण, 'रघुबीर' से सम्यक् पालन 'प्रभु' से ऐश्वर्यात्मक पूर्णस्वतन्त्रता तथा सर्वतउपरि बुद्धिता व्यक्त की जो पूर्व संवाद में ज्ञात है।

संगति—कायेन, वाचा, मनसा बिभीषणजी ने किया स्वात्मसमर्पण सुना रहे हैं जिसमें आत्मरक्षार्थ समाश्रित होना स्पष्ट होगा। जिससे स्वपक्ष विजिगीषु की समृद्धि के साथ सद्वृत्तता भी स्पष्ट होगी।

चौपाई— अस कहि करत दण्डवत देखा । तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा ॥ १ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त वचन कहते हुए बिभीषणजी ने प्रभु को दण्डवत् प्रणाम किया। प्रभु भी विलम्ब न करते हुए हर्षविशेष में आकर उठ खड़े हुए।

शास्त्रीय व्याख्या

अस कहि : शरण में आने की अर्हता सहेतुक जिन वचनों से गाई वे वचन 'अस कहि' से बोध्य हैं। 'कहि' से कपट, छल, छिद्रशून्य हो दण्डवत् प्रणाम करने में क्षणव्यवधान का अभाव दर्शाया है।

दण्डवत देखा : प्रभुचरणों के सम्मुख जमीन पर शरीर को साष्टांग गिराना दण्डवत् है।

यशोपधायक गुण प्रभु में देखकर जीवने दण्डवत् प्रणाम करना उसका परम पुरुषार्थ है जिससे दण्डवत् प्रणाम कर्त्ता को दम्भ, भीति, व शोक नहीं रहता है।

प्रभुद्वय ने बिभीषणजी में देहतादात्म्याभाव यथावत् परखना 'देखा' है।

तुरत उठे : बिभीषणाभिप्रेत अर्थ को समझने में विलम्ब न होना 'तुरत' का भाव है।

अथवा—वक्ष्यमाण हर्षविशेषज आवेग 'तुरत' से ध्वनित है।

अथवा—बिभीषणजी पूर्णश्रद्धावान् सन्त होने से उनकी दण्डवत् क्रिया को देखकर 'प्राणा: मुख्यमिवागतं' की चरितार्थता 'तुरत उठे' से स्फुट है।

ज्ञातव्य है कि श्रीराम ने सुग्रीवजी के साथ हनुमत्साक्षित्व में सन्धि (सख्य) पण किया उससे वे मांडलिक कहे गए। उसके पश्चात् उनके साथ प्रतीकार सन्धि को दृढ़ करने हेतु वालिवध कर सुग्रीवजी को किष्किन्धा का राजा बनाया। यहाँ बिभीषणजी माण्डलिक

न होकर मित्रराष्ट्र के राजा माने जायेंगे तथा सप्तप्रकृतिक राज्य के अंगों में सप्तम अंगरूप में गिने जायेंगे। अतः राज्यप्रकृति के अन्तर्गत रहे मित्र सप्तम प्रकृति होने से मित्रराष्ट्र के सम्राट् के सामने धर्मविजयी ने उठना 'उठि' का भाव है।

ज्ञातव्य है कि प्रभु के साथ लक्ष्मणजी भी उठे होंगे उसकी एकवाक्यता ४६।३ में चिन्त्य है।

हरष बिसेषा : अराक्षसी पृथ्वी करने की प्रतिज्ञा व नारदशापानुसार मानवतास्थापना-हेतु आसन्न समयारम्भ का मुहूर्त होने से श्रीरामजी को हर्ष होना 'हरषबिसेषा' है।

अथवा—रावण के द्वेष की समृद्धि से राक्षसों के हृदय में अपने (श्रीराम) प्रति उनकी एकाग्रता होने की स्थिति देखकर हर्ष होना 'हरष बिसेषा' है।

अथवा—वर्णाश्रम समाज में त्रयीप्रतिष्ठा होने के साथ इतर समाज में प्रमाणमूर्धन्यतया आगम की प्रतिष्ठा भी कर्त्तव्य है। तदर्थ एक आटविक देशस्थ राजा की स्वराज्यप्रकृति के अन्तर्गत मित्ररूप से प्राप्ति होना देखकर तत्प्रयुक्त हर्ष 'हरष बिसेषा' है।

संगति—तामस देही राक्षसों को वेदों ने समुद्र के उस पार रहने का संकेत किया है। प्रस्तुत में आत्मसंपत्तिसंपन्न बिभीषणजी को रावण ने प्रत्यन्त देश से दूर किया ऐसी अवस्था में कपट आदि दोषों से मुक्त, साधुसेवी व निगमागमसम्मत शास्त्रोक्त अनुष्ठान से शुद्धान्तःकरण दीन बिभीषणजी को प्रभु हृदय से लगा रहे हैं।

चौपाई— दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा । भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा ॥ २ ॥

भावार्थ—(दोहा ४५ 'श्रवण......आरति हरन' तक के) दीन वचनों को सुनकर प्रभु का चित्त द्रुत हो आकृष्ट हो गया। श्रीरामजी ने विशाल भुजाओं को आगे बढ़ाकर बिभीषणजी को हृदय से लगा लिया।

शास्त्रीय व्याख्या

दीन बचन : शास्त्रों ने निर्बाधरूप में तामस देही को समुद्र के उत्तर तटस्थित (वर्णाश्रमस्थली) तीर्थस्थलों में निवास करने के प्रति रोक लगाकर अपमानित होने से बिभीषणजी अति दीन हैं। दैन्य का स्वरूप भावप्रकाशन[1] में प्रसिद्ध है।

मन भावा : अभ्यागत बिभीषणजी के वचनों में कपट आदि का अभाव समझकर प्रभु के मनस् का आकर्षण होना 'मन भावा' है यह प्रभु की प्रसन्नता का चिह्न है। यह कार्यकारणभाव सर्वसाधारण को भी अनुमत है। फलतः आगमप्रमाणानुयायियों का कापट्यादि दोषों से मुक्त रहने पर वे भी प्रभुप्रसन्नता के पात्र होते हैं उसके उदाहरण में प्रह्लादजी व बिभीषणजी का चरित्र है।

भुज बिसाल गहि : भक्ति की मर्यादा में रहे भक्त सीमा से बँधे रहते हैं क्योंकि समस्यासमाधान में अँकुश में रहते हैं। प्रभु ने बिभीषणजी को अपने सान्निध्य में नैतिकदृष्टि से लाना 'भुज बिसाल' से ध्वनित है।

हृदयँ लगावा : तामसदेही भक्त के समस्त सन्ताप प्रभु के हृदयस्पर्श से निरस्त हुए। तामस व सात्त्विक देहवानों के प्रति प्रभु का यह समभाव हृदय लगाने से स्फुट है।

---

१. भावप्रकाशन १८।१७

ज्ञातव्य है कि सभी प्रकार के भक्तों को भक्तिफलप्राप्ति में कोई वैषम्य नहीं है। साधनांश में सबको मर्यादित व सीमा में बाँधकर रखने का प्रयोजन समस्या का उन्मूलन लोकयात्रा की सुचारुता, निष्कण्टकता, एकार्थानभिनिवेश है।

उपर्युक्त मर्यादा में आभिमानिकसुखवैचित्र्य भी सुरक्षित रहता है। आभिमानिकसुख के प्रभाव से स्वस्वकार्यानुरूप प्रतिभा का उदय, भोगविचित्रता तदानुगुण्य में विषयवैचित्र्य आदि सभी सार्थक होते हैं।

'हृदयँ लगावा' का प्रयोजन ४७-८ चौपाई में निरूपित है।

संगति—हृदयस्पर्श के अनन्तर परराष्ट्रगत भावी राजा का सम्मान एक भाई करे व दूसरे भाई ने उस समय तटस्थ रहना अनीति है उसका परिहार शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— ***अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी । बोले बचन भगत भयहारी ॥ ३ ॥***

भावार्थ—अनुजसहित श्रीरामजी ने नीतिनिपुण बिभीषणजी को समीप में बैठाकर उनसे भक्तभयहारी वचन कहे।

शास्त्रीय व्याख्या

अनुज सहित : 'अनुज सहित' कहने से दोनों भाइयों का प्रेम परराष्ट्र के भावी राजा के प्रति होना व्यक्त किया है। ऐसा होने से बिभीषणजी के प्रति उग्रता, आलस्य, जुगुप्सा का अभाव दोनों भाइयों में समानतया समझाया है।

ढिग बैठारी : अभयदाता श्रीराम ने चारों ओर से अनाश्रित, शुद्ध अन्तःकरणयुक्त बिभीषणजी को अपने समीप में रहने का अवसर देना 'ढिग' है। अन्यान्य भक्तों के लिए भी श्रीराम के प्रस्तुत चरित्र से महान् आश्वासन प्राप्त होना 'ढिग' का व्यंग्यार्थ है।

आकाशमार्ग से अतिशीघ्रता से आगमन व मानसिकचिन्तनप्रयुक्त श्रम का अनुभव न होना 'बैठारी' का प्रोयजन है।

बोले बचन : वक्ष्यमाण अग्रिम वचन 'बचन' से बोध्य हैं। उसी का संकेत शिवजी ने अपनी ओर से 'बोले बचन' से किया है।

भगत भय हारी : वृद्धापमान से त्रयी व आगम का ह्रास देखकर अति पीड़ित होने वाले सभी प्रकार के निगमागमानुयायी प्राणी 'भगत' से बोध्य हैं। उनकी व्यथा के अपहर्ता प्रभु 'भगत भय हारी' से बोध्य हैं।

संगति—बिभीषणजी की हो रही अपमानप्रयुक्त नीति व धर्मोच्चाटनव्यथा का परिहार न होनेपर भी लंका में उनका निवास देखकर प्रभु उनसे सुरक्षासंबंधी प्रश्न पूछ रहे हैं।

चौपाई— ***कहु लंकेस सहित परिवारा । कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥ ४ ॥***

भावार्थ—आपका वास तो अनभिप्रेतस्थल में है। हे लंकेश्वर! आप परिवार के साथ कैसे कुशलपूर्वक रहे?

शास्त्रीय व्याख्या

कहु लंकेस : प्रश्नार्थक लोट् लकार का मध्यम पुरुष 'कहु' 'कुसल' से अन्वित है।

लंकेस : भुजाओं को बढ़ाने व आलिंगन करने की उपपत्ति 'लंकेस' सम्बोधन से

व्यक्त है। श्रीराम प्रभु होने से उनको भूत, भविष्यत् भी वर्तमानतया प्रतीत होना 'लंकेस' से व्यक्त है।

अथवा—परराष्ट्रीय राजा स्वराज्यप्रकृतिक सप्तम अंगभूत मित्र होते हैं वही योग्यता बिभीषणजी में व्यक्त की जो 'लंकेस' सम्बोधन से स्पष्ट है।

सहित परिवारा : 'परिवारा' से कुटुम्ब, पुत्र तथा अन्यान्य बन्धु स्वजन सचिव आदि विवक्षित हैं। तत्सबद्ध होना 'सहित' का भाव है।

कुसल कुठाहर : 'कुसल' शब्द क्षेमार्थक है। अथवा आप्तकामता 'कुसल' से ध्वनित है। धर्मविरोधी अशुचित्ववान् देश 'कुठाहर' है।

बास : जहाँ पर गौ मनुष्य की निरन्तर भक्ष्यता अत्यर्थ हो वहाँ पर बिभीषणजी का निवास होना 'कुठाहर बास' है। उससे हटकर अन्य देश उनके लिए वासार्ह नहीं माना गया है यत: उस वास के पीछे निगमसम्मति प्राप्त नहीं है।

तुम्हारा : प्राग्जन्म में बिभीषणजी प्रतापी प्रतापभानु राजा के समीप में निरपराधी गुरु थे। उनको लंका में जन्म देकर बिभीषणजी के माध्यम से निगमसम्मत आगम की प्रतिष्ठा को स्थायितया सुरक्षित करना, प्रभु की मनीषा मालूम होती है।

अथवा—सन्त महात्मा कहते हैं कि विधाता ने कर्म के माध्यम से जीव को जहाँ भेजने का संकल्प किया है। वह वहीं पर रहकर तदनुगुणतया स्वाधिकारानुरूप कर्म में किसी प्रकार की ग्लानि न कर भगवदादेश में निमग्न रहे। ऐसी श्रेणी के अन्तर्गत स्थित बिभीषणजी युष्मत्पदार्थ हैं।

संगति—श्रीराम कुठाहर की व्याख्या के साथ कुशल प्रश्न का कारण सुना रहे हैं जो चौपाई ३ में 'भय हारी' शीर्षक में स्फुट है।

चौपाई— खल मंडली बसहु दिनु राती । सखा धरम निबहइ केहि भाँती ॥ ५ ॥

भावार्थ—जहाँ अहोरात्र खलमंडली में ही निवास हो वहाँ हे सखे! राजधर्म को निबाहना कठिन है फिर भी आपने धर्मशुश्रूषा किस प्रकार से की?

शास्त्रीय व्याख्या

खल मंडली बसहु : सन्तों के साथ सदा द्रोह रखने वाले 'खल' हैं। उन्हीं का चारों ओर निवास होना 'मण्डली' से ध्वनित है। खलमंडलाधिकरण देशवास 'बसहु' है।

दिन राती : 'दिन राती' से कालव्याप्ति दर्शाकर खलों के स्वाभाविक निन्दित कार्यों के प्रति बिभीषणजी की अरुच्यता स्पष्ट की है। वही देश बिभीषणजी के निवासार्थ प्राप्त होना उनकी अति कठिन परीक्षा थी। उसमें उत्तीर्ण होना साधारण कार्य नहीं है।

सखा : समुद्र के उस पार प्रत्यन्त देश स्वतन्त्र राष्ट्र है। उसके राजा बिभीषणजी मित्रलक्षणसम्पन्न व शमप्रकृति धृतिमान् होने से उन्हें 'सखा' कहा है।

धरम : 'धरम' कहकर बिभीषणजी ने अपनाए कर्म में वेदानुमोदितता ध्वनित है। वे निगमागमसम्मति को देखकर तदुदित आचरणकर्त्ता होने से उन्होंने अपनाया कर्म वैदिक ही है। जिसे नीतिसिद्धान्त ने प्रमाणित किया है। अत: बिभीषणजी द्वारा अपनाए कर्म को धर्म कहना असंगत नहीं है।

निबहइ : अतिदीर्घकाल तक स्वधर्म के प्रति आदर, अभ्यासपटुता, स्व राजधर्म के प्रति अविश्वास एवं अप्रामाण्य बुद्धि न होना प्रमाणों में निर्वीर्यता की शंका न होना, भय न होना, कर्म की असफलता में असम्भावना, विपरीत भावना न होना व अविच्छिन्न धारा में धर्म को सर्वस्व मानना 'निबहइ' है।

केहि भाँती : स्वधर्म के प्रति स्थिरता के मूल की जिज्ञासा 'केहि भाँती' से व्यक्त है। आशय यह कि देशकाल का वैपरीत्य खलस्वभाववैचित्र्य अनन्त होने से नैतिक प्रयोगभेद बदलते आपका आगमानुष्ठान पूर्ण कैसे होता रहा?

संगति—'केहि भाँती' प्रश्न का उत्तर स्वयं श्रीरामजी ही सुना रहे हैं इसलिए कि बिभीषणजी ने जिस नीति का अनुष्ठान करके अपना धर्म निबाहा वह नीति त्रिकालाबाधित अनुच्छेद्य होनी चाहिये वही यहाँ अनुमेय हो रही है।

चौपाई— मै जानउँ तुम्हारि सब रीती । अति नय निपुन न भाव अनीती ॥ ६ ॥

भावार्थ—मैं तुम्हारे प्रयोगविधि को जानता हूँ। तुम नीतिकुशल हो। तुम्हें अनीति प्रिय नहीं लगती।

शास्त्रीय व्याख्या

मैं जानउँ : नीति के वक्ता-प्रयोक्ता श्रीराम मच्छब्दार्थ हैं।

'जानउँ' की नैतिक उपपत्ति यह कि खलमण्डलियों के बीच में रहकर धर्म, विद्या आदि प्रचारित किया जाय तो राजा (खल) को प्रिय नहीं लगता फिर भी सामयिक परिस्थिति को देखकर स्वरक्षणार्थ आपने राजधर्मविद्या ही प्रगट की है उसको मैंने आपके स्वभावपरीक्षण से समझा है। यदि उसे आपने न अपनाया होता तो खलस्थली में आगमानुष्ठान भी असम्भव होता। इस प्रकार परराष्ट्रसम्बन्ध दृष्ट्या भक्ति महारानी की सेवा में रही भारतीय राजधर्म की स्थापना दिखाना भी इस काण्ड का सौन्दर्य है।

सब रीती : नैमित्तिक प्रयोग के लिए सर्वांग के समन्वय का प्रकार मीमांसादि में उट्टंकित हैं। जैसे विकृति में प्रकृति की अतिदेशिकता समझकर कर्मपूत्यर्थ प्रकृति के अंगों का समन्वय। शास्त्रान्तर का उपसंहार, बाध, ऊह आदि सभी तत्त्व आपको ज्ञात है, इसलिए 'सब रीती' कहा है।

अति नय निपुन : उपर्युक्त 'सब रीती' के अतिरिक्त समय-समय पर तत्काल प्रयोग परिवर्तन होता रहता है जो तत्तच्छास्त्र के विद्वानोंद्वारा ही समझना सम्भव है। उसी को 'अति नय निपुन' से गाया है।

प्रयोगविधि अनन्त होने से शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रयोगविधि उपलब्ध नहीं है तथापि अनेक प्रयोग निर्देशक तत्त्व के निर्णायक शास्त्र प्रत्येक के गुण, धर्म, फल आदि उनमें चर्चित हुए हैं। प्रकृत में राजधर्मात्मक (सामान्य) नय का प्राधान्य होने से नयशास्त्र 'नय' से ज्ञातव्य है।

'निपुन' से नयानुष्ठान के प्रति अपेक्षित मेधा, सत्त्व, अध्यवसाय, चेष्टा, दार्ढ्य इस प्रकार के पंचविध मानस व शारीरिक पुरुषार्थ साधने में अपेक्षित प्रतिभा ध्वनित है। इस प्रतिभासम्पत्ति की प्राप्ति में सहायक रूप से आगमानुष्ठान, गुरुभक्ति, साधुसेवा, शास्त्रसेवा

की उपयोगिता मननीय है।

ज्ञातव्य है कि बिभीषणजी में अशास्त्र से उत्पन्न अचक्षुष्मत्तारूप अन्धता न होकर आन्वीक्षिकीसहायता से शास्त्रों का प्रकाशित होना विविक्त है। एवंच राजा की परतन्त्रता में रहकर भी रावण की हाँ में हाँ न मिलाते हुए जीवनयापन करना, क्षमा, अहिंसा, सत्य आदि आठ साधारण धर्म का नैरन्तर्येण पालन करना ही नयनैपुण्य[1] है।

न भाव अनीती : शास्त्र चक्षुष्मान् ने ज्ञानमदाक्षिप्त हो सन्मार्ग को न पकड़ना 'भाव अनीति' है। तत्प्रतियोगिअभाव 'न' है।

'न भाव' उक्त से अनीति में प्रीति का अभाव समझाया है। अर्थात् कुपथ, शंका व असम्भावना के अभाव का दीर्घकाल तक स्थैर्य चिन्त्य है।

'अनीति' से अपनय विवक्षित है। पूर्व जन्मकृत पुण्य राशि (साधुसेवा, शास्त्रसेवा) से अनय के संस्कारों का उद्‌बोध न होना सिद्ध है।

संगति—४६-४ की संगति में सूचित विस्मय के अनुभाव रूप में किए आलिंगन की उपपत्ति गा रहे हैं।

चौपाई— बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देहि बिधाता॥ ७॥

भावार्थ—नरक में निवास करना उत्तम है। दुष्टसंग में रहने की स्थिति विधाता न दे।

शास्त्रीय व्याख्या

बरु भल : प्रभु ने आलिंगन करने की उपपत्ति में यह कहा कि दुष्टसंग में सदा रहते हुए अनीति को न अपनाकर नीति में ही रुचि रखना सम्भव नहीं फलतः दुष्टसमृद्धि बढ़ती है। वैसी वृद्धि नरकनिवासी को प्रसक्त नहीं है। अतः दुष्टसंग और नरक-निवास की तुलना में नरक का पलड़ा हल्का है जिसे 'बरु भल' से गाया है।

बास नरक कर ताता : नरकवास इसलिए हितकर है कि वह पापनाशक हो नरकान्तरवास का कारण नहीं बनता। अतः 'बास' का अन्वय 'भल' से है।

'ताता' सम्बोधन विधातापरक है। विधाता से प्रार्थना इसलिए कि नरकवास के प्रयोजककर्त्ता बनकर आप दुस्संगप्रयुक्त नरकवासाधिकरणपरम्परा से बचायें तो भला ही होगा। अतः 'ताता' सम्बोधन है। जो प्रार्थना का सूचक है।

दुष्ट संग जनि : नीतिसारीय लोकसंग्रह प्रकरण में दुष्टसंग दोष के रूप में वर्णित है वही यहाँ स्मरणीय हैं। दुष्ट आसन्न होते हैं तो वे दुःख के प्रदाता होते हैं जिनके आगे-पीछे सदा खलमण्डली ही वास करती है उनके साथ में रहे सन्त के दुःख की कल्पना करना कठिन है। उस अवस्था में भी सन्त ने सुखी रहना विस्मयावह है। अतः प्रश्न युक्तिसंगत है।

यहाँ पर ज्ञातव्य है कि खलमण्डली के चतुष्कोण के मध्य में रहे सन्त नीति को अपनाते हुए अनीति का सहारा न लेकर सदा प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु उनसे हृदय में आलिंगन करते रहते हैं। उसी अनुभव से साधु भी जीवित रहते हैं। उसका संकेत

---

[1] श्रीरामचरितमानस ५।४१।४—७ में नय का स्पष्टीकरण देखें।

आलिंगन से प्रारम्भ कर यहाँ तक दर्शाए श्रीरामचरित्र से स्पष्ट है।

बिधाता : तामसदेह की प्राप्ति, मन:प्रकृति की सात्विकता, जन्म से ही खलमण्डली का संग आदि योग सहजत: एकत्र दृश्य न होने से उसके दान का कर्तृत्व विधाता में समझाया है। फलत: भविष्यत् के लिए प्रार्थना यही कि खलमण्डली के बीच में वास न होने का कर्तृत्व विधाता स्व में स्वीकारते हैं तो अत्युत्तम होगा। इस दृष्टि से 'बिधाता' कहा है। इस प्रकार श्रीरामजी ने पूछे कुशल का प्रश्न पूर्ण हुआ।

संगति—'बिधाता' कहते ही श्रीरामदर्शनसौभाग्यप्रभावीय सुसंस्कारप्रयुक्त नय से प्राप्त है समझकर तन्नान्तरीयकतया उपर्युक्त पीड़ा सहन करना पड़ी। इतना याद आते ही रावणप्रदत्त पीडनमें दोष न देखते हुए उत्तमफलोपलब्धि से अपना कुशल सुना रहे हैं। उसका फल परीक्षा में बिभीषणजीको प्रभुने उत्तीर्ण करना है।

चौपाई— ***अब पद देखि कुसल रघुराया । जो तुम कीन्हि जानि जन दाया॥ ८ ॥***

भावार्थ—हे रघुपते! आपने अपना स्वजन समझकर मुझ पर दया की है आपके पद देखना ही कुशल है।

शास्त्रीय व्याख्या

अब पद देखी : रघुपतिदर्शनरूप फलप्राप्तिहेतु से जो भी खलसंग आदि के साथ सदाचार (नीति) का अवर्जन था उसकी अभी पूर्णता होना 'अब भए' है।

ईप्सित दर्शन होते ही नान्तरीयक दु:ख, दु:ख नहीं रहे वे इष्टापत्ति में परिणत हो गए। श्रम-श्रम नहीं रहा बल्कि उसका उत्तम फल श्रीरामदर्शनरूप में प्राप्त हुआ उसको 'देखी' से कहा है जो 'कुसल' से अन्वित हो उक्त अर्थ को ध्वनित कर रहा है।

कुसल रघुराया : इच्छा की पूर्ति ऐसी हुई कि अब कोई समस्या अवशिष्ट नहीं रही फलत: 'कुसल' से पूर्ण पुरुषार्थ विवक्षित है।

दीनरक्षण, सत्संगति, दुर्जनसंग्रहाभाव, वाक्सूनृता परलोकविश्वासप्राकट्य व तत्प्रयुक्त कांचनसन्धि आदि गुण 'रघुराया' से व्यक्त है।

जो तुम : कुशलसाधकतया 'जो' कहा है उसका वाच्यार्थ 'दाया' है।

सुग्रीवसंवाद में अभयदानव्रत की चर्चा करने वाले रघुपति युष्मच्छब्दार्थ हैं।

कीन्हि : कर्मकारकतया अन्वित 'दाया' से सम्बद्ध कृति 'कीन्हि' है।

भक्तिसिद्धान्त में श्रीरामकृपामात्र ही भक्तों को वांछनीय है। यद्यपि वह पूर्वजन्म और वर्तमानजन्म में अपनाए सुकृत का परिपाक होने पर सम्भव है। तथापि वह सुकृतसाधन नहीं अपितु प्रयोजक है। जैसे स्वतृप्ति के प्रति कृषि साधन न होकर प्रयोजक है उसी प्रकार मनोरथपूर्तिसहचरित योगक्षेमात्मक कुशल के प्रति दया ही साधन है सुकृत तो कृषिस्थानापन्नतया प्रयोजक है। अत: कुशलं प्रति दया की साधनता को याद कर 'कीन्हि' कहा है जो 'दाया' से अन्वित है।

एवंच दया में कुशल की कारणता सिद्ध करने हेतु अदृष्ट की तरह दया को व्यापार-रूप में मानना भक्तिसिद्धान्त को इष्ट नहीं है। परिणाम में सुकृत को अपनाते हुए भी भक्ति में स्वकृत कर्मसंस्कार का उद्‌बोध नहीं होता। इस सिद्धान्त में कर्म उपासनारूप में कर्तव्य

माना है न कि कर्म दूषित है। यदि कर्म करने में कथंचित् मत्कर्तृत्व उद्बुद्ध होगा तो प्रभु की दया के पात्र रहते हुए भी कुशलप्राप्ति में विलम्ब होना स्वभावसिद्ध है। इस प्रकार भक्तिसिद्धान्त का सर्वपारिषद्य चिन्तनीय है। यही तथ्य राजनीति रूप नयानुष्ठान में भी स्मर्तव्य है। उस पर बल देकर बिभीषणजी के सामने राज सम्बन्धानुरूप नीति की चर्चा करना भक्तों के लिए मननीय विषय है।

जानि जन दाया : 'कीन्हि' शीर्षक में सूचित भक्तिसिद्धान्त 'जन' द्वारा अपनाया जाय तो प्रभु उसको अपना जान कर अपना लेते हैं।

तामस देह के लिए कामादितत्त्व अतिप्रिय होते हैं। तमःप्रचुर देहप्राप्ति के साथ साध्ववज्ञा आदि भयानक कार्य अनवरत होते रहते हैं। उनके रहते नीति में प्रीति व अनीति का वर्जन नहीं हो सकता परन्तु इस तामस देह के द्वारा वैसा न होने का कारण एकमात्र आपकी अनुकम्पा है। उसी को 'दाया' से व्यक्त किया है।

संगति—दयापात्र होने के विरोधी श्रीरामदयातिरिक्त तपस् आदि भाव हृदय में उदित हो जायें तो वे ही भाव कृपापात्रता को बाधित कर सकते हैं। परिणाम में शिवजी वरदान के बहाने उस सेवक को प्रभु के शरण में जाने का द्वार अवरुद्ध कर देते हैं। इस अभिप्राय से बिभीषणजी अपना भाव प्रकट कर रहे हैं।

अथवा—श्रीरामदर्शन होना चक्षुरिन्द्रियेण सर्वसाधारण के लिए असम्भव है सोचकर सबको स्वकुशल प्राप्त करने का उपाय बिभीषणजी सुना रहे हैं।

दोहा— ***तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।***
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम॥ ४६ ॥

भावार्थ—जीव को तब तक कुशल और मनोविश्राम प्राप्त नहीं होता जब तक वह शोक के निवासभूत काम को त्याग कर श्रीराम का भजन नहीं करता है।

शास्त्रीय व्याख्या

तब लगि : 'तब लगि' शब्द चिरकाल से स्थिर श्रमाधिकरणकालबोधक है। अर्थात् दोहे के उत्तरार्ध में बताए तत्त्व को अपनाने के पूर्व कुशल न होना समझा रहे हैं।

कुसल न : परेच्छानधीन इच्छाविषय मुख्य कुशलात्मासुख ध्येय रूप में ८वीं चौपाई में बताकर तत्साधनतया परेच्छाधीन इच्छाविषयभूत कुशल 'कुसल' शब्द से यहाँ स्मर्तव्य है। इसके अभाव का सातत्य 'तब लगि' के शीर्षक में उक्त अवधि तक समझना है।

'न' से व्यतिरेक (कुशलाभाव) बताकर अपथ्यवर्जनपूर्वक भजन की कर्तव्यता दर्शाई है। जैसे कृषि के विना अन्न नहीं होता उसके बिना क्षुधानिवृत्ति नहीं होती।

आशय यह कि श्रीरामकृपा ही कुशलहेतुतया मुख्य साधन है। वह कुपथ्य वर्जन-पूर्वक भजन के विना प्राप्त नहीं होती। अतः कृपा जैसे हो वैसे भजन की कर्तव्यता स्फुट की है।

जीव कहुँ : ४५-८ चौपाई में 'तामसदेहा' से राक्षसदेह मात्र वर्णित है यहाँ देहधारी प्राणिमात्र 'जीव' से विवक्षित है इसकी स्थिति 'मन बिश्राम' में स्फुट होगी। 'कहुँ' का अन्वय 'न' से है।

सपनेहुँ : विषयोन्मुख हो भ्रमण करते हुए स्वस्थ न होना संसारी जीवों का स्वभाव है। उनको जागृत फलोपलब्धि नहीं होती है तो चिन्ता में व्याकुल जीव ने चिन्तित पदार्थ को स्वप्न में देखना 'सपनेहुँ' है।

मन बिश्राम : जीवं अनादि काल से चली आ रही संसारधारा में अविद्या, काम और कर्म से हत हो भ्रमि की तरह संसारचक्र की उच्चावचगति में फँसा है। फलतः निरन्तर कर्म करते रहने से उसको स्वस्थता प्राप्त न होना 'कहँ सपनेहुँ मन बिश्राम' से बोध्य है। एवंच 'मन बिश्राम' नहीं तो कुशल भी नहीं है। उसमें हेतुतया शोकधाम काम की अपूर्णता है।

जब लगि : कर्म से विश्राम न होने की अवधिपूर्णता 'जब लगि' से ध्वनित है। अर्थात् श्रीरामभजनपूर्वत्वाधिकरणत्वाभाववान् काल 'जब लगि' से स्पष्ट है।

भजत न राम कहुँ : विश्रान्ति प्राप्त न होने तथा संसार से त्राण पाने हेतु जीव ने अपनी स्वतन्त्रता को निरस्त कर सेवक बनने की लालसा में जिस तत्त्व को स्वामी के रूप में प्राप्त करना चाहिए वह तत्त्व 'राम' है। वह भजन में कर्मतया अन्वित है।

सोक धाम : 'सोक धाम' 'काम' का विशेषण है जो त्यक्तव्यतया कीर्तित है। काम्य वस्तु रूप प्रतियोगी प्रीति होने के कारण उसके नाश या अनुपलब्धि के प्रति द्वेष होना शोक है। वे विषय आजीवन जीव को सताने में तत्पर हैं। परिणाम में शोक की मात्रा यदि बढ़ती ही रही तो जीव को मृत्यु प्राप्त होना असम्भव नहीं। शोकाधीन जीव कर्तव्य से विमुख होता है। 'काम' से शोकात्मक द्वेष्यनाश प्रतियोगि विषयक इच्छा का संकेत है। वह चिन्तनद्वारा अन्तःकरण में विषयान्तर के प्रवेश को प्रतिबन्धित करती है। उस प्रतिबन्ध को दृढ़ करने में शोक ही उपाय माना है। अर्थात् जो भी कामविषय हैं उनके वियोग में भारी दुःख सहना पड़ता है। ऐसा दर्शाने हेतु 'सोक धाम' कहा है।

ज्ञातव्य है कि प्रकृत जन्म में कामपूर्ति न होने व विषयों का नाश होने में शोक होता है। फलतः उत्तर जन्म में कामचिन्तन समाप्त न होने एवं पूर्वजन्मकृत दुष्कृत प्रभाव से विषय उपलब्ध न होने पर पुनः-पुनः शोक होता है इस प्रकार 'सोक धाम' व्याख्यात है।

तजि : 'तजि' कहने से यह भी ज्ञातव्य है कि निगमागमसम्मत श्रीरामदेशपालनकर्त्ता के सामने शोकधाम व काम के अवसर आने पर भी वे उस समय व्याकुल नहीं होते इसलिए कि उत्तमकोटि के नीतिमान् न्यायपथ से विचलित नहीं होते।

अथवा—'तजि' से विषयों का त्याग विवक्षित न होकर उनके प्रति उत्पन्न ममत्वप्रयोजक स्वत्वयुक्त ममत्वविशिष्ट धी का त्याग समझना है। जैसा कि—

अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहोयतः[१] में उक्त है।

काम : मुच्यमान व्यसनहेतु विषय 'काम' से बोध्य है। अतः उनके सम्बन्ध को बढ़ाना शोक को अवकाश देना है। जैसा कि 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' से स्पष्ट है।

काम को मोहादि से पृथक् कहने की उपपत्ति

कामादिदोष रहेंगे तो अन्तःकरण में भगवत्प्रवेश नहीं होगा। वह नहीं तो कामादि

---

[१] श्रीमद्भागवत ७।१४।११

दोष टिके ही रहेंगे। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा उसका समाधान 'तजि काम' से समझाया है। अर्थात् 'सोक धाम' शीर्षकानुसार काम को शोकादि व्यथाजनक समझकर विषयगत स्वत्व को हटाना होगा या नियन्त्रित करना होगा तदनन्तर वृद्धसेवात्मकसंग के माध्यम से ईश्वर के प्रति विषय समर्पित होते हैं तो उसी क्रम में ईश्वर अन्तःप्रविष्ट होंगे। पश्चात् मोहादि अपसृत होंगे। ऐसा सोचकर बिभीषणजी ने काम का कीर्तन पृथक् किया है। यह विश्लेषण इस काण्ड का सौन्दर्य है।

संगति—प्रभु ने उल्लिखित खलमण्डली का व्याख्यान व उससे बचने का उपाय बिभीषणजी सुना रहे हैं।

अथवा—'तजि काम' में अन्योन्याश्रम का उत्तर सुना कर अवशिष्ट मोहादि से त्राण पाने हेतु तन्निवासानाधिकरण काल का आरम्भ सुना रहे हैं।

चौपाई— ***तब लगि हृदयँ बसत खल नाना । लोभ मोह मच्छर मद माना॥ १॥***
जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरें चाप सायक कटि भाथा॥ २॥

भावार्थ—जब तक आप हृदय में सायक-चाप आदि आयुधधारी हो निवास नहीं करते तभी तक लोभ, मोह, मत्सर, मद आदि खलमण्डली निवास करती है।

शास्त्रीय व्याख्या

तब लगि : लोभादि खलमण्डलीवासानधिकरण काल का प्रथम क्षण 'तब लगि' से स्फुट है।

अथवा—लोभादिवासाधिकरणता की अन्तिम अवधि 'लगि' है। उसका आरम्भ जन्मजात है।

हृदयँ बसत : 'हृदयँ' कहकर ४६।४ में उक्त 'कुठाहर' का व्याख्यान ज्ञातव्य है। हृदय में लोभादि का सातत्य 'बसत' से दर्शाया है।

खल नाना : ४५।५ में उक्त 'खल मण्डली' 'खल नाना' से कीर्तित है। खलत्व यही कि विशाल तृष्णा की दासता करते हुए मनस् को विश्राम प्राप्त नहीं होता। मोहादि के निवास होने पर व्यक्ति स्वयं अपने में खलता न देखकर पड़ोसी व अन्य लोगों को खल समझता है। ऐसी मनोवृत्ति के परिचयार्थ प्रभु ने खलमण्डली कहा था उसका व्याख्यान यहाँ बिभीषणजी ने दर्शाया है। वह यह कि जिसके हृदय में धनुष्पाणि होकर श्रीरामजी निवास कर रहे हैं उसे किसी के प्रति खलभावना नहीं रहती। वैसा विवेक न प्राप्त कर किसी का अहित सोचना अपना अहित करना आदि प्रभु चरणदर्शनात्मक पुरुषार्थ से वंचित होने में सहायक हैं।

लोभ : परद्रव्यातिश्रद्धा अर्थात् परद्रव्य को प्राप्त करने में ही हित समझना 'लोभ' है।

मोह : कर्तव्यनिर्धारण न कर पाना 'मोह' है।

मच्छर : परगुणासहिष्णुता 'मच्छर' है।

मद : विद्या, शौर्य, धन, उत्तम स्त्री की प्राप्ति से मोहप्रयुक्त आनन्द का अनुभव करना 'मद' है।

मान : अहमुत्कृष्टः ऐसी भावना में किसी के आगे मस्तक न झुकाना 'मान' है।

मोहादि तत्त्व तत्काल में प्रिय होने पर भी भविष्यत् में वृद्धसेवा, इन्द्रियजय, विद्याचक्षुष्मत्तादि के अभाव को दृढ़ बनाकर अकल्याण, अनीति की ओर से वह मुड़ता है।

इससे स्पष्ट है कि बिभीषणजी रघुपतिच्ररणदर्शनात्मक कुशल के ही इच्छुक रहे हैं आगे भी वैसे ही रहेंगे।

जब लगि : धनुष्पाणि प्रभुनिवास का आरम्भ क्षण 'जब लगि' से समझा रहे हैं। इसलिए कि वही क्षण लोभादि निवासाभावाधिकरण है। आशय यह कि धनुष्पाणि प्रभु का निवास अशुचि स्थान में कथमपि नहीं रहता है किन्तु जब तक लोभादि हृदय में बने रहेंगे तब तक व्यक्ति कहीं भी जाए उसके लिए देश, काल अशुचि ही होगा। इनके असंग्रह की उपपत्ति पूर्व चौपाई के 'तजि' शीर्षक में द्रष्टव्य है।

जब-तब पर विशेष वक्तव्य

जब-तब से उर में रघुनाथवास की असरलता दर्शाई; क्योंकि अहं मम इत्याद्यभिमानोत्थ, कामशोकाशून्य मनस् में एकता एवं साधुसंग होना ही नहीं है। परिणाम में साधुसंग से प्राप्तव्य कथाश्रवणकीर्तन में रति, भक्ति, ज्ञान, वैराग्ययुक्त इन्द्रियजय पर अधिकार व भगवच्चरित्रचिन्तनयोगयुक्त होकर ऋजुभक्तिमार्ग में प्रवृत्ति नहीं होती। अतः रघुपति हृदय में प्रविष्ट नहीं होते इसलिए जब-तब कहा है। यही तथ्य आगे भी स्मर्तव्य है।

उर न बसत रघुनाथा : 'उर' में काम की शोकधामता सोचकर जीव ने विषयों से दूर रहना होगा एवं रघुनाथभजन के प्रति श्रम करना होगा। इसी दृष्टि से प्रभु ने भी ४६। ६ चौपाई में नीति उल्लिखित की है। इसलिए कि शोकधाम को त्यागने पर ही नीति ज्ञात होती है।

रघुनाथभजन में 'बसत' से तीव्रता दर्शाई है जो एकाग्र भूमिका में सम्भव है। वह जब तक उपलब्ध न होगी तब तक रघुनाथजी मोहादि को दूर करने में सहयोग नहीं देते उस अवधि को 'न बसत' से समझाया है।

धरे चाप : स्व-स्व हृदय में स्थित खलमण्डली के अन्तर्गत कहे मोहादि की आयु:समाप्ति का कारण भजनकर्त्ता का अन्तिम जन्म माना है। वह जिसको प्राप्त है उसी के हृदय में रघुनाथजी चापबाण धर कर मोहादिको को दूर करने के लिए निवास करते हैं जो १२ स्कन्ध में 'असि चर्मतमोमयम्, कालरूपं धनुः शार्ङ्गः तथा कर्ममयेषुधिम् इन्द्रियाणि शरानाहुः' इस भागवतोक्त व्याख्यान से 'धरे चाप' आदि की सार्थकता स्पष्ट है।

संगति—अज्ञान का आवरण रहते हृदय में श्रीराम का प्रवेश होना नहीं है सोचकर श्रीरामप्रवेशनिरूपणानन्तर अज्ञानावरण को दूर कराने हेतु श्रीरामप्रताप रूप सूर्य का निरूपण कर रहे हैं।

चौपाई- *ममता तरुन तमी अँधिआरी । राग द्वेष उलूक सुख कारी॥ ३॥*
तब लाग बसति जीव मन माहीं । जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥ ४॥

भावार्थ—काम को बढ़ावा देने वालों में ममता व अज्ञानावरण है जो रागद्वेषात्मक उलूक के लिए सुखकर है। जीवों के मानस में ममतारूप अन्धकार तब तक बना रहता है। जब तक रघुपतिप्रताप रूप सूर्य उदित नहीं होता।

शास्त्रीय व्याख्या

ममता : 'अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसां'[१] की अन्वर्थता में फँसा जीव जन्म से ही मम के पाश से बद्ध होता है; क्योंकि वह देह को ही मम समझकर उसमें तादात्म्य बना लेता है। परिणाम में मम का भाव रखने वाला जीव दूसरे के सुखदुःखानुभव से शून्य होता है अर्थात् सत्त्वगुण से अछूता हो जाता है। ममता का संक्षिप्त रूप स्त्री आदिनिष्ठ स्वत्व है जो परिवार व वृद्धजनों से पृथक् रहने के प्रति विवश करता है।

तरुन तमी : परकीय सुख दुःख का अनुभव न करना अन्धकार की तरुणतमता है।

अँधिआरी : ममतापाश में फँसा जीव ममता से बाहर रहे पदार्थों के प्रति ध्यान न देकर जितेन्द्रियता, वृद्धसेवा, विद्याभ्यास, वर्णाश्रमव्यवस्था आगममर्यादा व लोकसंग्रह को नहीं अपनाता यही ममतारूप अन्धकार का प्रभाव है।

राग द्वेष : 'राग' से प्रीति इच्छा या काम ज्ञेय है। मम के विरोधियों को अहित समझना 'द्वेष' है।

उलूक सुखकारी : राग एवं द्वेष की समृद्धि अविद्या के वातावरण में होते रहना 'उलूक सुखकारी' से बोध्य है। फलतः वह रागद्वेषी अविद्याप्रयुक्त ममता से स्वयं को या स्वयं से ममता को पृथक् करने में 'बहुभद्रकं मे लुप्येत' जैसी भावना में ममताविरोधी तत्त्व को स्पर्श होने में दुःखी होता है।

तब लगि : ममतात्मक अन्धकार (अज्ञान) वास व उसका फल अनादि है पर उसका अन्त होने का क्षण 'तब लगि' से स्फुट है।

बसति : 'बसति' से अन्धकार का निवास समझना है। आत्मा स्वरूपतः शुद्ध होने से उसमें राग-द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष तो मनस् का धर्म है। इसलिए ममता का वासस्थान मनस् को माना गया है।

प्रभु प्रताप रबि : कामासक्त जीव जब कभी वियोगजदुःख में पड़कर उसके प्रतीकार के प्रति असमर्थ होता है तब वह विवश हो प्रभु के शरण में जाता है। प्रभुदया से उसे सत्संग मिल जाय तो उसके माध्यम से हनुमद्विभीषणसंवाद से लेकर बिभीषण-श्रीरामसंवाद तक गाए तथ्य सुनकर श्रीराम के सर्वत उपरिस्थित प्रताप को तर्कधारा के प्रवाह के माध्यम से हृदय में रखता है तो वह प्रताप सूर्यतुल्य संकीर्ण ममता (स्वार्थ) अन्धकार को दूर करता है इस प्रकार भक्त के हृदय में प्रभुप्रताप रविका उदय तत्संबंन्धितर्कधारा का उच्छन होने पर जीव श्रद्धा से ऊपर उठकर विश्वास की श्रेणी में पहुँचता है। जैसा कि भक्तिलक्षण ग्रन्थ में शिवचरित्र से बालकाण्ड में स्पष्ट है। इस प्रकार श्रीरामप्रताप के प्रकाश से अन्धकार हटने पर धनुष्पाणि रघुपति अन्तःकरण में प्रविष्ट हो मोहादि को दूर करते हैं। यही 'प्रभु प्रताप रबि' का भाव है।

संगति—जब-तब की व्याप्ति को तर्कतः व शास्त्रतः समझकर श्रद्धा-विश्वास में रहते हुए पुरुषार्थप्राप्ति हेतु आचरण करते रहने से अभी प्रत्यक्षतः श्रीरामपद को देखकर तत्प्रयुक्त नीतिसाफल्य में हृष्ट बिभीषणजी के हर्षोद्गार सुना रहे हैं।

---

[१] सुभाषितरत्नभाण्डार ३३९।९

चौपाई— *अब मैं कुसल मिटे भय भारे । देखि राम पद कमल तुम्हारे ॥ ५ ॥*

भावार्थ—हे श्रीराम! मैंने आपके पदकमल देखे। अब मैं कुशली हूँ। मेरा भारी भय चला गया।

शास्त्रीय व्याख्या

अब मैं : पूर्वोक्त कुशल की आवृत्ति के बाद भी थोड़ा-सा भय बिभीषणजी को सता रहा था उसके निरास का क्षण 'अब' से बोध्य है। जातिस्मर होने से पूर्वजन्म में अचानक अध:पतन को याद करने वाले बिभीषणजी अस्मत्पदार्थ हैं।

कुसल : भयाभावविशिष्ट स्थिति होना 'कुसल' का ध्वनितार्थ है।

मिटे भय भारे : भविष्यत्कालीन अध:पतन होने की शंका का विनाश होना 'मिटे भय भारे' से समझना है।

देखि राम पद कमल : संसारी जीव के लिए सांसारिक सभी विषय उत्कट अदृष्ट सुलभ हैं, पर श्रीरामदर्शन सुलभ नहीं है। वह अभी होना 'देखि' है। मनोनीत मानोरथिक सुखातिरिक्त वैषयिक सुखाननुगुणतया श्रीरामपददर्शन होना 'देखि राम' है। 'कमल' से भयाभावसामानाधिकरण्य व्यक्त है।

तुम्हारे : अभ्यागत दीन को आत्मीयत्वेन स्वीकर्ता, धनुष्पाणि, प्रतापी श्रीराम युष्मच्छब्दार्थ हैं।

संगति—खलमण्डली के सान्निध्य में रहते हुए भी भवशूल न होने की उपपत्ति बिभीषणजी कह रहे हैं।

चौपाई— *तुम्ह कृपाल जा पर अनुकूला । ताहि न ब्याप त्रिबिध भव सूला ॥ ६ ॥*

भावार्थ—हे प्रभो! जिस पर आप कृपालु की अनुकूलता (आश्रय) रहती है वह भव की विविध बाधाओं से मुक्त ही रहता है।

शास्त्रीय व्याख्या

तुम्ह कृपाल : भक्तों के रक्षक दयालु श्रीराम 'तुम्ह' से बोध्य हैं। श्रीराम के लोकोत्तर निगमागमसम्मत स्वभाव का परिचय 'कृपाल' से प्राप्त होता है।

जा पर अनुकूला : जाति, सम्प्रदाय, देशकाल का भेद न रखते हुए कृपापात्रतार्ह व्यक्तिमात्र यच्छब्दार्थ है। श्रीराम का आश्रय प्राप्त होना दुर्ग का आश्रय प्राप्त होना है जो 'अनुकूला' से बोध्य है। दीनजन जो आपके किंकर हैं उनको स्वत्वेन स्वीकारना 'अनुकूला' का भाव है। वर्तमान में वह आनुकूल्य अनुमेयतया (साध्य) यदि तर्कत: निर्णीत होता है तो भविष्यत्काल में कभी-न-कभी एक दिन वैसी कृपा उदित होगी जो कालिकतया श्रीरामपददर्शन का आधार होगी। इस आनुकूल्य को समझकर बिभीषणजी खलमण्डली में कमलपत्रवत् निवास करते रहे।

ताहि न ब्याप : 'जा' पद से संकेतित आनुकूल्यविशिष्ट व्यक्ति तत्पद से बोध्य हैं। 'न ब्याप' इसलिए कि उक्त व्यथा की अति दु:सहता सांसारिकों को अनुभूत होती है किन्तु किंकरभाव में रहे सेवक शूल से पीड़ित नहीं होते जैसे श्रीमद्भागवत ११ स्कन्ध में वर्णित कदर्य ने पीड़ित न होना प्रसिद्ध है। अर्थात् किंकरभाव में रहे कदर्य ने

जो तर्क प्रस्तुत किया उसको श्रीरामानुकूल्य का अनुभावक समझना निष्कर्ष है।

ज्ञातव्य है कि 'जा पर अनुकूला' शीर्षकोक्त श्रीरामकृपापात्रतार्हतारूप अनुमेय का

ज्ञातव्य है कि 'जा पर अनुकूला' शीर्षकोक्त श्रीरामकृपापात्रतार्हतारूप अनुमेय का साधक हेतुवाक्य 'ताहि न ब्याप त्रिबिध भव सूला' है। अर्थात् जिनको यह व्याप्ति अनुभूत नहीं

त्रिबिध भव सूला : भव में भौतिकादि तीन तरह से होने वाले सन्ताप व परिचित या अपरिचितों के द्वारा सुनाए गए वाक्पारुष्यादि प्रहार 'भव सूला' से ध्वनित हैं जो कदर्योपाख्यान (भागवत ११ स्कन्ध) में अंकित है।

संगति—श्रीराम ने कहे 'सखा' को यादकर तत्सम्बन्धी अपेक्षित अधिकारप्राप्ति हेतु श्रीरामहर्षातिरिक्त कारण न होकर एकमात्र श्रीरामहर्ष ही कारण है ऐसा बिभीषणजी पुरुषार्थवाद मत से सुना रहे हैं।

चौपाई— *मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ । सुभ आचरनु कीन्ह नहिं काऊ॥ ७॥*
जासु रूप मुनि ध्यान न आवा । तेहिं प्रभु हरषि हृदयँ मोहि लावा॥ ८॥
दोहा— *अहो भाग्य मम अमित अति राम कृपा सुख पुंज।*
देखउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पद कंज॥ ४७॥

भावार्थ—मैं अधम जाति निशाचर हूँ मेरा स्वभाव अधम है। मैंने शुभाचरण नहीं किया है। जिसका स्वरूप मुनियों के ध्यान का विषय नहीं होता उस प्रभु ने मुझे सानन्द हो हृदय से लगा लिया। वे श्रीराम सुखपुंज हैं रजस्तमोगुण के धाम ब्रह्मा-शंभुजी द्वारा जिन चरणकमलों की उपासना होती है वे चरण प्रभु ने दिखाये हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

मैं निसिचर : नैतिक अनुष्ठाता अनीति के वर्जयिता बिभीषणजी मच्छब्दार्थ हैं। निशाचरी माता के गुण जन्मत: प्राप्त होना 'निसिचर' से स्फुट है। यह शरीर जब तक रहेगा तब तक इस देह में निशाचरत्व अक्षुण्ण बना रहेगा।

अति अधम सुभाऊ : निशाचरजाति का प्रादुर्भाव हिंसार्थ हुआ है। फलत: यह जाति निन्दित कर्म को प्रिय मानती है अत: अति 'अधम' है।

ज्ञातव्य है कि 'अति अधम' विशेषण 'मैं' का न होकर 'निसिचर' का है। उसका कारण यह कि बिभीषणजी के पूर्वजन्म से प्राप्त विद्योद्भूत दृढ़ संस्कारों ने उन्हें विषयों से दूर रखा है।

अधम जाति की निन्दित कार्य के प्रति रुचि 'सुभाऊ' से वर्णित है।

सुभ आचरनु : 'सुभ' से अदृष्टोत्पादक धर्म विवक्षित है जो शास्त्रैकगम्य अदृष्ट का उत्पादक है वैसा आचरण न करना 'शुभ आचरनु कीन्ह नहिं काऊ' से समझाया है।

चिन्त्य है कि यहाँ धर्मपक्ष से शुभ न करना बताया है तो भी नीतिरूप सदाचार के आचरण का अधिकार प्राणिमात्र को है उसका अनुष्ठान व्यक्तिश: बिभीषणजी ने किया है ऐसा समझकर प्रभु ने नीति समादर और अनीतिवर्जन की चर्चा कर धर्म का इस जन्म में कीर्तन नहीं किया है। तथापि धर्म से उदासीनता नहीं है, क्योंकि प्राग्भव जन्म में किए धर्म ने संस्कार रूप में बिभीषणजी को स्थिर रखकर अनीति से दूर करने में सहयोग दिया है।

जासु रूप : यच्छब्द से बिभीषणदर्शनविषय, आलिंगनकर्त्ता श्रीराम बोध्य हैं।

मुनि : आत्मालंबनज्ञानसम्पन्न, एकाग्र भूमिका में रहे ऋषि 'मुनि' से बोध्य हैं।

ध्यान न आवा : ऋषियों ने योगज संन्निकर्ष से देखना 'ध्यान' है। उसका विषय स्वरूप है। वह यथार्थ ही होता है। उसके अपवादरूप में प्रभु श्रीराम हैं। यत: उनका स्वभाव भक्त के चिन्तनानुरूप अनेकों रूप धारण करना है। अत: प्रभुरूप के बारे में इदमित्थं नहीं कहा जा सकता। यही 'ध्यान न आवा' का भाव है।

तेहि प्रभु : ध्यानगोचर प्रभु तच्छब्दार्थ हैं। 'प्रभु' से अन्तर्यामी साक्षी बोध्य है।

हरषि : आलिंगनसे बिभीषणजी को सुरुचि, सुवास प्राप्त होना 'हरषि' का भाव है।

प्रभु में हर्ष की उपपत्ति यह कि नारदवचन को प्रमाणित करने हेतु प्रभु ने शास्त्रप्रमाण को सामने रख कर लीला प्रारम्भ की परराष्ट्र के प्रति नीत्यनुष्ठान प्रारम्भ किया तदनुसार परराष्ट्रस्थ (क्रोधी लोभी) कृत्यपक्ष को अपनाना भी एक कार्य है। उसकी सिद्धि होना देखकर अनायास प्रभु ने हर्ष प्रकट करना 'हरषि' है।

हृदयँ मोहि लावा : हर्षानुभाव के साथ प्रभु ने अपनी सांकाक्षता हृदय लगाने से प्रगट की है।

निशिचरजन्मा, देहाभिमानशून्य, श्रीरामकार्यसम्पादक, नीतिमान् बिभीषणजी मच्छब्दार्थ हैं।

ज्ञातव्य है कि नीति का अवलंबन, अनीति का वर्जन, प्राग्भवीय कर्मोद्भूत संस्कार का बल, इन तीन तथ्यों के प्रभाव से बिभीषणजी अति शुद्ध हैं। यह शुचिता 'हृदयँ मोहि लावा' की उपपत्ति है। इस प्रकार भगवत्प्राप्ति में नीति का स्थान अविस्मरणीय है।

अहोभाग्य : 'अहोभाग्य' से श्रीरामदर्शन की अतिदुर्लभता ध्वनित है।

'अहो' से दुर्लभ श्रीरामपददर्शन की सुलभता पर आश्चर्य प्रगट किया है।

मम अमित अति : 'मम' का अन्वय 'अहोभाग्य' से है।

पूर्व चौपाई में 'सुभ आचरनु कीन्ह नहि काऊ' कहने वाले बिभीषणजी अस्मच्छब्दार्थ हैं।

नैतिक शुचितामात्र से श्रीरामदर्शन की योग्यताप्रयोजक भाग्यपुंज की अधिकता होना 'अमित' है। श्रीरामपददर्शन-जनक कर्म पूर्ण होने में अति विघ्न आते हैं उनका पूर्णतया ध्वंस होना 'अति' है।

राम कृपा सुख पुंज : देवर्षि नारदजी ने छल से नीति न अपनाने हेतु जो वचन प्रभु से सुनाए उनकी सफलसत्यतार्थ श्रीराम ने बिभीषणजी में स्वदर्शनार्हता समझी। उसके मूल में बिभीषणजी ने अपनाया निगमागमसम्मत सामान्य धर्म विशेष है। इत्यादि तथ्य 'राम कृपा सुख पुंज' से ध्वनित है।

'पुंज' शब्द द्वन्द्वान्त में श्रूयमाण है। वह 'कृपा' एवं 'सुख' से अन्वित है अर्थात् 'पुंज' से श्रीरामदर्शनोपधायकता स्पष्ट की है जो श्रीरामदर्शनरूप कार्य से ही जानी जा सकती है।

अति दुस्तर सीताविरह आदि के अवसर भी सदैव श्रीराम ने आनन्द में रहना 'सुख पुंज' का भाव है। यह पुंजता श्रीशिव-सती संवाद (बालकाण्ड) में स्फुट है।

देखउँ नयन : शब्दानुमान से निर्णीत अर्थ पर उतना संतोष नहीं होता जितना संतोष

प्रत्यक्ष से देखने से होता है उसी सुख का होना 'देखउँ नयन' से व्यक्त है।

अथवा—अहोभाग्य के कारण की चर्चा पूर्ण कर दर्शन करणतया 'नयन' उल्लिखित है जो मनोरथपूर्ति का विषय है।

बिरंचि सिव सेब्य : निगमाचार्य ब्रह्माजी व अनन्त मन्त्रों के स्रष्टा आगमाचार्य शिवजी के 'सेव्य' कहने से निगमागमसम्मत तत्त्व स्पष्ट किया है।

'सेब्य' से गोसाईंजी ने शिष्टाचारानुमितस्मृत्यनुमितश्रुतिसम्मत श्रीरामतत्त्व दर्शाकर निगमागमपुराणादि की एकवाक्यता स्पष्ट की है।

जुगल पद कंज : प्रमाण व तर्क 'जुगल' पद से ध्वनित हैं। वही शिवजी एवं ब्रह्माजी के लिये उपास्य हैं। सर्वसाधारण के लिए ध्येयतया निर्णीत तर्कप्रमाणात्मक[१] भगवच्चरणारविन्दयुगल होने से 'जुगल' की सार्थकता है।

'कंज' से अनितरसाधारणता दर्शाई है। इस प्रकार तमोदेह के साथ आलिंगन होने में कारणता का विचार करते हुए लौकिक कारणों का अभाव समझाकर अदृष्ट (श्रीरामहर्ष) को ही कारण मानकर बिभीषणजी स्वस्थ हुए।

संगति—शुभाचरण की चर्चा न कर नैतिक अनुष्ठान को सुनाने की उपपत्ति में मत्पदचिन्तन होना स्फुट करना है इसलिए कि वह आलिंगन का कारण है। उसके उपक्रम में प्रथमत: प्रभु अपना स्वभाव सुना रहे हैं।

चौपाई— ***सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ । जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥ १॥***
जौं नर होइ चराचर द्रोही । आवै सभय सरन तकि मोही॥ २॥
तजि मद मोह कपट छल नाना । करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥ ३॥

भावार्थ—हे सखे! मेरा स्वभाव सुनो, जिसे काकभुशुण्डि, शिवजी पार्वतीजी जानते हैं। जो नर चर-अचर के प्रति जिघांसा का भाव बनाए रखकर घूमता है, यदि वह भी पश्चात्तापपूर्वक मेरे शरण में आता है तो उसे मैं अभय स्थान में पहुँचाता हूँ। उसके साथ ही मद, मोह, कपट व छल से शून्य रहता है तो उसी क्षण उच्चतर साधु की श्रेणी में उस नर को समझता हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनहु सखा : प्रभुपददर्शनाभिलाषुक ने वक्ष्यमाण उपायावलंबन को अपनाने की प्रेरणा 'सुनहु' मध्यम पुरुष से प्रगट है। परराष्ट्रिय राजा के भाई नीतिपुरस्कर्ता भावी राजा होने से बिभीषणजी को 'सखा' कहा है।

अथवा—मित्रलक्षणसम्पन्न, दुर्लभ मित्र को पाकर वैसे मित्र से साधु कोई तथ्य गुप्त नहीं रखते इस अभिप्राय से बिभीषणजी को 'सखा' सम्बोधन है।

निज कहउँ सुभाऊ : उपाय सुनाने के पूर्व अपने स्वभाव को प्रगट करना 'निज कहउँ सुभाऊ' है। जिसका प्रयोजन वक्ष्यमाण उपाय में रही साधनता के प्रति प्रामाण्य की दृढ़ता समझाने में है। 'निज' से वक्ष्यमाण स्वभाव अन्यत्र न होना स्फुट है।

जान : 'जान' का अन्वय 'भुसुण्डि' आदि से कर्तृकारकतया ज्ञातव्य है। यह

---

[१] न्यायकुसुमाञ्जलि १ (व्याख्या)।

साक्षिता के बोधनार्थ है। इसको समझकर ही तपस्वी प्रभुदर्शन में विलम्ब होने पर भी अपने श्रम को व्यर्थ नहीं समझते जैसे सुग्रीवजी, बिभीषणजी आदि।

भुसुंडि संभु गिरिजाऊ : 'त्रयाणामेकवाक्यत्वे संप्रत्ययः'[१] वचनार्थ का कार्यान्वयन भुशुण्डि आदि तीन उदाहरण का प्रयोजन है। जैसे कि इतरानपनोद्य गुरुदण्डापराधी भुशुण्डिजी की शुद्धि होना स्पष्ट है। अनादिकाल से शिवजी आगमाचार्य, श्रीरामस्वभाव के ज्ञाता हैं। शिवजी ने अपने वचन को श्रीरामवचन के समक्ष अनुष्ठानतः प्रमाण न मानना बालकाण्ड में प्रसिद्ध है। 'गिरिजाऊ' से बालकाण्ड के अन्तर्गत शिव-पार्वतीविवाहसंपन्न बनाना पार्वतीजी को साधुश्रेणी में रखना है।

जौं नर होइ : ऊहापोहादि बुद्धिसम्पन्न प्राणी 'नर' से बोध्य हैं। पुण्यपापजनक-धर्माधर्मकर्तृत्व मानवशरीर में ही प्राप्त होने से 'नर' कहा है।

'होइ' शब्द कालत्रयार्थक है।

चराचर द्रोही : पितृ-मातृद्रोह, राजद्रोह, स्वामिद्रोह, गुरुद्रोह जैसे नयद्रोह विशेष 'द्रोही' से निरूपित हैं। उसके अन्तर्गत मित्रद्रोह, वृक्षद्रोह, भूतद्रोह भी परिगणित है। यह द्रोह अभयशरणपूर्ववृत्तितया समझने हैं।

आवै : द्रोहजनित पापसमुच्चय का ध्वंस करने में वेदादि शास्त्रों ने असमर्थता का अनुभव कर एकमात्र ईश्वर की सहायता को ही उद्धारक माना है ऐसा सोचकर जीव ने प्रभु के पास आना 'आवै' है। 'आवै' उक्ति प्रकारान्तरेण प्रभु का आशीर्वाद है। प्रभु से यदि यह आशिष् प्राप्त न होता तो उसके अभाव में द्रोह प्रतिबन्धक हो द्रोही को साधु होने में सदा के लिए बाधा पहुँचाता।

सभय सरन : अनेकविध द्रोहजनित पापप्रयुक्त अपरिहणीय ऐहिक व पारलौकिक दुःखवासना की जागृति 'सभय' है। यह भय वैराग्य का प्रथम सोपान है। इसमें शरणाधिकारितावच्छेदकत्व दर्शाया है।

'ईश्वर एवाथ रक्षकः प्राचश्चित्तानपनोद्य नरकादिभयदुःखहरणकर्तृत्वात्' ऐसा प्रतिभात होने के साथ ईश्वरादेश में रहने का सोत्साह संकल्प करना 'सरन' है। यह कृतक इन्द्रियजय है।

तकि मोही : द्रोहादिपापकर्त्ता 'सरन' शीर्षकोक्त शरणागत तच्छब्दार्थ है। शरणागत के लिए अनन्य हो ईश्वरचिन्तन मुख्य कर्म है। मच्छब्दार्थ श्रीराम दुर्ग हैं। ज्ञातव्य है कि धर्म करते हुए शुद्धान्तःकरण को भक्तिशास्त्र की दृष्टि से शरण में रहने का आरम्भ बिन्दु 'तकि मोही' से प्राप्त है।

तजि : 'तजि' का अन्वय 'मद' से लेकर 'नाना' तक ज्ञातव्य है। 'तजि' से ईश्वरशरणागति के प्रति इतिकर्त्तव्य समझा रहे हैं। वह यह कि प्रथमतः धर्मशास्त्रोक्त (४८। ४—७) मर्यादा स्वीकृत करनी होगी। यह मर्यादा जब जीवन में आरूढ़ होगी तो नैतिक शुचिता भी प्राप्त होगी तभी भक्ति उसके लिए आस्वाद्य हो रस रूप में परिणत होगी।

मद मोह : त्यक्तव्य कोटि में मद मोह कपट छल ये चार हैं। विषयसुख में मोहसमानाधि-

---

[१] अर्थशास्त्र।

करण हर्ष होना 'मद' है। शौर्यादिनिमित्तक हर्ष भी 'मद' से ग्राह्य है। मदयुक्त व्यक्ति विद्वत्संग को व्यर्थ समझकर उनके अंकुश से दूर रहता है। प्रमाणों में मूर्धन्य शब्दप्रमाण को प्रत्यक्ष के विरोध या प्रतिकूल्य में उपेक्षित कर कर्त्तव्याकर्तव्य से च्युत होना 'मोह' है।

कपट छल : दम्भ 'कपट' है जो विसंवादिता में पर्यवसित है।

न्यायशास्त्रोक्त निग्रहस्थानान्तर्गततया व्याख्यात छल 'छल' से ग्रहीत है।

मदादि से छलान्त तक में से एक भी दोष रहे तो उस दशा में सभीत व्यक्ति भी प्रभु को शरण नहीं मानता।

करउँ सद्य : त्यक्तमदादिव्यक्ति, शरणागत तभी माने जाते हैं जब उनमें पश्चात्ताप गूढतया पूर्ण रहता है। ऐसे व्यक्ति को पापनिर्मुक्त कर, शुचि साधु श्रेणी में प्रभु ने तत्काल रखना 'करउँ सद्य' है।

'सद्य' से साधुत्वप्राप्ति में विलम्बाभाव दर्शाया है। इस प्रकार स्वभाव का व्याख्यान पूर्ण है।

तेइ साधु समाना : मित्रादिद्रोहजनित पापोपलक्षित मदादि से शून्य शरणागत जीव तच्छब्दार्थ है। सद्यः साधु होने के बाद उस जीव में रही अविश्वास्यता की समाप्ति 'समाना' से चिन्त्य है। इस प्रकार स्वभाव निरूपित हुआ।

संगति—स्वभाव प्रकट कर बिभीषणपृष्ट विषय का उत्तर सुना रहे हैं जिसमें कृपा व हर्ष का कारण व्यक्त होने के साथ शभु आचरण न होना आदि प्रश्नों का अवकाश सर्वथा निरस्त है।

चौपाई— ***जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ ४॥***
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ ५॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ ६॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे॥ ७॥

भावार्थ—माता-पिता, बन्धु, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, गृह, सुहृद्, परिवार आदि के प्रति बिखरी ममता को एकत्रित कर भक्त मानस् को प्रभुपादारविन्द में बाँध कर समदर्शी, निरिच्छुक, हर्ष-शोक से शून्य होता है उस सज्जन को मैं स्वसम्पत्ति समझकर अपने हृदय में स्थान देता हूँ। जैसे लोभी के हृदय में धन का रहना प्रसिद्ध है।

शास्त्रीय व्याख्या

बन्धु : बन्धु आन्तर से सम्बद्ध होते हैं। स्वजन बाह्य से आबद्ध होते हैं। ये दोनों 'बन्धु' शब्द से गृहीत हैं। इस प्रकार 'बन्धु' से सब का ग्रहण होने पर भी माता-पिता आदि का उच्चारण करना विशेष ममता के बोधनार्थ है।

'तन्मित्रं तत्सुहृत्वं च हृदयं यत्र शोभते'[१] उक्ति के अनुसार मित्रगुणसंपत्तिमान्, 'अभजतोऽपि भजन्ति' भाव रखने वाले मातृ-पित्राद्यतिरिक्त व्यक्ति 'सुहृद' से ध्वनित हैं।

परिवारा : 'प्रख्यातवंशमक्रूरं लोकसंग्राहिणं शुचिम्'[२] से सम्पन्न स्वसंबद्ध व्यक्ति

---

[१] भावप्रकाशन ३०।१६
[२] नीतिसार ४।१०

'परिवारा' है।

सब कै ममता : जननी से परिवार तक गिनाए गए प्रत्येक में से किसी एक में भी ममता रही तो प्रभु के हृदय में निवास सम्भव नहीं, समझाने हेतु 'सब कै' कहा है।

मनसो यत् द्रवार्द्रत्वं विषयेषु ममत्वता। भयशंकावसानात्मा स एव स्नेह उच्यते॥[२]

उस उक्ति के अनुसार यहाँ 'ममता' से स्नेह की विषयता समझनी है। स्नेह का परिपाक ही राग है। स्नेहसार की उपलब्धि में घृणादि दोष प्रतीत नहीं होते।

अथवा—'अयं हितं हितसाधनं वा' इत्याकारक भाव ही ममत्व है जो स्नेहावस्था में प्रगट होता हुआ रति की चौथी अवस्था है।

ताग : 'जननी' से 'परिवारा' तक के प्रति रही ममता का फैलाव धागे के छोरों के समान अति विस्तृत होता है। अतः स्वामिभक्ति में प्रतिबन्धक रूप से वह वर्णित है।

बटोरी : जननी आदि के प्रति बिखरी हुई रागप्राप्त ममता को वहाँ से हटाना 'बटोरी' है। यद्यपि जननी के प्रति की जाने वाली ममता धर्म है तथापि स्नेहमयी रूप में परिणत ममता यदि माता के प्रति होती है तो वह रागप्रयुक्त होने से स्वामिसेवा में बाधक हो सकती है। स्वामिद्रोह, गुरु, माता-पिता, मित्रद्रोह से भी अति गुरुतर है ऐसा सोचकर प्रभु ने स्व भक्तों को ममता बटोरने के लिए कहा है। अध्यात्म में रही मम भाव की समाप्ति की व्यावृत्ति भी 'बटोरी' से स्फुट है।

मम पद : आत्मालंबनज्ञान का एक प्रकार 'मम पद' से व्यक्त है।

'मम' से धर्मादिचतुष्टयोपधाशुद्धसेवक के सेव्य स्वामी समझने हैं।

मनहि बाँध बरि डोरी : प्रभुपद से मनस् को बाँधना 'मनहि बाँध' है।

ममतात्मक रति (राग) भाव के आनुगुण्य में मनस् का परिवारादि के प्रति आकर्षण होना लोकप्रसिद्ध है। उसको वहाँ से हटाकर प्रभुपद में मनस् को लगाना 'मनहि बाँध बरि डोरी' है।

यदि ममतासंपृक्त मनोवृत्ति विषयान्तर से हटकर प्रभुपद को अपना गोचर बनाती है तो उसका परिणाम नीतिसम्मत समदर्शित्व को अपनाना है। यह समदर्शित्व नास्तिकवाद का बोधक न होकर धर्मशुचिता का स्थापक है।

इच्छा कछु नाहीं : 'इच्छा कछु नाहीं' से सुखप्राप्ति का उपाय दर्शाया है।

हितसाधनतया अथवा हितरूपतया इष्टवासना (इच्छा) न रहना 'इच्छा कछु नाहीं' का आशय है। फलतः न्यायपथ का अनुसरण व धीर सत्वसंपन्न होना ध्वनित है।

हरष सोक भय : 'नहिं' का अन्वय 'हरष सोक भय' से है। 'हरष सोक भय' से आन्वीक्षिकी विद्या प्राप्ति की उपादेयता व्यक्त की है। उक्त सभी समुच्चय में उत्साह, विद्या शम आस्वाद्य है। इच्छा के शून्यत्व में तद्विषय विषयक प्रीति न होना हर्षाभाव है। प्रतियोगी के प्रति प्रीति न होने से तद्विषयनाशादिप्रयुक्त द्वेष न होना शोकाभाव है। सुख-दुःख के साधनभूत विषय में एकार्थाभिनिवेश की प्रसक्ति न होने से अनिष्टशंका न होना भयाभाव है।

मन माहीं : शोक, हर्ष, राग आदि मनोधर्म होने से उनके अभाव का अधिकरण

---

[२] भावप्रकाशन ८०।१

भी वही है अतः 'मन माहीं' कहा है।

अस सज्जन : समदर्शी से प्रारम्भ कर 'मन माहीं' तक कहे तीन धर्मों का अनुगम सज्जन से किया है। उसके अन्तर्गत हंस, परम हंस, नीतिमान्, निर्लोभी, मुनि, साधु, सन्त, समझने हैं।

मम उर बस कैसें : उक्त परिष्कृत सज्जन के सम्पूर्ण चातुर्वर्गिक योगक्षेम का प्रभु ने सम्पूर्णतया सदा चिन्तन करना 'मम उर बस' का फल है। उरवास का माध्यम सज्जनों ने अपनाई अव्यवहृत, निष्कपट, अहैतुकी भक्ति ज्ञातव्य है। परिणाम में सज्जनकृत निराकांक्ष चिन्तन से प्रभु के हृदय में सज्जनों का योगक्षेमचिन्तन होना स्वभावसिद्ध है।

लोभी : प्रभु ने सज्जनों को अपने हृदय में एक पल भी दूर होने न देना लोभी हृदय से चिन्त्य है; क्योंकि उक्त परिष्कृत सज्जन को ही प्रभु अपना धन मानते हैं। यही उपासना काण्डोक्त श्रेष्ठ उपासना का परिपाक है। इस प्रकार तत्परता या समाहितता समझाई है यदि वह प्राप्त होगी तो धर्म, नीति एवं भक्तिसिद्धान्तोक्त उच्चतम आदर्श प्राप्त करने में प्रतिबन्धकभूत अशुचिता निर्बल होगी। जैसा कि—

क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः॥[1]

वचन से निरूपित है।

संगति—स्वावतरणयोग्य उपासना सुनानी है उसके पूर्व अवतरणोपादानकारण सुना रहे हैं। जिसमें अन्तर्यामिविधया बिभीषणजी को अपनी ओर बुलाने की श्रीराम की प्रवृत्ति व सज्जनों को कर्मकाण्ड से प्रास्तव्य कृपा का उपाय स्फुट कराना है।

चौपाई— तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहि आन निहोरें॥ ८॥
दोहा— सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥ ४८॥

भावार्थ—तुम्हारे जैसे सन्त मुझको प्रिय लगते हैं मैं उन्हीं के लिये देह धारण करता हूँ औरों की प्रार्थना पर नहीं। जो निगमागमोपासक परहितसाधन में तत्पर नीति-नियम के प्रति अव्यभिचरितभाव व द्विजपद में सदा प्रेम रखते हैं वे नर मेरे लिए प्राण के समान प्रिय होते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

तुम्ह सारिखे : उपर्युक्त परिष्कृत (६-७ चौपाई) लक्षणसम्पन्न बिभीषणजी 'तुम्ह' से बोध्य हैं। जो भक्तिलक्षणविशिष्ट लक्ष्य हैं। फलतः 'सारिखे' शब्द से तद्भिन्नत्वघटित साधर्म्य विवक्षित न होकर अखण्ड सादृश्य ही यहाँ विवक्षित है। सदृशकोटि में बिभीषणजी, काकभुशुण्डिजी, भरतजी आदि सभी सज्जन संगृहीत हैं।

सन्त प्रिय मोरें : प्रभुहृदय में 'इदं सुखं' ऐसी भावना का उदय कराने वाले परिष्कृत परिभाषित सुजन 'प्रिय' से बोध्य हैं।

बिभीषणजीसदृश सज्जनों की प्रीति को पूर्ण करने में अपेक्षित अवतारी श्रीराम

---

[1] भावप्रकाशन १०

मच्छब्दार्थ हैं। वक्ष्यमाण गुणसम्पन्न सगुणोपासक प्रेमास्पद व्यक्ति मात्र 'सन्त' से ज्ञेय हैं।

देह : सेव्यगुणविशिष्ट योगमायाकल्पित देह 'देह' है।

निहोरे : वक्ष्यमाण गुण की कतिपय अंशों में न्यूनता होने पर तुरीय तत्त्व अवतारी श्रीराम ने अवतार न लेना स्फुट है। इस प्रकार अवतारी के अवतारहेतु उपादानभूत लक्ष्य का विवेचन पूर्ण है।

सगुन उपासक : राजधर्म की शुचिता रखने हेतु अशुचिता (नीति-अनीति)से अत्यन्त दूर रहकर श्रीराममूर्ति का ध्यान करने वाले उपासक 'सगुन उपासक' कहे जाते हैं।

जो 'उप' समीपे ध्यानतः चिन्तामार्गेण श्रीराम के सान्निध्य में 'आसते' रहते हैं। वे उपासक हैं। अर्थात् उपास्य की मनोमयमूर्ति का चिन्तन करने में प्रभु ने स्व मनोवृत्ति को अपनी ओर खींचने वाले 'उपासक' का निष्कर्ष है। वैसे उपासक विषयबहिर्मुख होते हैं। यह तथ्य अशुचिता के अभाव में सहज सुलभ है।

परहित : सगुण उपासक की सत्त्वगुणप्रचुरता 'परहित' से व्यक्त है। क्योंकि परपीड़ा की अनुभूति स्व में हो तभी परहित सम्भावित है। सात्त्विक की परहितप्रवृत्ति का परिणाम अनिन्दितआचरण स्पृहा का अभाव तथा सत्पात्र में संपत्तिवितरण है।

निरत नीति दृढ़ नेम : भक्ति महारानी की प्रतिष्ठा हेतु श्रीराम ने 'नीति दृढ़ नेम' कहा है। 'निरत' कहने से नैतिक अनुष्ठान के प्रति अनुपेक्षणीयता स्फुट है। 'नीति निरत दृढ' 'नेम' से अन्वित हैं। आशय यह कि परहित साधते समय भी नीति का ध्यान अपेक्षित है। अन्यथा अनीति का आश्रय होने पर गुणवानों का अपमान होने से कृत्यपक्ष की समृद्धि स्वपक्ष में हो सकती है। प्रमाणभूत शब्द के द्वारा वेदत्रयी के अर्थ को प्रतिष्ठापित करने हेतु प्रत्यक्षानुमान का आश्रय लेना 'नीति दृढ़' से ध्वनित किया है।

ज्ञातव्य है कि नीति के साथ भक्ति का अभेद्य सम्बन्ध होने से भक्ति की अनुच्छेद्यता बताना प्रभु का ध्येय है; क्योंकि नीति अनुच्छेद्य ही रहती है। जैसा कि बिभीषणजी के पूर्व चरित्र से निर्विवाद है।

जीव भाव में रहा सगुन उपासक उपासना के लिए प्रकारान्तर से मूर्ति के अधीन रहता है। यदि उपासक अपनी मूर्ति की शुचिता, पूजा, परिचर्या, प्रारम्भ से अन्त तक स्थिरतापूर्वक निभाते हैं तो उपास्य की प्रसन्नता अक्षुण्ण बनी रहती है। इस विचार से श्रीरामजी ने 'दृढ़ नेम' कहा है। जैसा कि कहा गया है—

शौचं जपस्तपोहोमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥[१]

ते नर : नीत्यादि गुणविशेषविशिष्ट प्राणिमात्र 'ते नर' से विवक्षित हैं।

'ते' से उक्त सम्पूर्ण गुणविशिष्टता चिन्त्य है अर्थात् उनमें से एक भी गुणों की न्यूनता ईप्सित नहीं है। इस प्रकार सगुण उपासक ने अपने ऊपर रहा भार चिन्त्य है।

प्रान : शरीर से अधिक प्रान प्रिय होते हैं। उसी प्रकार प्रभु की प्रियता तथाविध नर में ज्ञात होने पर भक्त अपने रक्षणचिन्ता से स्व को दूर रखते हैं।

---

[१] श्रीमद्भागवत ११।१९।३४

आशय यह कि प्राण पर आघात होने पर जैसी व्यथा अनुभूत होती है वैसी ही व्यथा प्रभु को होना श्रीराम ने 'प्रान समान' से दर्शाया है।

मम : 'मम' से आत्मीयता विवक्षित है तदवच्छेदक सेवकगुण उपर्युक्त नीत्यादि गुणों में समझनी है।

जिन्ह के : 'जिन्ह के' 'ते नर' से अन्वित है। 'ते' शब्द को यत् की आकांक्षा जब तक बनी रहेगी तब तक समाप्तपुनरात्तत्व दोष न होना कविकौशल है। फलतः 'जिन्ह के' का अन्वय पूर्वार्ध में 'सब' से तथा 'द्विजपदप्रेम' में ज्ञातव्य है।

द्विज पद प्रेम : शिलोंछादिवृत्तिमान् असूया, अनृत, दंभ, ईर्ष्या, हिंसामानविवर्जित विप्र नीति में 'द्विज' से बोध्य हैं। 'पद प्रेम' से सगुण उपासक की सांकुशता, विनीतता, सत्यनिष्ठा आदि भक्तों में होना ध्वनित है।

विप्रं कृतागसमपि मा द्रुह्यत पुत्रकाः। घ्नन्तं बहुशपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः॥
यथाऽहं प्रणमे नित्यं अनुकालं समाहितः। तथा नमत यूयं च योन्यथा मे स दण्डभाक्॥[1]

भागवत के इस वचन से संकेतित द्विज की तरह यहाँ जातिवाचक न होकर साधुत्व-व्याप्य जातिविशेषवाचक है। फलतः गुणशून्य विप्र व्यावृत्त हैं।

चिन्तनीय है कि विभीषणजी ने रावण से सीताप्रदान करने की प्रार्थना करने का एक प्रयोजनन द्विजपदप्रेम भी है क्योंकि सीतादान से पुलस्त्य मुनि प्रसन्न होंगे।

यह आदर्श भक्तिपक्ष से श्रीराम ने अपने चरित्रद्वारा परशुराम प्रभृति मुनियों के सामने प्रगट किया है। उनका संकेत श्रीगणेशपुराण के क्रीड़ा खण्ड में उपलब्ध हैं।

भूत भव्य भविष्यज्ज्ञः समलोष्टाश्मकांचनः
वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञः न्यस्तस्वपरविभ्रमः
संहारे रक्षणे सृष्टौ मनसा जगतः क्षमः। अ० ८४॥

संगति—४८।८ में सामान्यतया लक्ष्य बताने के अनन्तर बिभीषणजी भी लक्ष्यतया अभी विशेषरूप से संकेतित हुए। अभी कण्ठतः उनकी लक्ष्यता गा रहे हैं इसलिए कि आलिंगनसम्बन्धी प्रश्न का उत्तर बोधनीय है।

चौपाई— सुनु लंकेस सकल गुन तोरें । तातें तुम्ह अति सय प्रिय मोरे॥ १॥

भावार्थ—हे लंकेश्वर! आपमें साधु के उक्त सभी गुण विद्यमान होने से आप मेरी प्रीति के आलम्बन हैं। इस प्रकार तामस देहादि की प्रतिबन्धकता व उत्तमोत्तम देहों की कारणता निरस्त हुई।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनु लंकेस : लक्ष्य व लक्षण समझकर लक्षण हेतु से लक्ष्य को समझा जाय तो वह कालत्रय में अबाधित ही रहता है। प्रभु ने सकलगुण समष्टि को हेतुतया देखकर, संदेह-निरसनार्थ 'सुनु' कहा है। अर्थात् आपको किया आलिंगन सद्गुण प्रयुक्त प्रीतिप्रयोज्य है ऐसा ध्यान सदा बनाए रखने का संकेत 'सुनु' से समझना है।

बिभीषणजी में स्वामिप्रकृतित्व 'लंकेस' सम्बोधन से स्पष्ट है।

---

[1] श्रीमद्भागवत ६४।४१-४२

सकल गुन तोरें : निर्व्यसनितासहचरित व्यावहारिक, पारमार्थिक इन्द्रियजय, आत्मसंपत्ति, शौर्य की पूर्णता, धर्मविजयित्व आदि अनेक गुण 'सकल गुन' से समझने हैं। निगमागमोभय-सम्मत गुणसंपद्विशिष्टत्व प्रयुक्त सुरावासवान् बिभीषणजी युष्म-च्छब्दार्थ हैं।

तातें तुम्ह अतिसय : श्रीरामप्रीति व बिभीषणगत गुणसमूह में प्रयोज्यप्रज्योजक-भाव 'ताते' से ज्ञेय है। सगुणोपासक निष्काम आनुश्रविककर्मा के इन्द्रियों की मनोवृत्ति यदि परम तत्व में ही रमती है तो वे सन्त श्रीरामजी के अतिशय प्रीतिपात्र होते हैं उनसे सम्बन्ध जोड़ने हेतु स्वयं श्रीराम ने साकांक्ष होकर उपस्थित होना अतिशय प्रीति का अनुमापक है।

प्रिय मोरें : लंका के उत्तरतीर पर शरणागत बिभीषणकर्मक आलिंगनकर्त्ता श्रीराम मत्पदार्थ हैं।

इस प्रकार शरणागत के प्रति स्व-स्व कर्तव्य निर्णायक संवाद पूर्ण है जिसमें सुग्रीवजी की प्रसन्नता, विश्वास, संगठन, ऐकमत्य आदि परिलक्षित हो रहे हैं।

संगति—वानरयूथों ने रावणदूत समझकर बिभीषणजी को राजा के सामने उपस्थापित किया था। उस समय श्रीरामवचन सुनकर सभी वानरयूथपों की उच्छलित मनोवृत्ति शिवजी प्रकट कर रहे हैं।

चौपाई—श्रीराम बचन सुनि वानर जूथा । सकल कहहि जय कृपा बरूथा॥ २॥

भावार्थ—श्रीरामवचन सुनकर समस्त वानर दल ने श्रीराम की जै जैकार किया।

शास्त्रीय व्याख्या

राम बचन सुनि : कार्य-कारणभाव की समीक्षा के साथ निगमागमसम्मत श्रीरामप्रीतिसंपादक कर्त्तव्यबोध प्रगट करने वाले वचन 'राम बचन' हैं जो ४८।१ से ४९।१ तक गाये हैं। भक्तिप्राप्ति हेतु अधिकार व इतिकर्त्तव्य को यथावत् समझना 'सुनि' का अभिप्राय है। शुश्रूषाश्रवणाद्यष्टांगसपत्र बुद्धि ने विनय प्राप्त कर बोध पाना 'सुनि' है। फलत: वानरसंघ में भेद का निरवकाश स्फुट है।

बानर जूथा : प्रत्यन्तदेश से आए अभ्यागत दूतत्वेनाभिमत के प्रति निर्णायक आदेश की आकांक्षा में किंकर्त्तव्यमूढ़स्थिति में आए वानरों के कानों पर श्रीरामादेश पहुँचा तो सभी ने प्रसन्न होना 'वानर यूथा' का भाव है।

श्रीराम के नीतिसमन्वित भक्ति, ऐश्वर्य व जनानुराग का प्रभाव है कि किसी वानर ने श्रीरामादेश के प्रति सन्देह या शंका न करना 'बानर जूथा' का भाव है।

सकल कहहि : 'सकल' से निम्न श्लोकार्थ चिन्त्य है।

यत्र मन्त्रिमनस्साम्यं यत्र चेतो न शंकते।
यत्र सन्तो न निन्दन्ति तत्परीयाच्चिकीर्षितम्॥[1]

वानरयूथों ने श्रीराम का उपरिबुद्धित्व स्मरण करते जय-जयकार करना 'कहहि' है।

कृपा बरूथा : गुण प्रकर्षानुरोधेन तत्तत्कृपासमूह के आकर 'कृपा बरूथा' हैं। फलत: श्रीराम का पक्षपातराहित्य जय उक्ति का आकर्षक है।

इस प्रकार निगमागमसेवियों पर प्रभु की अपार कृपा व्यक्त करना, लंका में कुमति

---

[1] नीतिसार १२।३९

का सिद्धान्तपक्ष स्थापित करते स्व को पूर्वपक्ष में उपस्थापित कर, सुमति ने श्रीराम की शरण लेना व भक्ति महारानी का आश्रय लेकर कृतार्थ हुए सुमति बिभीषण ने अपने को पूर्वपक्ष से दूषित होने से बचाना मननीय है।

संगति—घर से चलते बिभीषणजी ने मनोरथपूर्ति होने में सर्वत्र सम्भावना व्यक्त कर सन्देह ही प्रगट किया। अभी प्रभुवचनों से सब सन्देह निरस्त होने के साथ प्राप्त परामर्श के माध्यम से मनोरथपूर्ति हुई। तत्प्रयुक्त सुखनिरतिशयिता शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी । नहिं अघात श्रवनामृत जानी ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रभु के वचन सुनते ही बिभीषणजी संतुष्ट हुए परन्तु श्रोत्र से वचनामृतपान करते हुए भी वे तृप्त नहीं हुए।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनत : स्व प्रश्नों के उत्तर से बिभीषणजी के उदर्याग्नि की भूख शान्त होना 'सुनत' का भाव है।

बिभीषन : श्रीराम के द्वारा किए आलिंगन में सद्गुणनिष्ठ श्रीरामप्रीतिप्रयोजकता रूप उपाधि को समझकर तामसदेहात्मक हेतु आलिंगनाभाव की व्याप्यता ग्रह में भ्रान्ति समझने वाले बिभीषणजी 'बिभाषन' से बोध्य हैं।

प्रभु कै बानी : अपनी सम्पूर्ण मनोरथपूर्ति होने सम्बन्धी वचन 'प्रभु कै बानी' है।

नहिं अघात : श्रीरामवचन को पुनः-पुनः सुनने की अभिलाषा का उदय होना 'नहिं' अघात है क्योंकि उनके वचनों में स्पष्टता, असन्दिग्धता, गाम्भीर्य, तर्कयुक्त परामर्शसंपृक्त धर्मनीति समन्वित है।

श्रवनामृत जानी : विद्ययाऽमृतमश्नुते में होने वाले पूर्ण आनन्द का अनुभव होना अमृत है उसकी अनुभूति 'जानी' है। उसी अमृत का स्पष्टीकरण बिभीषणजी दोहा ४९।७ में व्यक्त करेंगे। अमृतप्राप्ति होते ही बिभीषणजी के हृदय में स्थायी धृति उदित हुई। फलतः वे शमसुख में विभोर हो गये।

संगति—अति दुर्लभ अमृतमय अकामहतत्व स्व में प्राप्त कर उसके प्रत्युत्तर में कृतज्ञता प्रगट करना व आदरसहित प्रीति का हृदय में होना शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— पद अंबुज गहे बारहिं बारा । हृदयँ समात न प्रेमु अपारा ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रभु के चरणकमलों को बारम्बार बिभीषणजी हस्तस्पर्श करते हैं इसलिए कि उनके हृदय में अपार हर्ष हो रहा है।

शास्त्रीय व्याख्या

पद अंबुज : प्रभु का हृदय श्रुतिसेवी और आगमसेवी की ओर तब झुकता है जब श्रीराम के सुनाए ४८।२ से ४९।१ तक में निरूपित गुणों से सम्पन्न भक्त श्रीरामसेवा में होते हैं। वही तत्परता बिभीषणजी में 'पद अंबुज' से व्यक्त की।

गहि बारहिं बारा : स्वयं होकर बिभीषणजी का प्रभुपद कमल की ओर झुकने में उनकी निर्दंभता, निर्भीकता, अशोच्यता आदि 'गहि' से प्रगट है।

प्रीतिप्रयुक्त आवेग में पदस्पर्श का पौनःपुन्य कृतज्ञताज्ञापक है। जिसमें असम्भव का

सम्भव होना, जन्मान्तरीयवासना (श्रीरामपदाम्बुजदर्शन) की पूर्ति होना, प्राप्तव्य का अवशेष न रहना आदि लक्षित है।

हृदयँ समात न : अनन्य सेवक भक्त श्रीरामप्रीति के अधिकारी होने पर वे भगवद्दासता चाहते हैं उसी भाव में रहे भक्त ज्ञानयोगी होना इष्ट नहीं मानते। वह अधिकार अभी बिभीषणजी को प्रीति की प्राप्ति से पूर्ण हुआ है जिससे वह प्रीति इतनी तीव्र बढ़ी कि उसको अन्तर्निहित करने के लिए हृदयदेश का अल्प होना 'हृदयँ समात न' से प्रगट है। इसमें चित्त की द्रुतता, प्रसाद व माधुर्य दिखा रहे हैं।

इस प्रकार शिवजी को बिभीषणप्रीति आस्वाद्य होना संकेतित है। दूसरी ओर श्रीराम की नीति व प्रीति भी आस्वाद्य हो रही है।

प्रेमु अपारा : 'प्रेमु अपारा' से प्रीतिप्रवाह के झरने का सतत बहना दर्शाया है।

संगति—भक्तियोग की पूर्णता में 'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये'[1] का भाष्य करते भक्तियोग प्राप्य फल की प्राप्ति सुना रहे हैं।

अथवा—निगमागमान्यतरमात्र की सेवा से शुद्धहृदय में वासना का समूल उन्मूलन होगा नहीं कहा जा सकता पर उसका भी उन्मूलन होना सुना रहे हैं।

चौपाई— *सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल उर अंतरजामी॥ ५॥*
उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥ ६॥

भावार्थ—हे देव! अन्तर्यामिन्! चराचर के स्वामिन्! प्रणतरक्षक! मेरे हृदय में रही जन्मान्तरीय वासना प्रभुपदप्रीतिरूप नदी में बह गई।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनहु देव : ६वीं चौपाई में वक्ष्यमाण वचन अयाथार्थ न होकर यथार्थ है ऐसा समझाने हेतु 'सुनहु' कहा है। यह 'नान्या स्पृहा रघुपते' से एकवाक्यतापन्न या समानार्थक है। यही प्रभुपदप्रीति का परिपाक है।

आत्मसंस्कारसम्पत्तिमान्, नर व देवों से सेवनीय महान् आराध्य वासुदेव श्रीराम 'देव' पद से बोध्य हैं। जो निगमागम व तत्सेवकों के लिए समान रूप से पूज्य हैं।

सचराचर स्वामी : व्यक्तिभेदेन प्रतिचर-अचर शरीर परमात्मा के शरीर होने से प्रभु 'सचराचर स्वामी' है।

प्रनतपाल उर : वेदों व आगमों ने कोटि महापातकों से युक्त जिन अपराधी जीवों को शुद्ध करने से वंचित कर दिया वैसे पातकी भी आपके शरण में प्रणत हो सम्मुख होते हैं तो उनके लिए भी आप रक्षक बन जाने से 'प्रनतपाल' हैं।

'उर' से जीवहृदयदेशवर्तित्व समझाया है।

अंतरजामी : ६वीं चौपाई का अर्थ सुनने व सुनाने के बाद श्रोता-वक्ता को अपने हृदय में तुच्छ वासना न रहने की प्रतीति होती है परन्तु इसकी वास्तविकता के बारे में साक्षिरूप में निर्णायक एक आप ही हैं ऐसा समझकर 'अन्तरजामी' कहा है। उसकी व्याख्या यतीन्द्रमतदीपिका में व्याख्यात है—स्वर्गनरकानुभवदशायामपि जीवात्मनां सुहृत्त्वेन

---

[1] श्रीरामचरितमानस सुन्दरकाण्ड मंगलाचरण श्लोक २१।

योगिभिर्द्रष्टव्य हृदयप्रदेशावस्थितिरूपम्।

उर : 'सुनहु' शीर्षक में सूचित अर्थ का प्रारम्भ 'उर' से कर रहे हैं।

पापमूलक विषयवासना का अवसर प्राप्त होने पर पुनः उसने उत्थित होने का स्थान 'उर' से विवक्षित है।

कछु प्रथम बासना रही : बहुत-सी वासनाएँ जैसे—तामसदेह में प्रभु-दर्शनाभावव्याप्यता की वासना, प्रत्यन्तवासी आगमवासी के साथ निगमसेवी के भेंट न होने की वासना, रावण को अमर बनाने की वासना, वेदबोधित, भारतीय वर्णाश्रमसमाज के रक्षण के प्रति अवतीर्ण सत्वगुण से आवृत श्रीराम के वरदहस्त को देखकर, प्रत्यंतदेशवासियों ने उसके लाभ से वंचित होने की वासना तथा तत्सम अन्यविध वासना 'कछु प्रथम बासना रही' से बोध्य हैं।

प्रभुपद प्रीति सरित : शंकाओं के बने रहने से प्रीति शुष्क-सी हो रही थी अभी उसका प्रवाह होना सरित का भाव है इसलिए कि प्रभुवचन सुनते ही बिभीषणजी का अन्तःकरण अत्यन्त द्रुत हो गया।

सो बही : 'सो' पद से 'कछु प्रथम बासना रही' शीर्षकोक्त वासनाएँ ज्ञातव्य हैं 'बहीं' से उक्त वासना का उन्मूलन होना चिन्त्य है। अन्यथा भाई को अमर बनाने में रही बिभीषणजी की वासना रावणवध होने में प्रतिबन्ध करती।

संगति—सन्देह व वैषयिक मनोरथ दूर होने के अभ्यास में सदा के लिए प्रभु की ओर मनोवृत्ति का आलम्बन होते रहने की प्रार्थना के साथ लक्ष्यभक्तिसमन्वित लक्षणभक्ति की स्थायिता बिभीषणजी माँग रहे हैं। उसी में लंकेश सम्बोधन का उत्तर ज्ञातव्य है।

चौपाई— अब कृपाल निज भगति पावनी । देहु सदा सिव मन भावनी ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे कृपालो! अब आप अनपायिनी भक्ति दें जो शिवजी के मन को रुचिकर हो।

शास्त्रीय व्याख्या

अब कृपाल : वासना के साथ विषयप्रीति का उन्मूलन होने से निर्गुण की ओर मनोवृत्ति जाने का समय प्राप्त हो रहा है उसके व्यावृत्यर्थ 'अब' कहा है। सेवकभाव में स्थिर रखने वाली माया को न हटाने की प्रार्थनार्थ श्रीराम को 'कृपाल' से सम्बोधित किया है।

निज भगति पावनी : 'निज' से एकमात्र श्रीराम की उपास्यता दर्शायी है।

श्रीरामकृपाप्राप्ति के उद्देश्येन आगमोक्त उपासना 'भगति' से समझनी है। पवित्रता व अपवित्रता अतीन्द्रिय होने से इन दोनों के प्रति किया निर्णय शास्त्रानुमोदित होना चाहिए। अतः शास्त्र के द्वारा निर्णीत सम्मति पाने को 'पावनी' कहा है।

देहु : 'देहु' प्रार्थनात्मक लोट् प्रत्यय है। 'देहु' से विश्वास याचित है जो अति दुर्लभ है।

सदा सिव मन भावनी : श्रद्धा व विश्वास का विश्लेषण भक्ति के बालकाण्डस्थ मंगलाचरण में निरूपित है उसका रहस्य शिव-सती चरित्र व पार्वतीचरित्र से ज्ञात है जिसमें शास्त्र को सर्वत उपरि प्रमाण माना है। उसके विरोध में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को दुर्बल

समझकर तदुक्त प्रमेय से दूर हो भक्ति सेवित है तो उसमें शिवमनभावनीत्व होना सिद्ध है।

भक्ति के लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थ का एकत्र विवेचन

ज्ञातव्य है कि शिवजी अपने को असत्य पदार्थ व असत्यसंभाषण से दूर रखते हैं। शास्त्रपरतन्त्र रहकर तदादेशपालन करने की शिक्षा भक्ति के लक्षण ग्रन्थ में उन्होंने दी है उसका लक्ष्य रावणभक्ति नहीं है अर्थात् उसमें भक्ति का लक्षण नहीं है फिर भी रावण को सम्पत्ति देने के मूल में शिवजी की प्रसन्नता नहीं अपितु आगमवचनप्रामाण्यरक्षण है। वह दोष, स्व के लिए लंकेश संबोधन सुनकर, अपने में न आवे ऐसा सोचकर बिभीषणजी ने 'सिव मन भावनी' कहा। एवंच वर्णाश्रम हो या तद्बहिर्भूत अन्य कोई भी हो वे सदा आगम-निगमान्यतरानुयायी होना अपने को इष्ट मानते हैं तो भक्ति महारानी की दृष्टि में दोनों सेवियों में एकरूपता ही है। इस प्रकार कवि महाभागने भक्ति को लक्ष्य-लक्षण से निगमागम की एकरूपता में पूर्ण करना सुन्दर काण्ड का सौन्दर्य है।

संगति—शिवमनभावनी भक्ति के प्रति बिभीषणजी का प्रेम देखकर अति संतुष्ट श्रीरामजी लंकेशत्व को स्पष्ट कर रहे हैं।

चौपाई—*एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा । मागा तुरत सिंधु कर नीरा॥ ८ ॥*
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं । मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥ ९ ॥
अस कहि श्रीराम तिलक तेहि सारा । सुमन बृष्टि नभ भई अपारा॥ १० ॥

भावार्थ—रणधीर प्रभु ने एवमस्तु (भक्ति के प्रति) कहकर समुद्र का जल अतिशीघ्र लाने का आदेश देकर कहा कि हे सखे! आप विषयों के प्रति निराकांक्ष हैं तो भी मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं होता इसलिए कि गुणानुरोधेन सम्मान होगा तो व्यर्थ नहीं होता। अतः सम्मान में श्रीराम ने उनको तिलकदान किया तब आकाश से विपुल पुष्पवृष्टि हुई।

शास्त्रीय व्याख्या

एवमस्तु कहि : सेव्य या प्रार्थ्य के द्वारा स्व ने अप्राप्य को प्राप्त कराना 'एवमस्तु' का निष्कर्ष है। इस प्रकार आगम का ध्येय व उसकी प्रतिष्ठा पूर्णतया निरूपित है। 'एवमस्तु' में श्रीरामवचनत्व समझाने के लिए 'कहि' कहना सार्थक है।

प्रभु रनधीरा : परराष्ट्र सम्बन्धी क्रिया के प्रति अपेक्षित सभी कारकों का प्रेरकत्व, स्वामित्व व कोश-दण्ड-बलसम्पत्ति 'प्रभु' से विवक्षित है।

विजीगिषु के समस्त गुणों में प्रधान गुण उत्साह है वह 'रनधीरा' से ध्वनित है जिसमें तर्कसंपृक्त मति, धृति की विशालता ज्ञेय है। बिभीषणजी का श्रीरामदल में मिलन होने से रावण के मृत्युबीज का वपन व समुद्रतरणमन्त्रणा का मार्ग प्रशस्त होना युद्धविजयनिर्णय पर पहुँचना व धैर्य का प्राकट्य 'रनधीरा' से किया है। विजय होने के पूर्व ही राज्यस्वामित्वप्राप्ति निर्णीत कर राज्यदान करने में विस्मय का बोध कराना 'धीरा' है।

मागा : प्रभु ने समुद्रजल माँगा उसी का अनुवाद 'माँगा' से शिवजी ने किया है।

ज्ञातव्य है कि रावण से पीड़ित उदधि ने मैनाक को हनुमत्सेवा के प्रति प्रेरित कर उसके बहाने श्रीरामजी की शरण ली उधर ध्यान न देकर सीताजी के निर्देशानुसार यथासमय दीर्घकालायात्रा प्रारम्भ कर लंकाधिपति रावण पर श्रीराम चढ़ाई करते हैं तो वह उनकी

दयालुतानुरूप न होगा। अतः श्रीरामजी ने जलनिधि से जल माँग कर कुलगुरु जलधि को आश्वस्त किया कि अर्थी बिभीषणजी का लंका पर राज्याभिषेक हो गया इससे रावणकृत पीड़ा जो सिन्धु को थी वह समाप्ति को प्राप्त हुई। यही 'मागा' का प्रयोजन है।

तुरत सिंधु कर नीरा : 'मागा तुरत' तिलक से अन्वित है। उसमें शीघ्रता इसलिए कि मुहूर्त्त का अतिक्रमण न हो। लंकाराज्य की सीमा 'सिंधु' से विवक्षित है।

जदपि : तिलकदान बिभीषणजी के लिए सुखावह नहीं इसलिए कि वे राज्यस्वामित्व के इच्छुक नहीं है। अतः बिभीषणेच्छापूर्ति में तिलकदान का प्रयोजन न होना 'जदपि' से स्फुट है।

सखा तव : लक्षणसम्पन्न मित्र की उपलब्धि से हो रही प्रसन्नता में 'सखा' कहा है। निरपेक्ष, निर्दुष्ट व अनीतिवर्जनपूर्वक नीति के अनुष्ठाता बिभीषणजी युष्मत्पदार्थ हैं।

इच्छा नाही : पूर्वजन्मकृत निष्कामकर्मोद्भूत संस्कार ने वैषयिक इच्छा पर प्रतिबन्ध होना 'इच्छा नाही' से स्पष्ट है।

अथवा—'इच्छा नाही' से प्रभु श्रीराम के प्रति बिभीषणजी के मनस् ने विमुक्ताशेषवृत्तिक होना स्फुट है। 'इच्छा नाहीं' से प्रभु ने बिभीषणजी को दानपात्र माना है। फलतः निरपेक्षता के प्रभाव से बिभीषणजी के समीप काम, क्रोध, मद ये तीनों दोष भटकते नहीं।

मोर दरसु अमोघ : नीतिकुशल परराष्ट्रविजयी श्रीराम 'मोर' से ज्ञातव्य हैं। 'मोर' 'दरसु' से अन्वित है। तिलकदान की उपपत्ति में युक्ति का आरम्भ 'मोर' से समझना है। निगमागमान्यतरसेवी निरपेक्ष, निर्दुष्ट बिभीषणकर्तृक श्रीरामकर्मक दर्शन 'दरसु' से विवक्षित है। गुणानुरोधेन भक्त का सम्मान व उसको दान होना 'अमोघ' है।

ध्यातव्य है कि भरतजी, गुह, नाविक, शबरी, वानरराज, जाम्बवान्, चित्रकूटनिवासी ऋषि-मुनि भी बिभीषणजी की तरह प्रभुसेवी ही हैं उन सबको श्रीराम ने भक्तिपक्ष से अनपायिनी भक्ति का पात्र माना है। यह अन्तर इसलिए कि राजनीति में गुणतः सेवकों का नीच-उच्च का अन्तर समझकर स्वामी ने स्वामित्वानुरूप मान देने का विधान है। सम्पन्न का अभिवर्धन व असम्पन्न को सम्पन्न बनाना ही स्वामित्व की सार्थकता है। एवंच राजनीतिमतेन 'अमोघ' कहकर प्रभु ने सम्मानदान का अन्तर स्पष्ट किया है।

जग माहीं : 'जग माहीं' निगमागमसेवी संपूर्ण समाज बोध्य है। सद्गुणसंपन्न नीत्यनुष्ठाता बिभीषणजी श्रीराम के द्वारा सम्मानित होने पर उनकी वास्तविक प्रसिद्धि ने पृथ्वीमण्डल व आकाशमण्डल में फैलना समझाया है।

अस कहि : नवम चौपाई में गाई उक्ति श्रीराम की है। तदनन्तर की उक्ति शिवजी की है। इस प्रकार के विवेकार्थ 'अस कहि' कहा है।

राम तिलक तेहि सारा : यदि तिलक का कार्य अभी नहीं होता तो समुद्र के हृदय में शंका बनी रहती कि यदि रावण सीताजी का समर्पण स्वार्थ के लिए कर दे तो श्रीराम उसको क्षमा कर तत्काल अयोध्या लौट जायेंगे तो रावण पूर्व की तरह मुझको पीड़ित करता रहेगा उसका समाधान अभी 'तिलक तेहि सारा' से हो रहा है।

अथवा—बिभीषणजी को तिलकदान मूलतः सत्पात्रप्रतिपत्ति है। जो राजवृत्त के

अन्तर्गत है। ऐसी ही सत्पात्रप्रतिपत्ति (राजतिलक) राजा दशरथजी ने श्रीरामजी के लिए की तथा श्रीरामजी ने भरतजी को सत्पात्रप्रतिपत्ति कर दी परन्तु भरतजी ने जन्मतः सेवकत्व का व्रत लेकर स्व को प्रभुचरणों में समर्पित किया क्योंकि वे जन्मतः स्वामित्ववासनारहित थे। फलतः भरतजी ने स्वामी होने में आत्मसंतुष्टि न होना दर्शाया है फिर भी भरतजी को राज्य दिया होता तो भक्ति का ह्रास होता। अतः श्रीरामजी ने भरतजी से स्वादेशद्वारा पित्राज्ञापालन करने के लिए कहकर तथा स्वयं अयोध्या के स्वामी रहते वनवासार्थ वन में चले गए। वैसी तुष्टि बिभीषणजी नहीं दिखा सकते थे न तो शास्त्रविरोध होने से श्रीराम को लंकापति होना स्वीकार्य था। इस प्रकार से भरतजी व बिभीषणजी का अन्तर 'तेहि सारा' मननीय है।

अथवा—विजयप्रयुक्त स्वामित्व में प्रतिबन्धक रूप में श्रीराम ने बिभीषणजी को तिलक देना 'तिलक तेहि सारा' है। इस प्रकार नीतिसारोक्त प्रकृतिसम्पत्प्रकरण में कहा मित्रसंग्रहोपाय भी 'तिलक सारा' से स्मरणीय है।

सुमन बृष्टि नभ : हर्षातिरेक मे देवों ने पुष्पों की झड़ी लगा देना 'सुमन बृष्टि' है। पुष्पवृष्ट्यात्मक पतन का अपादानकारक आकाश 'नभ' से बोध्य है।

अपारा : 'अपारा' से हर्ष की अपारता सूचित है। रावणकृत शासन से निगमागम और उसके सेवी दोनों ही विपत्ति के गर्त में फँसे थे। अभी बिभीषणजी को तिलक सम्पन्न हुआ ऐसा देखकर निगमागम व उनके सेवक सानन्द हो गये क्योंकि वे अपने-अपने देवता की अर्चना करने से वंचित थे। फलतः देवताओं ने पुष्प वृष्टि की। ज्ञातव्य है कि चित्रकूट से भरतवापसी के अनन्तर देवों की प्रार्थना सुनकर श्रीराम ने उत्साह दर्शाया था जो नाटक की पंच सन्धि के अन्तर्गत प्रारम्भात्मक सन्धि है। मध्यवर्ती समय में क्रमशः यत्न एवं प्राप्त्याशा समय-समय पर व्यक्त की, जो सुग्रीवमैत्री और सफल सीताशोध से स्पष्ट है। अभी बिभीषणजी के तिलकरूप व्याप्य से रावणवध देवों को अनुमित होना नियताप्ति है। अर्थात् 'आत्मगुणसपन्तत्तिमत्वेसति दोषाभावविशिष्ट बिभीषणाय तिलकदानकर्तृत्वाद्रामो रावणवधकर्त्ता' ऐसा समझकर देवों ने पुष्पवृष्टि करना शुभसूचक है।

संगति—सेतिकर्तव्यताक भक्ति की प्रतिष्ठा एवमस्तु से पूर्ण होने के अनन्तर समुद्र जल लाने का सुनते ही तिलकदानवैयर्थ्य की आकांक्षा भड़की है उसका शमन न होगा तो पूरा निरूपण अवरुद्ध होगा इस भय से अवसर[1]संगत्या जलादेश सुनानेका कारण सुना रहे हैं।

दोहा— *रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचण्ड।*
जरत बिभीषनु राखेउ दीन्हेउ राजु अखण्ड॥ ४९ (क)॥

भावार्थ—रावणक्रोधाग्नि बिभीषन वचनरूपी[2] हवा से उभरकर बिभीषणजी को दग्ध करने जा रहा था पर उससे श्रीरामजी ने बिभीषणजी को बचा कर अखण्ड राज्य दे दिया।

---

[1] अवसरस्तु विषयसिद्धौ प्रतिबन्धकीभूत जिज्ञासनिवृत्तवनन्तरमवश्यवक्तव्यम्। (माथुरीपंचक गंगाटीका)

[2] सुन्दरकाण्ड २८।४ से दोहा ४० तक।

शास्त्रीय व्याख्या

रावन क्रोध अनल : रावण ने क्रोध में आकर समदर्शी, इच्छाविहीन सन्तसुमति बिभीषणजी का अपमान किया। उस अपमान से आगम अत्यधिक पीड़ित हुआ। फलतः वह चाहता तो रावण को पहिले ही शापित कर सकता था वैसा न होने का कारण लंका में सुमति बिभीषणजी का निवास था इस सूक्ष्म तत्व पर आवरण कराने वाला क्रोध है जिसने रावण को अन्धा बना दिया।

निज स्वास समीर प्रचण्ड : रावण के क्रोधानल को शान्त करने हेतु बिभीषणजी ने वचन सुनाए किन्तु वैसा न होकर वचनों ने क्रोधानल को भड़काने में सहायक होना 'निज स्वास समीर प्रचण्ड' से कहा है। ज्ञातव्य है कि सुमति रावण को अमर बनाने के विचार से सभा में उपस्थित हो सिद्धान्त समझाने आई थी पर उसने 'यज्जन्यं तदनित्यं' की व्याप्ति का विरोध किया। फलतः बिभीषणजी के वचन श्वाससमीर में परिणत हो रावण के क्रोधाग्नि को भड़काने में सहायक हो गए।

समीर के उपादान में वचन न कहकर श्वास कहा जो कुण्डलिनी से सम्बद्ध है।

जरत बिभीषनु : सिद्धान्तविरोध (यज्जन्यं तदनित्यं) होने से रावण का क्रोधानल बिभीषणजी को दग्ध कर सकता था उसी को 'जरत' से व्यक्त किया है।

राजु अखण्ड : सिद्धान्त प्रतिकूल होने पर क्रोधानल के प्रभाव को अखण्ड राजदान ने अंकुशित करना 'राजु अखण्ड' का भाव है।

संगति—बिभीषणजी ने गुणसम्पन्न हो प्रभु की प्रीतिपात्रता प्राप्त की उसके सन्मान में रणधीर श्रीरामजी ने लंका का अखण्ड राज्य देकर रावणक्रोध को अंकुशित किया। उस समय श्रीराम के चेहरे पर झलका हुआ संकोच शिवजी गा रहे हैं।

दोहा— ***जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।***
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥ ४९(ख)॥

भावार्थ—दस मस्तक समर्पण करने पर शिवजी ने रावण को जिस परिमाण में संपदा दी वह संपदा उसी परिमाण में बिभीषणजी को देते हुए श्रीरामजी के चेहरे पर संकोच झलक रहा है।

शास्त्रीय व्याख्या

जो संपत्ति : स्वसंपदुपेत लंकात्मक दुर्ग, कोश, कोष्ठागार, प्राकार, अट्टालिका, गोपुर, रत्न, धान्यागार, सारद्रव्य कुप्य, सभा रथ्या चत्वर, शस्त्र, आयुधागार आदि की अन्यूनता दर्शाने हेतु 'जो संपति' से कहा है। अर्थात् दान में ध्वंसावशेष न होकर प्रकाशादि से पूर्ण वैभवयुक्त लंका का दान होना ध्वनित है। किंबहुना अधिष्ठात्री देवी लंकिनी भी आई मालूम होती हैं। जो राक्षसी न होकर देवी है।

सिव : उक्त संपत्ति के दाता व निर्माता शिवजी 'सिव' पद से बोध्य हैं।

रावनहि : आगमोक्त तपोयज्ञ का अनुष्ठाता तथा उक्त संपक्ति का भोक्ता रावण 'रावनहि' से बोध्य है।

दीन्हि : दान क्रिया 'दीन्हि' से ज्ञातव्य है। 'अस्य इदं स्वं भवतु' इस इच्छा से 'स्व

स्वत्वत्यागपूर्वक पर स्वत्वोत्पत्यनुकूल व्यापार:' दान है।

दिएँ दस माथ : शिव संपत्तिदान क्रिया प्रयोजक अदृष्टकर कर्म 'दिएँ दस माथ' है। यह कार्य-कारणभाव बिभीषणसंप्रदानक क्रिया (दान के प्रति कारणभूत प्रभुप्रीति) के कार्य-कारणभाव से पृथक् है। शिवकर्तृकदान में आगमविद्योक्त विधान का प्रामाण्य सुरक्षित था। प्रभुकर्तृकदान में सम्पूर्ण विद्याओंसहित राजनीति से पुष्ट भक्ति की प्रसन्नता सुरक्षित है।

सोइ संपदा : 'सोइ संपदा' से शिवप्रदत्त संपत्परिमाणतुल्य परिमाण विवक्षित है।

बिभीषनहि : बिभीषणजी दुराराध्य की समाराधना कर उनसे भोगार्थ मनोग्राह्य वस्तु प्राप्त करने के इच्छुक नहीं है। अतएव उनको धर्मपात्र समझकर दान का संप्रदानकारक बनाना 'बिभीषनहि' है।

सकुचि : जिस प्रकार से भक्ति महारानी बिभीषणजी पर पुष्टा व तुष्टा हैं उसके अनुरूप लंकादान नहीं के बराबर है। अत: श्रीरामजी को संकोच हो रहा है।

अथवा—विषय से दूर रहते बिभीषणजी काष्ठकुड्याश्म की तरह अत्यन्त विरस है उनके हृदय में कोई वैषयिक वासना नहीं है। ऐसे नीरस को दान देने का परिणाम संकोच है।

अथवा—गुणानुरोधेन सन्मान करना अमोघ है उसको प्रभु ने पूर्ण किया किन्तु गुणानुरोधेन सन्मान की पूर्णता न होने से संकोच है।

शिवमनभावनी भक्ति जिस भक्त को प्रभुकृपा से प्राप्त होनी है या हो गई है। उनके लोकयात्रा के सुचारुत्वार्थ कोई कार्य कर्तव्य पूर्ण करना है तो उन्हें स्वेच्छाविरुद्ध आदेश या दान करते हैं तो भक्ति का अपमान है यत: एकाग्रता में स्थित भक्त उक्त भूमिका से विचलित होना इष्ट नहीं मानते जैसा कि प्रीतिसहित 'बही' से स्पष्ट हो चुका है। ऐसी स्थिति में आदेश ठुकराने की संभावना में श्रीराम को संकोच होना अनुचित है। 'संकुचि' की यह उपपत्ति व सेव्य-सेवक के वचनों की प्रामाण्याप्रामाण्य की समीक्षा बालकाण्डस्थ शिव-श्रीराम के पार्वतीविवाहप्रेरणानिमित्तक श्रीरामसंवाद में द्रष्टव्य है।

दीन्हि : रावण अपने अपचार व प्रमाद से लंकास्वामित्व की योग्यता को ध्वंस कर चुका है उसको देखकर प्रभु ने लंकाराज्य बिभीषणजी को दे दिया। ज्ञातव्य है कि बिभीषणजी सर्वथा वैषयिक सुखवासनाहीन श्रीरामभक्तिसंपन्न हैं ऐसी स्थिति में रावणवध के प्रति उद्यत न हो। बिभीषणजी की नीति न होकर नीत्याभास होगा और वे श्रीरामोपासक नहीं कहलायेंगे बल्कि श्रीरामकार्य में बाधक ही ठहरेंगे। उसका अभाव 'दीन्हि' का आशय है।

रघुनाथ : परराष्ट्र से यदि दीन जन शरण में आते हैं तो उनकी रक्षा करना रघुकुल वंश का क्षत्रिय होने के कारण कर्त्तव्य है। उनमें चक्रवर्ती श्रीराम मुकुटमणि हैं। वे दुर्दम्य रावण को दण्डित करने के क्रम में तिलकदानात्मक नीति को कार्यान्वित कर रहे हैं। यह कार्य स्ववंशानुरूप होना 'रघुनाथ' का भाव है।

संगति—भक्तिप्रदान करने के अनन्तर किए गए तिलकदान से भक्ति के अपेक्षया विषयदन में अधिक महत्ता समझकर लोगोंकी दौड़ विषयों की ओर न झुकें इस हेतु से

श्रीरामविमुख की निन्दा कर रहे हैं।

अथवा—गुणसंपत्यनुरूप सम्मानयोग्यता समझकर भी भक्ति की उपेक्षा करने वालों के प्रति शिवजी खेद प्रगट करते हैं।

चौपाई— ***अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना । ते नर पसु पिनु पूँछ बिषाना॥ १ ॥***

भावार्थ—उपर्युक्त स्वभावसम्पन्न श्रीराम को त्याग कर जो दूसरे को भजते हैं वे नर पुच्छ-विषाणशून्य पशु हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

अस : ज्ञानरूप ह्रद में सत्य जल से नहाने वाले व उक्त स्वभाव से परिपूर्ण श्रीराम 'अस' से बोध्य हैं।

प्रभु छाड़ि : गुणानुरोधेन भक्त के यथावत् सम्मानयिता श्रीराम 'प्रभु' पद से बोध्य हैं।

दैवप्राप्त मर्यादा, स्वजातीयता, स्ववंशीय नियमों को नीतिपूर्वक न अपनाने वाले 'प्रभु छाड़ि' कहे जाते हैं।

भजहिं जे आना : स्वयोगक्षेम की कल्पना करने वालों द्वारा उपास्य धनी स्वामी की सन्तुष्टि हेतु जो व्यापार संपन्न होते हैं वे 'भजहिं' से बोध्य है।

मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसंपदं वाञ्छन्ति ये संपद एव तत्पतिं।
ते मन्दभाग्या निरयेपि ये नृणां मात्रात्वकत्वान्निरयः सुसंगमः ॥[1]

वचन के अनुसार उपरोक्त संस्तुत्यस्वभावविशिष्ट श्रीराम के अतिरिक्त सभी 'आना' से बोध्य हैं।

दिष्ट्या पुत्रान् पतीन देहान् स्वजनान् भवनानि च।
हित्वाऽवृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥[2]

इत्यादि से उक्त अभिजात जो भी पुत्रादि निरूपित हैं। उनको माध्यम समझकर तदन्तर्वर्ति प्रभु की सेवा के प्रकार शास्त्रों के द्वारा सीमित, नैतिक, लोकयात्रार्थ विहित हैं वैसा न सोचकर पुत्रत्वेन, पतित्वेन, पुत्रादिकों की सेवा करना 'आना' का आशय है।

ते नर : 'ते' 'आना' में व्याख्यात मत्पदार्थ से बोध्य हैं।

'नर' से नराकृतिमान्, बोध्य हैं आहार, निद्रा, भय, मैथुनासक्त भी यहाँ विवक्षित हैं।

पसु : अविवेकी, पराधीन, जड़, प्रतिभाशून्य, आहार, निद्रा, भय, मैथुनासक्त प्राणी 'पसु' से ग्राह्य हैं अथवा लोकव्यवहारबाह्य भी पशु हैं। यह पशुत्व कविसमयसिद्ध पारिभाषिक है। भाव यह कि प्रभु सत्पात्र को देखकर उसका सन्मान स्वयं निरन्तर करते रहते हैं उसको स्व ने स्वयं में कृपापात्रता समझना ही पशुत्व है।

बिनु पूँछ बिषाना : 'बिनु पूँछ बिषाना' पशुपद का लक्ष्यार्थ है। अर्थशास्त्र के व्यवहाराध्यायप्रकरण में उक्त 'दास कर्मकर' प्रकरण के अनुसार श्रीराम (धनी) की दासता

---

[1] श्रीमद्भागवत १०।६०।५३
[2] श्रीमद्भागवत १०।४७।२६

में सुखानुभविता पशुतुल्य ही है।

पूँछरहित पशु पर दृष्टि

पारिभाषिक पशुत्व की व्याख्या 'बिनु पूँछ' आदि से कर रहे हैं। दास वर्ग जैसे राजा के द्वारा बिना शुल्क के पोषित होते रहते हैं वैसे ही भाग्यवादी संपत्ति प्राप्त कर सहजतया निर्बाधरूप से ईश्वर द्वारा पोषित होते हैं। वैसे दासों से राजा को तथा भाग्यवादियों से ईश्वर को न कोई लाभ है न कोई हानि ही है। तथाकथित संपत्तिमानों को संपत्ति देने में प्रभु संकुचित नहीं होते न तो वैसे संपत्तिमानों की भक्ति ही शिवमनभावनी होती है। इसका विशेषविवेचन दोहा ५।४९ ख में द्रष्टव्य है।

संगति—'अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना' का लक्ष्य वानरयूथ नहीं समझाने के साथ ४९।१० से शृंखला जोड़ते हुए स्व-स्वचालित संघ में हुई श्रीरामसंपादित तिलकदान की प्रतिक्रिया शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई—निज जन जानि ताहि अपनावा। प्रभु सुभाव कपि कुल मन भावा॥ २॥

भावार्थ—स्व-स्वभावानुरूप श्रीराम ने बिभीषणजी को स्वजन के रूप में पूर्णतया अपनाना कपिकुल के लिए अति आनन्ददायी प्रतीत हुआ।

शास्त्रीय व्याख्या

निज जन जानि : 'निज' से संपूर्ण सैनिकों में एकतापन्न प्रभुदासता का अनुगम स्मर्तव्य है।

चिन्त्य है कि अभी तक बिभीषणसंवाद एवं सुग्रीवसंवाद में प्रभु ने जो भी उत्तर सुनाए वे सभी उत्तर निजजनत्व के परिचायक हैं। फलत: 'बिभीषणोऽयं निजजन:' ऐसा निर्णय होना 'निज जन जानि' है। यह निर्णय अन्तर्यामी प्रभु के लिए प्रत्यक्षात्मक है औरों के लिए अनुमिति है।

ताहि अपनावा : निराकांक्ष, नीतिमान् श्रीरामादेशपालक, छल-छिद्र से शून्य बिभीषणजी तच्छब्दार्थ हैं। उत्तम कोटि में रहे बिभीषणजी को मित्ररूप में अनुगृहीत कर सार्वभौमरूप में स्वीकार करना ही 'अपनावा' है। जो ४३ दो० का स्मारक है इसमें श्रीराम की सर्वतउपरिबुद्धिता स्पृहणीय है।

प्रभु सुभाउ : वर्तमान समय में भी श्रीराम उदासीन हैं तथापि उनमें आत्मगुण होना स्वभाव है उसके परिणाम में सेवक अनुच्छेद्य हो सफलश्रम होते हैं। आशय यह कि स्वगुणसंपन्न सेवकों को प्रासव्य स्वस्थान की अर्हता का स्थैर्य श्रीराम को अपने में प्रतीत होना 'सुभाउ' से द्योत्य है।

कपि कुल : कपियूथ के अन्तर्गत सभी सैनिक समान न होकर उत्तम, मध्यम, स्व-स्वगुणसम्पन्न कार्यकर्ता वानर 'कपि कुल' से चिन्त्य हैं। उन्हें स्वस्वाभिमान में रहते हुए स्वसम्मान की प्राप्ति होना निर्णीत होने से किसी के अन्त:करण में विकृति उदित नहीं हुई। इससे सब में प्रभुसेवकत्व का अभिमान जगना 'कपि कुल' से ध्वनित है।

मन भावा : कपिकुल, शास्त्रोक्त पशुलक्षण से संपन्न है पर वह कविसमयसिद्ध पारिभाषिक पशुत्व से संपन्न नहीं है अपितु सत्पात्रता से परिपूर्ण है। इस अभिप्राय से 'मन

भावा' कहा है। संपूर्ण सेवकों को प्राप्त मनस्तुष्टि 'मन भावा' से स्पष्ट है उसका प्रयोजन उत्साहसमृद्धि तथा अभेद्यता का होना है इससे शंका को अवकाश प्राप्त न होना भी स्मर्तव्य है। इस प्रकार अभ्यागत के सम्बन्ध में उदित धारणा की एकरूपता में निजजनत्व विषय पूर्ण हुआ।

संगति—विजय के पूर्व ही बिभीषणजी को परराष्ट्र दान करने से परराष्ट्रिय मनीषियों के हृदय में यह शंका हो सकती है कि मानव होकर विजय की अनिर्णयावस्था में तिलकदान कैसे सम्पन्न हुआ? इसका समाधान कवि सुना रहे हैं?

चौपाई— पुनि सर्बग्य सर्ब उर बासी । सर्बरूप सब रहित उदासी॥ ३॥
बोले बचन नीति प्रतिपालक । कारन मनुज दनुज कुल घालक॥ ४॥

भावार्थ—तिलकदान होने के अनन्तर सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी, सर्वरूप, सबसे रहित, उदासी, आत्मलब्धि से पूर्ण, नीतिप्रतिपालक, किसी प्रयोजन से मानुषाकृति वासुदेव, दनुजवंशनाशक ने बोलना प्रारम्भ किया।

शास्त्रीय व्याख्या

पुनि : 'पुनि' 'बोले' का क्रियाविशेषण है। बिभीषणसंप्रदानक दानानन्तर्य 'पुनि' है।

सर्बग्य : 'रामोऽयं ब्रह्मविष्णवीश्वरः स्थितिकर्त्ता जगत्पालकः' इस अनुमान को पूर्ण करने हेतु साधकतया सर्वज्ञत्वादि स्मर्तव्य है। सर्वज्ञत्व श्रीराम के ईश्वरत्व का साधक है। अर्थात् श्रीराम में जगदुपादानगोचरापरोक्षज्ञान स्पष्ट है।

सर्ब उर बासी : 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' श्रुति की अन्वर्थकता 'सर्ब उर बासी' से स्मर्तव्य है। सर्व उरवासी होकर भी श्रीराम को आवरकवैजात्य, कर्मवैजात्य, गुणवैजात्य से अभिभव प्राप्त नहीं है। सर्व उरवासी होने से श्रीराम में सर्वान्तर्यामिता असंदिग्ध है।

सर्बरूप : 'सर्बरूप' से सत्य, सर्वज्ञ, चित्तत्त्व का अभेद स्पष्ट है। जगत् का पारमार्थिक स्वरूप श्रीराम एकमात्र हैं यतः जगत् की पृथक् सत्ता किसी मत को मान्य नहीं है न तो किसी को श्रीराम का वियोग प्राप्त है। भव में अवगम्यमान स्वरूप की एकरूपता व स्नेह की अविषमता के स्फुटीकरणार्थ 'सर्बरूप' कहा है।

सब रहित : रसनीय शुद्ध स्नेहात्मा, धर्म आदि से परिच्छिन्न न होने से वह सर्वरहित है उसका व्यावहारिक उदाहरण निद्रासुख है जो स्नेहमय होने से जीवमात्र के लिए आकर्षक है।

उदासी : लंकाविजयप्रयुक्त स्वत्व का अभाव भी 'उदासी' से स्फुट है। इसी हेतु से बिभीषणजी को लंकापति बनाना उपपन्न है। उदासी होने से श्रीराम को बन्ध या मोक्ष प्रसक्त नहीं है। 'उदासी' से सुन्दरकाण्डीय प्रथम मंगलाचरण का अर्थ समन्वित होना स्फुट है।

बोले बचन : ज्ञातव्य है कि परराष्ट्र नीति का प्रारम्भ समुद्रतरण से आरब्धव्य है उसमें दण्ड का समावेश करना है क्योंकि अभी तक किया गया मन्त्रकोशात्मक युद्ध विफल हो चुका है। ऐसी स्थिति में आप्त, बुद्धिमान् मन्त्रिमण्डल का विस्तार करना होगा। समुद्र का आप्तबुद्धिमत्व परीक्षित होने से उसका प्रवेश मंत्रिमंडल में अपेक्षित है। अतः समुद्र के

सहसंवासी बिभीषणजी से समुद्र की मन्त्रिमण्डल में प्रवेशार्हता सुनाने हेतु 'बोले बचन' कहने का औचित्य मननीय है।

नीति प्रतिपालक : स्थितिकर्त्ता विष्णुजी के नीत्यंतर्गत दो कार्य हैं—एक सम्यक् पालन, दूसरा दुष्टभंजन। उनमें प्रथम कार्य सम्यक् पालन को 'नीति प्रतिपालक' से दर्शाया है। प्रमाणतया प्रमित अर्थ, शक्ति, देश, कालबलपुरस्सर अनुष्ठान 'नीति' शब्द से बोध्य है। श्रीराम ने त्याग, सत्य, शौर्य से यशस् को तत्तत्स्थानों पर पहुँचाकर तत्तद्देशवासी आप्त विद्वानों की प्रीति प्राप्त करना यहाँ नीति से प्रयोग चिन्त्य है। प्रस्तुत में वस्तुष्वशक्येषु समुद्यमरूप कार्य व्यसन उपस्थित है जैसे कपिकुल के साथ समुद्रपार करना महान् जटिल समस्या है। उसका प्रतीकार जिस मार्ग से होगा उस मार्गरूप नीति के अनुष्ठाता 'नीतिप्रतिपालक' से स्मर्तव्य है।

कारन मनुज : स्थितिकर्त्ता विष्णुजी ने (सत्वविशुद्ध) मानुषाकृति में अवतीर्ण होना 'कारन मनुज' है। वह पारिभाषिक शौर्य धैर्यात्मक है।

दनुज कुल घालक : दैत्याधिपति रावण से आश्रित दनुजकुल ने भारतीय वर्णाश्रमात्मक भारत को पीड़ित कर रखा है। श्रीरामने नीतिमान् हो स्वराष्ट्र का पालन करते क्रमशः उनका संहार करते जैसे-जैसे यशस् अर्जित किया वैसे-वैसे सीमावर्ती, क्षेत्रवासी, आप्त, बुद्धिमान्, नीतिमान् प्रीतिमान् हो मनसा-वाचा संघटित हुए उसका प्रतीक समुद्रप्रेरित मैनाकचरित से असंदिग्ध है। अब परराष्ट्र के साथ प्रकाशयुद्ध होने के पूर्व श्रीराम का परपुरंजय, सम्यक्पालन, स्थितिकर्तृत्व, विष्णुस्वरूपत्व बताकर परराष्ट्रस्थ मनीषियों को निगमागम समन्वय से 'श्रीरामोऽयं दाशरथिः दनुजकुलसंहर्ता प्रभुः योगिध्येयः' ऐसा अनुमान कराना चिन्त्य है।

संगति—'बोले बचन' शीर्षक में सूचित कर्त्तव्य विषय का निर्वचन श्रीराममुखेन शिवजी कर रहे हैं।

चौपाई— ***सुनु कपीस लंकापति बीरा । केहि बिधि तरिअ जलधि गंभीरा॥ ५ ॥***
संकुल मकर उरग झष जाती । अति अगाध दुस्तर सब भाँती॥ ६ ॥

भावार्थ—हे कपीश्वर! हे लंकापते! समुद्र को किस विधि से पार किया जाय। मकर, नाग, मछलियाँ, नानाविध जातियों की इतनी अधिकता है कि वे अगाध समुद्र में व्याप्त हैं। सहज रीति से समुद्र का पार करना सम्भव नहीं।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनु सपीस : अभी तक आप प्रष्टा थे अभी मैं (श्रीराम) प्रष्टा हूँ। कार्यसफलतावसर पर ही कार्यव्यसन उपस्थित हुआ है। आप बुद्धिमान् सेनानायक राजा हैं। व्यसन आपत्तिक कार्य उपस्थित होने पर समाधान में देर नहीं होनी चाहिए। आपने सम्पूर्ण पृथ्वी की प्रदक्षिणा की है अतः हे कपिराज! अनुपेक्षा से मेरा वचन सुनें। इसलिए 'सुनु कपीस' कहा है।

लंकापति : बिभीषणजी समुद्रसमीपवर्ती निवासी होने से उसकी स्थिति के वेत्ता व समुद्र के स्वभाव के जानकार हैं। बिभीषणजी समुद्र के दैविक, भौतिक, आध्यात्मिक शरीर से परिचित हैं। नीतिकुशल होने से वे समुद्र से मैत्री रखे हुए हैं। अतः उनसे रास्ता प्रकाशित

करने के लिए 'लंकापति' संबोधन किया है।

बीरा : 'बीरा' से तर्क, धृति मति (भय व स्खलित के अवसर पर यथावत् सूझ होना) उत्साह, गुण की स्थिरता बिभीषणजी में स्मारित की है।

केहि बिधि : समुद्र स्व एवं परराष्ट्र का सीमावर्ती क्षेत्र है उस पर किसी का आधिपत्य नहीं है। विना समुद्र की अनुमति के उससे तरना सम्भव नहीं इसलिए 'केहि बिधि' प्रश्न उपस्थित है। किष्किन्धा से शुभ निमित्त को देखकर चली महदुत्साह के विपुल सेना यहाँ आते ही हतप्रभ दिखाई पड़ रही है क्योंकि वर्तमान समय में वस्तुष्व-शक्येषु समुद्यमरूप अप्रतिभट व्यसन उपस्थित है उसके प्रतीकारार्थ 'केहि बिधि' प्रश्न है।

तरिअ जलधि : 'तरिअ' प्रश्न का विषय है। सम्पूर्ण वानरों के लिए सुलभ संतरण ईप्सित है। यह प्रश्न आपसे इसलिए कि राजा या प्रजा व्यसन से ग्रस्त होते हैं तो उसके प्रतीकार का उपया ढूँढ़ना मन्त्री का कर्त्तव्य है। आधिभौतिक (जलशरीर) व आधिदैविक शरीर (समुद्र देवता) दोनों 'जलधि' से संगृहीत हैं।

गंभीरा : सम्पूर्ण नदियों से प्राप्त अगणित जलराशि का महान् गर्त में प्रवेश होते हुए भी जल का न बहना 'गंभीरा' है। अधिदैवत समुद्र का अन्तःकरण भी गंभीर है।

संकुल मकर उरग : 'संकुल' शब्द पूर्णार्थक है। 'मकर' से मकरादि भयानक जलचरादि रूप में अनेक विध राक्षसों का समुद्र में वास करना प्रसिद्ध है। अनेकविध विषैले सर्पों का वासस्थान समुद्र है।

झष जाती : 'तिमिंगिल गिलोप्यस्ति तद्गिलोप्यस्ति राघव' वचन से विशालकाय मछलियों का निवास समुद्र में होना बताया है।

अति अगाध : समुद्र में अनेक प्रकार के जलचरों का निवास होना 'अगाध' से निर्विवाद है। यदि वानरकुल व भालुकुल बलात् तैरते हैं तो सभी जलचर क्षुब्ध होंगे।

दुस्तर सब भाँती : आक्रामक होकर पार करने का प्रयत्न किया जाए तो वह प्रयोग वानरकुल के लिए सफल नहीं होगा। क्योंकि समुद्र की अगाधता जलचर व राक्षस निवास के लिए सुखकर है वे यदि प्रतीकार करते हैं तो उनसे युद्ध करते हुए अमूल्य समय व्यतीत होगा तो फलप्राप्ति से वंचित होना पड़ेगा।

संगति—श्रीराम के प्रश्न को सुनकर बिभीषणजी द्वित्वपर्याप्तिघटित नीतिप्रयोग विशेष के विषय अपनाने हेतु अपनी ओर से मत सुनाकर उसके औचित्य की उपपत्ति भक्त्यनुगामी धर्मविजयी राजपक्ष से सागर दैवत की प्रार्थना करने से सुना रहे हैं।

चौपाई— *कह लंकेस सुनहु रघुनायक । कोटि सिंधु सोषक तव सायक॥ ७॥*
जद्यपि तदपि नीति असि गाई । बिनय करिअ सागर सन जाई॥ ८॥

दोहा— *प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि कहिहि उपाय बिचारि।*
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि॥ ५०॥

भावार्थ—लंकेश ने कहा कि निगमागमानुयायी नीतिमत से आप यह सुनें कि हे रघुनाथजी! यद्यपि आपका बाण करोड़ों सागरों को सुखा सकता है तथापि आप सागर के समीप जाकर उनसे प्रार्थना करें वे आपके कुलगुरु हैं विचारकर वे उपाय बतायेंगे परिणाम

में भालू और कपि सभी विना श्रम के सहज ही पार हो जाएँगे।

शास्त्रीय व्याख्या

कह लंकेस : 'कह' से उत्तरारम्भ की प्रतिज्ञा ज्ञातव्य है। उसके दो अंश हैं उनमें प्रथम अंग पूर्वाचार्यमत दूसरा चतुर्विध विद्यास्थापकों का मत है। शिव मनभावनी भक्ति की यथार्थता दर्शाने हेतु शिवजी ने भी बिभीषण न कहकर 'लंकेस' कहा।

सुनहु रघुनायक : दोनों प्रकार के मतों को सुनने की प्रार्थना के पश्चात् उसे स्वीकारने का निर्णय करने की स्वतन्त्रता 'रघुनायक' संबोधन से दर्शायी है।

अथवा—'रघुनायक' से रघुकुल ने सदा धर्मविजयिता का आश्रम-लेते रहने की प्रसिद्धि ध्वनित है। उसी प्रसिद्धि को बनाये रखने में 'नायक' कहकर प्रभु स्वभाव की निर्विवादता स्पष्ट की है।

कोटि सिन्धु : 'कोटि सिन्धु' से पूर्वाचार्याभिमत दण्ड की प्रधानता का प्रारम्भ कर रहे हैं। भाव यह कि 'न ह्येवंविधं वशोपनयनमस्ति भूतानां यथा दण्डः इत्याचार्याः' इस नीति को ध्यान में रखकर दण्ड्य के अन्तर्गत कोई भी हों तो वे सभी उपलक्षणविधया 'कोटि सिन्धु' से बोध्य हैं।

सोषक तव सायक : शोषण कर्म दण्ड के रूप में व्यक्त है उसका साधन सायक है। सिन्धुशोषण की साधनता 'तव सायक' में उक्त है। रघुनायक श्रीराम युष्मच्छब्दार्थ हैं।

इस प्रकार पूर्वाचार्याभिमत प्राणापहरणरूप दण्डप्रणयन करने का विचार पूर्ण हो प्रथम पक्ष समाप्त हुआ।

जद्यपि : उपरोक्त मत मानना लोभासुर विजयी के लिए सम्भव है। यह मत पूर्वाचार्य समेत अनेक मनीषियों के लिए प्रिय लगना 'जद्यपि' का ध्वनितार्थ है।

जद्यपि मत पर विचार

धर्मविजयी पूर्ण शुचि आस्तिक देवप्रसाद का भाजन है तो उसने देशकालादि ठीक से समझकर कार्यप्रारम्भोत्तरक्षण में बलवद्विघ्नविशेष उपस्थित होने (अगतिक अवस्था में) पर ही दैव की शरण में पहुँचना नीति है अन्यत्र दैव अचिन्त्य होने से नयशौर्य का अवलंब लेकर नीत्यनुष्ठान कर्तव्यतया विहित है उसी पक्ष में शुक्रादि मतों के अनुगन्ता ने दण्ड की प्रधानता मानकर उसका उपयोग करना 'जद्यपि' का भाव है।

नीति असि गाई : ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त द्वितीयमत में भी नीति सद्यः शोषणादि प्रणयन करने में अपनी सम्मति नहीं देती। इसलिए कि तथाविध दण्डप्रणयन से सहवासी ही नहीं उदासीन परिव्राजक भी क्षुब्ध हो सकते हैं इस दोष को देखकर 'नीति असि गाई' कह रहे हैं।

बिनय करिअ : द्वितीय मतावलंबिनीतिंमतेन कहना यह है कि समुद्र कल्याणकारी है। वह दण्ड का अधिकारी नहीं है।

समुद्र जलाधिपति है तत्स्वामिक जलमार्ग से पार होने का क्रम वे ही कहेंगे। अतः 'बिनय करिअ' कहा है।

सागर सन जाई : अपने परिग्रह (छावनी या पड़ाव) से हटकर समुद्रतीर पर जाना

'सागर सन जाई' से संकेतित है।

वर्तमान समय में श्रीराम राजपदासीन नहीं हैं वे तो क्षात्रधर्म अपनाते हुए पतिव्रता सीताजी को दुष्ट के हाथों से छुड़ाने के लिये प्रवृत्त हैं। अतः उन्होंने समुद्र के समीप में जाकर प्रार्थना करने में अनौचित्य नहीं है।

प्रभु तुम्हार : 'प्रभु' से श्रीराम में अन्तिम निर्णायकत्व व उपर्युपरिबुद्धित्व दर्शाया है। ऐसा होने से ही बिभीषणादि मन्त्रिमण्डल ने प्रभु का अनुगामी होना सुशोभित है।

कुलगुर : 'बिनय करिअ सागर सन जाई' की उपपत्ति 'कुलगुर' से सुना रहे हैं।

समुद्र जल को विस्तार से रहने के लिये जब से सगरपुत्रों ने अवकाश दिया है तब से रघुकुल के साथ सागर का संबंध बना है। रघुकुल ने 'वर्षावग्रहे शचीनाथ गंगापर्वतमहाकच्छपूजा: कारयेत्' (अर्थशास्त्र ४-३-७८ प्र०) उक्ति के अनुसार निरन्तर समुद्र की पूजा करते चले आने से सागर रघुवंश का कुलगुरु है उससे अवध में वर्षावग्रह, दुर्भिक्ष न होने से सागर की प्रसन्नता असंदिग्ध है। सुदुस्तरता व समुद्रस्थ सभी जलचरों के दुःख को दूर करने के उपायों के उपदेशक होने से समुद्र को 'कुलगुरु' कहना व्यर्थ नहीं है। फलतः वे पूज्य ही नहीं उपदेष्टा भी हैं।

जलधि : 'जलधि' से जल का अधिदैवत समझना है। चिन्त्य है कि अधिदैव व अधिभूत को एक ही नाम से संकेतित करना शिष्टसंप्रदाय में ध्यातव्य है।

उपाय बिचारि : स्व और स्वाश्रित असंख्य जलचर व स्वभौतिक शरीर पीड़ित न होते हुए सरल रीति से अगाध जल को पार करने का उपाय 'उपाय' से बोध्य है।

लाघव, नीति, पूर्वापरस्थिति, देश, काल व शक्ति की तुलना करते उपाय के प्रति सत्परामर्श होना 'विचारि' से कहा है।

बिनु प्रयास : दुस्तर का उत्तर 'बिनु प्रयास' है वह 'सागर तरिहि' से अन्वित है। तैरकर शतयोजन मार्ग पार करने में सबको श्रम होना प्रयास है। यदि समुद्र दैवत यहाँ उपस्थित होकर सन्तरणोपाय बताते हैं तो किसी को प्रयास (श्रम) न होना 'बिनु प्रयास' है।

सागर तरिहि : यहाँ 'सागर' शब्द अधिभूत जलवाचक है। अगम्य ने सुगम्य होना 'तरिहि' है।

सकल भालु कपि धारि : सभी कपि व भालु आकाशचारी या निर्बाध जलचारी नहीं हो सकते न तो हनुमदादि कतिपय वानरातिरिक्त वानर जलधि पार कर सकते हैं। अतः कपि भालू दोनों उल्लिखित हैं। अति शीघ्र समुद्र पार होने की पूर्णतासूचक 'धारि' शब्द है।

इस प्रकार मन्त्रिमण्डल में प्रविष्ट आप्तमन्त्रज्ञ बिभीषणजी ने उत्तर पूर्ण किया है जिसमें अधिदैव के प्रातिकूल्य में स्व पुरुषार्थ की असफलता व्यक्त की जो अनुरक्त परिजनादिक धर्मविजयी के लिए नीतिसम्मत है।

ज्ञातव्य है कि नीतित्व की पर्याप्ति दैव एवं नयशौर्यादि में निहित है। परन्तु उनमें से देवसमुद्रशरण न जानेपर नीतित्व की पर्याप्ति नहीं हो सकती अतः बिभीषणजी ने दैवशरण की मंत्रणा देकर नीतित्व की पर्याप्ति पूर्ण की है।

संगति—जलसन्तरणोपायत्व की पर्याप्ति पुरुषार्थ के साथ अधिदैवत के प्रसाद में

समझकर तदभिप्रायेण श्रीराम अनुमोदन कर रहे हैं जो लक्ष्मणजी के लिये अरुचिकर होगा।

चौपाई— *सखा कही तुम्ह नीकि उपाई । करिअ दैव जौं होइ सहाई॥ १॥*

भावार्थ—सखे! तुमने ठीक उपाय कहा अब तो उक्त द्वित्व पर्याप्ति की पूर्णता के लिए अवशिष्ट होने से सहायक होगा।

शास्त्रीय व्याख्या

सखा कही तुम्ह नीकि : धर्मविजयी बिभीषणजी में स्वामिप्रकृतित्व दर्शा कर परराष्ट्रस्थ राजा का सन्मान 'सखा' शब्द से दर्शाया है।

इष्टसाधनकृतिसाध्य बलवदनिष्ठाननुबन्धी सुझाव 'नीकि' है।

उपाई : सागर के समीप में जाना 'उपाई' है। यह उपाय समुद्र दर्शनोद्देश्यक कर्मानुष्ठान पुरश्चरण के रूप में कर्तव्य होगा जो अति संक्षिप्त व पूर्ण है। इस प्रकार श्रीराम ने अपने से किंप्रभुत्व (कुत्सित प्रभुत्व) निरस्त करना ध्वनित है।

दैव जो होइ सहाई : यद्यपि पुरुषार्थ स्थिर है नीतित्व की पर्याप्ति दैवप्रसाद से होगी इस भाव से प्रभु बोले तथापि प्रस्तुत में नीतिप्रयोग की पर्याप्ति आपाततः दैव में ही है ऐसा भाव व्यक्त करते हुए प्रभु ने 'दैव जो होइ सहाई' कहा है जिसका प्रयोजन लक्ष्मणजी को पूर्वापक्षोपस्थापन करने का अवसर देना है।

दैव की अचिन्त्यता 'जो' से ध्वनित है।

ज्ञातव्य है कि पुरश्चरण से प्रसन्न होकर समुद्रदेव दर्शन देंगे ही। अन्यथा स्वपीडापरिहारार्थ श्रीराम से कुछ प्राप्तव्य समझते हों तो दर्शन नहीं देंगे। ऐसी स्थिति में द्वितीय पक्ष मानने पर यही कहना होगा कि दर्शन देने में समुद्र की व्यथा ही अनुमेय होगी। तदतिरिक्त और कोई कारण नहीं है।

संगति—सीताजी को छुड़ाने के लिये सन्तरणोपायत्व की पर्याप्ति दैव में स्वीकृत करना, स्वामी के हक में ठीक नहीं क्योंकि स्वामिप्रकृति यदि दैव पर विश्वास करते रहे तो नय शौर्य समाप्ति की ओर बढेगा ऐसा सोचकर उसका निषेध लक्ष्मणजी सुना रहे हैं।

चौपाई- *मंत्र न यह लछिमन मन भावा । राम बचन सुनि अति दुख पावा॥ २॥*
नाथ दैव कर कवन भरोसा । सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥ ३॥

भावार्थ—बिभीषणजी के साथ श्रीराम का किया विचार-विमर्श लक्ष्मणजी को रुचिकर नहीं लगा। श्रीरामजी के वचन सुनकर तो उनको अति पीड़ा हुई और कहा कि स्वामिन्! दैव पर विश्वास करना ठीक नहीं है आप अपने अन्तःकरण को समुद्र के प्रति रुष्ट होने की प्रेरणा दें।

शास्त्रीय व्याख्या

मंत्र न यह : 'मंत्र' से कार्यनिश्चय समझना है। यह (मंत्र) यह का विशेषण है। बिभीषणोक्ति का व्यावर्तन 'यह' से समझना है।

'न' शब्द 'मन भावा' से अन्वित है।

लछिमन : मन्त्रिमण्डल में रहे सुग्रीवजी बिभीषणजी की मन्त्रणा को सुनते तूष्णींभाव

साधे हुए हैं बोलने के लिए एकमात्र अवशिष्ट लक्ष्मणजी 'लछिमन' से बोध्य हैं।

मन भावा : दैवपर्याप्तिकत्वेन आपाततः आभासित बिभीषणोक्त प्रयोगको अपनाया जाय तो श्रीराम में तथा सेना में आलस्य उदित होने से दोनों उच्छेद्य कोटि में पहुँच जायेंगे। इसलिये 'न मन भावा' कहा है।

अथवा—बिभीषणजी ने समुद्र तरणोपायत्व पर्याप्ति समुद्र द्वारा सुनाए उपाय में बताई है। एतदर्थ उसी के अनुगमन में प्रभु दैव कर्म को करने जा रहे हैं। उस अदृष्ट दैव कर्म की सिद्धि तत्काल होगी ही कही नहीं जा सकती। यदि यात्रा में विलंब हुआ तो प्रिय भरतदर्शन कार्य विलुप्त होगा। उसका भावी परिणाम क्या होगा कहा नहीं जा सकता। अतः दैव पर विश्वस्त होना ठीक नहीं यह 'न मन भावा' होने का कारण है।

राम बचन सुनि : 'राम बचन' शब्द से 'करिअ दैव जो होइ सहाई' वचन स्मर्तव्य है। नय व शौर्य की उपेक्षा कर दैवसहायतार्थानुष्ठान करते रहने में रुचि, धार्मिकत्व का स्वरूप है। जो कार्यसिद्धि के प्रति महान् विघ्न है। तथाविध धार्मिकत्व के अनुगमन में समुद्रदर्शनार्थ अनुष्ठानविधेयक प्रवृत्ति का बोध 'सुनि' का ध्वनितार्थ है।

अति दुख पावा : दीर्घकाला यात्रा पूर्ण करनी है उसमें यदि थोड़ा भी विलंब हुआ तो उसका परिणाम ध्यान में आते ही मानसिक पीड़ा की वृद्धि होना 'अति' से स्पष्ट है।

'नय सहाई' न कहकर 'दैव सहाई' कहा जो बिभीषणोक्ति के अनुरूप न होकर आलसी धार्मिकों के अनुरूप है। फलतः अर्थान्तर प्रसक्त होगा। श्रीराम नय-शौर्यसंपन्न होने पर भी भविष्यत् में निन्दित होंगे। इसलिये लक्ष्मणजी के लिए बिभीषणमन्त्र मन्त्र रुचिकर न होने से 'अति दुख पावा' कहा है। इस प्रकार लक्ष्मणजीका आन्तरिक दुःखगान पूर्ण है।

नाथ दैव कर : 'दैव' से व्रत-उपवास समझने हैं जो शूराशूरोभय साधारण व देव प्रसादोद्देश्य से अनुष्ठेय होते हैं।

कवन भरोसा : 'भरोसा' विश्वासार्थक शब्द है। अर्थात् 'इदं दैव कर्म समुद्र देवं दर्शयिष्यत्येव' ऐसा निर्णय 'भरोसा' से स्फुट कर रहे हैं क्योंकि उनके लिये कहा गया है कि—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥[1]

अर्थात् शास्त्र में भी देवदर्शनकाल निर्णीत नहीं है। अतएव दैव अचिन्त्य है, उस दशा में अभी देवदर्शन होना सन्दिग्ध है। समुद्रदर्शन नहीं हुआ तो सन्तरोणापाय मालूम न होने से मूलोच्छेय होगा।

सोषिअ : कालविलंब की संभावना से अचिन्त्य दैव का अवलंब न लेकर स्वशक्ति का उपयोग कर समुद्र को सुखाना उत्तम पक्ष है क्योंकि श्रीराम समुद्र को पूर्ण करने का सामर्थ्य रखते हैं।

करिअ मन रोसा : 'मन रोसा' से कृत्रिम रोष कहा है क्योंकि 'करिअ' से श्रीराम के स्वभाव में रोष न रहना ज्ञेय है।

---

[1] श्रीमद्भागवत १०।४८।३१

काम-क्रोधादि मनोधर्म होनेसे 'मन' कहा है तावता, श्रीराम के अन्तर्यामित्वादि धर्म लक्ष्मणजी ने स्वीकारना स्पष्ट है।

ज्ञातव्य है कि बिभीषणजी ने जिसको अनीति कहा उसी को लक्ष्मणजी ने नीति कहा है। उसके मूल में 'कवन भरोसा' शब्द से बोध्य विश्वासाभाव ज्ञातव्य है। बिभीषणजी ने विश्वासपूर्वक समुद्रदर्शन व सम्भाषण होना निर्णीत किया है। इससे बिभीषणजी व लक्ष्मणजी की समुद्रदर्शन के प्रति किया निर्णय निर्विवाद है। समुद्रदर्शनोद्देश्यक प्रवृत्तिविधेय दो तत्त्व हैं। एक दैव कर्म दूसरा शरसन्धान कर्म। इसी में बिभीषणजी व लक्ष्मणजी के मनस् में विरोध प्रतीत है। उसका समन्वय श्रीराम\ आगे करेंगे। इसका रहस्य वहीं पर द्रष्टव्य है।

संगति—नयशौर्यादि नैतिक गुणों से वञ्चित व्यक्ति के द्वारा मननीय उस (अकर्मण्य) तत्त्व का निरूपण कर रहे हैं जो दुर्बल व आलसियों के लिए समाधानास्पद है व शूरों के लिए हास्यास्पद कर्म है।

चौपाई— कादर मन कह एक अधारा । दैव दैव आलसी पुकारा ॥ ४ ॥

भावार्थ—कायर मन वाले आलसियों का एकमात्र आधार दैव है। वे दैव का ढिंढोरा पीटते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

कादर मन : सत्यसंकल्प शक्ति से वंचित मनस् 'कादर मन' है। कादरमनस्क न होने का उपाय शास्त्रों ने समझाते हुए प्रतिमानव की प्रकृति को पृथक्-पृथक् पद्धति से समझाया है वे उपाय स्वकल्पित न होकर प्रकृतिवैलक्षण्य व अधिकारानुरूप हैं उसको उपेक्षित कर जो मनमाना कार्य करते हैं वे 'कादर मन' है।

एक अधारा : नय-क्रियाशून्य व्यक्ति ग्रह और दैव को ही उन्नति का बीज मानते हैं। फलतः वे अनीति को अपनाने से वे ईश्वरद्वारा उपेक्षित होते हैं वैसे व्यक्ति संकल्पशक्तिशून्य हो मनस् को दुर्बल बनाते हैं। जब शत्रुराष्ट्र उस व्यक्ति (राजा) की कायरता पर ध्यान रखकर आक्रमण की योजना बनाता है। तब उस दशा में कादरमनस्क ने एकमात्र दैवाधार सोचना ही 'एक अधारा' है।

दैव दैव : ग्रहोपसृष्ट उपद्रव (बाढ़, भूकम्प, अग्नि, दुर्भिक्ष, व्याधि इत्यादि) होने पर देव को पुकारना व उनका शमनोपाय अपनाना कर्त्तव्यतया नीति में विहित है वैसी स्थिति यहाँ नहीं है उसके न रहते देव को पुकारना आलसियों की पुकार है। उत्साह, सत्त्व, अध्यवसाय, चेष्टा, कर्मदार्ढ्य—इन पंचविध पौरुषकर्मों पर ध्यान न देकर एकमात्र दैव को अवलम्ब मानते हुए, नीति को आधार रूप में न मानना 'दैव दैव' है। एक 'दैव' शब्द नय व्यावृत्ति बोधक है। दूसरा 'दैव' शब्द नय शरीराधारभूत पौरुष की व्यावृत्ति का बोधक है।

आलसी : 'आलसी' कर्मद्वेष्टा होता है। जैसा कि 'क्रियाविद्वेषः आलस्यं से स्पष्ट है। श्रीराम के लिए क्रियाद्वेष आपाद्य होगा वैसा न होने की प्रार्थना 'आलसी' से व्यंजित है।

पुकारा : आप (श्रीराम) यदि दैव पर बल देंगे तो 'अयं श्रीरामः बिभीषणसंगत्या पुरुषार्थमुपेक्षितवान्' ऐसा तर्क उदित होगा जो श्रीराम के लिए अनिष्टकर है।

'पुकारा' केवल उच्चारणार्थक है। 'दैव' कहने से देव न सुनते हैं न तो वे कार्य पूर्ण

करने में सहायक होंगे ही कहा जा सकता है। अत: नय शौर्य से समुद्र को सुखाकर पार होना बाद में उसे जल से पूर्ण करना नीति मालूम होती है। इस प्रकार बिभीषणनिर्णीत नीति-मंत्रणाप्रयुक्त वेंदना प्रगट है। ज्ञातव्य है कि लक्ष्मणजी ने बाल्यकाल से दैव व शास्त्र पर विश्वास रखकर श्रीरामोपासना को अपना कर अपनी संकल्पशक्ति को उत्साह से जागृत किया है। अभी शत्रु ने सीताजीवनावधि सीमित की है, भरतजी भी श्रीरामदर्शन हेतु कालसीमा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में श्रीराम अचिन्त्य दैव को पुकार रहे हैं उसके प्रतिरोध में लक्ष्मणजी ने संकल्पशक्ति का उपयोग करने की प्रार्थना की है न कि रोष किया है।

संगति—समुद्र स्वमण्डलसम्बद्ध होने से उस पर वर्तमान में रोष कर प्रगट करना उचित नहीं है। वह यदि परराष्ट्र में पहुँचने में बाधक सिद्ध हुआ तो उस पर रोष प्रगट करना नीति होगी। ऐसा सोचकर श्रीरामजी लक्ष्मणजी के प्रस्ताव का अनुमोदन कर रहे हैं।

चौपाई— सुनत बिहसि बोले रघुबीरा । ऐसेहिं करब धरहु मन धीरा॥ ५॥

भावार्थ—अनुज के वचन सुनकर प्रभु ने हँसते हुए कहा कि मनस् में धीरता बनाकर रखो मैं वैसा ही कार्य करूँगा।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनत : मर्यादापालन का उपयोग लोक में नैतिकतया केवल दैव से जोड़ा जाता था वैसा न होकर शास्त्रमर्यादापालन की उपयुक्तता लोक में सिद्ध करने हेतु जो प्रेरक वचन श्रवणार्ह है वे 'सुनत' से समझने हैं।

बिहसि : श्रीरामजी ने सुग्रीवजी से लक्ष्मणजी की प्रशंसा में 'जगमहुँ सखा निसाचर जेते। लछिमनु हनइ निमिष महुँ तते'[१] कहा था वही रोष लक्ष्मणजी ने शीघ्र प्रगट किया उसके कार्यान्वयन में अभी देर है ऐसा सोचकर श्रीराम का हँसना 'बिहसि' है।

बोले रघुबीरा : लक्ष्मणप्रस्तावित नयशौर्य स्वीकृतिबोधक वचन श्रवणकर श्रीरामजी जो वचन बोले वे यहाँ 'बोले' से चिन्त्य हैं।

ऐसेहि करब : लक्ष्मणसूचित शोषणकार्य व तदनुकूल चापाकर्षण के हेतु देशकाल प्रतीक्ष्य हैं वह प्राप्त होने पर रोष करना 'ऐसेहिं करब' का भाव है। लक्ष्मणोक्ति पर बल देकर तत्काल उत्साह, प्रताप प्रगट किया जाय तो स्वमण्डल में क्षोभ बढ़ने से श्रीराम रौद्र कोटि में आकर अपकीर्ति के अधिकारी बनेंगे। उससे बचने हेतु प्रभु वीरसम्मत कर्त्तव्य की दिशा 'ऐसेहिं करब' से सुना रहे हैं जिसमें बिभीषण-लक्ष्मणोभय सम्मतमतकार्यान्वयन ध्वनित है।

धरहु : शौर्य व रोष प्रगट करने में प्रथमत: समुद्र की आन्तरिक वेदना व उपेक्षा समझनी है तदर्थ काल की प्रतिक्षा करनी होगी अन्यथा रोष में आकर शरसंधान करना मनस् की चपलता होगी तन्निरासार्थ 'धरहु' कहा है वह 'मन' के साथ संबद्ध है।

मन धीरा : संकल्प विकल्प करना, निर्णय न कर पाना मनस् का स्वभाव है। फलत: में सन्देह बने रहना उसका धर्म है। जैसे 'सोषिअ' कहकर मनस् की एक विशेषवृत्ति दर्शाई अभी 'दैव दैव' कहकर उसी की सामान्यवृत्ति समझाई इत्यादि। सन्देह

---

[१] श्रीरामचरितमानस ५।४४।७

से हटने के लिए बुद्धि का उपयोग किया जाता है वह बुद्धि तभी सफल होती है जब सोचने वाला व्यक्ति धीर होता है। धीर व्यक्ति देशकालशक्ति का परिच्छेद कर प्रमाणपूर्वक नीत्यालम्बन द्वारा वस्तुतथ्य पर पहुँच जाता है।

संगति—धीरता में अचल मन:स्थितिक लक्ष्मणजी को देखकर प्रभु ने जो कार्य सम्पन्न किया उनका कीर्तन शिवजी कर रहे हैं।

चौपाई— *अस कहि प्रभु अनुजहि समुझाई । सिन्धु समीप गए रघुराई॥ ६ ॥*

भावार्थ—ऐसा कहकर प्रभु ने अनुज को और भी कुछ समझाया तब समुद्र के समीप में रघुपति गए।

शास्त्रीय व्याख्या

अस कहि : पूर्व चौपाई में उक्त समाधान 'अस' पदार्थ है। 'कहि' से कथनानन्तर्य स्पष्ट है।

प्रभु अनुजहि : पूर्वोक्त उपदेश में प्रभुसम्मितत्व होना 'प्रभु' का भाव है। यदि लक्ष्मणजी तावता प्रसन्न हैं तो उनकी सेवकता माननी होगी। लक्ष्मणजी में दृढ़ निश्शंक सेवकता देखकर प्रभु प्रसन्नता में आए। इस प्रकार उनका सफल शासकत्व ध्वनित है। अति प्रीतिमत्त्व की ध्वनि 'अनुजहि' से ज्ञेय है।

समुझाई : पूर्व चौपाई में कहे 'ऐसेहि करब' का व्याख्यान 'समझाई' है। निष्कर्ष यह कि समुद्र देव रघुकुल के प्रति अति प्रसन्न है। श्रीराम ने भी अपने सदाचार से उनको पूर्ववत् प्रसन्न रखा है जो समुद्रद्वारा मैनाकप्रेषण से निर्णीत है। अभी परराष्ट्र से प्रवर्तयिष्यमाण युद्ध के आसन्न समय पर वे अतिशीघ्र दर्शन देंगे। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो उनमें कोई आन्तिरिक व्यथा अनुमेय होगी। उस समय समाधान की आकांक्षा में नान्तरीयकतया वे रोष की प्रतीक्षा कर सकते हैं। उस अवसर पर श्रीराम का रोष करना व धनुर्बाण का उपयोग करना शोभनीय होगा यह रहस्य 'समुझाई' से परिचेय है।

सिन्धु समीप गए : बिभीषणजी के सुनाए मन्त्रणानुसार श्रीरामजी ने अपने परिग्रह (छावनी) से चलकर सिन्धुसन्निकृष्ट देश में जाना 'सिन्धु समीप गए' से समझना है।

रघुराई : कुलगुरु के भाव में दीन प्रार्थी होकर समुद्र के पास जाना, उनसे प्रार्थना करना समुद्र के भाग्य का उदय है। इस शरणागमन के उत्तर में समुद्र यदि दर्शन देते हैं अपनी व्यथा श्रीरामको सुनाते हैं तो उसके परिणाम में प्रभु ने उत्तरतटवर्ती नरसमुदाय को एक साथ शर का लक्ष्य बनाया तो सबकी मृत्यु होना निश्चित है अत: रक्षक श्रीराम को 'रघुराई' कहना सार्थक है।

संगति—उक्त उत्तम मन्त्र से मन्त्रित विषय पर ध्यान रखकर दैव कर्म द्वार से समुद्र देवता को प्रसन्न करने का निर्णय कर श्रीराम ने अपनाई तपस्या के साफल्य एवं आदरार्थ अपनाये बहिरंगव्यापार को शिवजी गा रहे हैं।

चौपाई— *प्रथम प्रनाम कीन्ह सिरु नाई । बैठे पुनि तट दर्भ डसाई॥ ७॥*

भावार्थ—प्रथमत: इष्टदेव कुलगुरु को नमस्कार करने के पूर्व मस्तक झुका कर अति आदरपूर्वक रघुराई ने प्रणाम किया। पश्चात् उत्तर तट पर दर्भ बिछाकर उस पर वे

विराजमान हो गए।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रथम प्रनाम कीन्ह सिरु नाई : पूज्यों के समीप में पहुँचने के पश्चात् कर्त्तव्य के अन्तर्गत प्रथम कर्म का आरम्भ 'प्रथम' से सुना रहे हैं। यह प्रणामक्रिया का विशेषण है। पूज्यापेक्ष्या स्वस्तिमदपकृष्टत्व प्रकारक बोधानुकूल व्यापार प्रणाम पदार्थ है। दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर मस्तक झुकाना 'सिरु नाइ' है।

बैठे पुनि तट : प्रणामानन्तरकालवर्तित्वाधिकरणवृत्तिक्रियाकांक्षा के समाधान में 'बैठे' कहा है। प्रणामोत्तरोपवेशनाधिकरणस्थल 'तट' है।

दर्भ डसाई : प्रणामोत्तरवर्तित्व दर्भास्तरण में न बताकर उपेवशन में बताना बाधित है। अत: 'दर्भ डसाई बैठे पुनि तट' ऐसा अन्वय ज्ञातव्य है।

इस चरित्रनिरूपण की विशेष उपयोगिता ५१ दोहा में देखे। स्मर्तव्य है कि लंका में 'यज्जन्यं तदनित्यं' व्याप्ति सिद्धान्त के बल से कुमति लंका में बलवती हो स्थिर हो गई बिभीषणमिषेण सुमति ने पूर्वपक्ष (श्रीराम) में रहकर उक्त व्याप्तिसिद्धान्त को अपमानित करने के दोष से मुक्तिहेतु श्रीरामशरण में आने से सुमति के कार्य की पूर्णता पूर्ण है।

संगति—सुमति की निर्बाध स्थापना होने के अनन्तर रावण के क्रोधाग्नि में झुलसे बिभीषणचरित्र को समझने हेतु दशानन द्वारा अपनाए चरित्र का शिवजी का प्रारम्भ कर रहे हैं।

अथवा—'कपि मन भावा' की कौमुतिकन्यायेन सिद्धि दूतचरित्र से व्यक्त कर रहे हैं।

चौपाई— जबहिं बिभीषन प्रभु पहि आए । पाछें रावन दूत पठाए॥ ८॥

भावार्थ—सभा त्याग कर जैसे ही बिभीषणजी प्रभु के सान्निध्य में आ पहुँचे उसी क्षण रावण के द्वारा भेजे हुए दूत भी बिभीषणजी के पीछे पहुँच गये।

शास्त्रीय व्याख्या

जबहिं : 'जबहिं' से श्रीरामसान्निध्य में बिभीषणोपस्थिति का काल विवक्षित है। अर्थात् दूत ने श्रीराम के समीप आने में कालविलम्ब न करना 'जबहिं' का भावार्थ है।

बिभीषन : दूतों व चरों के स्वरूप के ज्ञाता होने पर भी उधर ध्यान न देने वाले एकाग्रमनस्क बिभीषणजी 'बिभीषन' से बोध्य हैं अन्यथा बिभीषणजी का पीछा करना दूतों के लिए असम्भव होता।

प्रभु पहिं आए : लंकापति के रूप में बिभीषणजी का आत्मीयत्वेन ग्रहणकर्तृ श्रीराम सामानाधिकरण्य 'प्रभु पहिं आए' का भाव है।

पाछें रावण : मेरी (रावण) क्रोधज्वाला से बचकर निकले बिभीषणजी, शत्रु (श्रीराम) के साथ हुई मैत्रीनिमित्तक वधशंका से बिभीषणजी ने अपनाए जाने वाले कर्मसमुच्चय को समझने हेतु रावण ने दूतों को भेजना 'पाछे' का अभिप्राय है। समागत दूत जिसके शासन से आए वह 'रावन' से बोध्य है।

दूत पठाए : शरणागत या श्रीरामाभिमुख्येन के ध्येय से नहीं अपितु रावण की प्रेरणा

से प्रेर्य हो आए मायावी शुक एवं सारण 'दूत' से बोध्य हैं वे दोनों दूत हैं जो विना परराष्ट्रस्वामी की अनुमति के शत्रु की गति को समझने में अति निपुण चर हैं। ये दूत अक्रूरजी एवं दशरथजी के मंत्री सुमंत्र की तरह मंत्रज्ञ व आप्त हैं। 'पठाए' बहुवचन से एक से अधिक संख्या में दूतों को होना ज्ञातव्य है।

• **संगति**—बिभीषणशरणागति व श्रीरामचरित्र को देखकर दूतों ने उनके लोकसंग्रह से प्रभावित हो तन्मयता से अपने को भूलना व परपक्ष के सामने स्वयं ने प्रगट होना शिवजी सुना रहे हैं।

दोहा— *सकल चरित तिन्ह देखे धरें कपट कपि देह।*
प्रभु गुन हृदयँ सराहहिं सरनागत पर नेह॥५१॥

भावार्थ—कपिदेहधारी दूतों ने श्रीरामचरित्र देखा तो वे अपने को भूलकर शरणागत के प्रति प्रभु के द्वारा दर्शाए रहे स्नेह की सराहना हृदय से करने लगे।

शास्त्रीय व्याख्या

सकल चरित : प्रस्तुत शरणागतालंबनक चरित्र में ही प्रकृत दर्शनविषयता की पर्याप्ति न होकर वह पर्याप्ति न्यायशास्त्राभिमत सामान्य लक्षणा सन्निकर्षज दर्शनविषयमात्र में चिन्त्य है अर्थात् जो भी शरणागत होते हैं उन सब के प्रति प्रभु ने दर्शाया श्रेष्ठ स्नेहमय चरित्र 'सकल' से बोध्य है।

तिन्ह देखे : दोनों कपट कपिदेहधारी दूत 'तिन्ह' शब्दार्थ हैं। 'देखे' कहने से यह व्यक्त है कि उसमें कोई तात्कालिक श्रीरामचरित्र शेष ऐसा नहीं था जिसको दूतों ने न देखा हो अर्थात् उन्होंने श्रीराम व बिभीषणजी के प्रत्येक चरित्र को चक्षुस्संयोगपूर्वक विना किसी प्रतिबन्ध के देखा।

धरे कपट कपि देह : 'धरें' से इच्छादेह या वेषधारण में शक्ति होना ज्ञातव्य है। वानरसमूह में परराष्ट्रागत का प्रवेश प्राप्त होने की उपपत्ति में कहना यह है कि प्रकाश रूप में बिभीषणजी के आने से उनके प्रति श्रीराम के द्वारा प्राप्तव्य आदेश की आकांक्षा में व्यापृत सभी वानर कार्यान्तर या विषयान्तर से अत्यन्त दूर थे उसका लाभ रावण के दूतों को होना 'धरे कपट कपि देह' से स्फुट है। परिणाम यह हुआ कि दोनों दूत वानरों को भुलावा देने में सफल हो गये। वानरों का ध्यान भी स्थूल पर होने से उन्होंने दूतों के विशेषांश को नहीं पहचाना हो तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आगन्तुक दूतों के द्वारा एकाग्रतापूर्वक श्रीरामचरित्र देखने का फल यह हुआ कि साहित्योक्त भावसंक्रमणप्रक्रिया के अनुसार उनके हृदय में श्रीरामजी की वत्सलवासना, अनुभावों की व्याप्तिवासना, सहृदयतावासना जाग उठी। फलतः वे रजस्तमोभावप्रयुक्त सीमित अहं को भूलकर साधारणीकरणव्यापार से आक्रान्त हो गए।

प्रभुगुन : बिभीषणजी के प्रति श्रीराम का स्नेह व उनका तिलकदान देखकर भक्ति में आसक्त हुए दूत हृदय से श्रीरामगुणगान करने लगे उसका परिणाम उनकी राक्षसदेह से मुक्ति होनी है तत्संपादकतया श्रीराम को शिवजी ने यहाँ 'प्रभु' कहना सार्थक है। दुष्टकर्मा रावण के संग में रहनेपर भी अतिशुचि, नीतिनिपुण बिभीषणजी को कार्यज मित्र बनाने हेतु

जिन गुणों का रहना अभ्यर्हित है वे सभी गुण श्रीराम में 'प्रभुगन' से ग्राह्य हैं। जैसा कि—

दूरादेवाभिगमनं स्पष्टार्था हृदयानुगा॥
वाक् सत्कृत्य प्रदानं च त्रिविधो मित्रसंग्रहः॥
शुचिता त्यागिता शौर्यं समानसुखदुःखता।
अनुरागश्च दाक्ष्यं च सत्यता च सुहृद्गुणाः।
तदर्थेहानुरागश्च संक्षिप्तं मित्रलक्षणम्॥[1]

इत्यादि वचनों से सिद्ध है।

हृदयँ सराहहि : साधारणीकरणव्यापार के माध्यम से स्व-परत्वेन अप्रतिभासित विभावविभावित हृदय 'हृदयँ' शब्द से विवक्षित है। 'सराहहि' से हार्दिक प्रसन्नता, हृदय में संशयाभावस्थिति होना स्फुट है। बिभीषणजी व श्रीरामप्रभृति के जो भी चरित्र दूतों ने देखे, सुने एवं अनुभूत किये वे सभी शुचि आह्लादक होने से उचितसन्निवेशात्मक हैं अतः उसका संक्रमण रसात्मक है न कि रसाभास है।

'सराहहि' में वानरसैन्य की इयत्ता, यूथप का परिगणन, वानरसैन्य की अभेद्यता कृत्य (लुब्ध, भीत, अपमानित, क्रुद्ध) पक्षाभाव व्यूहरचना, भ्रातृप्रेम, मन्त्रशक्ति, उत्साह, प्रभुशक्ति, बल आदि सभी विषय प्रशंसित हैं।

शत्रु (रावण) के घर से प्रेरित अभ्यागत दूत के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक सराहने से समुद्र की प्रसन्नता व 'कपिमन भावा' कैमुतिकन्यायेन निर्णीत है जो संगति में सूचित है।

सरनागत पर नेह : नए अभ्यागत (बिभीषणजी) की प्रथम भेंट में ही तत्काल उनसे स्नेह करना साधारण मनुष्यों के लिए सम्भव नहीं इस आश्चर्य में शिवजी ने सराहनाविषय के अन्तर्गत प्रधानता शरणागतस्नेह को दी उसी को यहाँ 'सरनागत पर नेह' से दर्शाया है न कि विषयान्तर की व्यावृति हुई है। निगमसेवी या आगमसेवी दोनों मत में नीतिपालन व अनीतिवर्जन करने वाले पवित्र शरणागत को श्रीराम उत्साहपूर्वक 'नेह' से आत्मीयत्वेन मानते ही हैं। बिभीषणभक्ति के वश में रहे श्रीराम के वात्सल्यसंक्रमण से दूतों का मनस् अतिद्रुत हो गया। फलतः सत्त्वभाव में आए दूतों के लिए श्रीराम का चरित्र आस्वाद्य हो रहा है परिणाम में शत्रुपक्ष के माध्यम से श्रीरामाभिनीत 'नेह' सफल रहा। इस प्रकार लोकसंग्रह व मित्रसंग्रह निरूपित है।

संगति—सत्त्वगुण का उच्छलन, रजस्तमोभाव का विलयन एवं रसात्मा अहंकार का साधारण भाव में आना ऐसे नाट्यशास्त्रोक्त तीन गुणों के प्रभाव से दूतगत कपटशरीरतादात्म्य का निरसन होना कवि सुना रहे हैं।

चौपाई— प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ । अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥ १॥

भावार्थ—अतिशयित प्रेम से मुग्धा परावाणी गलित शरीरतादात्म्याहंकारात्मा होकर श्रीराम के सुस्वभाव का वर्णन दूतों के बहाने प्रगट कर रही है।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रगट बखानहिं : राक्षसमायाप्रयोगात्मक संकल्पशक्ति से दोनों दूत कपिदेहधारी थे।

---

१. नीतिसार ४।६९, ७२-७३

उस ऐन्द्रजालिक देह को नाट्यविद्या ने निरस्त कर दूतों के वास्तविक स्वरूप को कपिसमाज में प्रगट कर दिया। यह लोकसंग्रहात्मक राजनीति का सफल प्रयोग है। ज्ञातव्य है कि जितेन्द्रिय हो विद्यावृद्धसंयोग पाकर विनीतभाव में गुणसम्पत्ति प्राप्त करने वालों ने अपनाई लोकसंग्रहवृत्ति एक महती दैवी माया है उसके सामने शरीरात्मवादी की माया कैसी भी हो वह स्वयं निरस्त हो मायावी को ही अभिभूत करती है इसी पराजय का उल्लेख

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥[1]

वचन से समझाया गया है। एवंच राक्षसदेहार्जित मायाप्राबल्यावधि की पूर्णता 'प्रगट' से स्पष्ट है। 'प्रगट बखानहि' से यह भी समझना होगा कि योगभ्रष्ट दूत सत्यव्रत में पुनः संकल्पित हुए तो उनका कपट वेष चला गया फलतः उनमें भक्ति ने प्रविष्ट हो दूतों को 'अहं मम' भेदभाव से मुक्त कराकर उन्हें श्रीरामगुणगान में सदा के लिए प्रवृत्त करा दिया।

राम सुभाऊ : दोहा ४९ ख दोहा ५०। १ तक की उक्ति 'राम सुभाऊ' से चिन्त्य है।

अति सप्रेम : दोनों दूत योगी मुनि थे वे शाप के कारण राक्षसशरीरधारी हो रावणसेवा में नियुक्त हुए। अभी श्रीराम के लोकसंग्रहस्वभाव को देखते-देखते उनके हृदय में जन्मान्तरीय श्रीरामालंबनक प्रीतिसंस्कार जागृत हुए जो शाप से सुप्त थे। उसी जागरण में श्रीरामप्रीति के अनेकविध व्यभिचारिभावों के प्रभाव से श्रीरामगुणगानात्मक अनुभावों का उभरना 'अति सप्रेम' का भाव है।

गा : कपटरूप से कपिदेहधारी दूतों के इतर (कपि) की स्वरूपतः व्यावृत्ति में ही श्रीरामस्वभावनिरूपणसाधक ही नहीं अपितु जन्मान्तरीयस्वभाव के अनुरूप दूतों ने श्रीरामगुणगान भी प्रारम्भ किया। एकाग्रतात्मक भक्तिरूप समाधि की विशेषता यही है कि उसमें इन्द्रियों के व्यापार सर्वथा अवरुद्ध न होकर ईश्वरमात्र से सम्बद्ध होते रहते हैं उसी के अन्तर्गत वाणी का सम्बन्ध होना 'गा' से उपपन्न है।

बिसरि दुराऊ : 'अयं निजः अयं परः' यह भूलना 'बिसरि दुराऊ' है। दुराव भूलने से दूत अब मायावी नहीं रहे।

संगति—दूतों के शब्द सुनकर वानरों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ तो उन्हें दूतों की वास्तविकता समझने में विलम्ब न हुआ उसका परिणाम शिवजी सुना रहे हैं।

अथवा—शत्रु पक्ष से अभ्यागत के प्रति श्रीराम का अन्य एक सराहनीय चरित्र (दोहा ५२। ६) गेय होगा। उसके उपक्रम में दूत के प्रगट होने का परिणाम शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— रिपु के दूत कपिन्ह तब जाने । सकल बाँधि कपीस पहिं आने॥ २॥

भावार्थ—'अयं रिपुदूतः' ऐसा पहिचानते ही दूतों को बाँधकर कपिवृन्द ने उसे सुग्रीवजी के सामने उपस्थापित किया।

शास्त्रीय व्याख्या

रिपु के दूत : कपटवेष धारण करके छिपकर कपिवृन्द के मध्य में हृदय से श्रीरामगुणगान करने वाले दूत 'रिपु के दूत' हैं।

---

१. दुर्गासप्तशती।

ज्ञातव्य है कि हनुमान्जी भी श्रीरामदूत हो लंका में पहुँचे थे किन्त उन पर रावण का प्रभाव कार्यकारी न हो सका रघुकुल भी राक्षसप्रभाव के वश न होकर अभी तक नय व शौर्य को अर्जित करता हुआ इन्द्रियजय, वृद्धसेवा, गुरुभक्ति, सद्वृत्त व दण्डमाहात्म्य में अडिग रहा। भक्ति महारानी भी ऐसे सत्यनिष्ठ रघुकुल को बचाती रही। वही प्रयोग श्रीराम ने स्पष्ट कर भक्तमण्डल को सावधान करना श्रीराम का नयविशेष है एवं रावण का वह अपनयविशेष है जिसके दूत स्व को भूलकर शत्रु के अनुगन्ता हो गये।

कपिन्ह : विशेषज्ञ आदि भेद से रहे विभिन्न प्रकार के कपि 'कपिन्ह' शब्द से समझने हैं। वह भालु का उपलक्षक है।

तब जाने : दूतों की माया का निरसन व उच्चैः बोलने का समय 'तब' से ग्राह्य है।

अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित निश्चय 'जाने' से समझना है। माया व तत्प्रयुक्त कापट्य का निरसन होने से दूत में मिथ्या बोलने की प्रसक्ति न देखकर 'जाने' कहना यथार्थ है।

सकल बाँधि : कपिमण्डल में अज्ञात रूप से रहे मर्म (दुश्चेष्टित) व क्रुद्धादि कृत्यपक्ष को समझकर दूत के द्वारा परस्पर (भाई-भाई) में भेद होने के भय से बन्दरों ने उनको बाँधना 'बाँधि' है।

कपीस पहि आने : दूतों के प्रति अग्रिम कर्त्तव्य का निर्धारक राजा ही है। श्रीराम अभी व्रतस्थ हैं अत: 'कपीस पहिं' कहा है। सबके लिए अनुरंजक, संघबद्ध, राजतन्त्र के स्वामी 'कपीस' से बोध्य हैं। रज्जुबद्ध दूतों का उपस्थापन राजा के सामने होना 'आने' है।

संगति—दूतवध निषिद्ध होने के कारण परिक्लेशप्रणयन पहुँचाना सोचकर अन्यविध दण्डप्रणयन की सफलता परराष्ट्र को विदित कराने के विचार से सुग्रीवजी अंगभंग का आदेश सुना रहे हैं।

चौपाई— कह सुग्रीव सुनहु सब बानर । अंग भंग करि पठवहु निसिचर॥ ३॥

भावार्थ—सुग्रीवजी ने कहा कि हे वानरगणों! सुनो! निशाचर को अंग-भंग कर वापस भेज दो।

शास्त्रीय व्याख्या

कह सुग्रीव : 'कह' शब्द सुग्रीववचन के आरम्भ का द्योतक है।

यद्यपि सुग्रीवजी ने दूतों के प्रति आत्मीयतया स्वीकर्तव्यता की सूझ न पाकर परकीय भाव में दण्डनिर्धारण सुनाकर उनके प्रति परभाव रखना स्व की अपर (छोटी) बुद्धित्व का सूचक है तथापि परिणाम में दूतों ने श्रीरामशरण होना देखते हुए यही कहना होगा कि प्रस्तुत दण्डप्रणयन से सुग्रीवजी ने अपना सूक्ष्म राजबुद्धित्व प्रगट किया है।

सुनहु सब बानर : दण्डप्रणयन के प्रति बन्दरों को सुग्रीवजी ने अपना अभिमत सुनने हेतु सावधान करना 'सुनहु' है। 'सब वानर' से यदि किसी को कोई आक्षेप हो तो उसे कहने का अवकाश ध्वनित है।

अंग भंग : 'पठवहु' कहने से अंगभंग का प्रकार आगे समझाया कि यातायात में बाधा न पहुँचाते अंगभंग कर्त्तव्य है। परिणाम में अंगच्छेदन से इनका अपराध सबको विदित होगा फलतः शत्रुपक्ष भयभीत हो जायेगा। पुनः कपटवेषधारी को अपने मण्डल में

प्रवेश करने का साहस नहीं होगा। सामान्य दण्ड से राक्षस अपने स्वभाव को नहीं त्यागते अतः अंगभंग विहित है।

ज्ञातव्य है कि दण्ड्य दूतों ने यद्यपि कपट त्यागा है। वे तीक्ष्ण दण्ड के अधिकारी नहीं हैं। तथापि सुग्रीवजी ने अंगभंग का कठोर आदेश देकर अपराधियों पर उपकार ही किया है वह यह कि प्रहार से पीड़ित होने पर दूत दयालु करुणाकर श्रीराम के शरण में जायेंगे फलतः वे सुरक्षित हो जायेंगे।

संगति—वानरोंद्वारा राजादेश का कार्यान्वयन जिस प्रकार हुआ वह पद्धति शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— ***सुनि सुग्रीव बचन कपि धाए । बाँधि कटक चहु पास फिराए ॥ ४ ॥***
बहु प्रकार मारन कपि लागे । दीन पुकारत तदपि न त्यागे ॥ ५ ॥

भावार्थ—सुग्रीवजी के वचन सुनकर वानर दौड़े दूतों को बाँधकर सेना के चारों तरफ घुमाते हुए उनको बहुत प्रकार से मारने लगे तब दूत दीन होकर पुकारने लगे फिर भी उनको बन्दरों ने ताडनमुक्त नहीं किया।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि सुग्रीव वचन : 'सुनि सुग्रीव वचन' से राजादेश का तात्पर्य (परिक्लेशमात्र) समझकर आज्ञापालन करना ज्ञातव्य है।

कपि धाए : सुग्रीवजी के आदेश का पालन करने वाले सभी वानर 'कपि' से बोध्य हैं। प्रयोगप्राशुभावबोधक शब्द 'धाए' है।

बाँधि कटक चहु पास फिराए : प्रकाशदण्ड लोकसम्मति पर आधारित है उसके प्राप्त्यर्थ दूतों को घुमाना कर्त्तव्य है उसकी पूर्णता 'चहु पास फिराए' से दर्शायी है।

बहु प्रकार : अंगभंगानुकूलव्यापारवैविध्य 'बहु प्रकार' है।

मारन कपि लागे : निगमागम को सताने में रावण की सक्रियता देख व उसके अनात्म सम्पन्न सेवक की मन्त्रतः-तन्त्रतः दुर्बलता व उनकी भूभारता समझकर वानर क्रोध की पूर्वावस्था में पहुँचे हैं। अतः वे उनको मारने से पीछे नहीं हो रहे हैं। इस प्रकार दूतों को दण्डित करना उनके स्वामी रावण के प्रभुत्वसमापन के साथ पराजय का सूचक है। ज्ञातव्य है कि दूतरूप में जन्मे पूर्वजन्मकालीन ब्रह्मदण्डपीड़ित ऋषियों को ब्रह्मदण्ड से मुक्त कर पुनः पूर्ववत् ऋषिस्वरूप में ले आने की शक्ति संकर्षणात्मक अनन्त भगवान् लक्ष्मणजी के पास ही अभी निहित है यतः उनके स्वामी श्रीरामजी वर्तमान में समुद्रदर्शनप्राप्त्यर्थ मौन हो व्रतस्थ हैं व हनुमान् प्रभृति यूथयू समर्थ होते हुए भी लक्ष्मणचरित्र को देखने हेतु स्वस्थ बैठे हैं। जैसे द्रौपदी का सतीत्व प्रगट कराने हेतु सभा में भीष्मादिकों का स्वस्थ रहना महाभारत ग्रन्थ में वर्णित है।

दीन पुकारत तदपि न त्यागे : दूतों की बलवत्ता संहननांगता दुःखाननुभूति 'बहु प्रकार मारन कपि लागे' से अनुमेय है। अति आघात होने पर जब दूतों की पीडा बढ़ने लगी तो प्रतीकार में असमर्थ हो स्व की कृति से अपना रक्षण होना असम्भव समझ कर उन्होंने दीन तथा अतिपीड़ित होने की अवस्था में स्वर-सप्तक के अन्तर्गत 'निषाद' स्वर

में पुकार की। पर वह भी व्यर्थ हुई। यहाँ चिन्त्य है कि भारतीय शास्त्रों के अनुसार अपराधी अपनी शुद्धिहेतु राजप्रणीत लोकशास्त्रसम्मत दण्ड स्वीकारता है अथवा स्वयं होकर स्व शुद्ध्यर्थ यथोचित दण्डप्रणयनहेतु राजा को प्रेरित करता है तो नीति सफल मानी जाती है। प्रस्तुत में दोनों योगभ्रष्ट दूत पूर्वजन्मकृत सुकृत संस्कार के उद्‌बोध को पाकर यह समझ रहे हैं कि कपटवेषधारणपूर्वक प्रतारणा हमने की। उसकी फलसस्तुति यह हुई कि राजदण्ड के रूप में हुई ताड़ना स्वीकार्य हो गई फलतः अन्तः अंगभंगप्रयुक्त वेदना होने तक वे स्वस्थ रहे न तो उन्होंने कोई प्रतीकार ही किया तदनन्तर दण्डप्रणयन के अवधि की समाप्ति का औचित्य ध्यान में रखते हुए दूतों ने प्रहार से विरत्यर्थ पुकार लगाई उसका प्रयोजन अपनी अन्तःपीड़ा वानरों को समझाना है। परन्तु क्रोध की पूर्व अवस्था में पहुँचे बन्दर उस रहस्य को समझ नहीं पाये। अतः दीनतापूर्वक पुकार होने के बाद भी वानरों ने दूतों को बन्धनमुक्त न करना 'तदपि न त्यागे' का भाव है।

संगति—अपने अंगभंग का अन्तः अनुभव करने वाले दूतों की पुकार सुनकर यदि वानरसैनिक उनको बन्धनमुक्त नहीं करते तो वे श्रीराम के दण्ड के भागी हो सकते थे फलतः श्रीरामकार्य बाधित होता। इस आपत्ति को सोचकर योगभ्रष्ट सत्यप्रतिज्ञ दूतों ने स्व व वानर सैनिकों को शाप से बचाने हेतु अपनाया उपायविशेष सुना रहे हैं।

चौपाई—जौ हमार हर नासा काना । तेहि कोसलाधीस कै आना ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो हमारी नासिका व कान का हरण करेगा वह कोसलाधीश का नहीं कहायेगा।

शास्त्रीय व्याख्या

जो हमार : सुग्रीवोक्त दण्डप्रणयन पूर्ण होने का अनुभव अब हमें हो रहा है। हम लोग सत्यवक्ता हैं दण्ड से हम दोनों की शुद्धि हो चुकी है अब हमें बन्धनमुक्त होने की योग्यता प्राप्त है। इस रहस्य को न समझकर हमारे अंगों को चीरने का व्यापार करने वाला 'जो' से विवक्षित हैं।

प्रस्तुत वचन के उच्चरिता ब्राह्मणमुनि दोनों दूत 'हमार' से चिन्त्य हैं।

हर नासा काना : भक्त सुग्रीवजी के द्वारा निर्णीत अन्तरंग वेदना से शुद्धि होने के अनन्तर बहिरंगद्वयसंयोगध्वंसप्रतियोगी संयोग के आश्रय प्रस्तुत में कान एवं नासिका हैं यह 'हर' शब्द से अन्वित है।

'हर' शब्द से नाक कान का अवयवीशरीर से पृथक् करना बोध्य है। 'जो' से इसका सम्बन्ध ज्ञात होने पर कहना यह होगा कि 'हर नासा काना' आपादक है। अर्थात् 'यः नासिकाकर्णोभयहर्ता स्यात्' ऐसा समझना होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि नाक कान के अतिरिक्त अंग का छेदन दूतों को मान्य है उनका रक्षण तो सुग्रीवोक्त 'पठवहु' से प्राप्त है। अतः पारिशेष्यात् 'नासा काना' कहा है।

तेहि कोसलाधीस कै आना : कान नासिकोभयच्छेदनकर्त्ता 'तेहि' से बोध्य है।

यह उपरोक्त उक्ति दूत के भक्ति की परिचायिका है। जैसा कि दोहा ५७।८ चौपाई से निर्णीत होगी। 'कोसलाधीस' कहने में उक्त षष्ठी से तत्स्व होकर रहना समझाया है।

फलतः श्रीरामरूप दुर्ग के आश्रय में रहने पर नाक कान की अनुच्छेद्यता स्फुट है।

'कोसलाधीस' से कोशलाधीशत्व की स्थिरता दर्शायी अर्थात् श्रीराम सदा नीतिमान् होते हुए शौर्य व वीर्य से सम्पन्न ही हैं। फलतः उनका अधीशत्व व्याप्यवृत्ति होने से उसकी सराहनीयता में दूतों का प्रस्तुत गुणगान स्मर्तव्य है। इस प्रकार स्वमण्डल के अन्तर्गत कहे सभी प्रकरण को समन्वित कर कोसलाधीश की कार्याकार्यालोचनात्मक जागृति स्पष्ट करना सुन्दरकाण्ड का सौन्दर्य है।

'आना' से श्रीराम को त्यागना यही शपथ है जो आपाद्य है।

संगति—दया से ओत-प्रोत लक्ष्मणजी ने उपर्युक्त रीति से विश्वासपात्र हुए दूतों को बन्धन से छुड़ाने के साथ शासनहारक व परिमितार्थरूप में स्वदूत बनाकर भेजना सुना रहे हैं।

चौपाई— ***सुनि लछिमन सब निकट बोलाए । दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए॥ ७॥***
रावन कर दीजहु यह पाती । लछिमन बचन बाचु कुलघाती॥ ८॥

भावार्थ—दूतों ने अपनाए सम्पूर्ण आद्यन्त चरित्र को लक्ष्मणजी ने सुनकर उनको अपने समीप में बुलाया व दयाद्र हो दूतों को बन्धनमुक्त करके कहा कि हे दूतों! यह पत्र रावण को देना और कहना कि हे कुलघातिन्! इस पत्र को पढ़ो।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि लछिमन : श्रवण या प्रकारान्तर से वार्ता करते कतिपय वानरों ने लक्ष्मणजी को सुग्रीवोक्ति सूचित करना व दूतों की दीनोक्ति सुनना 'सुनि' है। भिन्न-भिन्न दल की इकाई के रूप में एकत्रित रहे वार्ताहारों से श्रवण करने वाले, दयार्द्र लक्ष्मणजी 'लछिमन' से बोध्य हैं। जो सुग्रीवादिकृत निर्णय से अधिक उपरिबुद्धि से सम्पन्न हैं।

सब निकट बोलाए : सराहना से प्रारम्भ कर दिव्य शपथादि के साथ दीनतासहचरित पुकारपर्यन्त जितने विषय निरूपित हैं वे सभी 'सब' से बोध्य हैं। 'सब' शब्द 'सुनि' से अन्वित है। लक्ष्मणजी ने निकट बुलाने के परिणाम में दूतों के आन्तरिक वस्तुस्थिति का परिचय, मानसिक मनोवृत्ति उनकी गति व पादविक्षेप समझना सुलभ हो गया।

दया लागि : सम्भव है कि पूर्वजन्म में दूतों ने संकर्षण ईश्वर की उपासना से तद्रूप में रहे प्रभु को प्रसन्न किया हो उसी प्रसन्नता में रहे संकर्षणजी ने लक्ष्मणजी के रूप में दया से ओत-प्रोत होना 'दया लागि' का निष्कर्ष है।

हँसि : अभी दूतों ने योगभ्रंशकशापमुक्तिसाधक दण्ड को सहर्ष स्वीकारना, दीनता-पूर्वक पुकारना, सत्यसंकल्प के बल पर वानरों को यथासमय अंगभंग से निवृत्त कराना, श्रीरामभक्तिच्युतिभय वानरों को दिखाकर उन्हें शाप से बचाकर श्रीरामकार्य में सहायक होना इत्यादि समझकर लक्ष्मणजी ने हर्ष में आना 'हँसि' का तात्पर्य है।

तुरत छोड़ाए : 'कोसलाधीस कै आना' सुनकर भक्तिच्युतिरूप दोष से स्व को बचाने के लिए दूतों को छुड़ाने के प्रति शीघ्रता करना 'तुरत' का भाव है। लक्ष्मणजी ने दूतों को बन्धनमुक्त कर उनके हृदय में अपने प्रति अति प्रीति का उदय कराकर स्व पक्ष में विश्वासपूर्वक मिलाना तथा आज्ञाधारकता में नियुक्त करना 'छोड़ाए' का ध्वनितार्थ है।

रावन कर : आभाषित प्रकाशयुद्ध जिससे होना है वह रावण 'रावन' शब्द से बोध्य है।

बन्धनमुक्त परीक्षित दूत के प्रति लक्ष्मणजी अति आश्वस्त हुए। दूसरी ओर सभी वानर पूर्ववत् प्रभु के आत्मीय बने रहे। ऐसा देखकर रावण के नाम लक्ष्मणजी ने एक पत्र लिखकर रावण को भेजना 'रावन कर' है। उसी से 'दीजहु' सम्प्रदानतया अन्वित है।

दीजहु यह पाती : तीन दिन के अनन्तर प्रभु ने उठाए अग्निबाण के द्वारा उत्तरतीरस्थ पापियों के शोषण में अनभिज्ञता दूतों में बनी रहे इस विचार से 'दीजहु यह पाती' कहकर उनको यहाँ से शीघ्र भेजना चिन्त्य है। लक्ष्मणजी के हाथों में रहा पत्र 'यह पाती' से बोध्य है।

लछिमन बचन : 'लछिमन बचन' कहकर लक्ष्मणजी ने सन्देशप्रेषक होने का संकेत किया है।

बाचु कुलघाती : कदाचित् वक्ता व सन्देष्टा के वचनों से सन्देश परिवर्तित अथवा परिवर्धित हो सकता है उसकी व्यावृत्ति 'बाचु' से स्पष्ट की है। जिन लंकावासियों को जीवित रहना है उनको रावण ने अपने से दूर होने को कहा[१] उनमें कतिपय स्वयं दूर हो गए या कतिपयों को दूर कराया गया। जो लंकावास में प्रीतिमान् रहे उनको रावण ने अपने साथ मारना सोचा है यह अभिप्राय बिभीषणागमन से लक्ष्मणजी ने समझना 'कुलघाती' से व्यक्त है। एवंच 'कुलघाती' शब्द रावण के लिए दण्ड न होकर तदनुरूप साकेतप्रापक तत्त्व निरूपणपरक है।

संगति—पत्र में लिखित वाक्य का समासांतर या श्लेष से अर्थान्तर न करने के अभिप्राय से मौखिक सन्देश भी लक्ष्मणजी सुना रहे हैं।

दोहा— कहेहु मुखागर मूढ़ सन मम संदेसु उदार।
सीता देइ मिलहु न त आवा कालु तुम्हार॥ ५२॥

भावार्थ—हे दूतों! आप मेरा वाचिक सन्देश मूढ रावण को सुनाएँ कि हे रावण! आप सीताजी को लौटाकर श्रीराम से सन्धि कर लें अन्यथा आपका काल आया समझें।

शास्त्रीय व्याख्या

कहेहु मुखागर : सन्देशातिरिक्त बोलना भी 'कहेहु' से स्मर्तव्य है। ज्ञातव्य है कि 'बाचु' एवं 'कहेहु' रूप आदेश ने दूतों के हृदय में वीतरागतासंस्कार के परिणाम को तत्काल में रोक रखना 'कहेहु' आदि का प्रयोजन है। 'कहेहु' कहने से अनन्तर 'मुखागर' कहने से यह समझना होगा कि जिस प्रकार मुख ही पथ्यापथ्यभोजन से शरीर को बनाता-बिगाड़ता है उसी प्रकार शापमुक्ति के किनारे पर पहुँचे दूत मुख के भीतर निवास करने वाली जिह्वा से उचित नीतिशास्त्ररहस्य को प्रगट करने में चूक न करें। (नीतिशास्त्र रहस्य ५४।१ चौपाई में द्रष्टव्य है।)

मूढ सन मम सन्देसु उदार : जिसको लक्ष्मणसन्देश सुनाना है वह अविवेकी मूढ श्रोता रावण 'मूढ सन' से बोध्य है। दूतों को बन्धनमुक्त करने वाले तथा उनके

---

[१] श्रीरामचरितमानस ५।३८।३

प्रीति के आलम्बन लक्ष्मणजी मत्पदार्थ हैं। 'मम' षष्ठ्यर्थ सन्देशु से अन्वित है। सन्देष्टा के वचन को सुनाना 'सन्देसु' है। यह सन्देश उपहारान्तरासंपृक्त होने से एकमात्र तापहारक है।

अथवा—उभयपक्ष को क्षय, व्यय, प्रत्यवाय व प्रवास से बचाना सन्देश की उदारता है। 'उदार' से स्व विक्रमाधिक्य भी सूचित है।

सीता देइ मिलहु : सन्धि के लिए सीतादानरूप उपहार स्मर्तव्य है। वह सन्धि सदा के लिए रावणमृत्यु के प्रागभाव का रक्षक है। एकमात्र सीतादानपण दोनों पक्षों को सन्धान करानेवाला है। 'मिलहु' से सीतादानसहित शरणागतिपूर्वक सन्धि ज्ञातव्य है। ज्ञातव्य है कि यद्यपि लक्ष्मणजी रावण के राक्षसस्वभाव से पूर्ण परिचित हैं तथापि प्रेषित सन्देश से दूतों की बलहीनता, शरणागति से बन्धनमुक्त होना तथा स्वपक्ष में उनको पूर्णतया मिलाकर स्वदूत बनाकर भेजना आदि से रावण को अपने पराजय का अनुमान कराकर उसके चित्त को द्रुत कराने में सहायक है यही नैतिक शुद्धि का कर्म है। परिणाम में रावण को लक्ष्मणजी ने यदि समझाया होता तो वह जीवित रहता ऐसी कल्पना के लिए इतिहासवेत्ताओं को अवसर प्राप्त न होना स्मर्तव्य है।

न त आवा कालु तुम्हार : 'न त' से उपहार सन्ध्यभाव निर्दिष्ट है। यदि वही रहा तो रावण को विपरीतार्थदर्शन होना स्फुट है जो 'आवा' का सूचक है।

'आवा कालु' से रावण के समीप में पहुँचने का कर्तृत्व काल में चिन्त्य है। सन्देश या दूतवचन रावण के हृदय में क्रोध की चतुर्थ या पंचम अवस्था को भड़कने हेतु प्रयोजक होगा। फलतः वह दूतों पर चरणप्रहार कर उनको शाप से मुक्त होने में सहायक होगा। इस प्रकार लक्ष्मणजी की यह दीर्घदर्शिता भी चिन्त्य है।

संगति—लक्ष्मणनिर्दिष्ट कार्य सम्पन्न करने हेतु दूतों का लंका की ओर वापस होने का क्रम सुना रहे हैं।

चौपाई— ***तुरत नाइ लछिमन पद माथा । चले दूत बरनत गुन गाथा॥ १॥***

भावार्थ—दूतों ने विलम्ब न कर तत्काल लक्ष्मणजी के चरणों पर मस्तक झुकाया। अनन्तर वे गुणगान करते-करते लंका की ओर चल पड़े।

शास्त्रीय व्याख्या

तुरत नाइ : प्रीतिविषयतासमानाधिकरण प्रभुत्व वही है जिसके आदेश का पालन करने में सेवक विलम्ब न करते हों। इसी प्रीतिप्रयुक्त आवेग को 'तुरत' से प्रगट किया जो 'चले' से अन्वित है। वानरों के प्रहार से बचाकर लक्ष्मणजी ने दूतों पर महती कृपा की है। स्मर्तव्य है कि भक्तसंगति की प्राप्ति अकिंचन के लिए पारस के समान है। सत्संगति से श्रीरामगुणगान करते हुए दूतों का अज्ञानपटल जाता रहा।

लछिमन पद माथा : प्रणाम का निरूपण 'लछिमन पद माथा' से समझना है। मूलाधारस्थ कुण्डलिनी के नाद में 'कोसलाधीस कै आना' उक्ति का रहस्य समझकर उसके सन्मान में दूतों को बन्धनमुक्त कराने वाले श्रीराम के प्रहरी लक्ष्मणजी 'लछिमन' से बोध्य हैं, जो अहं के अधिदैवत होते हुए सत्त्वात्मा हैं।

चले दूत : भक्तशिरोमणि लक्ष्मणजी के द्वारा आदिष्ट दूतों की दासकर्मपूर्णता से सर्वथा शाप-मुक्ति होगी ऐसा सोचकर दूतों का हर्ष से चलना 'चले दूत' से व्यक्त है।

बरनत : दूरस्थित जलचर सहित समुद्र एवं दीनोपगत बिभीषणादि के प्रति रहे श्रीराम का निरतिशय वात्सल्य आदि गुणों को रिपुदूतों ने गाना 'बरनत' है।

गुन गाथा : अनन्त गुणसम्पन्न श्रीराम के वात्सल्यादिगुण, लंकातिलकदानप्रभृति चरित्र व श्रीरामभक्त लक्ष्मणजी के गुणों को गाते हुए दूतों का लंका में पहुँचना 'बरनत गुन गाथा' है।

संगति—सन्धानयोग्यता को प्राप्त करने वाले रावण के पास उत्साह, विवेक, बुद्धि आदि गुणों में से प्रधानतया विवेक की समाप्ति होने का उपक्रम ग्रन्थकार कह रहे हैं।

चौपाई— कहत राम जसु लंकाँ आए । रावन चरन सीस तिन्ह नाए॥ २॥

भावार्थ—श्रीरामयशोरूप मन्त्र कहते-कहते लंका में दूत निर्बाध आ पहुँचे। रावण के चरणों में दूतों ने मस्तक नमाया।

शास्त्रीय व्याख्या

कहत राम जसु : पूर्व चौपाई में दूत के गमनारम्भ के समय 'बरनत गुन गाथा' कहा। गमनान्त में पुनः 'कहत' से यात्रा की पूर्णता हुई। उससे दूतों ने यात्रामध्य में श्रीरामयशोगान करना सिद्ध है। पूर्वक्रमागत कुलप्रसिद्ध सुकृति से बढ़कर स्व ने अपनाई विशेष सुकृति 'जसु' पद से ज्ञातव्य है। उसके अन्तर्गत ताड़कावध से लेकर बिभीषणलंकादान तक के सभी चरित्र स्मर्तव्य हैं।

लंकाँ आए : यह आगमन पूर्ववत् न होकर स्वामी लक्ष्मणजी की सेवा में अंगभूत होने से अधिक महत्त्वशाली है।

रावन चरन सीस : सम्भव है कि स्वामी लक्ष्मणजीद्वारा आदिष्ट कार्य अविलम्बतया पूर्ण हो इस विचार से इधर-उधर भ्रमण न कर स्वदृष्टिविषय रहे चरण 'रावण चरन' से बोध्य हैं। स्वाम्यनुजीविवृत्त के अनुगमन में रावण के चरणों पर झुके मस्तक 'सीस' से बोध्य हैं।

तिन्ह नाए : 'तिन्ह' से वे दूत बोध्य हैं जिनको रावण ने दूत बनाकर भेजा। उनके दैवत कर्म ने लक्ष्मणजी से भेंट कराई। दूतों में अनुजीविवृत्त की तज्ज्ञता 'नाए' से ज्ञातव्य है।

संगति—लक्ष्मणजी को किए प्रणाम व लंकाधिपति को किए प्रणाम का अन्तर रावणकृत प्रश्न से कवि स्फुट कर रहे हैं।

अथवा—पूर्वजन्मोद्भूत उत्तम संस्कारोद्बोध प्रतिबन्धक कुमति रावण अपने में स्थित दुष्ट संस्कार से प्रश्न पूछ रहा है।

चौपाई— बिहसि दसानन पूँछी बाता । कहसि न सुक आपनि कुसलाता॥ ३॥
पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी । जाहि मृत्यु आई अति नेरी॥ ४॥
करत राज लंका सठ त्यागी । होइहि जंव कर कीट अभागी॥ ५॥

भावार्थ—हँसते हुए दशानन ने शुक से पूछा कि तुम अपना कुशल क्यों नहीं

बोलते। दूसरा प्रश्न बिभीषणसम्बन्धी है जो स्व के समीप में आये मृत्यु को नहीं समझ रहा है। अभीतक लंका में वह निर्बाध राज्य (शासन) करता रहा पर अभी वह यव के साथ घुन की तरह पीसा जायेगा।

शास्त्रीय व्याख्या

बिहसि दसानन : दूतों का अन्तरंगविश्लेषण प्रत्यक्षविषय न होने से लंका में उनका कुशलतापूर्वक पहुँचना देखकर रावण ने विजिगीषुशत्रुपक्ष की दुर्बलता समझी और उस दुर्बल पक्ष से भाई का मिलना देखकर रावण का हँसना 'बिहसि' है।

'दसानन' का अन्वय देहलीदीपन्यायेन 'बिहसि' व 'पूछी बाता' से समझना है। 'बिहसि' के अन्वय में दश+आननं व्युत्पत्त्या व 'पूछी बाता' के अन्वय में दशानन का अर्थ रूढ्या समझना होगा।

ज्ञातव्य है कि रावण महान् पंडित नीतिशास्त्रज्ञाता होने से वह नीतिशास्त्र में वर्णित प्रतिनिमित्त की उपस्थिति होने पर तात्कालिक कर्त्तव्य से परिचित है पर वह नीतिविरोध ही कर रहा है इसलिए कि उसके सम्पूर्ण चरित्र प्रतिनायकीय हैं। फलतः रावणचरित्र व्यवहार, नीति, धर्म आदि से दूर व मानमदावेश में सात्विकता से विमुख होने से प्रभु श्रीराम के तेजस् प्रभाव से अभिभूत है। अतः वह दश+आनन होते हुए भी उन आननों की नीतिमत से व्यर्थता सिद्ध है।

पूँछी : चौपाई तीन से दोहा ५३ तक कहे प्रश्न सभी 'पूँछी' से अन्वित हैं। रावण के प्रश्न इसलिए कि दूत नमस्कारमात्र कर न बोलते हुए चुप हैं।

अथवा—सम्भव है कि प्रतापभानु को दण्ड मिलने पर मरते-मरते उसने देवों तपस्वियों को मारने का संकल्प लेकर जीवनलीला समाप्त की हो वे संस्कार अभी रावण ने तपस्यादि के द्वारा प्राप्तव्य सुमति को प्रतिबन्ध कर रहे हों अतः उसके अधीन होकर पूछना 'पूँछी' है।

बाता : 'बाता' से दूतकृत वृत्तान्त समझने हैं। वे अज्ञात होने से जिज्ञासित हैं जो स्वभ्राता व विजिगीषु के सैनिकों की गतिविधि आदि से सम्बन्धित हैं।

कहसि न सुक : यह प्रथम अवसर है कि परराष्ट्र में ज़ाकर आया दूत चुप है। अतः 'कहसि न' प्रश्न उपपन्न है। अभी शुक की मध्यस्थवृत्ति मालूम होती है वे पूछने के बाद ही यथार्थ विवेकसम्बद्ध उत्तर देने की प्रतीक्षा में हैं।

आपनि कुसलाता : रावणप्रभाव से भीत देवादि दूत शुक से भी डरते थे वह भय बना हुआ है। अतः 'कुसलाता' कहा है। इस प्रकार प्रथम प्रश्नपूर्ण है।

बिभीषन केरी : विशेषतया बिभीषणजी की कृति को समझने हेतु रावण ने दूतों को भेजा होने से बिभीषणचरित्र चर्चित है। उनका शत्रुपक्ष से मिलना, वापस न लौटना, दुर्बल तपस्वियों के आश्रित होना आदि सोचकर, खिन्नमनस्क रावण ने बिभीषणजी के पूर्ण चरित्र को भ्रान्तिपूर्ण समझकर उनका याद करना 'बिभीषण केरी' से बोध्य है।

जाहि मृत्यु आई : जानन्नपि मुह्यति का उदाहरण 'जाहि' वचन से स्फुट है। वह 'मृत्यु' से अन्वित है। 'बिभीषणोऽयं प्राणवियुक्तो भविता' ऐसी सम्भावना वक्ष्यमाण हेतु

से रावण प्रगट कर रहा है जो बाधित होने से अप्रमाण है। सम्भावनासाधक हेतु का उपन्यास अग्रिम चौपाई में होगा। ऐसा कहते रावण ने बिभीषणजी की मृत्यु कहकर अपनी आन्तरिक पीड़ा प्रगट की है उसकी उपपत्ति में कहना यह है कि शत्रुपक्ष से आये शरणार्थी के प्रति नीतिमान् विजिगीषु विश्वास नहीं रखते किंबहुना छिद्र को पकड़कर शरणागत को प्रायः दण्डित करते हैं। यद्यपि रावण ने भी भाई को दण्डित किया है तथापि वह शत्रु के द्वारा भाई की मृत्यु होना इष्ट नहीं मानता।

ज्ञातव्य है कि रावण के मिष से कुमति की यह उक्ति निराधार अप्रामाणिक बाधितार्थक होने से नीतिसंगत नहीं है। बिभीषणजी के स्वभाव, उनकी कुशलता, नीतिमत्ता, अनीतिवर्जन को देखकर उनके प्रति यही कहना होगा कि बिभीषणजी ने अपनाया यह श्रीरामाश्रय-कार्य-नैतिक होने से अनुकरणीय है।

अति नेरी : अचिरेण मृत्यु के अवश्यंभावित्वार्थ 'अति नेरी' कहा है। भाव यह कि बिभीषणजी का समाश्रय ही वध्य होगा तो आश्रित की वध्यता अर्थसिद्ध है। परन्तु यह मत भी पूर्ववत् बाधित है; क्योंकि दृश्यातिरिक्त द्रष्टा ब्रह्म एकमात्र श्रीराम अमर और आश्रय हैं। इसको न समझना रावण पर सवार कुमति का अविवेक है।

करत राज : 'कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुतां'[१] उक्ति का अनुकरण करते रहने से रावण 'करत राज' कह रहा है। ऐसा ही अविवेक आगे 'लंका सठ त्यागी' शीर्षक में चिन्त्य है।

लंका सठ त्यागी : आगम के विरोध में सफल होने वाला समाश्रय उपलब्ध नहीं है समझकर बिभीषणजी आगम की सेवा में तत्पर रहे सफल भी हुए। अभी उन्होंने आगम को अप्रमाण मानकर निगमसेवी से जा मिलना बिभीषणजी के शठत्व का परिचायक है।

'त्यागी' 'लंका' से कर्मतया अन्वित है। अन्तश्छिद्र, आन्तर रहस्य आदि के प्रति शत्रु को परिचित कराना तथा जिस आगमसेवा से लंकाराज्य प्राप्त हुआ उस आगम को अप्रमाणित करने हेतु चेष्टा करना या अप्रमाण मानना अपराध है इत्यादि तथ्य 'त्यागी' से व्यक्त हैं। लंकात्याग का परिणाम 'अभागी' शीर्षक में स्फुट होगा।

होइअहि : भविष्यत् काल में होने की स्थिति 'होइअहि' से समझाई है। समाश्रयात्मक दुर्गरूपी श्रीराम के बल पर अपने को अजेय समझना बिभीषणजी की कुमति है परिणाम में वह (बिभीषण) घून हो गया है जो यव में जा मिला है।

जव कर : असुर जाति के लिए मनुष्य, वानर, पशु, पक्षी भक्ष्य हैं। असुरों के सामने मानव व पशुओं के संस्कार सभी लुप्त हो जाते हैं। जैसे सिंह के सामने हाथी के संस्कार।

कीट अभागी : यव के साथ रहने वाला कीट जैसे 'अभागी' है वैसा ही अभाग्य श्रीराम के आश्रित बिभीषणजी का बोध्य है। यदि वे लंका से हटकर अन्यत्र रहते तो भी भाग्यवान् हो सकते थे किन्तु वैसा न होना 'अभागी' का सूचक है। इस प्रकार दूसरा प्रश्न पूर्ण है।

संगति—तीसरा प्रश्न वानरादि सैनिकवृन्द के प्रति वर्णित हो रहा है इसलिए कि

---

[१] किरातार्जुनीयम्।

वानरादिसैनिकों की संख्या अत्यधिक देखकर भाई ने उनका आश्रय प्राप्त किया हो।

चौपाई— *पुनि कहु भालु कीस कटकाई । कठिन काल प्रेरित चलि आई॥ ६॥*
जिन्ह के जीवन कर रखवारा । भयउ मृदुल चित सिंधु बिचारा॥ ७॥

भावार्थ—भालु व वानरसेना के प्रति तुम दोनों ने जो समझा देखा वह कहो। वानर भालुगणों ने कालप्रेरित होकर लंका पर चढ़ाई करना सोचा है अभी तक तो बन्दर-भालुओं से शून्य उत्तर देश हो जाता यदि मृदुल चित्तवाला यह समुद्र सीमा पर न रहता। यत: बन्दरों के जीवन को समुद्र सुरक्षित बना रहा है।

शास्त्रीय व्याख्या

पुनि कहु : अनुज (बिभीषणजी) को साथ में लेकर उनके कथनानुसार लंकाछिद्र पर प्रहार सोचने वाले सैनिकों के प्रति जिज्ञासा 'पुनि कहु' से प्रगट है।

कीस कटकाई : दूतों को अपने प्रश्न का उत्तर सुनने हेतु बन्दर व भालु सैनिकों का बल, पराक्रम, उत्साह इयत्तादि जिज्ञास्य है।

दूत (शुक-सारण) का कुशलपूर्वक आना देखकर आश्वस्त हुआ रावण, वानरसैनिकों में दुर्बलता का अनुसन्धान कर रहा है। यद्यपि रावण, हनुमान्‌जी के पराक्रम से परिचित है तथापि 'कीस' कहकर रावण ने हनुमत्समेत सभी बन्दरों को भक्ष्य समझा है जो उसके राक्षसशरीरगत संस्कार का प्रभाव है।

कठिन काल : 'कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वेराऽव्यय:'[१] वचन 'कठिन' से स्मर्तव्य है। प्रस्तुत में कठिन काल का लक्ष्य रावण व लंकावासी हैं। जैसा कि रावण ने दोहा ३८।२ के अनुसार काल का लक्ष्य लंकावासियों को माना है तथापि प्रस्तुत में वानर सैनिकों को लक्ष्य बनाना उसका भ्रम है। यह तथ्य 'प्रेरित' शीर्षक में चिन्त्य है।

प्रेरित : श्रीरामाश्रितों का आयुष्य समाप्त होना 'प्रेरित' से बोध्य है।

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्त: सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तक:॥[२]

जैसी स्थिति 'प्रेरित' से चिन्त्य है।

चलि आई : 'चलि आई' से रावण ने वानरागमन के प्रति खेद प्रगट करना स्पष्ट है। 'चलि आई' की कर्तृतारूप स्वतन्त्रता वानर सैनिकों में उक्त है तथापि यह स्वतन्त्रता वक्ता ने अपनी इच्छा से स्पष्ट की है। वस्तुत: वानरों का आना तो कालप्रेरित ही है। ध्यातव्य है कि जातिप्रयुक्त जीवनसंस्कार व उक्त संस्कारसदृश जन्मान्तरीय कर्मोद्भूतसंस्कार विवेक के प्रति प्रतिबन्धक हो मोह को उत्पन्न करते हैं। इस प्रतिबन्धकता में उत्तेजकरूप से शास्त्रप्रामाण्यनिष्ठा, वृद्धसेवा, गुरुभक्ति मानी गई है वे सभी रावणद्वारा ठुकराई गईं हैं अत: विवेक के स्थान में मोह का आना स्पष्ट है।

जिन्ह के : वानरादि का यहाँ न पहुँचना व राक्षस जाति का यथेच्छ हो समुद्र के उस पार न पहुँचना 'जिन्ह के' का व्यंग्यार्थ है।

---

१. श्रीमद्भागवत १०।५१।१९
२. श्रीमद्भागवत १०।५१।५०

जीवन कर : भक्ष्य और भक्षक ने दूर रहना ही भक्ष्य के जीवित रहने का उपाय है पर यह समानाधिकारण्य सम्भव कैसे हुआ? ऐसा पूछने पर समाधान में कहना होगा कि जीवनसमाप्ति आसन्न है जो 'जीवन कर' से ध्वनित है।

अथवा—विचार किया जाय तो राक्षसों की संख्या लंका में इतनी अत्यधिक है कि यदि वे उत्तर देश में विचरते होते तो भालु-बन्दर देखने को न मिलते वैसा न होना 'जीवन कर' का आशय है।

रखवारा : भक्षक (राक्षस) व भक्ष्य (वानरों) ने एक जगह पर एकत्रित न होने से वानरजीवन सुचारुरूप में स्थिर रहा तदर्थ प्रहरी के रूप में समुद्र ने रक्षक होना 'रखवारा' से बोध्य है।

भयउ मृदुल चित : सिंधु का जलमय शरीर मृदु ही है। वह कभी ठोस नहीं हुआ इसका कारण उसके चित्त की मृदुलता है। रावण की कल्पना यह है कि समुद्रतीर पर बृहत् संख्या में आए हुए बन्दरों को जलधि ने अपने गर्त में स्थान-स्थान पर आश्रय देकर छिपा रखा होगा। इस प्रकार अभी तक छिपाए रखना समुद्र की मृदुलचित्तता है।

सिंधु बिचारा : मृदुलचित्त कहने से रावण ने कोमलता में 'सिन्धु' शब्द कहना सुचिन्त्य है। कालप्रेरित हो सम्पूर्ण वानर-भालु-समाज एकत्रित हो भक्षकों के मुख में जा रहा है। अतः समुद्र पर क्रोध या उसको दण्डित करना ठीक नहीं ऐसा विचार 'बिचारा' से व्यक्त है। इस प्रकार तीसरा प्रश्न पूर्ण है।

संगति—वानरों के एकत्रित होने के पीछे तपस्वियों का बल हो सकता है अतः उनके प्रति चौथा प्रश्न रावण पूछ रहा है।

चौपाई— कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी । जिन्ह के हृदयँ त्रास अति मोरी ॥ ८ ॥

भावार्थ—वानराश्रय तपस्वियों का वृत्तान्त सुनाओ जिनके हृदय में मुझसे बहुत भय है।

शास्त्रीय व्याख्या

कहु तपसिन्ह कै : सम्भव है कि वानरादि सैनिकों को बल की प्राप्ति तपस्वियों के माध्यम से हुई हो ऐसा सोचकर रावण ने तपस्विवृत्तान्त सुनने की इच्छा से 'कहु' कहा है।

'तपसिन्ह' शब्द से मातृ-पितृशुश्रूषू श्रीराम व अत्रि, अगस्त्यादि तपस्वी बोध्य हैं।

अथवा—'तपसिन्ह' शब्द से यद्यपि श्रीराम का संग्रह होता है तथापि प्रकृत में श्रीराम के अतिरिक्त अन्यान्य तपस्वी ही विवक्षित हैं।

बात बहोरी : सम्भव है मन्त्रकुशल तपस्वियों की प्रेरणा वानरों को यहाँ आने के लिए प्राप्त हो। उनके मन्त्रबीज से यह विग्रहफल प्रसूत हुआ हो।

जिन्ह के : वानर सैनिकों के पीछे रहे तपस्वीबल की आशंका का उत्तर 'जिन्ह के' से आरम्भ करना ज्ञातव्य है। मन्त्रबीज का वपन करने वाले तपस्वी जन 'जिन्ह के' से स्मर्तव्य हैं। यह प्रश्न कृत्वा चिन्तया है। इसका उत्तर स्वयं रावण ने 'त्रास' से सुनाया है।

त्रास अति मोरी : वानर सैनिकों को तपस्वियों का बल प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए कि वे अति त्रस्त हो भाग चुके हैं।

समुद्रतीर में वानरों की उपस्थिति को ध्यान में लाकर रावण ने जो भी प्रश्न दूतों से किये हैं उसकी न्यायशास्त्रीय अनुमानप्रणाली इस प्रकार है—उसके अन्तर्गत प्रथम अनुमान यह है—'मां जेतुं वानरसैनिकाः आगताः तपस्विबलेन अनुप्राणितत्वात्' परन्तु वक्ष्यमाण अनुमान प्रणाली में कहे अगस्त्यादि तपस्वियों के बल को 'त्रास अति मोरी' से रावण बाधित कर रहा है। जैसे 'वानरसैनिकाः मां जित्वा सीतां परावर्तयितुं न शक्नुवन्ति भक्ष्यत्वात्।' अथवा 'तपिस्वनः मम पुरतः योद्धुं उपस्थिताः न भवितुमर्हन्ति मां प्रति अतित्रस्तवात्' इन तीन अनुमानों से 'कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी' प्रभृति चौपाइयाँ उपपन्न होती हैं। उक्त तीन अनुमानों के अनन्तर चौथा अनुमान रावण के हृदय में यह उदित हो रहा है कि 'अयं रिपुः (श्रीरामः) अतितेजस्वी बलवान् मत्पुरतः अतिजवेन सैनिकैस्सह समुद्रतीरे उपस्थित्वात्।' इस प्रकार का अनुमान करने के अनन्तर रावण के हृदय में जिज्ञासा उदित हुई कि 'अयं रिपुः कीदृक् तेजस्वी कियद् बलवान्' इस विशेष जिज्ञासा के समाधानार्थ 'कहसि न रिपु बल तेज' सम्बन्धी चौथा प्रश्न होना उपपन्न कहा जायेगा।

ज्ञातव्य है कि तापसों की श्रुत्यनुगामिता ऐसी है कि वे जब शत्रु से आक्रान्त होते हैं तब दैव दैव कहकर पुकारते हैं इतनी ही उनकी बुद्धि है। इतना जानते हुए भी मन्त्र का यह समय होने से रावण ने तपस्वियों के प्रति दूत से पूछना व स्वयं उत्तर देना भूषण है। इसका उपयोग यह कि अभी प्रयोगविशेषरूप में नूतन नीति अनुष्ठेय होने से साध्यासाध्य का चिन्तन करना राजनीतिदृष्ट्या असंगत नहीं है।

संगति—चर कर्म पूछने के अनन्तर दूत कर्म की पूर्णता के प्रति रावण पूछ रहा है।

दोहा— की भइ भेंट कि फिरि गए श्रवन सुजसु सुनि मोर?।
कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर?॥ ५३॥

भावार्थ—क्या तुमसे शत्रु की भेंट हुई? क्या मेरा सुयशस् सुनकर शत्रुपक्ष लौट गया? तुम शत्रु व वानर सैनिकों के तेजस् बल को क्यों नहीं सुनाते हो? तुम्हारा चित्त चकित-सा प्रतीत क्यों हो रहा है।

शास्त्रीय व्याख्या

की भइ भेंट कि फिरि गए : 'की' प्रश्नवाचक है।

'भइ भेंट' से रिपुसाक्षात्कार ध्वनित है। इस प्रश्न से शुक की वाग्मिता, अभ्यस्तकर्मता, दूतकर्म के प्रति अभिमानिता, कार्यपटुता, रिपु के हृदय में सन्धि के प्रति प्रेरकता, आदि गुण ध्यान में लाकर रावण अपनी जिज्ञासा को प्रगट कर रहा है। यह प्रश्नान्तर भी कृत्वा-चिन्तया है।

दूत में सभाचातुर्य होना रावण जानता है। वह अपने चातुर्य से रिपु को रणांगण से वापस होने की प्रेरणा देकर या भय दिखाकर लौटने के लिए विवश कर सकता है। इन दोनों विचारों से उसने 'कि फिरि गए' प्रश्न पूछा है।

श्रवन सुजसु सुनि मोर : दूर से ही रिपु ने अपसरण होने की आशा में रहे रावण

का यशोगानश्रवण शत्रु ने जिन इन्द्रियों से हुआ हो वे 'श्रवन' से संकेतित हैं। अनेकों संग्रामों में पराजय न होना व बलित्व (कैलास पर्वत उठाना) 'सुजसु' से स्मर्तव्य है। शुक्रमत व रावणसेवित आगम मत में दण्डनीति सर्वत उपरि है। वह प्राणिमात्र को वश में रखने का साधन है उसका अनुष्ठान सफल होना 'सुजसु' है।

कहसि : यदि अभियोक्ता 'श्रवन सुजसु सुनि' लौट चला गया तो उस पक्ष के रहस्य को सुनाने का आदेश 'कहसि' से व्यक्त है।

रिपु दल तेज बल : पंचमादि प्रश्न रिपु व उसके दल का तेजो बल सम्बन्धी है। श्रीराम व उनका वानरसैनिकदल 'रिपु' से विवक्षित है।

ध्यातव्य है कि वस्तुगत्या अभियोक्तृ रूप में श्रीराम को शत्रु न मानकर उनके तेजो बल को रावण शत्रु मानता है जो 'तेज बल' प्रश्न से ध्वनित है। रावण के द्वारा अवरुद्ध तापस् को प्रसन्न करने वाले श्रीराम का तपस् 'तेज' से विवक्षित है।

बहुत चकित चित तोर : कहने का आदेश सुनकर भी शुक ने न बोलना रावण के लिए महती चिन्ता है उसको छिपाकर रावण ने व्यंजना से 'बहुत चकित चित तोर' कहा है।

'चकित चित' से यह भी स्पष्ट है कि दूत ने प्रस्तुत में कुशली होकर आना उसके अपने अधीन न होकर पराधीन है। इस प्रकार उत्कटैकतर कोटिक पराधीनता समझने से कुशलता के प्रति भासित सत्प्रतिपक्षता समाप्त है। अतः रावण का विस्मय में आकर पूछना ध्वनित है। इस प्रकार पंचम प्रश्न पूर्ण है।

संगति—विस्मयापन्न रावण को देखकर दूत विनयपूर्वक प्रश्नोत्तर सुना रहे हैं जो उनके दूरदर्शितापूर्ण वास्तविक तथ्य का प्रकाशक हो रावण के लिए हितकर है।

चौपाई— नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसें। मानहु कहा क्रोध तजि तैसें॥ १॥

भावार्थ—जिस भाव में मैं कहता हूँ वह भाव मानकर नीति को अपनायें। प्रथमतः आप पहिले क्रोध को त्यागें।

शास्त्रीय व्याख्या

नाथ कृपा करि : दूत ने अपना लालन-पालन होना यादकर तदनुबंधितया रावण को 'नाथ' कहा है। विस्मय में आए श्रीराम के प्रति ध्यानस्थ हुए दूतों के प्रति रावण ने क्रोध न करना 'कृपा करि' से व्यक्त है।

मानहु : प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति व मन्त्रशक्ति के विचार से रावण का पक्ष अभी तक सदैव सबल रहा वैसा ही दूतों ने उससे कहा। वर्तमान में रावण का पक्ष दुर्बल समझ में आ रहा है; क्योंकि उसके सुयशस् को सुनकर शत्रु का लौटना, तपस्वियों ने डरना आदि हेतु जो भी थे वे सभी व्यभिचरित, बाधित, सत्प्रतिपक्षित व असिद्ध हुए हैं, अनुष्ठानतः भी देखा जाय तो भी रावण का पराजय हुआ है एवं आगमप्रयुक्त बल की किंकर्तव्यमूढता समझ में आने से 'मानहु' कहा है।

अथवा—श्रीराम को पराजित करने का उपाय मेरा कथन मानने में है उसी को 'मानहु' से सूचित किया है।

अथवा—श्रीराम की शरण जाकर शरणागत हो हमने शरीरत्राण पाया वैसे ही आप भी लंका व स्व को बचायें। इस अभिप्राय से 'मानहु' कहा है। इसीलिए आत्मीयत्व स्वीकृति की प्रार्थना उपपन्न है।

कहा : मानने का विषय 'कहा' से स्पष्ट है। लक्ष्मणजी ने 'मुखागर'[१] से कहे विषय भी 'कहा' से ध्वनित हैं।

क्रोध तजि तैसे : 'कहा' शीर्षक में ध्वनित मुखागर के तथ्य 'क्रोध तजि' से ही प्रमाणतया समझ में आयेंगे अन्यथा नहीं। इस प्रयोजन से 'क्रोध तजि' कहा है।

अथवा—दोहा ४४-४ चौपाई में निरूपित श्रीरामोक्ति के अनुगमन में 'क्रोध तजि' कहा है। अर्थात् क्रोध रहेगा तो मुखागर के रूप में सूचित वक्ष्यमाण शुकवाक्य रावण को स्वीकृत नहीं होंगे।

संगति—चकितचित्त का कारण बताते हुए श्रीराम को पराजित करने सम्बन्धी उपाय की भूमिका प्रारम्भ कर दूत स्व पर बीते परिणाम सुना रहे हैं।

चौपाई—*मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा । जातहिं राम तिलक तेहि सारा॥ २॥*
रावन दूत हमहि सुनि काना । कपिन्ह बाँधि दीन्हे दुख नाना॥ ३॥

भावार्थ—आपके भाई बिभीषणजी श्रीराम से जैसे ही मिले वैसे ही श्रीराम ने उनको तिलकदान कर दिया। हम लोगों को रावणदूत होना सुनकर वानरों ने बाँधकर नाना प्रकार के दुःख देना प्रारम्भ किया।

शास्त्रीय व्याख्या

मिला जाइ जब : 'मिला जाइ' शब्द स्वमत से आश्रयाश्रयिभावपरक है, मतान्तर में सन्धिपरक है उसका फल कृत्रिममित्रता है जो स्वाभाविक मैत्री का परिपाक है। तिलकदान के लिए अपेक्षित नान्तरीयक काल 'जब' से बोध्य है।

अनुज तुम्हारा : कुमतिविरोधी सुमति बिभीषणजी 'अनुज' से बोध्य हैं। श्रीराम को पराजित करने की मनीषा रखने वाला रावण युष्मत्पदार्थ है।

जातहिं राम तिलक : श्रीराम ने बिभीषणजी को तिलकदान करने में नान्तरीयक से अधिक विलम्ब न करना 'जातहिं' का भाव है। परराष्ट्रस्थ शत्रु से विश्लिष्ट होकर आयी सुमति से मिलने हेतु प्रतीक्षारत विजिगीषु श्रीराम 'राम' पद से ज्ञेय हैं। बिभीषणजी में रही अनीतिवर्जक सुमति को वरण करने से राजश्री की उनमें अर्हता होना 'तिलक' से ध्वनित है।

'सारा' शब्द दान का बोधक है। श्रीराम को पराजित करने हेतु उपायरूप में 'सारा' उक्त है जो पूर्व चौपाई में संकेतित है। यह चकित-चित्त के अन्तर्गत एक विस्मय है।

ज्ञातव्य है कि आरम्भ में रावण का कुशलसम्बन्धी प्रश्न था उसका उत्तर अगली चौपाई में द्रष्टव्य है। तदनन्तर दूसरा प्रश्न बिभीषणसम्बन्धी था उसका उत्तर यहाँ चिन्त्य है यतः श्रीराम को पराजित या मिथ्याभाषी करने का मुख्य उपाय है।

रावन दूत हमहि सुनि काना : दोहा ५२-१। २ चौपाई के अनुसार वानरसैनिकदल

---

[१] श्रीरामचरितमानस ५।५२

में प्रगट होने वाले दूत 'रावन दूत' हैं। यद्यपि ५२। १-२ चौपाई में रावणदूत कण्ठतः उक्त नहीं हैं तथापि परावाणी ने कपियों के कानों को जिन शब्दों का प्रत्यक्ष कराया उसी को उन्होंने सुनना 'सुनि काना' है।

अथवा—मूलाधारस्थ अग्निज्वालारूप परावाणी दूत के शरीर से उछलकर जिस समय प्रगट हुई उस समय वानरसैनिक ध्यानस्थ हो मौन में स्थिर रहे तब उक्त वाणी ने कर्णरन्ध्र में पहुँचकर सबको जगाया उसी को 'काना' से व्यक्त किया है।

कपिन्ह बाँधि : कपियों की एकाग्रता भंग होने पर आगत दूतों को रावणदूत समझकर उन्हें बाँधने वाले कपिसैनिक 'कपिन्ह' है। दूतों की बुद्ध्या व राजप्रमाद से आगम शक्ति निर्बल होने से दूतों ने बन्धन में आना 'बाँधि' है।

दीन्हे दुख नाना : बन्धनमात्र से दूतों को ग्लानि न होना देखकर वानरों ने दूसरा प्रहारात्मक दण्ड प्रयुक्त किया अर्थात् व्यथित करने के उद्देश्य से कपियों की प्रताड़ना 'दीन्हे दुख नाना' से बोध्य है।

इस प्रकार कुशलसम्बन्धी प्रश्नोत्तर के पूर्व अपनी अकुशलता समझायी जो रावण के पराजय का सूचक है।

संगति—रावण ने पूछे प्रश्नोत्तर के बहाने अकुशलता बताकर कुशलता प्रश्न का समाधान सुना रहे हैं।

चौपाई— श्रवन नासिका काटैं लागे । राम सपथ दीन्हें हम त्यागे॥ ४॥

भावार्थ—हस्तताल्वाद्याघात से दूतों पर ग्लानि व वेदना के चिह्न न देखकर वानरों ने नाक और कान को चीरने का उपक्रम किया तब श्रीरामशपथ के दिव्य प्रयोग से हमने उनको विरत किया।

शास्त्रीय व्याख्या

श्रवन नासिका : रावणपराजयसूचक स्पष्ट चिह्न के रूप में जिन अंगों का भंग होना आवश्यक है वे अंग 'श्रवन नासिका' है।

काटैं लागे : वानरों ने शारीरिक अंगों की शिथिलता व ग्लानि न देखकर शत्रु के दूत का अंगभंगानुकूल व्यापार करना 'काटै लागे' है।

चिन्त्य है कि अगस्त्यशापसमाप्ति के आसन्न समय पर दूतों ने पूर्वजन्मकृत वासना के उद्बोधवशात् वानरकृत दण्ड को प्रायश्चित्त रूप में समझकर मौन धारण किया। परन्तु शरण में दूतों का न आना देखकर कपियों ने दूतों की अवहित्था समझी अतः उन्होंने श्रवणनासिका का विदारण प्रारम्भ किया।

राम सपथ : 'राम सपथ' 'कोसलाधीस कै आना[१]' में व्याख्यात है। अभी कहना है कि दिव्य शपथ अकुशल से बचने का उपाय हुआ है।

दीन्हें हम त्यागे : साधु व भक्तों को अकार्य आदि से निवृत्त करने का महान् सफल उपाय शपथादि है। वानर-भालुओं में साधुता, अदंभता आदि पूर्ण होने से शपथादि दिलाने पर उन्होंने कर्णादिच्छेदन से सहज निवृत्त होना 'दीन्हें हम त्यागे' है। कर्णच्छेदन से निवृत्त

---

[१] श्रीरामचरितमानस ५।५२।६

होने का आधार वानरों में रहा परलोकत्रास व श्रीराम की अपने प्रति अस्वामित्व की आपाद्यता है। अर्थात् थोड़ा भी संघ में अपचार होगा तो सेवकत्व का विलोप होना निर्णीत है—जैसा कि श्रीमद्भागतव् में उक्त है 'स पापः क्षीणजीवितः'[१]। इस प्रकार प्रथम एवं द्वितीय प्रश्न समाहित हुए।

संगति—कटक (सैन्य) का परिमाण व उनका बल सुनाकर तृतीय प्रश्न का समाधान दूत कर रहे हैं। जिससे रावण को यह समझना होगा कि हमारी सेना की इयत्ता सर्वथा श्रीरामसेनापेक्षया अत्यन्त न्यून है।

चौपाई— ***पूँछिहु नाथ राम कटकाई । बदन कोटि सत बरनि न जाई॥ ५ ॥***
नाना बरन भालु कपि धारी । बिकटानन बिसाल भयकारी॥ ६ ॥

भावार्थ—हे नाथ! आपने श्रीराम सेना के प्रति पूछा है पर उसकी इयत्ता सौ करोड़ (अगणित) वदनों से वर्णित नहीं हो सकती जो भी भालु व वानररूपधारी जीव हैं वे सभी विकराल व विशाल मुखवाले अतिभय उत्पन्न करते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

पूँछिहु : प्रतिभटों का प्रतिशोध करने हेतु ही, राजा ने पूछना 'पूँछिहु' है। उसके अन्तर्गत व्यूहपद्धति संघटित करना इत्यादि भी चिन्तनीय है।

राम कटकाई : युद्ध में प्रधानता सैन्यदल की होने से 'कटकाई' निर्दिष्ट है। यह वानर-भालुदल श्रीराम के नायकत्व में प्रेरित होने से 'राम कटकाई' कहा है।

बदन कोटि : 'बदन कोटि' कहना कविसमयोक्ति है।

अथवा—'कोटि' शब्द संख्याविशेषवाचक न होकर अनन्तवाचक है। इसका ध्वनितार्थ सैनिकों को गिनने में बुद्धि का असामर्थ्य कहने में है।

बरनि न जाई : 'बरनि न जाई' कहने से सेना की विपुलता मात्र में दूत का लक्ष्य मालूम होता है। सेना की इतनी विपुल संख्या होने में देश काल की सीमा न होकर श्रीराम की इच्छा को ही नियामक कहने में 'राम कटकाई' कहा है। इस प्रकार कटकाईसम्बन्धी प्रश्न समाहित होता है।

ज्ञातव्य है कि दूत स्वदृष्ट सैनिक स्थिति को इन्द्रजाल के रूप में वर्णन करता है तो वह रावण के लिए प्रतारक होगा। यह प्रतारकत्व दोष दूत में अभी नहीं है। अर्थात् श्रीराम के द्वारा किये हुए इन्द्रजालप्रयोग को वह बाधित रूप में न देखकर सत्य समझ रहा है। इसमें उपपत्ति इतनी ही है कि निगमागमसेवी शुचि के द्वारा हुए इन्द्रजालादि कार्य बाधित रूप में दृष्ट नहीं होते। इसके उदाहरण में जगत् का मिथ्यात्व स्मर्तव्य है।

नाना बरन : अति विपुल संख्या में रहे वानर-भालुओं के चेहरे में वैजात्य होना 'नाना बरन' से स्फुट है।

बिकटानन : पतिव्रता (सीताजी) के प्रति किए अपराध से क्षुब्ध हो रहे सैनिकों के आनन में विकटता 'विकटानन' से स्पष्ट है। वह युद्धप्रसंग होने से शोभनीय है।

बिसाल भयकारी : देह की विशालता, विकटाननता, अपने अभिमुख में युद्धार्थ

---

[१] श्रीमद्भागवत १०।५७।५

आए विपक्ष के हृदय में भय पहुँचा रही है। एवंच श्रीरामशपथ से वानर सैनिक निवृत्त होने पर भी, राक्षसपक्ष अपने बल को बढ़ाने में सक्षम होगा। ऐसी सम्भावना न समझने में ही अपना कल्याण समझना दूत कृत विमर्श से रावण के लिए चिन्तनीय है।

संगति—राक्षससमष्टि बल में भी असमर्थता समझाने के उद्देश्य से उक्त तथ्य की यथार्थता पुष्टि में दूत अग्रिम चौपाई रावण से सुना रहा है।

चौपाई—जेहिं पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा । सकल कपिन्ह महँ तेहि बलु थोरा॥ ७॥

भावार्थ—जिसने लंका को जलाया, अक्षयकुमार को मारा उसका बल समष्ट्यात्मक वानरसैनिकों की तुलना में न्यून है।

शास्त्रीय व्याख्या

जेहिं पुर : 'जेहिं' से रिपुदल के तेजोबल का निरूपण प्रारम्भ हो रहा है। यच्छब्दार्थ हनुमान्‌जी का बोधक है। 'पुर' से त्रिकूटस्थली लंका समझनी है जिसकी रक्षिका लंका देवी थी उसने पुर त्यागने से यह पुरी निर्जीव हो गयी परिणामस्वरूप वह दग्ध हो गयी।

हतेउ : अक्षयकुमारहन्ता बन्दर का प्रतिशोध करने में रावण की असमर्थता सुनाकर दूतों ने रावणपक्ष में शक्त्यपचय समझना चिन्त्य है।

सकल कपिन्ह : सम्पूर्ण कपिसमुदाय 'सकल' से विवक्षित है। दूतद्वारा यहाँ कृत्वाचिन्तया हनुमान्‌जी के लिए 'थोरा' कहा गया है। आशय यह कि 'सकल' शब्द से हनुमत्तदितर कपिसमूह मात्र में सकलत्व की पर्याप्ति द्वित्वादि के समान दर्शाना उनका लक्ष्य मानना होगा। अर्थात् एक ओर हनुमत्तदितर सुग्रीवसहित वानरसैनिकों में लंकाविजय कर्तृत्व की पर्याप्ति चिन्त्य है। दूसरी ओर एकमात्र हनुमान्‌जी में स्वकार्यकर्तृत्व की स्वतन्त्र पर्याप्ति दर्शायी है। इस पार्थक्य से हनुमान्‌जी में तत्तदितर सकल वानरसैनिकों की अपेक्षया न्यूनता समझायी है। इसी प्रकार की पर्याप्ति गृहस्थ समुदाय व ब्राह्मणादि वर्ग इत्यादि भेद से समुदायत्व की पृथक्-पृथक् पर्याप्ति मानी जाय तो आपसी कलह उत्पन्न होकर विघटन होना सम्भव नहीं है क्योंकि उक्त पर्याप्ति को समझकर स्वकार्य का विभाजन स्वीकार कर समुदायियों ने अपना-अपना कार्य पूर्ण किया तो सभी समुदायियों को समान फलोपलब्धि होगी अतएव मीमांसकों व वेदान्तियों ने घटकों के प्रति समूहनिष्ठ कारणतावच्छेदकतया एक शक्ति को ही माना है न कि दण्डत्वादि में।

तेहि बलु थोरा : उपर्युक्त एकपर्याप्तिमत्वेन संग्रह न कर लंकादहनादि कर्तृतावच्छेदकशक्तिमत्ता पृथक्तया हनुमत्व में स्वीकारने पर हनुमान्‌जी में तत्तदितर सर्वगतपर्याप्त्यपेक्षया न्यून पर्याप्ति (अशक्त) मान् होना अर्थसिद्ध है। अत: 'तेहि बल थोरा' कहना उपपन्न है। इसी का ध्वनन 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' से स्पष्ट है।

उपर्युक्त द्विविध कर्तृता पर्याप्ति की तरह वेदागमान्यतराधिकृत सम्पूर्ण समाज ने एक समुदाय में पर्याप्त्या लोकयात्रासंचालनकर्तृता समझकर तदनुगुणतया प्रतिवर्ग ने सव-स्वकार्यकर्तृता की पर्याप्ति पृथक् समझकर स्व सीमित कार्यकर्तृता को समुदाय निष्ठ कर्तृता के प्रति समर्पित करने की शिक्षा इस काण्ड में प्राप्त होने से यह काण्ड सुन्दरकाण्ड है।

संगति—शक्तिसम्पन्न वानरों को भुलावा देकर उनको विघटित किया जाय तो वे

वध्य हो सकते हैं। ऐसा प्रश्न उपस्थित हो तो उसके समाधान में यूथपपतियों के बल पौरुष दूत बता रहे हैं।

चौपाई—*अमित नाम भट कठिन कराला । अमित नाग बल बिपुल बिसाला ॥ ८ ॥*
दोहा— *द्विबिद मयंद नील नल अंगद गद बिकटासि।*
दधिमुख केहरि निसठ सठ जामवंत बलरासि ॥ ५४ ॥

भावार्थ—अमित नाम व कठिन, कराल, वानरभटों में अमित हाथियों के बल से भी ज्यादा बल स्थित है उनमें द्विविद, मयंद, नील, नल, अंगद, गद, विकटास्य, दधिमुख, केसरी, निसठ, सठ और जाम्बवान्—ये सब अत्यधिक बलसम्पन्न हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

अमित नाम भट : 'अमित' से विख्यातपौरुषत्व स्फुट है जो दण्डप्रकृति का प्रधान गुण है। 'नाम' से तत्तद्वंशों में उदितोदितत्व समझना है।

अथवा—कर्मतः, शरीरतः, बुद्धितः भक्ति विचलित न होने से सबके मुख में उन-उन सैनिकों का नामकीर्तन होना 'नाम' से समझाया है। 'भट' के लिए गाए सभी विशेषण अति नाम कथन की उपपत्ति के प्रति हेतुतया उपपादक है।

कठिन कराला : सैनिक शरीरों के अवयवों में संगठित इकाई, अभेद्यता, अन्वर्थता आदि 'कठिन' से स्फुट है। 'कराला' से सैनिकों की विशालकायता प्रगट है।

अमित नाग बल : 'अमित नाग बल' से बन्दरों में हाथियों के बल से अधिकता कही है। वानर और हाथियों का युद्ध विष्णुधर्मोत्तरपुराण के प्रथम भाग के २५३ अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णित है उसमें वानरों का विजयी होना भी बताया है। 'युद्धमासीन्महाघोरं विजिता यत्र कुञ्जराः' इससे वानरों को अमित नाग बलशाली कहना संगत है।

बिपुल बिसाला : भटों की संख्या का निर्णय न होना 'बिपुल' का ध्वनितार्थ है। 'बिसाला' से राक्षस सैनिकव्यूह का प्रतिशोध सूचित है।

द्विविद.....जामवन्त : द्विविद आदि वानरों के वंश का परिचय विष्णुधर्मोत्तरपुराण में द्रष्टव्य है। जैसा कि टिप्पणी में दिया गया है।[१]

---

[१] **शैलूष उवाच**—
विस्तरेण समाचक्ष्व वानराणां तु संभवम्। अलंकृत इवाभाति यैर्वंशः पुलहस्य च॥ १ ॥
नारायण उवाच—
काश्यपेयी हरिर्नाम या भार्या पुलहस्य च। पुलहाज्जनयामास श्वेतं नाम बलीमुखम्॥ २ ॥
श्वेतस्तदोर्ध्वदृष्टिं च जनयामास वानरम्। ऊर्ध्वदृष्टिस्तथा व्याघ्रं व्याघ्रश्च शरभं तथा॥ ३ ॥
शरभश्च तथार्क्षं च सिंहमृक्षश्च वानरम्। ऋक्षी च जनयामास ऋक्षांश्चैव जनाधिप॥ ४ ॥
वानरांश्च महाकायाञ्शतशोऽथ सहस्रशः। येषामन्वयसम्भूता देवपुत्रा महाबलाः॥ ५ ॥
उत्पन्ना श्रीरामसाहाय्ये रावणस्य वधैषिणः। ऋक्षस्य भगिनी ऋक्षी प्रजापतिसुताबुभौ॥ ६ ॥
धूम्रं च जाम्बवन्तं च जनयामास ऋक्षजौ। जाम्बवाञ्जनयामास मार्जारं भीमविक्रमम्॥ ७ ॥
मार्जारस्य च मार्जाराः कुले जाता महाबलाः। ऋक्षस्य वानरेन्द्रस्य दुहितां मानसीं स्वयम्॥ ८ ॥
ददौ प्रजापतिः श्रीमान् रूपयौवनसंयुताम्। कामयामास तां शुक्रस्ततो वालिरजायत॥ ९ ॥
तामेव कामयामास भास्करः स्वयमेव तु। सुग्रीवं जनयामास भास्करात्मा सुमध्यमा॥ १० ॥

बलरासि : यूथ व यूथप का वैधर्म्य 'बलरासि' व 'अतुलित बल तिन्हही' (५५।२) से बोद्धव्य है। न्यायाभिमत से आत्मगत चैतन्य कहने पर जैसे आत्मा स्वरूपतः जड़त्व प्रतीत होता है वह दोष वेदान्तमत में आत्मा को स्वयंप्रकाश मानने पर नहीं होता। वैसा ही अन्तर 'बलरासि' व 'अतुलित बल तिन्हही' से समझना है। 'बलरासि' कहने से बलात्मा यूथपों में इतरानभिभवनीयता व्यक्त है। अमितनागबलपर्याप्ति सैनिकों में पृथक् समझाकर उस-उस पर्याप्ति में एकैकवृत्तिता सूचित है।

संगति—विजिगीषुपक्ष ने किए अभियान की उपपत्ति समझाने हेतु राजा सुग्रीव व तदनुगत सेवकों की बलस्थिति समझा रहे हैं।

चौपाई— ए कपि सब सुग्रीव समाना । इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना॥ १॥

भावार्थ—उपर्युक्त बारहों वानर सभी राजा बली सुग्रीव के समान हैं इनकी समानता करोड़ों वानरों में विद्यमान है उनकी यथावत् गणना करने की शक्ति किसमें है?

शास्त्रीय व्याख्या

ए कपि सब : परराष्ट्र से विग्रह करने हेतु विजययात्रा के सदस्य समेत राजा की अर्हता तीन भागों में गिनाई गई है—(१) बल व वीर्य का परमोत्कर्ष, (२) विजिगीषा और (३) गुणानुरक्त प्रकृतित्व—ये त्रिविध गुण जिनमें हैं वे द्विविदादि 'ए कपि सब' से बोध्य हैं।

सुग्रीव समाना : उक्त गुणसहित आत्मसंपत्तिमान् राजा 'सुग्रीव' से ध्वनित हैं। अर्थात् उपमानात्मक सुग्रीवजी में अधिक गुणवत्ता का होना 'समाना' शब्द से सूचित है।

इन्ह सम कोटिन्ह : बल वीर्योत्कर्ष एवं जयेषणा रखने वाले वानर 'इन्ह' से बोध्य हैं। 'सम' से तत्सधर्मा उपमेय विवक्षित हैं जो कम मात्रा में बलवीर्य से उत्कृष्ट व जयेच्छु हैं। 'कोटिन्ह' शब्द असंख्यता वाचक है। इस प्रकार रिपुबल व्याख्यात है।

गनइ को नाना : 'गनइ को नाना' से शत्रु को यह समझाना है कि विजिगीषु सैनिकों की इयत्ता को सीमित समझकर उनको अवरुद्ध करना सम्भव नहीं है। यह भी श्रीराम का दर्शाया महान् इन्द्रजाल है। 'को' प्रश्न से विजिगीषुपक्ष में रहे सैनिक-बल का उपचय व

तत्र वानरराजोऽभूद्वालिर्विक्रान्तपौरुषः। यस्तु श्रीरामेण निहतः सुग्रीवस्त्वभिषेचितः॥ ११॥
तस्यासन्वशगाः सर्वे वानरा देवयोनयः। वालिपुत्रोऽङ्गदो नाम हनुमान्वायुनन्दनः॥ १२॥
नीलो वह्निसुतः श्रीमन्विश्वकर्मसुतो नलः। धर्मपुत्रः सुषेणश्च ऋषभो गरुडात्मजः॥ १३॥
द्वावश्विनः सुतौ वीरौ मैन्दो द्विविद एव च। धूम्रश्च जाम्बवांश्चैव वेगदर्शी च वानरः॥ १४॥
मृत्योः पुत्रा महावीर्या मृत्युतुल्यपराक्रमाः। गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः॥ १५॥
यमस्य तनयाः पञ्च गोलांगूला महाबलाः। श्वेतो ज्योतिर्मुखश्चान्यो भास्करस्यात्मजाबुभौ॥ १६॥
वरुणस्यावरः पुत्रो हेमकूटः प्रतापवान्। देवपुत्रास्तथैचान्ये ऋक्षगोपुच्छवानराः॥ १७॥
शतसाहस्रयूथानां राजानो भीमविक्रमाः। हिमवन्मेरुनिलयाः श्वेतनीलनिवासिनः॥ १८॥
शृङ्गवन्माल्यवद्विन्ध्यऋक्षवन्तनिवासिनः। ये वसन्ति सदा सह्ये ऋषभे गन्धमादने॥ १९॥
सागरानूपपर्यन्ते तथा द्वीपेषु सप्तसु। ब्रह्मण्या बलवन्तश्च शूरा धर्मपरायणाः॥ २०॥
नीतिशास्त्रेषु कुशलाः सर्वशास्त्रविशारदाः। सुनीताः सत्त्ववन्तश्च दृप्ता नीतिग्रहे रताः॥ २१॥
सखायो श्रीरामभद्रस्य रावणस्य वधैषिणः। (विष्णुधर्मोत्तरपुराण)

स्वपक्ष का अपचय दर्शाकर प्रकाशयुद्ध की आसन्न स्थिति निर्विवाद रूप से दर्शायी है। सैनिकसंख्या का अनेकविध इकाइयों में होना 'नाना' से स्फुट है।

संगति—यदि विजिगीषु का दण्डबल गिनना ही ईप्सित है तो वह भी आगे उत्तरित कर रहे हैं।

अथवा—चपलतायुक्त वानरसमूह में प्रचण्ड शक्ति का उदय होना वानरस्वभाव के विरुद्ध है फिर भी दूत स्वोच्चरित वचन की प्रमाणता सुना रहे हैं।

चौपाई— ***रामकृपाँ अतुलित बल तिन्हहीं । तृन समान त्रैलोकहि गनहीं ॥ २ ॥***

भावार्थ—वानर सैनिकों को अतुलबल प्राप्त होने की उपपादकता श्रीरामकृपा में है। तत्पात्रों के लिए त्रैलोक्य तृणरूप में मनोवेद्य हो रहा है।

शास्त्रीय व्याख्या

रामकृपाँ : ५। ३०। १ से दोहा ३४ तक व ६। ३२ से ३३। ८ चौपाई तक कहे सभी अपेक्षित तथ्य का निवास वानरों में होना 'रामकृपाँ' से चिन्तनीय है।

'रामकृपाँ' बताने से दूतवचन में प्रमाद, भ्रम आदि दोष नहीं हैं। अतः उनके वचन प्रमाण हैं।

ध्यातव्य है कि प्रतिद्वन्दी रावण ने वरयाचना के समय ब्रह्माजी से वानर एवं मानुष से अवध्य होने की याचना नहीं की। उसी छिद्र को स्मृत कर स्वतेजस् से सम्पन्न देव वानररूप में जहाँ-तहाँ अवतीर्ण हो श्रीरामकार्य में रहने का संकल्प लेकर श्रीराम की प्रतीक्षा में यत्र-तत्र निवास करते रहे। श्रीराम ने उसको इष्ट माना यही 'रामकृपाँ' है।

अतुलित बल तिन्हीं : अतुलित बलत्व इसलिए कि पुरुषवृद्धि की पहुँच जिस बिन्दु तक ठहरती है उस सीमा से परे जब शक्ति आदि दृग्गोचर होती है तब वे 'अतुलित बल' सम्पन्न कहे जाते हैं।

'बल' की पुनरुक्ति का प्रयोजन विजिगीषु की विशेष बलस्थिति को समझाने में है। जैसा कि—'इति षड्विधमेतद्धि यथायोगं बलं बली। सुनिश्छिद्रं प्रतिव्यूह्य यायात् प्रतिबलं प्रति'[1] से स्फुट है।

'तिन्हहीं' से सभी श्रीरामभक्त, श्रद्धाविश्वासवान्, निष्कपटी वानरसैनिक बोध्य हैं।

तृन : 'तृन समान' से विजिगीषुपक्षस्थित सैनिकों में उत्साह की पूर्णता समझाई है। निष्कर्ष यह कि त्रैलोक्य को जीतने में अपेक्षित पूर्ण बलोपचय प्राप्त होने से विजिगीषु पक्ष उसे तृणवत् समझ रहा है। निष्कपट छिद्रशून्य अनन्य सेवी श्रीरामभक्तों के लिए कृत्य साध्य कुछ भी नहीं है। लंका में हस्त्यादि समेत चतुरंगिणी अप्रतिभट सेना होने पर भी वानरसैनिकों की दृष्टि में वह तृणवत् है।

त्रैलोकहि : त्रैलोक्य तृणवत् है तो लंका को तृणवत् मानने की सिद्धि कैमुतिकन्यायेन स्फुट है।

संगति—दूतों ने यूथपों की जितनी संख्या वेषान्तर में रहते वानरों से सुनी थी उस संख्या का निरूपण दूत कर रहे हैं।

---

[1] नीतिसार १९। २५

चौपाई— *अस मैं सुना श्रवन दसकंधर । पदुम अठारह जूथप बंदर॥ ३॥*

भावार्थ—मैंने (दूत) कानों से यह सुना कि सैनिकों के यूथप वानर १८ पद्म हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

अस मैं : इसी चौपाई का उत्तरार्ध 'अस' शब्द से बोध्य है।

सैनिक बल के सम्पूर्ण अंश को समझाने वाले दूत मच्छब्दार्थ हैं।

सुना श्रवन : वेषान्तर से अपने को छिपाकर चरकार्य करते समय परपक्ष ने आपस में की हुई यूथपसम्बन्धी गणना को हमने सुना उसी को 'सुना श्रवन' से सूचित कर रहे हैं।

दसकंधर : राजा के द्वारा अपनाए प्रमाणों के अन्तर्गत दूत भी एक प्रमाण है। यत: वह आप्त बुद्धिमान् है उससे प्रमित अर्थ को समझकर भविष्यत् में कर्त्तव्यनिर्णय की प्रार्थना 'दसकंधर' सम्बोधन से ध्वनित है।

पदुम : 'एकं दश' इस क्रम से निर्णीत दस गुणित के क्रम से परिभाषित पद्म संख्या 'पदुम' है।

जूथप बंदर : वानरसैनिकों के अन्तर्गत, यूथ के अधिपतियों की संख्या १८ पद्म है तो उनके अधीनस्थ रहने वालों की संख्या अकल्पनीय है।

लंका : लंका में पहुँचे वानर यूथपसमेत यूथ का पड़ाव परिगणित देश में सम्भव होना भी श्रीराम की माया है। आशय यह कि बन्दर-भालुओं के अनुपात से लंकादेश व तत्सम्बद्ध देशान्तर का विस्तार होना आदि सब मायाकल्पित है। उसका बाध तात्कालिक लोगों को ज्ञात न होने से असंख्य सैनिकनिवास की सत्यता मननीय है। विशेष विचार हनुमत्सुरसा संवाद में द्रष्टव्य है।[1]

यूथ (सैनिक) व यूथप सभी साकेतलोकवासी हों ये ही श्रीकृष्णजन्म में गोप-गोपी के रूप में प्रभु के सेवार्थ वृन्दावन में अवतीर्ण हुए हों। श्रीराम की मानुषता जैसे पारिभाषित है वैसे ही साकेतवासियों की वर्तमान वानरता ५५वें दोहे में परिभाषित है।

ज्ञातव्य है कि 'दासीशता अपि विभोर्विदधुस्म दास्यं' का भाव यूथपों ने स्वीकारा है। इस प्रकार यहाँ परबलवर्णन पूर्ण हुआ।

संगति—प्रभुसंकल्प को यथावत् समझकर उसके अनुगन्ता भक्त निष्कपट भक्ति में दृढ़ होते हैं उनके लिए कोई कार्य असम्भव न होने में दूत अपना विवेकपूर्वक मत प्रगट कर रहे हैं।

चौपाई— *नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं । जो न तुम्हहि जीतै रन माहीं॥ ४॥*
परम क्रोध मीजहिं सब हाथा । आयसु पै न देहिं रघुनाथा॥ ५॥
सोषहिं सिंधु सहित झष ब्याला । पूरहिं न त भरि कुधर बिसाला॥ ६॥
मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा । ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा॥ ७॥
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका । मानहुँ ग्रसन चहत हहिं लंका॥ ८॥

दोहा— *सहज सूर कपि भालु सब पुनि सिर पर प्रभु राम।*
रावन काल कोटि कहुँ जीति सकहि संग्राम॥ ५५॥

---

[1] श्रीरामचरितमानस ५। २। २-१०

भावार्थ—हे नाथ! वानरसैनिकों में एक भी कपि ऐसा नहीं है जो आपको रण में न जीत सके। सभी सैनिक क्रोध में पूर्ण हो हाथ मल रहे हैं। रघुनाथजां उन्हें आदेश नहीं देते। 'जलचरसहित समुद्र को सुखा दिया जाय, नहीं तो बड़े-बड़े पहाड़ों से समुद्र को पाट दिया जाय, मर्दन करते-करते दशानन को जमीन में समा दिया जाय' इत्यादि वाक्य सबके मुख से निकल रहे हैं। (हिंसालु कठोर राक्षसों का स्मरण-दर्शन करने पर भी) सभी अशंक हो गरजते हैं राक्षसों को पीड़ा पहुँचाने में अग्रसर हैं। सभी लंका को ग्रसना चाहते हैं। स्वभाव से ये सभी कपि-भालु शूर हैं उनके नियन्ता प्रभु श्रीराम हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

नाथ कटक महँ : सेवक का लालन, पालन, सम्मान व पोषण करने वाले मालिक (रावण) को 'नाथ' कहा है। 'कटक' के अन्तर्गत यूथप व यूथमात्र ज्ञातव्य हैं।

सो कपि नाहीं : श्रीरामकृपा से परिपूर्ण होना 'सो कपि नाहीं' से स्फुट है। 'श्रीरामकृपाऽपरिपूर्ण की व्यावृति 'नाहीं' से बोध्य है। अर्थात् कपिसमुदाय के १८ पद्मगत, एकत्व से प्रारम्भ कर न्यूनातिरिक्त जो भी संख्या किसी के लिए प्रमित होगी उसमें रावणमारक शक्ति की पर्याप्ति व्यंग्य है।

यदि ऐसा ही माना जाय तो १८ पद्म का वैयर्थ्य आशंक्य है।

समाधान

सृष्टिक्रमबोधक वेदप्रामाण्यरक्षार्थ प्रकृत्यादिविभाग की यथार्थता ईश्वर ने जैसे की वैसे ही नीति, भक्ति, विद्या के प्रामाण्यानुगन्ता दशरथनन्दन श्रीरामजी ने तत्तत्कार्यप्रणालीकर्तृत्व को परिच्छिन्न कर कटकसमुदाय को श्रेणीसैन्यरूप से अपने साथ में रखना उनका भूषण है।

न तुम्हहि : 'न' 'जीते' से अन्वित है।

सम्पूर्ण लंकास्थबलसमेत रावण तुम्ह शब्दार्थ है। यत: उसकी वध्यता अब ब्रह्मदत्त वर से प्रतिबध्य नहीं है।

जीतै रन माहीं : उक्त 'न' 'जीतै' से अन्वित होने पर पराहंकारखण्डनकर्तृता प्रतिवानर में दर्शाई। उसका उदाहरण वक्ष्यमाण अंगदचरित्र है। आशय यह कि निगमागमसम्मत कार्य के प्रतिष्ठापक मानुषरूप में अवतीर्ण श्रीराम जिस इकाई पर अपनी आत्मीयत्वेन स्वीकृति प्रदान करते हैं वे सत्यसंकल्प की आज्ञा में पूर्ण परतन्त्र रहे निगमागमसेवी अजेय होते ही हैं। जैसा कि ५५। २ में वर्णित है। इस व्याप्ति की निरुपाधिकता ५५ दोहे में द्रष्टव्य है। रणभूमि में उतर कर प्रकाशयुद्ध करना 'रन' से चिन्त्य है।

परम क्रोध : ५१। ३-४ में कही उक्ति के अन्वर्थकत्व में कालातिक्रमण या काल-विलम्ब न सहन कर उद्वेग में आए हैं उसके परिणाम में क्रोध की चौथी एवं पाँचवी अवस्था में वानरों ने पहुँचना 'परम क्रोध' का भाव है। यह क्रोध पतिव्रता सीतापहरणप्रयुक्त होने से गुण है।

परमक्रोध, वीर का अस्थायी व्यभिचारिभाव है वह तर्क और मति से सहचरित होता है। अपने प्रिय सेव्य के प्रति किए अपराध को सहन न करने के परिणाम में रावण के प्रति वानरों में उग्रता होना 'परम' का भाव है।

मीजहिं सब हाथा : 'मीजहिं' से क्रोधबोधक क्रियाविशेष निरूपित है। श्रीरामकृपाप्राप्त बल को स्वानुरूप भोजन प्राप्त न होना 'मीजहिं' का आशय है। वह 'हाथा' से अन्वित है।

सेना के अन्तर्गत रहे प्रतिव्यक्ति ने एकरूप से हाथ मलना होने से 'सब' कहा है। यहाँ 'सर्वे छत्रिणो यान्ति' न्याय स्मर्तव्य नहीं है।

आयसु पै न देहिं : लक्ष्मणजी व उनके समान स्वभाव वाले सभी सेवक अपने बल से समुद्र को सुखाना इष्ट मानते हैं वे श्रीरामजी की तरह प्रार्थना में दिवस यापन करना इष्ट नहीं मानते तथापि उसका कार्यान्वयन वे नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि उसके प्रतिरोधरूप में श्रीरामाज्ञा का न मिलना है।

अथवा—श्रीरामजी के संक्षिप्त उत्तर को सुनकर उसका आशय लक्ष्मणजी ने समझा (५१।६) पर वानरों ने नहीं समझा। फलतः वे असन्तुष्ट ही रहे उसी असन्तोष में वानरों का उद्गार अग्रिम चौपाई में दूत सुनायेंगे। उसका कार्यान्वयन न होने का कारण 'आयसु पै न देहिं' से सुना रहे हैं।

अथवा—समुद्र की परिखा देखकर वानरों ने चिन्तित न होने का कारण समुद्रशोषण-कर्तृता की अभिज्ञता है उसका प्रारम्भ न करने का कारण 'आयसु पै न देहिं' है। एवंच 'श्रीरामादेशः स्यात् तर्हि तत्कालं समुद्रं निग्रहीतुं शक्नुयाम् अन्यथा, श्रीरामादेशस्य प्रामाण्यं भज्येत' इस प्रकार के वानरविचार उनके महद्बलवत्ता का अनुमापक होने से पूर्वोक्त बल की यथार्थता दूतों ने ध्वनित की है।

रघुनाथा : आज्ञाप्रदाता यजमानस्थानापन्न श्रीराम 'रघुनाथा' शब्दार्थ हैं।

निष्कर्ष यह कि श्रीरामसमवेत प्रवर्तनाविषयत्वातिरिक्त विक्रम बल आदि सम्पूर्ण कारणों का सान्निध्य स्फुट है।

सोषहिं सिंधु : 'आयसु पै न देहि' में आकांक्षित कर्त्तव्य 'सोषहिं सिंधु' से स्फुट कर रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि १८ पद्मयूथप वानरपति निर्देश का सार्थक्य 'सोषहि सिंधु' से ध्वनित है। आशय यह कि यदि स्व सैनिकों के साथ यूथप सब मिलकर एक साथ समुद्र को पीते हैं तो उसका सूखना निर्णीत है तथापि श्रीरामाज्ञा न रहने पर वह क्षमता कार्यान्वित नहीं होती उसी को स्मरण कर 'सोषहिं सिंधु' कहा है।

सहित : ५३।७ में कही उक्ति का उत्तर 'सहित' से दे रहे हैं। फलतः रावणदुर्ग की अभेद्यता का निरसन स्पष्ट है।

समुद्रशोषण की न्याय्यता

रावण को पतिव्रताहरणापराधप्रयुक्त दण्ड देना निर्णीत हो गया तब उसकी रक्षा करने वाले दुर्ग इत्यादि को नष्ट करना प्रथमतः कर्तव्य है जैसा कि यूप को जंगल से लाने में प्रतिबन्ध करने वाले सभी वृक्षों की छेद्यता मीमांसामत से धर्म है। उसी प्रकार समुद्रजल यदि लंका पहुँचने में वानरों को रोकता है तो उस अवस्था में उपरोक्त मीमांसान्यायानुसार समुद्रजल को सुखाना आदि कर्त्तव्य होने से अनुचित नहीं है न तो अनीति या अधर्म है।

वस्तुगत्या समुद्रजल वानरों का प्रतिबन्धक बनता तो उसका शोषण उपरोक्त मीमांसान्याय

से धर्म कहा जा सकता है परन्तु उसके प्रतिबन्धक न होने का विचार बिभीषण-लक्ष्मणजी व श्रीराम संवाद में चर्चित है।

अथवा—इस शीर्षक में कही मीमांसा के निर्देश से कहे तथ्य की वास्तविकता समझने में अपेक्षित सूक्ष्मबुद्धि श्रीराम-लक्ष्मण संवाद में निर्दिष्ट है उससे शून्य होना वानरों की अपरबुद्धिता है। उसी को ध्यान में रखकर वानरों ने 'आयसु पै न देहिं' आदि कहा है जो सम्पूर्ण यूथपों को अपकीर्ति से बचाने में सहायक है।

पूरहिं न त : पक्षान्तर का आरम्भ 'पूरहिं न त' से स्पष्ट कर रहे हैं। इसलिए कि समुद्रशोषण होना संदिग्ध है।

भरि कुधर बिसाला : 'कुधर बिसाला' विशाल पर्वत का वाचक है। समुद्र के इस तीर से आरम्भ कर लंकास्थ तीर तक विशाल पर्वतों को समुद्र में गिराकर उसको पूरना 'पूरहि' है। एतावता 'कुधर बिसाला' की सार्थकता स्पष्ट है।

मर्दि गर्द मिलवहिं : उपर्युक्त दोनों पक्ष का औचित्य 'समुद्रशोषण की न्याय्यता'-शीर्षकोक्त मीमांसासम्मति को नीतिरूप में समझाने के लिए 'मर्दि गर्द' कहा है।

दससीसा : 'दससीसा' लंकावासी सम्पूर्ण दुष्ट राक्षसों का उपलक्षक है।

गर्जहिं तर्जहिं : युद्धरत वीरों के अन्तः रहे उत्साह का अनुभाव 'गर्जहिं' है। अपने आत्मविश्वास में शत्रुपक्ष की कठोरता एवं छिद्र समझकर उस पक्ष का मर्दन करना तथा स्वपक्ष का पूर्ण उपचय बने रहने के निर्णयार्थ 'तर्जहिं' कहना उपपन्न है।

सहज असंका : 'गर्जहिं-तर्जहिं' शीर्षकानुसार गर्जन व तर्जन होने की सहजता समझाई जो 'सहज असंका' का अनुभाव है। सहज की कारणसामग्री ७ वीं चौपाई में स्पष्ट है।

'असंका' की उपपति ५५वें दोहे में स्फुट है। अभी कहना इतना ही है कि सम्पूर्ण शास्त्रों की एकवाक्यता समझकर जो कुशल विद्वान् महावाक्यार्थनिर्णय पर पहुँचते हैं वे ही अशंक होते हैं। उसी प्रकार भक्तिशास्त्राभिमत भक्ति की इतिकर्तव्यता व भक्ति का स्वरूप यथावत् समझने पर भक्तों के मनस् में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति को अवकाश प्राप्त न होना 'असंका' का चिह्न है।

मानहुँ : विशाल सेना के आगमन का प्रयोजन पूर्ण होने का संकेत 'मानहुँ' उत्प्रेक्षा का भाव है।

ग्रसन चहत हहिं लंका : लंका को एक साथ चारों ओर से आक्रमित कर उसे वश करने की इच्छा 'ग्रसन चहत' है। यह 'फिरि गए' प्रश्न का उत्तर है। इस प्रकार ५३वें दोहे में पूछे गये रिपु दल तेज बल का सम्बन्धी प्रश्न उत्तरित है। 'ग्रसन' कर्म लंका है।

स्मर्तव्य है कि व्यष्टिरूप में हनुमान्जी ने श्रीरामपक्ष की अभेद्यता के साथ भक्ति की यथावत् प्रतिष्ठा जैसे परराष्ट्र में की वैसे ही रावणदूत ने समष्टिरूप में रहे निश्शंक सम्पूर्ण वानर-भालु सैनिकों की अभेद्यता के साथ भक्ति की पूर्ण स्थापना परराष्ट्रात्मक लंका में रावण को सुनाना कविकौशल है। जो सुन्दरकाण्ड की अन्वर्थता का परिचायक है।

सहज सूर : सर्वसाधारण वानरगत धर्मापेक्षया इसी शीर्षक में वक्ष्यमाण परिभाषिक

वानरत्व 'सहज सूर' से समझाया है। एवंच वानरों एवं राक्षसों में रहा वध्यवधिकभाव यहाँ व्यावृत्त है। प्रकृत्या लघुविक्रमकारित्वरूप शौर्य होना भालु-कपियों का साहजिक स्वभाव नहीं है किन्तु 'तादृशगुणवत्वे सति, उपरिबुद्धिममतः श्रीरामस्य संकल्पित लंकाविजयं साधयितुं सदा तदादेशं सम्पादयितुं च आकांक्षते वारनकटकं' इस निर्णय से सम्पन्न प्रकृत वानर-भालुओं का पारिभाषिक रूप यहाँ स्मर्तव्य है। इस प्रकार विजिगीषुपक्ष में दण्ड की निर्दुष्ट पूर्ण सम्पत्ति समझाई है।

पुनि सिर पर प्रभु राम : उपरिबुद्धिरूप में श्रीराम ने नियामक होना 'पुनि सिर पर प्रभु राम' का भाव है। 'प्रभु' से सकल वानरकटकप्रयोक्तृत्व दर्शाया है। श्रीराम अंकुश स्थानीय होने से उनके विरोध या अनुमत में सफलता होना सम्भव नहीं एतावता श्रीराम में दण्ड, कोशज, सामर्थ्य के साथ मन्त्रशक्ति का होना दूत दर्शा रहे हैं। अतएव श्रीराम में रही शक्ति की अतुलनीयता असंदिग्ध है। निगमागमप्रतिष्ठापक होने से सबको रमाने वाले नयनागर श्रीराम 'राम' से बोध्य हैं।

रावन काल कोटि कहुँ : निगमागमप्रतिपक्षी अहंकारी प्रतिपक्ष अरि 'रावन' शब्द से बोध्य हैं। उस पर वानरीसेना का विजय होना निर्णीत है। 'कोटि' अनन्तपरक है।

जीति सकहि संग्राम : रावण के पराजय से निगमागमविरोधी जो भी हों वे सभी अहं से विहीन कराए जाएँगे ही यही श्रीराम का 'काल कोटि जीति' है।

इस प्रकार श्रीराम की जयोपधायकता प्रगट करते हुए दूत ने स्वोच्चरित विशाल वचन का उपसंहार के साथ सभी प्रश्न समाहित हुए।

संगति—तेजो-बल-बुद्धि की प्रधानता स्पष्ट करते हुए रावण को सीतादानहेतु प्रेरित करने के लिए श्रीराम की उपरिबुद्धिवैभव सुना रहे हैं इसलिए कि बल ने बुद्धि का अनुगमन करना होता है अन्यथा बलसम्पन्न व्यक्ति फल साधने में समर्थ नहीं होता। वैसे बुद्धि का अधिष्ठातृत्व श्रीराम में दूत सुना रहे हैं।

चौपाई— राम तेज बल बुधि बिपुलाई । सेष सहस सत सकहिं न गाई॥ १ ॥
सक सर एक सोषि सत सागर । तव भ्रातहि पूँछेउ नय नागर॥ २ ॥

भावार्थ—सहस्र फण वाले लाखों शेष भी श्रीराम के तेजो बल, बुद्धि को पूर्णतया नहीं गा सकते। जिनका एक बाण सैकड़ों समुद्रों को सुखाने में समर्थ है। उस नीतिकुशल ने स्वतंत्र मन्त्रनिर्णय के विधि की मर्यादा उचित नहीं समझकर समुद्र पार करने हेतु आपके भाई से पूछा।

शास्त्रीय व्याख्या

राम : सबके लिए अत्यन्त प्रिय होना 'राम' शब्दार्थ है। उनकी नियामकता तथा अनियम्यता तेजस् आदि 'बिपुलाई' से प्रसिद्ध है।

तेज बल बुद्धि : किसी के सामने पराभव न होने में जितने तेजस् की अपेक्षा है उतना तेजस् होना 'तेज' से स्मर्तव्य है वह प्रकाशात्मक है। उसके स्पर्शमात्र से सबका अभिभव होना प्रसिद्ध है। इसमें विशेष नैतिकता व पवित्रता का अंगत्व होना स्मर्तव्य है। 'बल' प्रभुशक्ति का बोधक है जिसमें कोश व दण्ड की पूर्णता स्फुट है। हनुमत्पुच्छ में

लगी अग्नि को बढ़ावा देने हेतु ४९ मरुतों का चलाना श्रीराम के बल का छोटा-सा उदाहरण है। भय व स्खलन के अवसर पर तत्काल संविधान की सूझ होना, ऊहापोहसमर्थ प्रज्ञावान् होना, श्रुत का स्थैर्य होने से विस्मरणाभाव आदि सभी गुण 'बुद्धि' के बोधक हैं। फलत: अप्रतिहत मन्त्रसामर्थ्य ध्वनित है। बुद्धि रहने पर ज्ञानप्रभाप्रकाशन, प्राशस्त्य अंग, व्यापार, मन्त्रोत्पत्ति, शुद्धि, सिद्धि, मन्त्रावृत्ति, धारणा आदि गुण स्मर्तव्य हैं।

दीर्घदर्शितापूर्वक मन्त्रनिर्णय का उदाहरण हनुमान्जी का वह चरित्र है जिसमें श्रीरामजी ने लंका जाने के लिए दूत को मुद्रिका का प्रदान कर उसे सर्वशक्तिसम्पन्न बना दिया तथा लंकावासियों को भयभीत व शंकित कर उन्हें हतोत्साहित व निर्वीर्य बनाया।

बिपुलाई : जीवमात्र में जो भी ज्ञान, क्रिया आदि प्रतीत होते हैं वे श्रीराम के तेजस् आदि की प्रभा का स्वल्प अंश हैं जो 'बिपुलाई' से चिन्त्य है। उसी को सत्त्व, रजस् एवं तमस् शब्द से तंत्रशास्त्र में संकेतित किया है।[१]

अथवा—श्रीराम में सर्वज्ञता, अप्रकाश्यता, पूर्ण कर्तृता, तिरोधानाभाव, आप्तता, नित्यता है उनमें किसी प्रकार का आवरण न होने से 'बिपुलाई' कहना उपपन्न है।

सेष सहस सत : श्रीराम के तेजस् आदि को पूर्णतया गाना श्रीराम को अपमानित करने के अतिरिक्त श्रीरामतापनी उपनिषद् आदि को भी अप्रमाणित करना है उसके पीछे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकत्वसिद्धान्त स्मर्तव्य है। अत: 'सेष सहस सकहिं न गाई' कहा है।

सक सर एक : 'सक सर' कहकर समुद्रशतशोषणकारणतावच्छेदक शक्ति समझाई। शुक सारण उस शक्ति से परिचित हैं ऐसा मालूम होता है। सम्भव है कि हनुमच्चरित्र का अध्ययन, बिभीषण-श्रीरामसंवाद व श्रीराम का दिया तिलकदान देखकर दूत की प्रतिभा ने उक्त शक्ति को अवगाहित किया हो उसी को 'सक सर एक' से व्यक्त किया हो।

'एक' से सहायनिरपेक्ष एकगत पर्याप्ति ध्वनित है।

'सर' से उक्त शक्ति का आश्रय बताया है। वह आग्नेय या वैद्युत अस्त्र है जो समुद्र जल को भंग करने में पटुत्व रखता है।

सोषि सत सागर : 'सोषि सत सागर' से जलशोषण (जलभंग) की शक्तिमात्र समझना है न कि वैसे शर का प्रयोग है; क्योंकि समुद्र जल शोषण से जलचरध्वंसात्मक अनीति आपाद्य होगी।

तव भ्रातहि : यहाँ युष्मच्छब्द वृद्धापमानकर्त्ता बिभीषणत्यागी रावण का बोधक है। वृद्धसम्मानकर्त्ता, सन्तों से आदृत नीतिकुशल बिभीषणजी 'भ्रातहि' से विवक्षित हैं। समुद्ररूपी दुर्ग के इतिहास से बिभीषणजी पूर्ण अभिज्ञ हैं। अत: प्रभु ने बिभीषणजी से पूछना गुप्त मन्त्रकौशल है।

पूँछेउ नयनागर : मन्त्रविकल्प के निर्णयानुसार मन्त्रकुशल ने स्वगुणसंपन्न मन्त्री से कार्यारम्भ के पूर्व जिज्ञासा प्रगट करने का विधान है उसका अनुसरण 'पूँछेउ' से दर्शाया है। पररक्षक राजा या स्वामी क्रूर होगा तो नीतिच्युत भक्ति सेवक को त्यागेगी उसका अभाव 'नयनागर' से सूचित है। बिभीषणोक्त पद्धति के स्वीकार में समुद्र की प्रसन्नता, लक्ष्मणोक्ति

---

[१] स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या। मायातृतीये ते एव पशो: सत्वं रजस्तम: ॥ –अर्थशास्त्र क्रोडपत्र

की एकवाक्यता में दुष्टों का आग्नेय शर से संहार होना, जलचरों की प्रसन्नता प्राप्तिपूर्वक जलदुर्ग पार करना आदि 'नय' के अन्तर्गत मननीय हैं। नैतिक, वैदिक, लौकिक व कविसमयसिद्ध के प्रति विदग्धता होना 'नयनागर' से ध्वनित है। 'नयनागर' सुनाकर उसीसे बिभीषण व लक्ष्मणजी के अन्य प्रश्नोत्तर न गाकर भी संवादविषयों की पूर्णता की है।

संगति—बिभीषण-श्रीरामसंवाद का अन्तिम परिणाम दूत सुना रहे हैं।

चौपाई— ***तासु बचन सुनि सागर पाहीं । मागत पंथ कृपा मन माहीं॥ ३॥***

भावार्थ—बिभीषणबचन सुनकर श्रीराम, समुद्र पार कराने के प्रार्थी हो समुद्र से याचना कर रहे हैं यह उनकी मानस कृपा है।

शास्त्रीय व्याख्या

तासु बचन सुनि : ५०-४ से दोहा ५० पर्यन्त सुनाये वचनों के प्रयोक्ता बिभीषणजी तच्छब्दार्थ हैं जिसमें नयनागरता निर्विवाद है। वक्ता के तात्पर्य विषय को व्यवस्थित समझना 'सुनि' का निष्कर्ष है।

सागर पाहीं : सप्तद्वीपवती पृथ्वी के दूर देश में रहे वानरादि सैनिकों के साथ प्रभु ने चलकर सागरसमीप में पहुँचना 'सागर पाहीं' है।

मागत पंथ : अगाध समुद्र के भीतर जलचरों के सहित अनेक जातिय प्राणियों के होने से उचित रास्ते से पार होने की अनुमिति प्रार्थित है व जलचरों का विरोध न होते हुए पार होने का उपाय बताने की याचना करना 'मागत पंथ' है।

कृपा मन माहीं : तेजो, बुद्धि, बलसम्पन्न नर किसी से याचना नहीं करते फिर भी मानवरूप में अवतरित तेजो, बुद्धि, बलसम्पन्न श्रीराम ने समुद्र से याचना करना 'कृपा' का द्योतक है। फलतः बिभीषणोक्ति[१] का आदर भी इससे ध्वनित है।

स्मर्तव्य है कि पुलस्त्य महर्षि के शब्द को यथार्थ प्रमाण समझकर बिभीषणजी ने रावण को श्रीरामतत्त्व समझाया एवं दूत को प्रत्यक्ष के द्वारा जो अनुभूत हुआ उसे रावण को सुनाया। अतः दूतवाक्य में पुनरुक्ति नहीं है।

संगति—दूत के उक्त वचन सुनते ही आवेग में आकर रावण ने समुद्रशरणयाचना से 'श्रीरामोऽयं न तेजोबुद्धिबलसम्पन्नः' ऐसा अनुमान कर दूत के उपर्युक्त वचनों में अप्रमाणता समझने के अनन्तर दूत की मूर्खता पर हँसना शिवजी कह रहे हैं।

चौपाई— ***सुनत बचन बिहसा दससीसा । जौं असि मति सहाय कृत कीसा॥ ४॥***

भावार्थ—दूतवचन सुनकर दशानन पहिले हँसा व गुनगुनाने लगा कि इतराश्रित से प्रार्थना करने वाली मति ने सहायकरूप में बन्दरों को अपनाना ठीक ही है।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनत बचन : 'यत् दृश्यन्तदनित्यं' सिद्धान्त से उपबृंहित कुमति रावण ने सुमति नयनागर श्रीराम के नीतिसंबद्धचरित्र को प्रतिषेध्य के रूप में सुनना 'सुनत' है।

'बचन' से ५६। ४ से चौपाई ७ तक के वचन ज्ञातव्य हैं जो श्रुतिविरुद्ध[२] होने से

---

[१] श्रीरामचरितमानस ५।५०

[२] जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः (गरुड़ पुराण २।१।२५।४१)

कुमति के सामने दुर्बल से हैं।

बिहसा : ज्ञातव्य है कि श्रीराम को सीतादान से पराजित करने का अवसर अथवा स्व के लिए स्वर्णसन्धि के अनुकूल शब्दप्रामाण्य उपस्थित रहते हुए भी उसके विरोध में प्रत्यक्ष उपस्थित होने से उसके बल पर शब्द को अप्रमाण मानकर रावण शब्द व वक्ता की अवहेलना कर रहा है उसके सूचनार्थ 'बिहसा' शब्द है।

जौं असि मति : यद्यपि 'जौं' से शंका प्रगट होती है तथापि प्रकृत में उत्कटैकतर कोटिक समुद्रप्रार्थना प्रमाणित होने से 'जौं' शब्द संशयार्थक न होकर निश्चयपरक है यत: श्रीराम ने समुद्र के पास जाना प्रत्यक्षसिद्ध है।

अथवा—'जौं' का दूसरा भाव यह कि श्रीराम अपने को प्राप्त विद्या के प्रति साशंक हैं ऐसा होने से ही वे आग्नेय शर का प्रयोग नहीं कर रहे हैं।

'असि मति' से परप्रत्यय ने मूढ़बुद्धि होना दर्शाया है। अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाणपक्षपाती विचार का विषय ही 'असि मति' से कहा है। उसमें युक्ति यही कि 'यद्ययं दूतोक्त्या शूर: तेजस्वी बलिष्ठ: सिद्ध स्यात् तर्हि अन्यं अशूरं दुर्बलसामन्तं समुद्रं न प्रार्थयेत्' इत्यादि।

सहाय : अनेकविध कार्य जब कर्त्तव्य होते हैं या अनेककर्तृसापेक्ष होते हैं या नाना देशो में कर्तव्य बिखरे होते हैं तब देशकाल की सीमता से वे कार्य अवरुद्ध होते हैं ऐसा समझकर स्वामी को सहायान्तर की अपेक्षा होना 'सहाय' से व्यक्त है। 'सहाय' कीसा का विशेषण है।

कृत कीसा : 'असि मति' शीर्षक में जिस प्रकार श्रीराम के प्रति रावण के विचार प्रगट है उसी प्रकार उनके सहायकों के बारे में वे ही विचार हैं अर्थात् उनको सहायकरूप में बन्दर प्राप्त है जो अति चपल अविमृश्यकारी मूढ की श्रेणी में गिने जाते हैं। एवंच सेनापति प्रभु ही कायर हैं तो उनके अनुगन्ताओं की शूरता भी रणांगण के बाहर ही सीमित माननी होगी। इत्यादि तथ्य 'कृत कीसा' से ध्वनित है।

संगति—दूतवचन सुनकर राजा रावण अन्तिम निर्णय कर रहा है जिसमें प्रत्यक्ष की प्रबलता व शब्द की अप्रमाणता स्पष्ट हो रही है।

चौपाई— सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई । सागर सन ठानी मचलाई॥ ५ ॥

भावार्थ—भाई बिभीषण भीतर का डरपोक है उसके वचन को विजिगीषु प्रमाण मानते हैं उसके विश्वास पर श्रीराम सागर से हठपूर्वक आसीन हो रास्ता माँग रहे हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

सहज भीरु कर : बन्धु संवासी होने से रावण बिभीषण के स्वभाव से पूर्ण परिचित है उसके भीरुत्व में अन्यथात्व न होना सहज से स्पष्ट है। उसका सहज स्वभाव भीरुपन है जो रिपु की उच्छेद्यता का आधार है उसने युद्ध में कभी भी साथ नहीं दिया। वह अपनी भीरुता व कायरता को जप-तप से छिपाता हुआ शान्ति का पाठ पढ़ाता है।

बचन दृढाई : भीरु बिभीषणवचन को सर्वत उपरि प्रवृत्तिप्रयोजक मानना 'दृढाई' है।

सागर सन : बिभीषणजी को प्रमाणित करने हेतु सैनिकों को साथ लेकर जिस स्थान पर श्रीराम पहुँचे वह 'सागर' से विवक्षित है।

मचलाई : प्रत्यक्ष में श्रीराम अचिन्त्य दैवशरणार्थी हो उसके माध्यम से जलदुर्ग पार करना चाहते हैं यही उनकी 'मचलाई' है। आशय यह कि समुद्रशोषण के प्रति मन्त्ररूप स्वयं प्रमाण के रूप में उपस्थित रहते दूसरे की चाटुकारिता में समुद्र से रास्ता माँगने का हठ करना 'मचलाई' है। इस प्रकार रावण के स्वार्थानुमानसम्बन्धी मानसिक विचार पूर्ण हुए।

संगति—प्रत्यक्ष के विरोध में शब्द को बाधितार्थक समझकर रावण दूत को दण्डित करना सोच रहा है उस उपक्रम में दूतवचन में मिथ्याप्रत्यय की प्रसक्ति दर्शा रहा है।

चौपाई— मूढ़ मृष का करसि बड़ाई । रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई॥ ६॥

भावार्थ—अरे मूर्ख! शत्रु की मिथ्या स्तुति क्यों कर रहे हो? शत्रु के बुद्धि व बल की सीमा मेरे समझ में आ गई।

शास्त्रीय व्याख्या

मूढ मृषा : प्रमाण के साथ न बोलना तथा ज्येष्ठ प्रत्यक्षप्रमाण के विरोध में शब्द को प्रमाणमूर्धन्य मानना मूढ़ता है। शौर्य, तेजस्, बुद्धि व गुण आदि को युद्धप्रसंग या उचित समय से न दिखाने पर वे 'मृषा' हैं।

करसि बड़ाई : गुण न रहते हुए तदभिधान करना आहार्य या आरोप है। नीतिमतानुसार राजा के सामने चरचक्षुष् ने विपरीत, बोलना महान् राजद्रोहरूप अपराध है।

रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई : बल-बुद्धि पूर्व में व्याख्यात है। मैंने इनकी स्थिति को श्रीराम में प्रत्यक्ष आचरण से पहिचाना है अतः बुध्यादि आरोप्य हैं न कि सत्य है जो 'थाह' से स्फुट है। यद्यपि हनुमानजी का शौर्य बल रावण को प्रत्यक्षवेद्य है तथापि श्रीराम का मन्त्रबल उसे दुर्बल लगा। मन्त्रबल पूर्ण न हो तो पराक्रम बल का मूल्य मन्त्रदुर्बलता के सामने असत्प्राय है। अतः दैववादी रिंपु, सन्धेय नहीं होता न तो उसे नीति का ध्यान ही रहता है ऐसी स्थिति में 'मान तजि' किंवा सीतादान को अवसर प्राप्त नहीं है।

संगति—मन्त्र दुर्बल होने का परिणाम रावण कह रहा है।

चौपाई-सचिव सभीत बिभीषन जाकें । बिजय बिभूति कहाँ जग ताकें॥ ७॥

भावार्थ—जिसका मन्त्री डरपोक बिभीषण हो उसके विजय या ऐश्वर्य को जगत् कैसे देख पाएगा?

शास्त्रीय व्याख्या

सचिव : सर्वोपधाशुद्ध सचिव उत्तरमंत्रिपरिषद् का सदस्य होता है। प्रस्तुत में विजिगीषु ने जिसको मन्त्री व सखा माना है वह सचिवलक्षणसंपन्न नहीं है यतः उसने समुद्रशरणागति में कार्यसिद्धि के प्रति बल सुनाकर अपने ज्ञानभंडार को प्रकाशित किया है।

सभीत : दैववादी सदा डरपोक होते हैं। आपत्ति का प्रतीकार दैवोपाय के अतिरिक्त उपायों से नहीं मानते न तो स्व में शक्ति का आधान करना इष्ट मानते हैं। भविष्यत् में अनिष्ट होने की आशंका करते रहना भीत की पहिचान है।

बिभीषन जाकें : विद्या को प्रमाण मानकर उसके अनुबन्धमात्र में रहा तपस्वी व प्रकृत्या भयसंपन्न रावणभ्राता 'बिभीषन' शब्द से बोध्य है। अमात्यायत्तसिद्धिक विजिगीषु

यच्छाब्दार्थ है।

बिजय बिभूति : परपुराधीश का उच्छेदन, अपचय, पीड़न या रेचन होना विजय है। 'बिभूति' शत्रु के स्वत्व को ध्वस्त कर उसके पञ्च द्रव्यप्रकृति पर अपना स्वत्व होने में बोध्य है।

कहाँ जग ताकें : विजय व विभूति दोनों ही अलीक है तो दोनों आकाशपुष्प की तरह अलीक है ऐसी स्थिति में समुद्र से की हुई याचना की विफलता अर्थसिद्ध है।

संगति—प्रत्यक्ष के विरोध में शब्द को प्रमाण न मानने पर दूत, लक्ष्मणजी के द्वारा लिखित पत्र रावण को दे रहे हैं।

चौपाई— सुनि खल बचन दूत रिस बाढ़ी । समय बिचारि पत्रिका काढ़ी॥ ८॥
रामनुज दीन्ही यह पाती । नाथ बचाइ जुड़ावहु छाती॥ ९॥

भावार्थ—शिवजी कहते हैं कि खलवचन सुनते-सुनते दूतों का क्रोध बढा। अवसर सोचकर उन्होंने लक्ष्मणजी की दी हुई पत्रिका निकाली कहा कि हे नाथ! आप इस पत्र को पढकर अपनी छाती को शीतल करिए।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि खल बचन : चक्षुःस्थानापन्न चर आप्त के प्रति मृषावादी के आरोप से आरंभ कर जो वचन रावण ने सुनाये वे वचन 'सुनि' से चिन्त्य हैं। स्व को प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग परपीड़न के प्रति करने वाला रावण 'खल' शब्द से बोध्य है। उसने सुनाए शब्द 'वचन' हैं जो अपमान व विग्रहकारक हैं।

दूत रिस बाढी : आप्त, बुद्धिमान्, यथार्थवादी, परराष्ट्र में पहुँचकर प्रकाश में कार्य करने वाले स्वामी के नेत्र 'दूत' हैं। उन्हें अपमानित करने वाला हित को अहित समझने वाला रावण चपल है। फलतः वह राजनीतिमत से पतित है वैसे चपल राजा के द्वारा किया हुआ अपमान, क्षमाजनक न होकर दूत के लिए क्रोधकारक है। माल्यवान्, बिभीषणजी आदि के प्रति, रावण के द्वारा किए चरित्र से दूत पहिले ही क्रुद्ध थे। अभी रावण ने उसके प्रति जो व्यवहार अपनाया उसमें शब्दप्रमाण को सर्वथा अप्रमाण बनाया ऐसा देखकर पूर्वस्थित क्रोध का भड़कना 'बाढी' से स्मर्तव्य है। बिभीषणरूप में प्रगट रही सुमति क्रोध में न आकर रावण को छोड़कर चली गई। अभी दूत रूप में प्रगट रही सुमति ने क्रोध करना रावण के द्वारा अपनाए उच्चतर शब्दाप्रामाण्यापराध का परिणाम है वही 'रिस बाढी' का कारण है।

समय बिचारि : प्रत्यक्षप्रमाण को प्रबल मानकर उसके प्रतिकूल्य में प्रमाणमूर्धन्यतम तक पुष्ट वचन को उपेक्षित करने का अवसर 'समय बिचारि' से व्यक्त है।

अथवा—श्रीराम को दैववादी समझकर उनमें रही शूरता को आरोपित समझकर समुद्र शोषण सम्भव कहा था उसके उत्तर का समय 'समय बिचारि' है।

पत्रिका काढी : रावण ने विजिगीषु को दुर्बल दैवमात्रवादी ठहराया उसका कार्य रूप में उत्तर 'पत्रिका काढी' है।

रामानुज : श्रीराम में वालिवधादिप्रयुक्त शौर्य सुनकर भी अमर्ष के कारण धधकती

छाती को प्रशान्त करने हेतु पत्रिका देने वाले लक्ष्मणजी 'रामानुज' से स्मर्तव्य हैं।

दीन्ही यह पाती : रोषसंपृक्त दूत ने पत्रिका सामने रखना 'दीन्ही' से चिन्त्य है। 'दा' धातु यहाँ सौंपने के अर्थ में समझना है। रावण के सामने रखी पत्रिका इदं शब्द वाच्य है। 'पाती' का विषय दोहा ५६-क-ख में द्रष्टव्य है।

नाथ बचाइ : 'बचाइ' रूप औषध से चिकित्सा करने के लिए अपेक्षित द्रवीभावार्थ 'नाथ' संबोधन है। यह दूतों के द्वारा किया 'नाथ' संबोधन अत्युपकृति का बोधक है।

अथवा—अभी भी यदि रावण सावधान हो जाय, ऐसा सोचकर किया यह सुमति कां प्रयास, अन्तिम है ऐसा समझाने हेतु दया में आई सुमति ने 'नाथ' कहना रावणरक्षणकृति के प्रति प्रत्युपकृति का सूचक है। 'बचाई' धात्वर्थ का कर्म पत्राक्षर है।

जुड़ावहु छाती : 'बचाइ' का प्रयोजन 'जुड़ावहु है'। सुमति ने शान्त होकर 'नाथ' कहा पश्चात् 'जुड़ावहु' कहा है इससे यह समझना होगा कि 'जुड़ावहु' उक्ति से सुमति ने रावण के अन्तर्गत अमर्ष व्यक्त किया है। रावण यदि विवेक को प्राप्त कर युद्धाग्रह से निवृत्त होता है तो उसमें जन्मान्तरीय सत्कर्मवासना सहायक कही जा सकती है। अन्यथा क्रोध बिभीषणोक्त फलप्राप्ति (दोहा ४१) के प्रति सहायक होगा। हर्ष, क्लेश, विषयादि के अनुभव का स्थान हृदय होने से 'छाती' कहा है।

संगति : शत्रु को अपमानित करने के उद्देश्य से रावण ने दूत से बाँए हाथ में पत्रिका लेकर सचिव को पत्रिका देत हुए उसे पढने को जिसमें रावण ५३वें दोहे में पूछे प्रश्नों का समाधान रावण ने स्वयं समझना होगा।

चौपाई—बिहसि बाम कर लीन्ही रावन । सचिव बोलि सठ लाग बचावन ॥ १० ॥

भावार्थ—रावण ने उपहास के साथ बाएँ हाथ से पत्र लिया तथा सचिव को बुलाकर उस पढ़ने को कहा।

शास्त्रीय व्याख्या

बिहसि बाम कर : सम्भव है कि लक्ष्मणजी ने अपनी दुर्बलता सोचकर सन्धि का प्रस्ताव रखा हो यत: रिपु एक ओर भीत हो गया हो फलत: एक ओर (श्रीराम) का भय है कि वह एक ओर देव से प्रार्थना कर रहा हो व दूसरी ओर सन्धि का प्रस्ताव रखता हो। ऐसा सोचकर रावण ने हँसना 'बिहसि' का निष्कर्ष है। रावण ने श्रीराम के प्रति अपना पूर्ण अपराग 'बाम कर' से प्रगट किया।

लीन्ही रावन : वाम हस्त से पत्र लेने का प्रयोजन ५३ वें दोहे में पूछे प्रश्न का उत्तर समझना है।

श्रीराम के प्रति अन्त: अनुरक्त, क्रोधी, असूयालु, स्ववध का इच्छुक रावण 'रावन' शब्द से बोध्य है।

सचिव बोलि सठ लाग वचावन : पत्रिका पढाने हेतु कर्मसचिव को बुलाना 'सचिव बोलि' से बोध्य है। रावन ने अन्त: साशंक हो बाहर से अशंक होना 'सठ' का भाव है जो अग्रिम चौपाई (५७।१) में स्पष्ट होगा। ५३ वें दोहे में उक्त प्रश्नोत्तर-श्रवणौत्सुक्य में 'लाग बचावन' कहा है।

संगति—दोहा ५१-६ में कहे 'समुझाई' का स्पष्टीकरण व पत्रिकान्तर्गत चतुर्विध प्रतिज्ञाबोधक लेख स्पष्ट हो रहा है।

दोहा— *बातन्ह मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस।*
राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस॥ ५६ क ॥
की तजि मान अनुज इव प्रभु पद पंकज भृंग।
होहि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग॥ ५६ ख ॥

भावार्थ—अरे शठ! पराजयरूप सत्यात्मक अर्थ को लेखात्मककाव्यारूढ कराकर ऋतरूप में समझकर क्रोध से विरत हो एवं प्रजा व कुल का नाश न करो। श्रीराम के शत्रु होने पर ब्रह्माजी, विष्णुजी, शंकरजी की शरण लेने पर भी तुम नहीं बच पाओगे। निर्मान होकर भाई की तरह तुम भी प्रभुचरणपंकज के भौंरे बन जाओ नहीं तो कुलसहित श्रीरामशरानल के फतिंगे बनकर जल जाआगे।

शास्त्रीय व्याख्या

बातन्ह मनहि रिझाइ : 'बातन्ह' से वाग्विलास समझना है। वह परकृत व स्वकृत दो भागों में विभक्त है। स्वार्थी मूढ़ सचिव भृत्यों के द्वारा परछन्दानुसरण में बोलना परकृत वाग्विलास है जो रावण के सदस्यों की वाणी से स्पष्ट है। स्वकृत वाग्विलास सुन्दरकाण्ड के ५७-२ चौपाई में तथा लंकाकाण्ड के ८-२ चौपाई से दोहा ८ तक वर्णित हुआ है। इसी प्रकार अलग-अलग संवादों में स्वकृत वाग्विलास भी प्रगट है।

अपना मानस ही, शरीर की गतिविधि को चलाने वाला साधन है। विवेक के साथ कर्त्तव्य के प्रति मनस् ने शरीर को चलाने का कार्य करना नैतिक 'रिझाइ' है उसके वैपरीत्य में काल्पनिक जगत् में रहकर मनस् से सन्तुष्ट करना मानस 'मनहि रिझाइ' है।

सठ जनि घालसि कुल खीस : साधुवेष धारण कर सीताजी के सामने अतिथि बनकर आए रावण का स्मरण कर उसके प्रति 'सठ' कहा है उसका अर्थ अकल्याणकारी व विसम्वादी होना है। श्रीराम पर क्रोध को बढाने हेतु 'घालसि' कहा है। उसके परिणाम को रोकने की चर्चा 'जनि' से समझाई है वह कुलखीस से अन्वित है। कुलनाश 'कुल खीस' से ध्वनित है। यह लेखान्तर्गत एक प्रतिज्ञावाक्य है।

राम बिरोध न उबरसि : त्रिदेव के साक्षी, असीमित, प्रभुशक्तिसंपन्न निगुर्ण या दिव्यगुण से युक्त प्रभु श्रीराम 'राम' पद से बोध्य हैं। प्रथमप्रतिज्ञातार्थ कुलनाशात्मककार्यान्वयन से बचने का उपाय श्रीरामशरण है। यदि श्रीरामशरण छोड़कर उपर्युक्त कुलनाश से बचने हेतु ब्रह्मादि की शरण होना इष्ट है तो उसका उत्तर द्वितीय प्रतिज्ञान्तर से समझाया है।

सरन बिष्नु अज ईस : स्व संकल्प (मनोरथ) पूर्ण होने में ब्रम्हेश द्वितीय की सहायता प्राप्त थी उनकी असमर्थता का कारण 'राम विरोध' शीर्षक में उक्त है। इस प्रकार दो प्रतिज्ञाओं से रावण का पराजय सुनाया है।

की तजि मान अनुज इव : तीसरी प्रतिज्ञा में लक्ष्मणजी रावण को अपने जीने का उपाय सुना रहे हैं। इसमें बिभीषणजी के प्रति श्रीराम ने सुग्रीवजी को जो समझाया उसकी एकरूपता स्मर्तव्य है। 'तजि मान' प्रकृत (तीसरी) प्रतिज्ञातार्थ का मुख्य अंग है।

अवज्ञाजनक मनोवृत्ति यहाँ 'मान' से विवक्षित है जो गर्व का पर्याय है। ऐसी मनोवृत्ति रूप अपथ्य को त्यागना 'तजि मान' है।

प्रभुपद पंकज भृंग : अनुजगत श्रीरामचरणास्वादार्ह धर्म व चिन्तन के समान श्रीरामचरणों के आस्वादार्ह चरणचिन्तन में रहना 'प्रभुपद पंकज भृंग' होना है।

होहि कि राम सरानल : भृंग होना मान्य नहीं है, न तो अभिमान ही त्यक्तव्य है तब चतुर्थ प्रतिज्ञा सुनाने हेतु 'होहि कि' कहा है। यदि अवज्ञानाशक प्रायश्चित्त मान्य नहीं है तो श्रीरामशरानल को, पापों के प्रायश्चित्तरूप में स्वीकार्य करना होगा। आशय यह कि श्रीरामविरोधात्मक उत्तेजक के रहते मन्त्र व वरादिगत सफल शक्तियों का तिरोधान होना निर्णीत होने से पतंग समाव बनकर कुलसहित रावण ने श्रीरामशरानल को शरण माननेपर अपने प्राण गँवाने होंगे।

खल कुल सहित पतंग : कुलसहित खल रावण पतंग हो गया है उसे भस्म करने में विलम्ब न होना 'पतंग' से समझाया है।

संगति—पत्रिका सुनकर रावण पर हुआ परिणाम व स्वाभिमानिता में उसके बोलने का उपक्रम शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— सुनत सभय मन मुख मुसुकाई । कहत दसानन सबहि सुनाई ॥ १ ॥

भावार्थ—पत्र सुनकर प्रथमतः रावण अन्तः भयभीत हुआ किन्तु प्रकट में उसने चेहरे पर मुस्कुराहट व्यक्त की। तदनन्तर वह सब सचिवों से बोला।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनत सभय : पत्रिका का आशय यथावत् समझना 'सुनत' है। दूतवाणी सुनकर रावण ने जो भी तर्क किए उनमें आभासता उसको सुस्पष्ट हो गई अर्थात् रिपु दैवसहायकवादी ही न होकर पुरुषार्थवादी धनुर्वेद से परिपूर्ण है। अभी तक प्रत्यक्षप्रमाण के बल पर रावण ने श्रीराम के स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया परन्तु उसे निर्णीतता पूर्वक दृढ़ता प्राप्त नहीं हुई। अभी पत्रिकाशय समझकर रावण को विवेक प्राप्त होना, दूतवचन सुनकर श्रीराम के प्रति हुई विपरीत कल्पना निर्मूल होने से उसने भयभीत होना शिवजी 'सभय' से सूचित कर रहे हैं। 'सभय' 'मन' शब्द से अन्वित है।

मन मुख मुसुकाई : मरण की आसन्नतारूप अनिष्ट की शंका अन्तः होने से 'मन' कहा है।

भय को प्रगट न करने हेतु अवहित्था में मुख की मुद्रा बनाना 'मुख मुसुकाई' है। फलतः शंकिता दृष्टि को छिपाना है।

अथवा—युद्धस्थिति आसन्न होने पर परशत्रु पत्रिकाएँ भेजता ही है उसमें अभियोज्य का विनाश कहा ही जाता है। पर विजिगीषु अभियोज्य हो जाय तो अभियोक्ता के रूप में उसने भी सबके सामने उत्साह दिखाना होगा ऐसा सोचकर रावण ने मुसकाना 'मुख मुसुकाई' है।

कहत : आन्तर मनोवृत्ति का सर्वथा दशों इन्द्रियों से गोपनकर्त्ता होने से 'दसानन' कहा है।

अथवा—स्वमण्डल में सर्वतोमुखी सर्वातिशायी उपरिबुद्धिता 'दसानन' से ध्वनित है।

अथवा—'दसानन' से विपरीतार्थदर्शन समझाया वह कर्मतया 'सुनाई' से अन्वित है।

सबहि सुनाई : राजप्रासाद में बुलाई, सभा के सभी सदस्य 'सबहि' से चिन्त्य हैं।

अथवा—यदि 'सबहि सुनाई' न कहा होता तो पत्र के प्रति सभी अपने-अपने मति के अनुसार राजा के प्रति सही-गलत कल्पनाएँ करते। उसकी व्यावृत्ति 'सबहि सुनाई' से विचार्य है।

संगति—रावण आभासात्मक उत्तर सुना रहा है जिसने लक्ष्मणजी के मनोरथमात्र सचिवों को ज्ञात हो।

चौपाई—भूमि परां कर गहत अकासा । लघु तापस कर बाग बिलासा ॥ २ ॥

भावार्थ—कतिपय न्यूनतम वर्षों से तपोरत बालक केवल वाग्विलास कर रहा है। जैसे भूमि पर सोया बालक आकाश को हाथ से स्पर्श करने का प्रयत्न करता हो।

शास्त्रीय व्याख्या

भूमि परा : 'भूमि परा' से लक्ष्मणजी व श्रीराम की अत्यल्पकालिक तपस्या ध्वनित है। भूमि पर लेटे स्तनन्धय के समान तपस्विता लक्ष्मणजी में होना ध्वनित है।

गहत अकासा : अप्रतिपित्सित असंगत या बाधित अर्थ के प्रतिपादयिता प्रेक्षावानों से उपेक्षित होते हैं (सांख्यतत्त्वकौमुदी) वही युक्ति यहाँ 'गहत अकासा' से ध्वनित है जो दृष्टान्त रूप में वर्णित है। यह वाग्विलास का रूपक है।

लघु तापस : 'लघु' शब्द अकिंचित्करपरक है अर्थात् तपस्विसमाज में उसकी महत्ता नगण्य है। 'तापस' शब्द अनशन, निद्राजय, ब्रह्मचर्य व्रत आदिपरक है।

बाग बिलास : पत्र में लिखी सम्पूर्ण प्रतिज्ञाएँ लघुतापसत्वात् बाधितार्थक हैं अतः वाणी का विलास मात्र है जो शत्रु पक्ष के लिए उपेक्षणीय है।

संगति—रावण की वाणी का विराम समझकर दूत अपनी वाणी का उपसंहार करने के पूर्व दशानन से दुर्गुण त्याग कर श्रीराम के स्वभाव को समझने का आग्रह कर रहे हैं।

चौपाई— *कह सुक नाथ सत्य सब बानी। समुझहु छाड़ि प्रकृति अभिमानी॥ ३ ॥*
सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा। नाथ राम सन तजहु बिरोधा॥ ४॥
अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ॥ ५ ॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही। उर अपराध न एकउ धरिही॥ ६ ॥

भावार्थ—शुकदूत ने कहा कि आभिमानिक प्रकृति को छोड़ा जाय तो आपको मैंने जो भी कहा है उस सब को सत्य ही समझेंगे। हे नाथ! आप क्रोध को त्याग कर मेरा वचन सुनें जिसका मुख्य अर्थ श्रीरामविरोध त्यागने में है। श्रीराम त्रिलोकी के राजा होते हुए भी वे धर्मविजयी अतिकोमल स्वभाव के हैं। नम्रतापूर्वक जो उनके सामने उपस्थित होते हैं उनके अपराधों पर श्रीराम कभी ध्यान नहीं देते।

शास्त्रीय व्याख्या

कह सुक : रावणवचन के समाधान की समाप्ति एवं दूतवचन प्रारम्भ करने का संकेत 'कह सुक' सुनाकर शिवजी ने उसके प्रति पार्वतीजी को सावधान किया है।

नाथ : राजा ने अनर्थकारिणीभूत निद्रा से जगना अपेक्षित है ऐसा सोचकर पुनः 'नाथ' कहा है।

सत्य सब बानी : 'सत्य' शब्द त्रिकालाबाधितार्थक है। इसकी उपपत्ति यह कि लक्ष्मणजी का द्वादशवर्षावधिक तपस्वितत्व पूर्ण है। उस दशा में योगशास्त्र के अनुसार 'वाचमर्थोनुधावति' वचन अन्वर्थक है। इससे ५७। २ में उक्त 'भूमिपरा' का उत्तर ज्ञात्व्य है।

'सब' से लक्ष्मणलेखोक्त चतुर्विध प्रतिज्ञाएँ समझनी हैं।

'बानी' से लक्ष्मणनिर्दिष्ट लेखस्थ शब्दवृन्द बोध्य है।

समुझहु छाड़ि : 'लक्ष्मणवाक्यानि प्रमाकरणानि' ऐसा समझना 'समुझहु' है। इसमें हेतु तपस्वित्व की पूर्णता ज्ञातव्य है। तद्गत व्याप्ति के पीछे लक्ष्मणजी का लघुत्व उपाधि नहीं है। निगमागम में से किसी का सेवी हो वह यदि वृद्धावमानिता से विरत हो तपस् को अपनाता है तो वह ह्रस्वकालीन तपस्वी होने पर भी सत्यवाक् होता ही है इसीलिए सभी लक्ष्मणवचन को प्रमाकरण समझना 'समुझहु' से कहा है।

वचनगत प्रमाकरणत्वज्ञानप्रयुक्त अभिनिवेश को प्रतिबन्ध करने वाले दोष (प्रमाद व अहंकार) के अभाव की उपादेयता 'छाड़ि' से दर्शायी है।

प्रकृति अभिमानी : 'प्रकृति' से जन्मतः प्राप्त उत्कृष्टता का स्व में भाव दर्शाया जो सर्वोत्कृष्टत्व का सूचक है उसका अस्तित्व बना रहेगा तो कलि (कलह) प्रविष्ट होगा उसके अभाव में श्रीराम को अन्तःप्रवेश कराने का अवसर प्राप्त होगा।

'प्रकृति' का आशय यह नहीं कि स्वभाव प्राप्त होने से अभिमान त्याज्य नहीं अपितु वह दोष जन्मतः सुलभ होने से उसके निरसनार्थ विद्यावृद्धसंयोग चिन्त्य है।

'अभिमानी' से रागादि त्यक्तव्य विषय चिन्त्य हैं। अभिमानी राग मद का उपलक्षक है। अभिमानी से 'बुध्यादिना अहमुत्कृष्टः सर्वापेक्षया' ऐसी मनोवृत्ति व्याख्यात है।

सुनहु बचन मम : चौपाई ३ से ७ तक संपूर्ण विषय एकाग्रतापूर्वक सुनना 'सुनहु' है। 'सुनहु' मध्यम पुरुष रावण का संबोधक है।

रावणोक्त वाग्विलास का उत्तरारंभ 'बचन' से ज्ञातव्य है।

ज्ञातव्य है कि बिभीषणजी ने जो भी विषय सुनाए थे उनकी यथार्थता के पीछे पुलस्त्य मुनि के शब्द ही आधारभूत थे। दूतवचन की यथार्थता के पीछे शब्द और प्रत्यक्ष दो प्रमाण आधाररूप में स्मर्तव्य हैं।

परिहरि क्रोध नाथ : हे नाथ! क्रोधयुक्त हो आप मेरे वचन सुनेंगे तो वे कटु प्रतीत होने के साथ अस्वीकार्य होंगे उस अवस्था में मैं आपको अहितकर्त्ता, दुष्ट, विनाशक रूप में प्रतीत होने पर त्याज्य हो जाऊँगा। अतः 'परिहरि क्रोध नाथ' कहा है। क्रोधाभाव में ही आप मुझे हितकारी समझेंगे। अतः 'नाथ' कहना सार्थक है।

राम : धर्मविजयी प्रमाणत्रयानुयायी, निगमागमसेवी, दशरथपुत्र, सीताकान्त, श्रीराम 'राम' शब्द से बोध्य हैं।

तजहु बिरोधा : 'तजहु बिरोधा' से विग्रह की प्रसक्ति टालने का संकेत है। अन्यथा रावण ने तदात्व व आयति उभय काल में विरोध की निष्फलता ही समझनी है।

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ : स्वभाव में अत्यर्थ सत्वप्रचुरता होना 'अति कोमल' है।

'अति' का भाव कोमल स्वभाव में देशकाल की सीमा न होने में है। 'कोमल' सत्वगुण का परिचायक है।

'रघुबीर' कहने का भाव यह कि श्रीराम की विशेषता उनके शमसहचरित पराक्रम से चिन्त्य है; जो नीति में स्तुत्य है।

जद्यपि : कोमलस्वभावात्मक शम व राज्याधिपत्य (दण्डधर) होने में विरोध 'जद्यपि' से स्फुट है। परन्तु शम व दण्डरधरत्व के सामानाधिकरण्य की उपपत्ति जितेन्द्रियता, विद्यापूर्णतासहचरित वृद्धसेवा ही समझनी होगी।

अखिल लोक : पूरा अवध ही नहीं वरन् त्रैलोक्य ने श्रीराम की षड्विध राज्यप्रकृति के अन्तर्गत पूर्ण राष्ट्र होना 'अखिल लोक' से स्मर्तव्य है।

लंकाधीश रावण व उनके सहायक राक्षसों के अत्याचार को श्रीराम ने अभी तक उपेक्षित करना श्रीराम का दण्डप्रणयन है। फलतः राक्षसों का अत्याचार ही उनकी मृति का कारण बना है। अभी तक सन्तों को पीड़ा देने पर भी प्रभु ने राक्षसों को बचाना उनके पूर्व जन्मकृत पुण्यातिशयितत्त्व का फल है अतः सन्तों को पीड़ा करने पर भी श्रीराम ने उपेक्षा करना नीति संगत होने से श्रीराम के दण्डधरत्व में शंकित होना अनुचित है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति ने निगृहीतानुगृहीत अन्यतर अवस्था में गुण-दोष को ही कारण समझकर श्रीराम के दण्डधरत्व पर आशंका करना उचित नहीं है। उपर्यक्त सभी तथ्य दूतों ने अनुभव में लाए होने से दूतवाक्यों के प्रति अप्रामाण्य को स्थान नहीं है।

कर राऊ : 'राऊ' से राजा स्फुट है। श्रीराम त्रिलोकाधिपति होने से उन्हें राक्षस-निवासस्थली लंका की अपेक्षा नहीं है। रावण ने वास्तविक निगमागमसेवियों पर अत्याचार किया। वह अपने अत्याचार की सफलता देखकर स्व की स्वतन्त्रता घोषित करने का प्रयत्न करने के साथ निगमागम को अप्रमाणित करना चाहता है। उसको निष्फल बनाने का कार्य निगमागमसेवी राजा ने पूर्ण करना है तदर्थ ही त्रिलोकाधिपति राजवंश में अवतीर्ण हैं। उन्होंने त्रयीसमेत सम्पूर्ण विद्याएँ व तदुक्तधर्म स्थापित करने हैं पर उक्त कार्य में जो बाधाएँ आ सकती हैं उनके निराकरण में अपेक्षित जो जो कर्तव्य निरूपति हैं उन सभी तथ्यों को त्रिलोकाधिपति क्षत्रिय ने पूर्ण करना 'राऊ' से समझना है।

मिलत : 'मिलत' कृपा व मित्र प्राप्त करने का उपाय है।

'मिलत' से प्रतिज्ञावाक्य सुना रहे हैं उसके अन्तर्गत एक प्रतिज्ञा 'कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही' है।

कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही : प्रभु का कोमल स्वभाव होने से 'कृपा' होनी ही है यह व्याप्ति से सिद्ध है जो दीनोपगत रक्षणात्मक है।

'तुम्ह पर' से कृपापात्रता समझनी है 'तुम्ह' का वाच्यार्थ निर्मानी, अक्रोधी, दीन रावण समझना है।

कृपाकर्तृता का नैयत्य 'प्रभु' से व्यक्त है।

आत्मीयत्वेन स्वीकृति 'करिही' है। 'करिही' से कर्ता में कोमलस्वभाववत्ता समझनी है।

उर अपराध न एकउ धरिही : 'उर अपराध न एकउ धरिहि' दूसरी प्रतिज्ञा है। अर्थात् प्रभु पक्षपात (रागद्वेष) रहित होने से अपराध के शमनार्थ तत्प्रयुक्त दण्डप्रणयनसम्बन्धी विधान मात्र के अनुसर्ता हैं। फलतः अपराधी होने पर भी शरण होने से तदुपलक्षित अपराधी को शुद्ध देखकर उसके उपलक्षक अपराध को स्मृत न करना 'उर अपराध न एकउ धरिही' है।

संगति—बिभीषणरूप में सुमति ने रावण को कल्याणकारी वचन सुनाये थे उनसे सूचित शरणात्मक संकल्पके विवेक को रावण ने अस्वीकृत करना देखकर पुनः उपायान्तर शुक के माध्यम से सुमति 'मिलत' के प्रति सीताप्रदानात्मक इतिकर्त्तव्य सुना रही है जो रावण को सर्वथा अस्वीकार्य होगा।

चौपाई— जनकसुता रघुनाथहि दीजे। एतना कहा मोर प्रभु कीजे॥ ७ ॥

भावार्थ—मेरा छोटा-सा कहना स्वीकार कर आप रघुनाथजी को जानकीजी समर्पित करें।

शास्त्रीय व्याख्या

जनकसुता : सामादि उपायों में रावण द्वारा दिये गए प्रलोभन आदि को ठुकराती हुई स्व को संयत बना कर रहने वाली सर्वथा उपधाशुद्ध असामान्य स्त्री मैथिलीजी 'जनकसुता' से बोध्या हैं।

रघुनाथहि दीजे : तथाविध जनकनन्दिनी ने बहुत सोचकर जिस पुरुष के कण्ठ में वरमाला समर्पित की ऐसे बुद्धिलक्षणौदार्यवीर्यगुणधाम श्रीराम 'रघुनाथ' से बोध्य हैं।

'उर अपराध न एक़हु' कहने से अपराध व तत्परिहार ज्ञेय है उसी को स्मृत न करना 'दीजे' से व्यक्त किया है। यदि सीताजी प्रदत्ता नहीं होंगी तो क्रोधाभाव, अभिमानाभाव सिद्ध नहीं होगा। श्रीराम तुम्हारा अपराध स्मृत करते रहेंगे उसको दूर कराने हेतु 'दीजे' कहा है।

ज्ञातव्य है कि यह सीतादान उपाय रावण को मान्य नहीं होगा परिणाम में सुमति दसानन को सर्वथा त्यागेगी। परिणाम यह होगा कि सुमति ने पहिले जो 'कल्याना' कहा था वही अकुशल में परिणत होगा। इस प्रकार कुमति का पक्ष पूर्णरूपेण स्थिर हो जायेगा।

एतना : 'जनक सुता रघुनाथहि दीजे' 'एतना' से स्मर्तव्य है।

अथवा लंका को विनाश से बचाना सोचकर तत्काल में सीतारूप उपहार समर्पण कर आदिष्टसंधि व स्व की दुर्बलता 'एतना' से व्यंग्य है।

कहा मोर प्रभु कीजे : चक्षुस्संयोगस्थानापन्न दूत वाक्य कहना 'कहा' है तदधीन मंगल लंका में होकर रहेगा अतः वह प्रमाण है न कि उपेक्ष्य है।

चर आप्त-बुद्धिमान् है वह विग्रह संधि की वास्तविक स्थिति को दिखाने वाला होने से चक्षुष् है उसी श्रेणी में रहने वाला शुक 'मोर' शब्द सो बोध्य है।

'प्रभु' शब्द यजमानस्थानापन्न सकलकारकप्रेरक स्वाम्यर्थक है। यद्यपि कार्य करने-कराने में स्वामी ही प्रमाण एवं अनुजीवी प्रेर्य होते हैं तथापि कर्त्तव्यनिर्णय के पूर्व स्वामी प्रमाण का शोध करते हैं वही अवस्था दूत की है उसने अपना दूतकार्य पूर्ण किया।

'कीजे' शब्द प्रार्थनापरक है। इस प्रकार दूतकर्म का उपसंहार पूर्ण है।

संगति—डरा हुआ भयभीत शुक, हमको झुकने का उपदेश दे रहा है अभिमानी प्रकृति रावण को ऐसा दूत स्वीकार्य न होने से उसने दूत को दण्डित करना शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई— *जब तेहिं कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही।। ८ ।।*

भावार्थ—दूत ने जैसे ही वैदेहीदान की चर्चा की ठीक उसी समय शठ रावण ने दूत पर चरण से प्रहार किया।

शास्त्रीय व्याख्या

जब तेहि : वैदेहीदानबोधक वचनोच्चारणाधिकरण काल 'जब' शब्दार्थ है। तच्छब्दार्थ वह दूत है जो रावण के क्रोध का पात्र हो चुका है।

कहा देन बैदेही : दूत ने वैदेहीदान की चर्चा की परन्तु वह चर्चा राजा से उसका विश्लेषण कराने में कारण हो गई; क्योंकि राजा ने विचार किया कि दूत शत्रुपक्ष से मिलकर आए हैं। शत्रु के अनुगामी हो लंका के अपकर्त्ता हो गये तस्मात् वे अब कल्याणबुद्धि नहीं रहे। फलतः रावण ने मित्रता समाप्त करना ही श्रेयस्कर समझा।[1] वस्तुगत्या विश्लेषण का रहस्य यह कि जिसको जीना है उसको रावण ने दूर रखने का निश्चय (दोहा ३८। २) किया है। अभी दूत रावण को जीविताकांक्षी समझ में आ रहे हैं अतएव रावण ने 'देन बैदेही' पर बल दिया ऐसा मालूम होता है।

चरन प्रहार : रावण दूतों को स्वदल से सर्वथा दूर करना इष्ट मानता है इसलिए कि वह अपने समीप में आसन्न मृत्यु की प्राप्ति में उन्हें बाधक समझता है। शुकसारण यहाँ रहकर अन्य सैनिकों, अमात्यों में भेद बढ़ाकर मृत्युप्राप्तिरूप स्वर्ण अवसर से वंचित कर सकते हैं अतः अपमानजनक 'चरन प्रहार' किया।

कीन्ह सठ तेही : दूत मन्त्री पुरोहित सम्मत होने पर भी रावण ने उनको प्रहृत कर स्व का अकल्याण करने वाला होने की सूचना 'सठ' से शिवजी ने उमाजी को दी है। दोहा ५८। १२ चौपाई में शठ का स्वरूप व्याख्यात है।

इस प्रकार अपने ही दूतरूपनेत्र को प्रताड़ित कर रावण ने पूर्णरूपेण अपने को ही प्रभाहीन (अन्धा बनना) करना निरूपित किया हुआ।

संगति—तीक्ष्ण दण्ड से पीड़ित शुकरूप में उपस्थित निरपराध सुमति, रावण को पूर्णरूपेण उपेक्षित कर लंका को त्याग रही है।

चौपाई— *नाइ चरन सिरु चला सो तहाँ। कृपासिंधु रघुनायक जहाँ।। ९ ।।*

भावार्थ—रावण के सामने शिरस् झुकाकर दूत वहाँ चले गए। जहाँ कृपासिन्धु श्रीरामजी व्रतस्थ हो समासीन थे।

शास्त्रीय व्याख्या

नाइ चरन सिरु : भृतिकर्म से निवृत्त होने की सूचना रावण को देना 'नाइ' का भाव है।

---

[1] यावदुपकरोति तावन्मित्रं भवति (नीतिसार जयमंगला ८।७७)

दूतों ने भृतिकर्म व तज्जन्य फल की साकांक्षता (रावणप्रसाद) त्यक्त की ऐसा सोचकर रावणचरणस्पर्श करना 'नाइ चरन' है।

चला सो तहाँ : विरति होते ही उसी क्षण प्रभु के समीप में जाने का क्रम 'चला' से समझाया। उसमें यदि विलंब हुआ तो मनस् की श्रीराम की ओर से निवृत्ति होना संभव है अतः 'चला' कहकर विलंबाभाव स्पष्ट किया।

रावण से विरुद्ध कृत्यपक्ष की श्रेणी में समृद्ध संख्याक दूत 'सो' से समझने हैं।

'चला' का कर्मकारक स्थल तच्छब्दार्थ है।

कृपासिन्धु रघुनायक जहाँ : अत्यल्प सेवामात्रेण प्रसन्न श्रीरघुनाथजी ब्रह्मदण्ड से मुक्त करेंगे, समझाने हेतु 'कृपासिन्धु' कहा है।

'कृपासिन्धु' शीर्षकोक्त तथ्य की यथार्थता के पीछे प्रमाणरूप अभयव्रत के उच्चरिता 'रघुनायक' से सूचित हैं।

'तहाँ' का स्पष्टी करण 'रघुनायक जहाँ' से करना ज्ञातव्य है। आशय है कि शुक व सारण दोनों उस स्थल पर पहुँचे जहाँ व्रतस्थ श्रीराम उदासीन विराज रहे हैं वहीं पर अभी लक्ष्मणप्रभृति उत्तर मन्त्री दूतमुख से रावणोत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

संगति—'मिलत' से अपराध को भूलने की सिद्धि कैमुतिकन्यायेन शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई- करि प्रनामु निज कथा सुनाई । राम कृपाँ आपनि गति पाई॥ १०॥

भावार्थ—शुकसारण ने प्रणाम करते अपनी कथा श्रीराम से सुनाई। पश्चात् वे दूत श्रीरामकृपा से अपनी गति को प्राप्त हो गए।

शास्त्रीय व्याख्या

करि प्रनामु : लंका से लौटे हुए शुक-सारण दूतों से लंका का समाचार सुनने के प्रति जिज्ञासा होना स्वाभाविक है उसके उपशमनार्थ, लंकासमाचार सुनाने के पूर्व दूतों ने श्रीराम को नमस्कार करना 'करि प्रनामु' है। प्रणाम श्रीरघुनाथजी व लक्ष्मणजी दोनों भाइयों को हुआ है। यह प्रणाम अनुजीवि-स्वामी उभयसम्बन्ध का सूचक न होकर भक्तिप्रयुक्त है।

निज कथा सुनाई : रावण के द्वारा अपमानित होने की कथा के साथ मुनित्व से भ्रष्ट होने की कथा भी 'निज कथा' से समझनी है। उसका संक्षिप्त रूप ११वीं चौपाई में स्फुट होगा।

राम कृपाँ : ५७।६ चौपाई में 'मिलत' कहा था। उसमें कैमुतिकन्याय स्पष्ट करने हेतु यहाँ 'राम कृपाँ' कहा है। अर्थात् श्रीराम के संकल्पित कार्य को पूर्ण करने में जो निश्छल हो सेवाभाव में रहने को चेष्टा करता है उसको श्रीरामकृपा सुलभ होती है समझाने के लिए 'राम कृपाँ' उल्लिखित है।

श्रीरामकृपा के सौलभ्य के मूल में—

कुलोद्गतं सत्यमुदारविक्रमं स्थिरं कृतज्ञं मतिमन्तमूर्जितम्।
अतीव दातारमुपेतवत्सलं सुदृष्प्रसाधं प्रविदन्ति विद्विषम्॥[१] वचन चिन्त्य है।

---

[१] नीतिसार-विग्रहविकल्प प्रकरण।

आपनि गति पाई : जो स्वगति व स्वस्वरूप दूतों को मुनिशरीर प्राप्त था वह प्राप्त होना 'आपनि गति पाई' है उसका कारण श्रीरामकृपामात्र है। अर्थात् अगस्त्य महर्षि के प्रति किया दुरपनेय अपराध अब प्रतिबन्धक न रहने से राक्षसशरीर के अवयवों को ध्वस्त कर मुन्युचित अवयवों का यथावत् संयोजन होना 'आपनि गति पाई' है। इतनी शक्ति जब परिजनकृत अपराधनिरास के प्रति श्रीरामकृपामात्र में उनके संकल्प के अनुगमनमात्र से है तब मित्र बनकर रावण सीतादान करता है तो उसके किये अनेकों अपराधों को श्रीराम ने भूलना अर्थसिद्ध है।

संगति—राक्षसशरीरावयवोपचय व मुन्युचितशरीराविन्यासबोधक इतिहास संक्षेप में शिवजी सुनाकर पार्वतीजी को उसकी समाप्ति की याद दिला रहे हैं।

चौपाई—रिषि अगस्ति कीं साप भवानी। राछस भयउ रहा मुनि ग्यानी॥ ११॥

भावार्थ—ज्ञानी मुनि अगस्त्यजी के शाप से राक्षस के रूप में परिणत हो गये थे। वे अब पुनः मुनि हो गए।

शास्त्रीय व्याख्या

रिषि अगस्ति : ६६ सहस्रवत्सरपर्यन्त प्रार्थनारत तपोनिष्ठ जीव ऋषि होते हैं। या जिनको जन्मतः ऋषि की अर्हता प्राप्त हो वे मुनि ऋषि हैं। अगस्त्यजी उनमें से द्वितीय कोटि के प्रसिद्ध ऋषि हैं।

साप भवानी : गोसाईंजी को परंपरा से शुक-सारणसम्बन्धी इतिहास अवगत है। अथवा शिवपुराण में सारण-शुकेतिहास चर्चित हो सकता है। अगस्त्यजी के वचन में रहा तेजस् मुनि ज्ञानी के शरीर को परिवर्तित करने में सक्षम था वही यहाँ 'साप' से दर्शाया है।

'भवानी' संबोधन साभिप्राय है। वह यह कि तुमने श्रीराम के प्रति जो प्रश्न किए थे उनका समाधान शुक-सारण चरित्र से स्मर्तव्य है। यतः ब्रह्मदण्ड से जीव को छुड़ाने का सामर्थ्य श्रीरामकृपा में ही निहित है।

राछस भयउ रहा मुनि ग्यानी : मुनि शुक-सारणशरीरारंभक अवयवों में मुन्युचित रूप रसादि का नाश होना व राक्षस शरीरांभक अवयवों की रचनानुकूल रसादि गुणों की निर्मिति होना—इन दोनों प्रकार के कार्य में क्षणविलंब प्रतीत न होने से शुक-सारण शरीर को ही 'राछस भयउ रहा मुनि ग्यानी' कहा है। ये दूत पूर्व शरीरसंपर्क में जो धर्म अर्जित कर सके उसके प्रभाव से राक्षसदेह में प्रखर, सूक्ष्मबुद्धिवाले व स्वामिभक्ति से संपन्न होने के कारण रावण के अमात्य दूत बन गए। फलतः अभी शुक-सारण के लिए ज्ञानादि तत्त्व निवृत्ति मार्ग की ओर ले जाने में समर्थ हो गए। अतः 'राछस भयउ रहा मुनि ग्यानी' कहना उपपन्न है।

संगति—स्वरूपान्तर उपकृतिप्रकाशन में मुनि ने कृतज्ञता का प्रकाशन करते हुए स्वाश्रम की ओर जाना सुना रहे हैं।

चौपाई— बंदि राम पद बारहिं बारा। मुनि निज आश्रम कहुँ पगु धारा॥ १२॥

भावार्थ—पुनः पुनः श्रीरामचरणों की वन्दना करके मुनि अपने आश्रम में चले गए।

शास्त्रीय व्याख्या

बंदि रामपद : विनयपूर्वक नमस्कार से अपने में अपकर्ष का बोध 'बंदि' से सूचित है।

तमःपुंज को दूर करने में सक्षम रजःकण की प्राप्ति होना जिनके पदकमल से संभव है वे 'राम पद' से चिन्त्य हैं।

बारहिं बारा : शरीरान्तरप्राप्ति के लिये प्रतिबन्धक शाप से मुक्ति होने की उपकृति के स्मरण में पहिला नमन है। भविष्यत् में कदापि शाप की सम्भावना न होने की उपकृति में पुनः नमन करना 'बारहिं बारा' का प्रयोजन है।

मुनि निज आश्रम : दूतों ने दूतकार्य पूर्णतया संपन्न किया अब उनका निज आश्रम की ओर जाना 'मुनि निज आश्रम कहुँ पगु धारा' है।

संगति—दूतचरित्र पूर्ण कर दोहा ५१। १७ से सम्बन्ध जोड़ते हुए श्रीतुलसीदासजी प्रभु की प्रार्थना पर समुद्र की ओर से होने वाली चुपकी की प्रतिक्रिया सुना रहे हैं।

दोहा— बिनय न मानत जलधि जड़ गए तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति॥५७॥

भावार्थ—तीन दिन बीत गए समुद्र विचारशून्य हो स्वस्थ है। वह जहाँ-के-तहाँ अचल बैठा है। प्रार्थना सफल होने में देर है। अतः श्रीराम क्रोध में बोल पड़े कि विना भय के प्रीति नहीं जगती।

शास्त्रीय व्याख्या

बिनय न मानत : 'बिनय' से प्रार्थना प्रधानकर्मरूप में बोध्य है उसकी इतिकर्तव्यता अपनाये हुए व्रत में है।

प्रार्थना पूर्ण होने में विलंब होना 'न मानत' है।

जलधि जड़ : 'बिनय न मानत' के प्रति हेतुता समझाने हेतु 'जलधि जड़' कहा है। आशय यह कि अराक्षसी मही की प्रतिज्ञा करने से प्रभु के लिए एक ओर मित्रपक्ष और दूसरी ओर द्वेष्टृ पक्ष उभर आया है। उसमें से देव, गुरु समुद्र आदि मित्रपक्ष में हैं। समुद्र की मित्रपक्षता हनुमान्‌जी के विश्राम के लिए मैनाक को भेजने से सिद्ध हो चुकी है। अभी समुद्र देव के न आने से उसकी उदासीनता स्पष्ट हो रही है अर्थात् वह मित्रता से मुड़ रहा है यही जलधि की जड़ता है। ज्ञातव्य है कि समुद्र के उक्त जड़त्व को प्रगट कर प्रभु ने, कृपा न होने में कारणों की गणना करते हुए उनके प्रति सावधानी बरतने का उपक्रम किया मालूम होता है। जैसा कि अग्रिम चौपाइयों से स्पष्ट है। क्योंकि वस्तुगत्या समुद्र उदासीन (जड़) नहीं है अपितु वह उत्तरतीरवासी दुष्टों को मारने की योजना पूर्ण करने हेतु श्रीरामसम्मुख नहीं हो रहा है यह भी उसका एक गुण है जो आगे स्पष्ट होगा।

गए तीनि दिन बीति : चतुर्थ दिवस के सूर्य का उगना 'गए तीनि दिन बीति' का आशय है। यह उक्ति श्रीरामस्थल पर विराज रहे सुग्रीवादि की उत्साहसमृद्धि को स्थिर करने हेतु स्मर्तव्य है।

बोले राम सकोप तब : बिभीषणोक्त्यनुगमन में विनयधर्त्ता व लक्ष्मणोक्त्यनुगमन

के अनुष्ठाता श्रीराम 'राम' से चिन्त्य हैं।

'श्रीराम कोप में धनुष उठायें' समुद्र देव इतना ही चाहते थे। वह मनोरथ अभी 'सकोप' से पूर्ण हो रहा है। समुद्र देव पर श्रीराम ने किया यह कोप कृपाहेतुक है न कि जड़तापराधप्रयुक्त। अतः यह श्रीरामचरित्र शिक्षामूलक है।

सत्वगुणसंपन्न श्रीराम के कोप की समयसूचकता 'तब' से व्यक्त है।

भय बिनु होइ न प्रीति : स्वामी या प्रभु ने कृपा करने के अनेकविध उपायों में से एक उपाय उनकी प्रीति प्राप्त करना है जो अनुजीवी के लिए अत्यपेक्षित है उसमें प्रतिबन्ध करने वाली अनुजीवी की जड़ता (उदासीनता) है। इस प्रतिबन्धक को निरस्त करने का कार्य भय करता है। अर्थात् 'स्वामिनं प्रति विनयसंपृक्त भयसत्वे जड़ता (उदासीनता) न भवति' समझाना श्रीराम को इष्ट मालूम हो रहा है।

'अहितमत्यधिकं भविष्यति स्वामिनोग्रे अनुपस्थितौ सत्यां' ऐसी धारणा अनुजीवी या परिजनों ने बनाए रखना 'भय' है उसका अभाव 'भय बिनु' है। यही दण्डभय त्रयी व आगम ने अपने निषेध वचनों से दर्शाया है।

संगति : अतिपूता पतिव्रता सीताजी को छुड़ाने में उदासीन जलदातात्म्यापन्न समुद्र प्रतिबन्धक हो रहा है अतः उसके शोषण की प्रक्रिया सुना रहे हैं।

चौपाई— ***लछिमन बान सरासन आनू। सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू॥ १॥***

भावार्थ- हे लक्ष्मण! मेरा धनुर्बाण ले आओ। मैं अग्निबाण से वारिधि को सुखाता हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

लछिमन : व्रतस्थ होने से श्रीराम धनुष् से रहित थे। अभी व्रत समाप्त होने से श्रीराम ने जिनसे धनुष माँगा वे लक्ष्मणजी 'लछिमन' से बोध्य हैं।

बान सरासन आनू : आग्नेयमन्त्र से अभिमन्त्रित करने की अर्हता जहाँ है वही 'बान' से बोध्य है।

ज्ञातव्य है कि वनवास का संकल्प लेकर वनवासी श्रीराम ने क्षात्रधर्म का त्याग नहीं किया है। अभी लक्ष्मणजी के हाथों धनुर्बाण सौंपना नैमित्तिक प्रसंग की उपस्थिति से हुआ था सो व्रत पूर्ण हुआ। समुद्रजी भी श्रीरामदर्शनाभिलाषी हैं पर निमित्तवशात् उन्होंने श्रीराम को दर्शन नहीं दिया उस निमित्त को स्पष्ट करने हेतु 'बान सरासन' माँगना नीति है न कि क्रोध है।

लक्ष्मणजी की इच्छा पूर्ण करने की चर्चा श्रीरामजी ने ५१-५ में की थी उसकी पूर्ति होने का समय 'आनू' से कहा है।

सोषौं : जलतादात्म्यापन्न समुद्र देव अभी उदासीन हैं उनकी उदासीनता दूर करने हेतु भयप्रदर्शन की अपेक्षा 'सोषौं' से कही है।

बिसिख कृसानू : अग्निबाण से निकली प्रज्वलित ज्वाला से समुद्रजी का जलात्मक शरीर व तत्संपर्क में रहे जलचरों के तड़पने से जलतादात्म्यापन्न समुद्रदेव ने दर्शन देना 'बिसिख कृसानू' से समझाया है।

संगति—श्रीरामकृपाप्राप्ति के लिए प्रतिबन्धकरूप में भय के अभाव की तरह

अन्यान्य दोषों का निरूपण प्रभु स्वयं कर रहे हैं।

चौपाई— *सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुंदर नीती।। २।।*
ममता रत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी।। ३।।
क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बएँ फल जथा।। ४।।

भावार्थ—मुर्ख से प्रार्थना, विसंवादी से कांचनसन्ध्यात्मक प्रीति, दंभी से सुन्दर-काण्डस्थ नीति, ममभाव में तत्पर से ज्ञान, अति लोभी से वैराग्य, अक्षमाशील से शम, व कामनिपुण को हरिकथा सुनाना ऊसर जमीन में बीज बोने के समान है।

शास्त्रीय व्याख्या

सठ सन : यहाँ 'सठ' शब्द जड़ (उदासीन) अर्थपरक है वह पूर्व दोहे में व्याख्यात है। अर्थात् जड़त्व प्रभुकृपाप्राप्ति में प्रतिबन्ध करता है क्योंकि जड़ में भयाभाव होता है। फलतः वह अनुजीवी या सेवक को प्रभुकृपा से दूर करता है।

बिनय : बुद्धिमन्द, उदासीन के आगे विनयपूर्वक प्रार्थना करना, ऊसर में बीज बोने के समान है।

कुटिल सन प्रीती : विसंवादी, अकल्याणकृत् 'कुटिल' होता है। 'अयं मे हितं साधयिष्यति' ऐसा विश्वास कर 'कुटिल' से प्रीति करना व्यर्थ है परिणाम में कुटिलता श्रीरामकृपा को प्रतिबन्ध करती ही है।

सहज : सहज का अन्वय प्रीति में समझना है। दो सात्विक साधुओं के बीच में मान, मद, दम्भ आदि न होने से उनमें सहज प्रीति होना स्वयंसिद्ध है। वही प्रीति कुटिल में कभी निष्पन्न नहीं होती।

कृपन : सदा जन्मतः कीर्तिकर कार्यसम्पादन के प्रति कृत्यसाध्यता का निश्चय होना कृपणता है।

सुंदर नीति : धर्मादि त्रिवर्गफलप्राप्ति के मूल में ईश्वरकृपा होना निर्णीत है। वही नीति का सौन्दर्य है। सुन्दरकाण्ड में प्रोक्त सारभूत नीति 'नीति' पर से ज्ञातव्य है।

ममता रत : देह और तत्संबद्ध में मम भाव रखने वाले 'ममता रत' है।

ग्यान कहानी : 'इदं शरीरं नश्वरं, तुच्छं, क्षणभंगुरं, विनाशि; दुःखबहुलं, वियोगशीलम्' इस प्रकार के तत्व समझाने वाले को ममतारत प्राणी आत्मज्ञानोपदेशक न समझकर काष्ठसन्निभ कहानीकार समझते हैं। 'बहुभद्रकं मे लुप्येत' वासना से वासितान्तःकरणवालों को आत्मज्ञान की चर्चा सुनाना ऊसर में बीज बोना है।

अति लोभी : 'अति' से लोभ की उत्कटता, असीमितता ज्ञेय है वह कामिनीजिज्ञासा की तरह परद्रव्य से विरत होने को प्रतिबन्ध करती है।

'लोभी' शब्द नीतिशास्त्र के मत में परद्रव्यहरण में ही हित समझने में संकेतित है। नीति या भक्ति तभी अनुष्ठेय होती है जब नीतिमान् या सेवक निर्लोभ हो अत्यन्तदुरपनेय लोभ का त्याग करता है। ध्यातव्य है कि परराष्ट्रविजय यदि प्राप्तव्य है तो उसके लिए लोभवर्जन सर्वथा निन्द्य नहीं है। पर 'अति लोभी' होना वहाँ भी निन्दित है।

बिरति : 'बिरति' से तृष्णोपशमन समझना है तृष्णा के रहते कृपा नहीं हो सकती

अतः लोभी के लिए बिरति कहानीमात्र है।

'बिरति' का दूसरा पर्याय यहाँ तृष्णाक्षय है।

भक्ति व नीति विरतिरूप इन्द्रिय जय से अभ्यर्हित है वह लोभी को स्वीकार्य नहीं है उस स्थिति में लोभी कृपापात्र हो नहीं सकता 'विरति' की ओर ले जाने तथा लोभ पर अंकुश देने के लिए तीक्ष्णदण्ड नीति में वीहित है।

क्रोधिहि : क्रोध से अक्षमा समझना है। क्रोधी का न कोई गुरु है न बन्धु ही। क्रोधी रौद्रप्रकृति होता है उसका स्थायी भाव क्रोध है उसमें धृति मति का अभाव रहता है। वह शम को पसन्द नहीं करता है। क्रोध से होनेवाले सम्पत्तिविनाशत्व को समझाने में उदाहरणतया जनमेजयादि के चरित्र पुराणों में निरूपित हैं।

कामिहि : 'कामिहि' से भोगेप्सु चिन्त्य हैं। यह ईप्सा उत्तरोत्तर बढ़ती जड़ता को छोड़ती ही नहीं। चिन्त्य है कि 'जड़' से 'कामिहि' तक जितने तथ्य उच्चरित हैं वे सभी श्रेयस् से वंचित करने के साथ गुणसमूह से भी शून्य करते हैं।

हरिकथा : तर्कयुक्त सिद्धान्ततत्त्व से हरिचरित्रों को हरिकथा के माध्यम से समुचित समझा जाय एवं उसको अपने जीवन में उतारा जाय तो हरिकथा संसारिक क्लेशों से उबारने वाली होती है पर कामी हरिकथा के गुणरहस्य को समझ नहीं पाते अतः हरिकथा उनके हृदयरोगों को ध्वस्त नहीं कर पाती[१] किंबहुना विपरीत अर्थ की ओर मोड़ती है।

ऊसर बीज : ऊसर जमीन में नीरसता रहने से उस भूमि में बीज जम नहीं पाते उसी तरह जड़त्वादि दोषयुक्त जीवों में विनयादि गुण का वैयर्थ्य समझना है।

ऊसरसम जड़-कुटिल से विनय व प्रीति की जाय तो भी वह फलित नहीं होती। अतः जड़ व कुटिल से विनय व प्रीति करना व्यर्थ है।

दंभी को नीति के प्रति नीति में अहितसाधनताबुद्धि बनी रहने से उनके सामने नीति विफल होती है। ममतारत के हृदय में अज्ञता का आवरण टिके रहने से ज्ञान विफल होता है। लोभी को वैराग्य (विराग) होना ही नहीं है। उसके लिए विरति खपुष्प के समान है। क्रोधी क्षमा करना जानता ही नहीं उसको क्षमा के प्रति आदर न होने से वह श्रीकृपा से वंचित रहता है। कामी की चर्चा ऊपर उक्त है। इस संपूर्ण चर्चा से समझना यह है कि जड़, कुटिल, दंभी, लोभी, क्रोधी, ममतारत कामी व्यक्तियों से कार्य लेना है तो उनको प्रथमतः दण्डभय दिखाना ही नीति है। अर्थात् ये जब अपने को पीड़ित होते देखते हैं तब वे सन्तप्त हो सन्धान के योग्य होते हैं उस वक्त उन्हें नीति समझायी जाय तो वे सुपथगामिता अपनाकर एक इकाई के रूप में संघटित होंगे तो उनमें शक्ति प्रगट होती है। इस प्रकार पंचविध प्रकृतिमण्डल में अनुलोम दण्डप्रणयन की अत्युपयोगिता समझकर एक इकाई की स्थापना समझाना कवि का कौशल है।

ज्ञातव्य है कि उक्त दोष वस्तुगत्या समुद्रजी में न होने से वे दण्ड्य नहीं है किन्तु उनके दर्शनार्थ प्रभु अपेक्षित उपाय विशेष नीतिरूप में प्रगट करेंगे। जो आगे स्फुट होगा।

संगति—श्रीराम शरसन्धानात्मक नीति को अनुष्ठेयतया पूर्ण करने जा रहे हैं।

---

[१] कामादि का उदाहरण धर्मविजय व प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में द्रष्टव्य है।

चौपाई—अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥ ५॥

भावार्थ—शिवजी कहते हैं कि कल्याण के प्रति दर्शाए विनयादि का आयति में सार्थक्य होते हुए भी तत्काल में वैयर्थ्य देखकर रघुपति ने समुद्रदर्शनार्थ नान्तरीयकतया अपेक्षित सन्धानार्थ चाप चढाया जो लक्ष्मणजी के मनोनुकूल था।

शास्त्रीय व्याख्या

अस कहि रघुपति : प्राप्तव्य साहजिक कृपा के प्रति प्रबिन्धक 'सठ सन बिनय' इत्याद्युक्ति 'अस कहि' से बोध्य है।

अपराधी कण्टकों को नीति की ओर ले आने का कार्य क्षत्रियाधीन है वही कार्य वंशानुरूप श्रीराम ने करना 'रघुपति' का भाव है।

चाप चढावा : धनुष् पर प्रत्यञ्चा लगाकर बाण रखना 'चाप चढावा' है। शर चढ़ाने के अनन्तर ही अनल आदि के मन्त्र पढने होते हैं। मन्त्र स्वयं निगमागमसेवी पर प्रसन्न हो सेवक के सत्य संकल्प को पूर्ण करते हैं इसी हेतु से निगमागमसेवी श्रीराम आरम्भ से ही नीतिशास्त्रानुगामी प्रमाणत्रयानुयायी रहते हुए माता-पिता की आज्ञा से वनवास कर रहे हैं। ऐसा होने से ही श्रीराम ने मन्त्र पढ़ने हेतु चाप चढ़ाना 'चाप चढ़ावा' है।

यह मत लछिमन के मन भावा : बिभीषणोक्ति से समुद्रदर्शन की अवश्यंभाविता समझकर भी लक्ष्मणोक्ति की अन्वर्थता में समयानुसार औचित्य के अनुकूल श्रीराम ने अपनाई 'चाप चढ़ावा' कार्यान्वयिनी मति 'यह मत' से बोध्य है।

ज्ञातव्य है कि समुद्र की अनुपस्थिति देखकर श्रीरामजी को चाप चढ़ाने से बिभीषणजी खिन्न हुए हों और लक्ष्मणजी स्वमत का कार्यान्वयन होता देखकर प्रसन्न हुए हों ऐसा नहीं अन्यथा अदूरदर्शिता आदि दोष की प्रसक्ति लक्ष्मणजी, समुद्रजी व बिभीषणजी में स्वीकार्य करनी होगी। अतः कहना यह है कि समुद्र का उक्त मानसिक निर्णय (स्वोत्तरतटवासी राक्षसवधार्थ अपेक्षित) के अनूकुल 'चाप चढ़ावा' जब तक कार्यान्वित न होगा तब तक दर्शनं न होगा। बिभीषणजी के लक्ष्मणजी के हृदय में पूर्व ही प्रतिभात रहा है। अतः श्रीरामभक्त समुद्रदेव बिभीषणजी व लक्ष्मणजी की मूलाधारसम्बद्ध तन्त्री एक समान होने से किसी का विरोध न होना 'मन भावा' से प्रगट है।

संगति—समुद्र की इच्छा एवं लक्ष्मणजी व बिभीषणजी की एकवाक्यता में शरसंधानक मन्त्र पढ़ना श्रीरामजी ने चाहा उतने में विद्या देवी ने समुद्र की आन्तरिक अग्नि ज्वाला को भड़काकर उसको मनोरथसिद्धि की सूचना देने का जो क्रम चलाया वह क्रमशः आगे स्फुट कर रहे हैं।

चौपाई— संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अंतरज्वाला॥ ६॥
मकर उरग झष गन अकुलाने। जरत जंतु जलनिधि जब जाने॥ ७॥

भावार्थ—श्रीरामजी ने ज्यों ही बाणसन्धान किया समुद्र के हृदय में अन्तर्ज्वाला का स्पर्श हुआ। साथ-ही-साथ जलचरों की पीड़ा व उनकी व्याकुलता भी समुद्र को अनुभूत हुई।

शास्त्रीय व्याख्या

सन्धानेउ : धनुष् की प्रत्यञ्चा पर बाण रखना ही सन्धान है। सन्धान करते समय

श्रीराम ने समुद्र को उदर्यअग्नितादात्म्य शरोद्भूत अग्नि में प्रतिभात कराना स्मर्तव्य है।

बिसिख कराला : उपर्युक्त ज्वाला का प्रतीक बाण 'बिसिख' है जिनका उत्तरतीरवासी समूह के जीवनध्वंस में समर्थ होना ही 'कराला' है। ध्वंस होने से शरसंधान का सार्थक्य चिन्त्य है।

उठी उदधि : श्रीराम ने कोप के बहाने समुद्र से सन्धि करना चाहा है जो स्वसंविद्य है। उसे 'उठी' अन्तर्ज्वाला से व्यक्त किया है। 'उठी' 'ज्वाला' से अन्वित है। शरसंधान से श्रीराम ने जिसके हृदय में ज्वर का स्पर्श कराया है वे 'उदधि' हैं।

उर अंतर ज्वाला : रसवाही नाड़ियों का मूलस्थान हृदय है वहाँ से चारों ओर धमनियाँ फैली हैं उन्हीं धमनियों के माध्यम से समुद्र की अन्तर्ज्वाला चल पड़ी। फलतः प्रथमतः उष्णस्पर्श का अनुभव उरस् को हुआ अतः 'उर' कहा है।

मूलाधारस्थ अग्निज्वाला का समुद्र के रसवाही नाड़ियों में प्रवाहित होना 'अंतरज्वाला' से स्फुट है। वह उष्णता समुद्र के हृदय को छू रही है। परिणाम में वह ज्वाला समुद्रजल को पीड़ा पहुँचाने लगी तब उसने समझा कि श्रीराम को दर्शन देने में जो उदासीनता स्वीकारी थी उसके द्वारा अनुमित श्रीराम का क्रोध निरस्त करने का अवसर प्राप्त है। यह अंतरज्वाला का सार्थक्य है।

मकर उरग : समुद्र की उष्णता के परिणाम में संपूर्ण जलशरीर गरम हो गया फलतः तदाश्रित जलचरपरिवार सभी पीड़ित हो गया।

जनपद की या मन्त्रिमण्डलान्तरर्वर्तिनी प्रजा को सुरक्षित रखना विहित होने की सूचना 'उरग' से समझनी है। यहाँ प्रत्याहारन्यायेन मकर मीन उल्लिखित हैं।

अकुलाने : ज्ञातव्य है कि सृष्टिक्रम में अग्नि से जल प्रगट है सृष्टि के प्रतिलोम्य में जल अग्नि में समाविष्ट होता है। वही प्रतिलोम क्रम श्रीरामकोप ने प्रारंभ किया। समुद्र का जल अत्युष्ण हो गया उससे जलचरों की व्याकुलता 'अकुलाने' से प्रगट है।

जब जाने : श्रीराम के शरण में पहुँचने का अवसर 'जब' से सूचित है। अभी समुद्र ने अपनाई शरणागति से यह लाभ होगा कि जलचरों व लोक की सम्मति जलसन्तरण के प्रति प्राप्त होगी। प्रभु का यशस् समृद्ध होगा। पुल पार करते समय जलचरों को आनन्दित प्रभु का दर्शन करने का अवसर प्राप्त होगा।

संगति : 'जब जाने' शीर्षक में सूचित उपाय व समुद्र ने श्रीरामशरणाणति के अनुरूप जलानवच्छिन्न देह प्रगट होना ग्रन्थकार सुना रहे हैं।

चौपाई— कनक थार भरि मनि गन नाना। बिप्र रूप आयउ तजि माना॥ ८॥

भावार्थ—निरभिमानी हो समुद्र देव विप्ररूप में सुवर्ण की थाली में मणियों, रत्नों को भरकर श्रीराम के सामने उपस्थित हुए।

शास्त्रीय व्याख्या

कनक थार भरि : रिक्तपाणि हो राजा, गुरु, देवता का दर्शन निषिद्ध होने से रत्नाकर ने उदारस्वभावानुरूप स्वर्णस्थालि को रत्नों से पूर्ण करना 'कनक थार भरि' है।

बिप्ररूप : कोप के परिणाम से बचने व ब्रह्मण्यदेव को युक्तिपूर्वक शान्त करने हेतु

'बिप्ररूप' धारण करना चिन्त्य है।

तजि माना : यद्यपि कार्यवशात् सागर देव ने सोचकर उदासीनता अपनायी थी तथापि वह उदासीनता मान के रूप में परिणत हो गई यतः विनय सुनते ही उपस्थित न होने से प्रत्यक्षप्रमाणसंपृक्तनीतिदृष्ट्या समुद्र देव विनीत न होकर मानी हो गए। नहीं तो वे उदासीन बुद्धिमान् कल्याणबुद्धि होने के कारण प्रार्थना सुनकर सम्मुख होते। अतः सागर कीं अनुपस्थिति का कारण मान हो गया। यद्यपि ऐसा है तथापि प्रत्यक्षतया मान में परिणत उदासीनता प्रकृत में दोष न होकर उत्तम फल पर्यवसायिनी होने से स्तुत्य है।

संगति—श्रीराम ने कहे 'भय बिनु होइ न प्रीती' इत्यादि वाक्य एवं शिवजी ने सुनाए 'मान तजि' वाक्य की एकरूपता को ध्यान में लाने वाले भुशुण्डीजी मान की दुरपनेयता व श्रीरामप्रीतिबन्धकता को समझाने हेतु अपने ऊपर बीती दुर्गति का प्रकाश आगे ध्वनित कर रहे हैं।

दोहा— काटेहिं पइ कदरी फरइ कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटहिं पइ नव नीच॥ ५८॥

भावार्थ—केला तभी फलता है जब केले का पेड़ काटा जाता है अन्य कोई उपाय किया जाय तो पेड़ नहीं बढ़ता। हे गरुड़जी! जड़प्रकृति विनय से नहीं झुकते न वश ही होते हैं उनको मार्ग पर ले आने का एकमात्र उपाय दण्डभय है।

शास्त्रीय व्याख्या

काटेहिं : भुशुण्डीजी, शिवजी, गोसाईंजी एवं अगस्त्यजी के विचारों से कहना यह है कि जो अधम अभिमानी है वह किसी वृद्ध के अंकुश में रहना नहीं चाहता उसको दण्डित कर प्रभु की ओर ले आना भक्तिरक्षित नीति का कार्य है उसी को 'कदरी' दृष्टान्त से समझाया है न कि समुद्र देव को नीच या दण्ड्य बनाने में कवियों का अभिप्राय है।

भुशुण्डजी गरुड़जी को नैतिक सिद्धान्त सुनाकर सुन्दरकाण्ड की अभिप्रेत नीति के प्रतिबन्धक मूल तत्व को पुनः उच्चरित कर उसके निरसन का प्रकार 'काटेहिं पइ कदरी फरइ' दृष्टान्त से समझा रहे हैं जो अत्यन्त व्यावहारिक है।

ज्ञातव्य है कि गोसाईंजी मानवतास्थापना लंकाकाण्ड में 'सौरज धीरज'[१] आदि से प्रकाशित करेंगे उसके साथ शास्त्र (शब्द) की उच्चतर प्रमाणता[२] भी उसी काण्ड में निर्दिष्ट होगी। उसके परिवार रूप में यहाँ प्रतिबन्धक व उसका परिहार बताना उनको इष्ट है उन सब का पर्यवसान नीतिपोषित भक्ति में ही होना है अतः यह सुन्दरकाण्ड है।

बिनय न मान खगेस : 'बिनय' ५।५८।२ में व्याख्यात है।

जिस विनय की महत्ता को भुशुण्डीजी समझा रहे हैं उसका पूर्ण अनुभव गरुड़जी को भी प्राप्त है। इस निस्संन्दिधता को 'खगेस' संबोधन से परिचित कराया है।

डाटेहिं पइ नव नीच : वध, परिक्लेश, अर्थहरण, दण्ड आदि 'डाटेहिं' से चिन्त्य है। 'नव' से यहाँ बालक ग्राह्य है। यह चपलस्वभाव अविमृश्यकारी होता है।

---

[१] श्रीरामचरितमानस ६।८०।५

[२] श्रीरामचरितमानस ६।६१।६

कुटिल जड़ आदि सभी जो श्रीराम ने कहे हैं वे सभी 'नीच' से बोध्य हैं।

नव एवं नीच दोनों ही देश, काल व शक्ति की सूक्ष्मता को समझते नहीं न तो शास्त्राज्ञा सुनकर तदनुयायी होना ही इष्ट मानते हैं। विवेक का स्पर्श उनको होता ही नहीं। नव एवं नीच दोनों शास्त्र के आन्तरिक रहस्य से अनभिज्ञ होते हैं उन्हें लाघव-गौरव समझ में नहीं आता। किसी के सामने झुकना दोनों के लिए दुःखदायी होता है। जड़, कुटिल, ममतारत, कृपण, लोभी, कामी न झुकने में ही अपने को गौरवान्वित समझते हैं। इनका व्यवस्थापक राजशासन है जो उन्हें मर्यादित रखता है।

संगति—सुन्दरकाण्ड में सूचित संक्षिप्त नीतिसार व तत्प्रतिबन्धक तत्त्व के प्रति सैद्धान्तिक रहस्य (भक्तों के ध्यानाकर्षणार्थ) सुनाकर ५८।८ के साथ सम्बन्ध जोड़ते हुए समुद्र देव का प्राकट्य व उन्होंने याचित क्षमा सुना रहे हैं।

चौपाई— *सभय सिंधुं गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥ १॥*

भावार्थ—सभय (विनीत हो) समुद्र प्रभु के चरणों को पकड़कर निज अवगुणों के प्रति क्षमायाचना करने लगे।

शास्त्रीय व्याख्या

सभय : 'सभय' से समुद्र का नय स्मरणार्ह है। दोहा ५८।८ चौपाई में उक्त 'तजि माना' में नान्तरीयकतया स्वीकृत मान का त्याग 'सभय' से ध्वनित है। अथवा बाणसन्धानप्रयोजक कोपमात्र से धनुर्विद्या ने आगमनिगमसेवी श्रीराम के संकल्प को समझकर मूलाधारस्थ अग्निज्वाला को भड़काकर उसे रसवाही नाड़ी के माध्यम से समुद्र के सम्पूर्ण देह में उष्णता संचारित कराने पर मृत्युतुल्य व्यथा सिन्धु को होना 'सभय' से समझना है।

सिंधु गहि : सिन्धु शब्द समुद्र के मनस् के द्रवीभाव का द्योतक है जो प्रीति का भी सूचक है। धर्मविजयी के सामने द्रुत हो शरणार्थी पहुँचता है तो वह अभ्यपद्यैव क्षम्य होता है। जो अग्रिम चरित्र में स्पष्ट होगा।

पद प्रभु केरे : चाप चढ़ाने हेतु नान्तरीयकतया गृहीत मान को अपनाकर उदासीन सिन्धु ने स्व की आन्तरिक ज्वालापीड़ा के परिहारार्थ औषध रूप में प्रभुपद को पकड़ना 'पद प्रभु केरे' का भाव है।

छमहु नाथ सब अवगुन मेरे : शरणागत के अपराध को भूलने का स्वभाव प्रभु का होने से समुद्र देव ने श्रीराम से क्षमाप्रार्थना की जो सफल चिकित्सा में परिणत होकर रहेगी। क्षम्य अपराध क्या है? इसका समाधान अवगुण से स्पष्ट कर रहे हैं। आशय यह कि अपने घर के समीप में प्रभु के आने पर उदासीन ने भी तत्काल उठने की परंपरा निगमागमसम्मत है वैसा समुद्र ने न करना मानी होने का परिचायक है वही अवगुण है।

उक्त दो अपराध 'छमहु' से अन्वित हैं। यद्यपि समुद्र ने अपनाया उदासीनत्त्व व मान कार्यगौरवदृष्ट्या दोष नहीं है तथापि वह रहस्य होने से नैतिक व्यवहार में दोष ही के रूप में ज्ञातव्य है अतः 'छमहु नाथ सब अवगुम मोरे' कहना उपपन्न है।

दोष एवं उनके परिहारोपाय के ज्ञाता होने पर भी श्रीराम के प्रति शरसन्धानप्रयोजक कोप स्वरूपतः स्वयं कारण बनने वाले एवं उदासीनता को प्रतिभासित कराने वाले समुद्र

देव मच्छब्दार्थ हैं।

प्रसंगात् स्मर्तव्य है कि कुलगुरु समुद्र यहाँ देवरूप में विराट् पुरुष की सेवा करने वाले हैं उक्त चौपाई में क्षमाप्रार्थी के स्वरूप में स्थित हैं। किन्तु प्रस्तुत के समुद्रवाक्य चेतनभूत समुद्रात्मक उस देव के हैं जो जलानवच्छिन्न हो देवस्वरूप से स्वर्गलोक में विराजते हैं। एवंच जलानवच्छिन्न समुद्रदेव के प्रति श्रीराम ने दिये कोपात्मक दण्ड की सफलता जलानवच्छिन्न जलाभिमानी गुरु समुद्र ने दिए दर्शन से सिद्ध हो गई।

संगति—'बिनय न मानत जलधि जड़' कहकर प्रभु ने जलावच्छिन्न समुद्र को जड़ कहा उसकी समीक्षा जलानवच्छिन्न समुद्र प्रभु के जगत्कर्तृत्व से कर रहे हैं।

चौपाई- ***गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥ २॥***
तव प्रेरित मायाँ उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए॥ ३॥

भावार्थ—मूलतः आकाशादि पाँच महाभूतों की (शरीर) प्रकृति तमोमयी होने से उनकी करनी जड़मयी है। अतः उस प्रकृति को दोष रूप में नहीं गिना जाता। उनकी उत्पादिका आपकी माया ही है उसके पीछे आधारभूता कहकर पुराणवाणी व सभी ग्रन्थों की एकवाक्यता है।

शास्त्रीय व्याख्या

सहज जड़ करनी : प्रभु ने जड़ कहकर जलावच्छिन्न समुद्र को दोषी ठहराया उसके उत्तर में सिन्धु ने 'सहज जड़ करनी' सुनाकर इष्टापत्ति कहते हुए जड़त्व में दोषमुक्ति बतायी। जड़त्व का स्वरूप परप्रेरणामात्र से ही कार्य करना है। उसको सर्वथा सुख-दुःख का भान न होना जड़ प्रकृति की महत्ता है। ऐसी अवस्था में आपके द्वारा अपनाया हुआ दण्ड नीतिमत में अनुलोम नहीं होगा।

'सहज जड़' से कुलगुरु के अतिरिक्त समुद्र जलावच्छिन्न देव समझने होंगे। वह जल के समान अति मोह में अपने को जड़ मानता हुआ स्वतन्त्र रूप से सक्रिय नहीं हुआ उसमें विस्मय नहीं है। जैसे पूगीफल (सुपारी) या पाषाण में आवाहित देव। अतः पूर्वापर में विरोध नहीं है।

माया : 'माया' से प्रकृति ज्ञातव्य है। जो कालमहिम्ना स्वयं क्षुब्धा होने पर पुरुष (श्रीराम) की इच्छापर क्रियाशील होती है। वही सृष्टि-स्थिति एवं लय की कर्त्री हो पंचमहाभूत की उपादान होती है।

ग्रंथनि गाए : सृष्टि के आरम्भ में उत्पत्तिक्रम देखने वाला कोई नहीं होता है न तो प्रलय में कोइ जीवित रहता है। अतः सृष्टिक्रम व प्रलय समझाने में प्रत्यक्षादिप्रमाण उपयुक्त न होने से समुद्र देव ने 'ग्रंथनि गाए' कहा है।

संगति : तत्तद्भूतशरीरावच्छिन्न पृथिव्यादि देव सन्तुष्ट हो कार्य करते देखे जाते हैं तावता उनकी जड़ता समाप्त है नहीं कही जा सकती । यतः पंचभूतों ने अपनाए कार्य उनके अपने से चालित न होकर किसी दूसरे सर्वज्ञ चेतन से ही चालित हैं उसी को समुद्र देव स्पष्ट कर रहे हैं।

चौपाई— ***प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहें सुख लहई॥ ४॥***

भावार्थ—आपने सृष्टि के आरम्भ में जिस भूत को जो आदेश सुनाया है उसको उसी तरह निभाते हुए वे सब सुखी रहते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रभु आयसु जेहि कहँ : निग्रहानुग्रहसमर्थ, आदेशकर्त्ता 'प्रभु' कहे जाते हैं।

जड़ भाव में रहे भूतों को स्व-स्व कार्य करने की चालना देना 'आयसु' है।

तत्तत्कार्यक्रम को प्रगट करना 'कहँ' से समझना है।

भाँति : अपने लिए विहित कार्य पूर्ण करते रहना, इतिकर्त्तव्य आदि सभी की सदा एकरूपता होना 'भाँति' से चिन्त्य है।

सुख लहई : स्व-स्वकार्य के प्रति नियुक्ति के आरम्भ में ही भूतों को प्रभु ने तत्तद् देह व स्व-स्व कार्य को पूर्ण करने में अभिमान जगा दिया। उसी में रहे भूतों को दुःख नहीं होता। फलतः पंचभूतों ने कोई आकांक्षा न करते स्वस्वाभिमान में वैसे-वैसे कार्य करते रहनेमात्र से सुख प्राप्त करना 'लहई' है।

संगति—जलावच्छिन्न समुद्र की अनुपस्थिति के प्रति कारणतया उसकी स्वभावसिद्ध जड़ता बताई है। उसके मूल में प्रभु ने बनाई मर्यादा है उस स्थिति में शरसंधानवैयर्थ्यरूप आपत्ति सुनाकर विशेषज्ञ श्रीरामको शरवेध से निवृत्त कराने का उपक्रम समुद्र कर रहे हैं।

चौपाई— *प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरी कीन्ही॥ ५॥*

भावार्थ—मुझे कोपज्वाला से दण्डित कर आपने मेरा हित किया है। जलावच्छिन्न समुद्र ने आपके सामने उपस्थित न होने की मर्यादा भी आपने ही बनाई। इस स्थिति मैं (जलानवच्छिन्न समुद्र) निरपराध हूँ।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रभु भल कीन्ह : मेरे जलरूपी शरीर के समीप में पहुँचे प्रभु के सन्मान में मेरी अनुपस्थिति से संजात अपनय की पीड़ा पहुँचाकर मेरा हित साधना 'प्रभु भल कीन्ह' है।

मोहि सिख दीन्ही : जलाभिमानी जलशरीरानवच्छिन्न देवविशेष समुद्रनामा मत्पदार्थ है।

'सिख' से दण्ड व उपदेश दोनों विवक्षित हैं। जलाभिमानी जलानवच्छिन्न समुद्र देव नयापनय के वेत्ता होने से उन्होंने जलाभिमानी जलावच्छिन्न जड़भूतदेह के उत्तरतीरवासियों के विनाशार्थ अपनायी उदासीनता नान्तरीयक रूप में कर्तव्य होने से प्रार्थित होने पर भी मैंने अनागतिप्रयुक्तमानापराधानुरूपता में शिक्षा प्राप्त करना 'सिख दीन्ही' है।

'मरजादा' से वेदागमोक्त विधिनिषेधप्रतिपादित मर्यादा स्मर्तव्य है। अतः जलावच्छिन्न समुद्र शोषणार्ह नहीं हैं।

तुम्हरी कीन्ही : स्वतन्त्रात्मा सृष्टिकर्त्ता युष्मच्छब्दार्थ है।

'कीन्ही' से स्वत्तन्त्रेच्छ की नियोगपर्यनुयोगानर्हता ध्वनित की है।

संगति : यदि जलावच्छिन्न समुद्र को सुखाते हैं तो उसके प्रति भी लोक में अधिकतम व्यक्तियों के द्वारा मर्यादाभंग होना देखकर लोक को मर्यादा में रहने की प्रेरणा देनेहेतु अपेक्षित दण्डप्रणयन हेतु अधिकृतों का निरूपण कर रहे हैं।

चौपाई— ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥ ६॥

भावार्थ—लोक की स्व-स्व कर्म में प्रवृत्ति न होना देखकर भक्ति से सुरक्षित राजनीति जिन-जिन दण्ड्यों को शिक्षित कराती है उनका नामकीर्तन कर कवि अपराधियों को गिना रहे हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

ढोल : ढोल बजता नहीं तो कीर्तिमान् नहीं होता वह ताड़ित होने पर ही मधुर स्वर उत्पन्न करता हुआ सम्मानित होता है। यद्यपि ढोल के प्रति दण्डप्रसंग कहना संगत नहीं है तथापि उसमें गँवारगत मूढत्वादि साधर्म्य देखकर कवि महोदय ने स्वभावोक्ति दर्शाना अलंकार है।

गँवार : नयनागरताशून्य ग्राम्य जीवन बिताने वाले 'गँवार' होते हैं। वे केवल अविवेकी ही नहीं पूर्वजन्मान्तरीय कर्म के अनुसार वैषयिक वासना के पराधीन हो तमोगुणी होते हैं। ये जड़ भूतों की तरह स्वकार्य के प्रति विहित मर्यादा अपनाने में सुखी नहीं होते। अत: गँवारों को मर्यादित कार्य की ओर प्रवृत्त कराने में राजभय ही उपाय हैं। उस भय से ही गँवार मर्यादा से विलगते नहीं अर्थात् 'राजभयन्नस्यात् तर्हि ग्रामीण: मर्यादां त्यजेदेव' यह आपत्ति 'गँवार' में स्मर्तव्य है। औरोंके लिये भी यह आपत्ति अनुवर्तनीय है।

सूद्र : गुरुशासित निगमागमान्यतरसेवी व्यक्ति मर्यादापालन करते एकरूपता में सूखानुभूति करते देखे जाते हैं। उनके लिए गुरु का अवग्रह (अंकुश) पर्याप्त है। शूद्रों को गुरुगृहनिवास विहित न होने से वे स्वकार्य को अपनाते हुए उसी में सुखानुभूति करते रहेंगे ही ऐसा नहीं कहा जा सकता। अत: शूद्रों को निगमागमसमाज ने मर्यादित रखने हेतु अवग्रह (अंकुश) रूप में राजशासन को नियामक माना गया है।

पसु : साधर्म्यात् ढोल व पशु उच्चरित है।

नारी : मर्यादापालनरत समाज में रही नारियाँ भी बाल-काल से शूद्र की तरह गुरुकुलवासादि से दूर ही रखी गई। १२ वर्ष में ही उनको न्याय के अधिकार प्राप्त होते हैं उसके पूर्व नारी को पिता या पतिगृह वास करते कला व गृहकार्य में प्रवीण होना होता है। साधारण रूप में प्रकृत्या नारी में शौर्य, बल, युद्धवीरता आदि सामरिक गुण प्राय: दुर्लभ हैं। नैतिक धर्माधर्म का विवेक व सुचारुढंग से कार्यान्वयन में कामिनीत्व प्रतिबन्ध करता है। फलत: नारियाँ सदा एक निष्ठा में रहना इष्ट नहीं मानती। अत: विद्याविनयदौर्लभ्य होने में नियामकरूप में राजशासन का भय रहना अपेक्षित होने से ताड़नाधिकारी श्रेणी में नारी कीर्तित है।

सकल ताड़ना के अधिकारी : ताडनाधिकारिता ढोलादि में स्वरूप संबन्धेन ज्ञातव्य है।

ताड़न शब्द दण्डार्थक है उसकी प्रसक्ति दोषावस्था में रहती है उससे शुद्धि दिलाने में अधिकृत राजा माना गया है। उसका निष्कर्ष निम्न आपत्ति में समझना है—'यदि राजास्तीति भयं मर्यादापालकसमाजे न स्यात् तर्हि गुरुकुलवासानधिकृतानां सदैकरूपतया सुखानुभवाभावेन उत्पथगामित्वं आपद्येत' यह तर्कमात्र यहाँ 'ताड़न के अधिकारी' से

चिन्त्य है। जो 'गँवार' शीर्षक में उक्त हैं।

इस प्रकार शरीराभिमानितदनभिमानिभेदेन अपने को दो रूपों में विभक्त कर समुद्र देव ने नान्तरीयक रूपेण प्राप्त मान को त्याग कर अवगुणप्रयुक्त क्षमाप्रार्थना कर समुद्र देव ने यथायोग्य शासन और मर्यादा कां विविक्तस्वरूप सेव्यसेवकभेदेन सुनाया।

संगति—अभ्यवपत्ति, अपराधस्वीकृति व ताड़नार्हता स्वीकृति के अन्तर्गत रहस्य प्रकाशित कर सेवकों ने प्रभुकृपाप्राप्त्यर्थ निहित कर्तव्य का निर्देश सुना रहे हैं।

चौपाई— ***प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटकु न मोरि बड़ाई॥ ७॥***
प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई। करौं सौ बेगि जो तुम्हहि सोहाई॥ ८॥

भावार्थ—प्रभु के असाधारण तेजस् से मैं सूख जाऊँगा। वानरसेना भी पार हो जायेगी उसमें आपने की मेरी प्रार्थना का वैयर्थ्य होगा। सर्वज्ञ के आदेश की अमोघता श्रुति ने गाई है। मुझे जो आदेश होगा मैं अति शीघ्र करूँगा।

शास्त्रीय व्याख्या

प्रभु प्रताप : सृष्ट्यादिकर्त्ता, कोशदण्डसंपन्न, स्वेप्सित कर्म की पूर्णता अव्यभिचरित रूप में करने वाले, इतरानपेक्ष श्रीराम 'प्रभु' पद से बोध्य हैं।

चिन्त्य है कि समुद्र के शरीरान्तरवर्ती अग्निज्वाला के असमाधेय स्पर्श से जलचरों का व्याकुल होना 'प्रताप'[1] से दर्शाया जो प्रभु व समुद्र को ज्ञात है। एवंच अवन्ध्यकोपता ही प्रताप है।

मैं जाब सुखाई : पूर्वापरप्रयोग से त्रिदिनव्रत की बलवत्ता को समझकर भी उपस्थित न होने से श्रीरामकोपप्रयुक्त ज्वाला से पीड़ित समुद्र मच्छब्दार्थ है।

प्रभुप्रभाव (कार्य-कारण सामर्थ्य) से जल के अवयवों में पारस्परिक संयोगध्वंस होकर जलभंग होना 'जाब सुखाई' है।

उतरिहि कटकु : वानरी सेना को लंका पहुँचने में सौविध्य सोचकर मुझे सुखाने का विचार कार्यान्वित किया जाय तो जलाभिमानी तदवच्छिन्न जड़ात्मक निरपराधी समुद्र के प्रति किया तीक्ष्ण दण्डप्रणयनदोष अनन्तकाल के लिए अविस्मरणीय होगा।

न मोरि बड़ाई : 'सुखाई' कर सैनिकों को उस पार होने में मैं तो अन्यथासिद्ध होऊँगा। अतः 'न मोरि बड़ाई' से व्यक्त कुलगुरुत्व आदि कहना अनुपपन्न है। इस व्याख्यान में मच्छब्दार्थ स्फुट है।

प्रभु अग्या अपेल : उपरिवर्णित गुणसंपन्न प्रभु के आदेश 'प्रभु अग्या' से बोध्य हैं। शास्त्रों वेदों व स्वमुख से जो भी विधि-निषेध विधेयों के प्रति प्राप्त होते हैं उन सभी की अबाधित सफलता 'अपेल' से समझनी है।

श्रुति गाई : श्रीरामाज्ञा की निर्बाधता व कार्यसिद्धि श्रुति ने स्वप्रमाणता के बल पर गाना 'श्रुति गाई' है।

करौं सो बेगि : 'बेगि' से पुरुषानुग्रहोपलब्ध्यर्थ स्वल्प कार्य अथवा महत्कार्य के

---

१. प्रतपन्ति यतो द्वेष्याः स प्रताप इहोच्यते। (भावप्रकाशन ६९। २१)

प्रति प्रेरणा देने वाली आज्ञा को पूर्ण करने में शीघ्रता समझनी है।

तुम्हहि सोहाई : 'सोहाई' का निष्कर्ष प्रभु की प्रसन्नता में है। जैसा कि 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने'[१] से स्फुट है।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम, स्थलविशेषातिरिक्त में सर्वत्र कार्य प्रारंभ करने के पूर्व प्रमाण का विचार करते हैं उनके इस स्वभाव को समझ कर 'सोहाई' कहना साभिप्राय है।

बिभीषणजीने समुद्रसे पूछनेका कारण बतानेके पीछे उन्हें कुलगुरु कहा तथापि समुद्र ने गुरुत्व पर ध्यान न देकर बड़ी युक्ति से विनय को अपनाने व तर्क के माध्यम से शरसन्धान व तद्वेधन की वैयर्थ्यापत्ति सुनाकर श्रीराम को कोप व शरवेधनादि से निवृत्त कराया। इस प्रकार समुद्रदेव की दीर्घदर्शिता, निपुणता, विवेकशीलता एवं गुरुता आस्वाद्य है।

संगति : दीर्घकाला यात्रा पूर्ण करने व सीताजी ने संकेतित स्वतंत्र शक्ति को प्रगट करने के उद्देश्य से प्रभु सन्तरणोपाय पूछ रहे हैं।

दोहा— सुनत बिनीत बचन अति कह कृपाल मुसुकाइ।
जेहि बिधि उतरै कपि कटकु तात सो कहहु उपाइ॥ ५९॥

भावार्थ—समुद्रजी के द्वारा तीक्ष्ण दण्ड के परिणाम में आपाद्य-आपादक व दण्डवैयर्थ्य सुनकर अतिप्रसन्न श्रीराम ने मुसकाते हुए कहा कि हे तात! जिस उपाय से कपिसेना पार होगी वह उपाय आप प्रगट करें जिससे किसी का वैयर्थ्य व किसी को आपत्ति न हो।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनत बिनीत बचन अति : समुद्रजी के आद्यन्त वचन का अभिप्राय समझना 'सुनत' है।

समुद्र के वचनों में लोकमर्यादा व शास्त्रों का उल्लंघन न करते हुए प्रभु को शरसन्धान कोप व शरवेध से निवृत्त करने हेतु नम्रता अपनाना 'बिनीत' का भाव है।

विनय परिचायक स्वर, आंगिक अनुभाव, निर्दंभता, छलशून्यता से समन्वित वचन 'बचन' हैं।

कह कृपाल मुसुकाइ : पूर्व चौपाई में समुद्र ने जो प्रतिज्ञा की है तदनुबन्धि उत्तरारंभ करने का उपक्रम 'कह' है।

अन्तर्यामी, सर्वज्ञ स्वतन्त्र होते हुए भी प्रभु ने अज्ञता, सापेक्षता व परतन्त्रता दिखाना कृपा का भाव है इससे विनीत, मन्त्रकुशल समुद्रदेव के प्रति अति प्रीति स्पष्ट है।

निगमागमसम्मति का अवलंब व बड़ों को अकार्य से निवृत्त करने हेतु विनयभाव अपनाना 'मुसुकाइ' से ध्वनित है।

जेहि बिधि उतरै : 'सोहाई' कहकर समुद्र ने रखे प्रस्ताव का उत्तर 'जेहि' से आरम्भ कर रहे हैं।

'बिधि' से तरणात्मकप्रधान कर्म पूर्ण करने हेतु अपेक्षित गुण व प्रयोगविधि समझना है।

---

[१] श्रीमद्भावगत १०।३९।२

'बिधि उतरै' से जल की जड़ता, जलचरों को पीड़ा न पहुँचाना, शरसंधान का अवैयर्थ्य आदि पर ध्यान देना आदि तत्त्व चिन्तनीय हैं।

अथवा—पहाड़ों पर पैर रखते हुए पार होना संभव है किन्तु पाषाण भारी होने से वे जलसंबंद्ध होते ही डूब जायेंगे अतः उनके तैरने की भी समस्या है इसके समाधानार्थ इतिकर्त्तव्य पूछने की दृष्टि से 'उतरै' कहा है।

तात सो कहहु उपाइ : शीघ्रता करने हेतु 'तात' सम्बोधन है। अर्थात् 'तात' सुनते ही समुद्र देव प्रीति में ओत-प्रोत हो जो यथार्थ होगा वही कहेंगे।

'जलधि कहिहि उपाय बिचारी' दोहा ५० में बिभीषणोक्ति की एकवाक्यता में श्रीराम का प्रश्न 'तात सो कहहु उपाइ' है।

संगति : श्रीराम ने 'तरई' के प्रति पूछे प्रश्न का उत्तर कर्तव्य के रूप में सुना रहे हैं जिसको एकमात्र समुद्रजी ही जानते थे।

चौपाई— ***नाथ नील नल कपि द्वौ भाई। लरिकाईं रिषि आसिष पाई॥ १॥***
तिन्ह के परस किएँ गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥ २॥

भावाथ—नाथ! नील और नल इन दोनों भाइयों को ऋषि ने वर दिया है कि ये दोनों पहाड़ के बड़े-बड़े पाषाणों को स्पर्श करेंगे तो वे आपके प्रताप से हलके हो समुद्र जल पर तैरेंगे।

शास्त्रीय व्याख्या

नील नल : नील और नल विश्वकर्मा से घृताची में उत्पन्न है। (पौराणिक कोश) घृताची ऋतध्वज मुनि से शापभ्रष्टा हो विश्वकर्मा से संसृष्ट हुई ऐसा इतिहास है।

लरिकाईं रिषि आसिष पाई : कामाचार व कामभक्षण का काल बाल्यकाल है। नील-नल विनीत भक्त होने से उनको आशिष् प्राप्त होना 'मुनि आयसु' है इसके मूल में 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति' वचन स्मर्तव्य है।

तिन्ह के परस : मुनि के आशिष् से सेतुकार्य के समय नील-नल के शरीराङ्गभूत हाथों में विद्युत् विशेष का प्रागट्य होने के वेत्ता एक मात्र समुद्रजी हैं। ये दोनों भाई जिस गिरि को स्पर्श करते हैं तन्मात्र से उस पर्वत के अवयव की घनता (गुरुत्व) समाप्त होगी जिससे पहाड़ डूबेंगे नहीं। इस प्रकार आप्तेतिहास की स्थापना स्फुट है।

तरिहहिं जलधि : तैरते पहाड़ों पर से सेना पार होना 'तरिहहिं' है यह 'केहि बिधि' का उत्तर है।

जलधि से समुद्र का जल (जड़) शरीर चिन्त्य है। जो स्वस्वभावानुसार हलके को डुबाते नहीं।

प्रताप तुम्हारे : मुनिवरप्रभाव से तैरना संभव होने पर भी यदि प्रतिबन्धक तत्त्व (विघ्न) उसी समय उपस्थित हों तो उसके निरासार्थ नीतिमान् के सत्संकल्प रक्षक के रूप में अपेक्षित होगा वह कार्य श्रीराम से पूर्ण होना 'प्रताप तुम्हारे' से दर्शाया है। इस प्रकार 'जेहि बिधि उतरै कपि कटुक' समाधान के अन्तर्गत एक ऐतिहासिक भाग पूर्ण है।

संगति—'जेहि बिधि' के उत्तर में अवशिष्ट दूसरा आरादुपकारक अंश सुना रहे है।

चौपाई— मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥ ३॥

भावार्थ—मैं भी आपकी प्रभुता को याद करता हुआ बल एवं अनुमान के माध्यम से सहायक बनूँगा।

शास्त्रीय व्याख्या

मैं पुनि उर धरि : पाषाण के तैरने संबन्धी शब्दप्रमाणात्मक इतिहास के निरूपयिता व दासभाव में रहने वाले सहायक समुद्रदेव अस्मच्छब्दार्थ हैं।

आपने दी हुई शिक्षा को कभी न भूलना 'उर धरि' है यही दण्डमाहात्म्य है जिसमें द्रोह न होकर मित्रता ही समृद्ध होती है।

प्रभु प्रभुताई : 'प्रभु प्रभुताई' को न भूलने से सदा श्रीरामकार्य संपन्न करने में अंगतया उत्साह बने रहना निर्विवाद है फलतः प्रभुकृपा होकर रहेगी उसकी आकांक्षा में समुद्र ने अपनी ओर से सहायता करना 'जेहि बिधि' प्रश्न के उत्तर का द्वितीय भाग है जो आरादुपकारक है।

सेतुनिर्माणांगतया समुद्र को सहायता देने के प्रति श्रीराम अवकाश देंगे यह अवकाश चिन्त्य है। उसका यह अर्थ नहीं कि श्रीराम सांकांक्ष व असमर्थ हैं। उसके प्रकाशनार्थ 'प्रभुताई' कहना उपपन्न है।

बल अनुमान सहाई : तैरने वाले पर्वतों को इधर-उधर न हिलाते हुए स्थिर रखने हेत उपर्युक्त शक्ति 'बल' से बोध्य है।

श्रीरामकटक को पार होने में सेतु का होना अत्यावश्यक है श्रीरामवाहिनी पार होने तक सेतु का स्थैर्य बना रहेगा तो वानरों को कार्यसिद्धि अनुमित होती रहेगी यह अनुमान 'अनुमान' से बोध्य है। इसी प्रकार की सहायता मैनाकचरित्र में चिन्त्य है।

स्वामी के कार्य को पूर्ण करने में कुल्य, कुलगुरु एवं बंधु सहायक होते हैं जिनकी सहायता से स्वामी कीर्तिमान् होते हैं इस प्रकार 'जेहि बिधि उतरे' प्रश्न के उत्तर का दूसरा अंग पूर्णरूपेण उत्तरित हुआ।

संगति—'जेहि बिधि' का उत्तर देकर 'सहाई' का भाष्य करते हुए प्रभु के यशःस्थापन का संकेत समुद्र कर रहे हैं।

चौपाई—एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइअ। जेहिं यह सुजसु लोक तिहुँ गाइअ॥ ४॥

भावार्थ—पयोधि पर बाँध इस प्रकार बाँधें जो यशोरूप में त्रिलोक गाये।

शास्त्रीय व्याख्या

एहि बिधि : समुद्र को सुखाकर पार होना व सेतु बाँधकर पार होना—इन दो प्रकार की विधियों में सेतु बाँधकर पार होना 'एहि बिधि' है।

अथवा—आचार्योक्त विधिमर्यादा के अनुसार सम्पूर्ण सेना के हृदय से सेतुबन्ध के प्रति सभी के लिए इष्टसाधनत्व, बलवदनिष्टाननुबन्धित्व एवं कृतिसाध्यत्व का अनुमान कराना 'एहि बिधि' से समझना है। जो 'सहाई' का भाष्य है।

पयोधि बँधाइअ : जलधिबन्धन में द्वितीय प्रकार का उपयोग साक्षात् बंधन में उपयुक्त होने पर भी यशस् रूपी शरीर के प्रति विशेष उपयुक्त होने से उपेक्षणीय नहीं है।

सुजसु : 'यतो विश्वस्य शमिति तस्माद्यश इतीरितम्'[१] इस निर्देनुशानुसार सेतुबंधन आदि कार्य वैसा करें जो आज तक रघुवंश में किसी ने न किया हो।

गाइअ : जब लोक सुखी होते हैं तब वह गान में निमग्न हो गेय वस्तु का स्मरण करते हैं वैसा ही सुख सेतुबन्धन के साथ हमारी मित्रता का बना रहना सुनेंगे तो आप पर स्वार्थता का दोष नहीं लगेगा।

संगति—समुद्र उपर्युक्त अर्थ के कार्यान्वयन में शरवेधनवैयर्थ्य प्राप्ति को ध्यान में रखकर तन्निवारकतया चाप पर सन्धित शरों की बुभुक्षा को शान्ति देने का प्रकार सुना रहे हैं।

चौपाई—*एहिं सर मम उत्तर तट बासी। हतहु नाथ खल नर अघ रासी॥ ५॥*

भावार्थ—हे नाथ! मेरे उत्तरतीर के निवासी नर बहुमात्रा में खल ही हैं उन्हें मारकर बाण की बुभुक्षा को शान्त करें।

शास्त्रीय व्याख्या

एहि सर : जिसको खलों के खून की पिपासा है वह शर 'ऐहिं सर' है।

मम उत्तर तट बासी : बहुत खलों से पीड़ित जलावच्छिन्न समुद्र व तदनवच्छिन्न समुद्र देव मच्छब्दार्थ हैं।

लंका के इस पार समुद्र का तीर है। वहाँ रहे सभी धर्मादि सर्वोपधा में अशुद्ध दुष्ट परिवार खल विपुल संख्या में निवास करने से उन्हें उत्तरतीरनिवासी कहा है।

हतहु : राजनीति में सज्जन पालन को निर्बाध करने हेतु दुष्टनिग्रह को आनुषङ्गिक माना गया है। वह आनुषङ्गिक कर्म 'हतहु' से बोध्य है। दुष्ट उत्तरतीरवासियों को विना मारे 'बल अनुमान सहाई' समुद्र (मित्र) निर्बाध सुखी नहीं हो सकता।

खल नर अघ रासी : अपरिवर्तनीय दोष स्वभाववान् नर 'खल' होते हैं।

निगमागमोभयनिन्द्य तीरवासियों को 'अघ रासी' कहा है। अतएव सर्वतः अशुचि होने से स्व या पर राष्ट्र में उत्तरतीरवासियों को तत्तद्देशाधिपतियों ने प्रवेश की अनुमति न देना 'रासी' से सिद्ध है।

कार्याकार्य का ज्ञान न होना, आर्यत्व व अनार्यत्व जिन्हें विवेचनीय नहीं है, औद्धत्य का साम्राज्य होने से उनके साथ सन्धि भी नहीं की जा सकती। ऐसे को 'अघरासी' कहना उपपन्न है।

संगति—अन्तर्यामी श्रीराम यशोनुकूल नैतिक धर्म के प्रति आदर रखकर समुद्रोक्ति को कार्यान्वित करते हुए शरसन्धान को सार्थक कर रहे हैं।

चौपाई— *सुनि कृपालु सागर मन पीरा। तुरतहिं हरी राम रनधीरा॥ ६॥*

भावार्थ—कृपालु प्रभु ने सागर के मनस् की पीड़ा को सुनकर तत्काल उस पीड़ा का हरण कर शरसन्धानवैयर्थ्यापत्ति निरस्त की।

शास्त्रीय व्याख्या

सुनि कृपालु : आर्त समुद्रदेव के वचनार्थबोध में स्वतः प्रामाण्य गृहीत होने के साथ

---

[१] भावप्रकाशन ७०।३

तात्पर्यविषय समझना 'सुनि' है।

अति सत्वप्रचुर होने से समुद्र की पीड़ा का अनुभव श्रीराम को होना 'कृपालु' से स्पष्ट है।

सागर मन पीरा : सागर जल के अशुचि संसर्ग एवं अमर्यादित वध से जलानवच्छिन्न समुद्र देव को होने वाला दुःख 'मन पीरा' से बोध्य है। 'मन पीरा' 'हरी' से अन्वित है।

तुरतहिं हरी : पीड़ाहरण में क्षणमात्र विलंब न होना 'तुरतहिं' का भाव है।

राम रनधीरा : उपर्युक्त सभी कार्यक्रम एक बहाना न होकर के नैतिक रूप से अपनाए गए हैं ऐसा समझाने हेतु 'रनधीरा' कहा है।

अथवा—स्वमण्डल में ही बिभीषण-लक्ष्मणोभय में विरुद्धविचारात्मक रण की उपस्थिति देखकर उसके उपशमनहेतु श्रीराम ने धैर्य से एकवाक्यता में स्वकार्य को सर्वसम्मत बनाना 'राम रनधीरा' का निष्कर्ष है।

संगति—श्रीराम का अपने ऊपर पीड़ाहरणात्मकप्रसादप्रत्यक्ष से देखकर समुद्र का उल्लसित होना सुना रहे हैं।

चौपाई— देखि राम बल पौरुष भारी। हरुषि पयोनिधि भयउ सुखारी॥ ७॥

भावार्थ—श्रीराम का अति विपुल बल-पौरुष देखकर समुद्र अतिहर्ष में सुखानुभव करने लगे।

शास्त्रीय व्याख्या

देखि : अनुमान व शब्दप्रमाण से अभी तक समुद्रजी ने जो श्रीरामबल-पौरुष समझा था, वही पौरुष वर्तमान में आँखों से देखना 'देखि' है। 'देखि' शब्द 'बल पौरुष' से अन्वित है।

राम बल पौरुष भारी : अवन्ध्य श्रीरामादेश 'बल' से समझना है। अर्थात् श्रीराम का आदेश सभी सेवक ने शिरोधार्य करना बल का प्रभाव है।

'पौरुष' से सत्त्व, अध्यवसाय, चेष्टा, दाढर्य व उत्साह स्मर्तव्य है।

पौरुष की सर्वातिशयितता अप्रतिभटता 'भारी' है। इसमें 'देखी' अन्वित है।

हरषि पयोनिधि : शब्दानुमान से बल-पौरुष के प्रति असत्त्वापादक व अभानापादक आवरण निवृत्त हो चुका है। अभी अनानन्दतापादक आवरणनिवृत्ति होना 'हरषि' से स्फुट है।

भयउ सुखारी : सदा के लिए समुद्र ने उत्ततीरवासियों से पीड़ित न होना, न तो लंका की ओर से दुखारी होना है अतः 'भयउ सुखारी' कहा है।

संगति—मुनियों के लिए भी अज्ञेय मंत्रप्रभाव श्रीराम में देखकर श्रीराम की प्रशंसा करते हुए समुद्रजी प्रणाम कर स्वभवन की ओर जा रहे हैं।

चौपाई— सकल चरित कहि प्रभुहि सुनावा। चरन बंदि पाथोधि सिधावा॥८॥

भावार्थ—प्रभु को सभी उत्तरतीरवासियों का चरित्र सुनाकर उनको प्रणाम करते हुए समुद्र देव स्वभवन की ओर चले।

शास्त्रीय व्याख्या

सकल चरित : वाल्मीकिरामायण के ६ । २२ । २९ अध्याय में द्रुमकल्पवासियों के वध की चर्चा की गई है। यह वधरूप दण्ड तात्कालिक स्थिति में लोकशास्त्रोभय सम्मत है। वही 'चरित' से सूचित किया है।

कहि : तुलसीदासजी कृत श्रीरामचरितमानस में 'हतहु नाथ खल नर अघ रासी' कहने के अनन्तर 'सागर मन पीरा तुरतहिं हरी' कहा गया इसके बाद अन्त में 'सकल चरित कहि' कह कर उत्तरतीरवासियों का इतिहास इंगित किया। इस प्रकार का संक्षेप कवि ने इसलिए किया कि सुन्दरनीति व उसके प्रभाव से दम्यों को स्वस्व कार्य में प्रवृत्त होने की शिक्षा देने का कार्य पूर्ण होने का संकेत 'कहि' से संकेतित है।

चरन बंदि पाथोधि : समुद्र ने अति प्रीति में चरणों की वन्दना इस प्रकार की कि प्रभुचरण सदा के लिए हृदय में स्थिर हो गए। इस प्रकार सुन्दर नीति संक्षेप में निरूपित कर सुन्दरकाण्ड की पूर्णता हो गई।

संगति—संक्षेप में श्रीरामकृपाप्राप्ति के हेतु साधक-सरल उपायावलंबन व प्रतिबन्धक-निरास के लिए आन्वीक्षिकीपुष्ट त्रयी व राजनीति की स्थापना बताकर 'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये' से मनस् की कड़ी जोड़ते हुए गोस्वमीजी अपने अन्तःकरण को उपदेश दे रहे हैं।

छन्द— *निज भवन गवनेउ सिन्धु रघुपतिहि यह मत भायऊ।*
यह चरित कलि मलहर जथामति दास तुलसी गायऊ॥
सुख भवन संसय समन दवन बिषाद रघुपति गुन गना।
तजि सकल आस भरोस गावहिं सुनहिं संतत सठ मना॥

भावाथ—सिन्धु अपने भवन में चले गए। श्रीरघुपति ने समुद्रजी की सम्मति पर अपनी संतुष्टि प्रगट की। तुलसीदासजी ने कलिमलहरण करने वाले रघुपति के चरित्र को यथामति गाया। हे शठ मनस्! तुम सुखोत्पादक, संशयशामक व विषादनाशक रघुपतिगुणों को सतत समझकर गाते रहो। श्रीरामातिरिक्त के द्वारा सफल होने की आशा व विश्वास को त्याग दो।

शास्त्रीय व्याख्या

निज भवन गवनेउ : कुलगुरु समुद्रजी ने समुद्रतरणोपाय सुनाने के साथ तथा अपने संपूर्ण मनेरथों की पूर्ति से हर्षित होकर वापस लौटने का लाभ 'निज भवन' से बोध्य है।

सिंधु : रघुकुल के गुरु, वानरसैन्य के विषादशामक, कल्याणकारी समुद्रदेव 'सिंधु' है।

श्रीरघुपतिहि : सुन्दरकाण्डवर्णित नीति रघुपति से अनुमत होने से उसके प्रति आदर होना 'श्री' का भाव है।

यह मत भायऊ : वानरसेना का पार होने संबन्धी जलयानस्थानापन्न गुरु समुद्रजी का मत 'यह मत' है।

श्रीराम ने पार होने के समुद्रोक्त उपाय के प्रति संतोष प्रगट करना 'भायऊ' से ज्ञेय है।

यह चरित : कुलगुरु समुद्रोपदेश से प्राप्त पथ 'यह चरित' से बोध्य है।

क़लिमल : शास्त्रादि के प्रति अप्रामाण्यबुद्धि, अप्रमाणों के प्रति प्रामाण्य बुद्धि 'कलिमल' से चिन्तित है।

'कलिमल' से संपूर्ण दुःखों का अनुगम समझना है। कलि के प्राणी अपने विचारों के परीक्षण में प्रत्यक्षानुमान व कर्तव्यों को कसौटी पर कस कर उनकी सफलता समझाने के अनन्तर उन-उन प्राप्तव्यों को जुटाने व अपनाने में प्रवृत्तिमान् होते हैं इससे यह स्फुट हुआ कि वैसे विचारक प्राणी अपने विचारों में प्रत्यक्षानुमानमात्र से कर्त्तव्य में सफलता समझकर उनको जुटाने में प्रवृत्तिमान होते हैं फलतः शब्दप्रमाण, तत्प्रमेय व सदाचार अपमानित होते हैं। परिणाम में यह अपमान लौकिक विचारकों के लिए भारी दुःख का कारण बनता रहता है। उसको निरस्त करने का प्रकार रघुपतिचरित्र में निहित है। अतः 'कलिमल हर' है।

अथवा—कलिसंपर्क में रहे जीवों के हृदय में जड़ता, विक्षेप व व्यासंग का प्रभाव छाया होने से वे संशय, विषाद आदि में फँसकर किंकर्तव्यमूढ होते हैं। फलतः उनकी प्रतिभा लुप्त होती है। जैसे प्रभुकृपाप्राप्ति हेतु बताए पूर्वोक्त उपयों को कठिन समझना आदि। उसी प्रकार विक्षेप भी तथाविध प्राणियों में फैला रहता है प्राणी कभी श्रीरामकृपाप्राप्तिहेतुता को दैव में मानते हैं कभी पुरुषार्थ में। परन्तु स्वयं ने निर्णीत पुरुषार्थ में पूर्ण परिच्छेद न समझने से अंगवैकल्य, निष्फलता विपत्ति निष्फलता को ही अनुभूत करते हैं। इसका निरास सुन्दरकाण्डोक्त पात्रों के चरित्र से समझा जा सकता है। अतः 'कलिमल हर' कहा है।

जथामति : उच्छलित कुण्डलिनी के नाद में जो नाद गोस्वामीजी ने सुना वही 'जथामति' है। 'जथामति' इसलिए कि पूर्णतया श्रीरामचरित्र का यथावदवगाहन करना किसी के लिए संभव नहीं है।

'जथामति' 'गायऊ' क्रिया का विशेषण है।

दास तुलसी : 'नान्या स्पृहा' की एकवाक्यता में गोस्वामीजी अपने में दासत्वस्पृहा को अपवादित कर तदतिरिक्त स्पृहा का निषेध स्फुट कर रहे हैं वह इसलिए कि भक्तिकामनां व नान्यास्पृहा से प्रार्थित भक्ति दासत्व के विना संभव नहीं। वह योग शिवजी को प्राप्त है। उनको अन्तर्नाद गोसाईंजी ने अपनी कुण्डलिनी के माध्यम से सुना उसी को स्वकण्ठ से उच्चरित किया होने से वह कर्तृत्व तुलसीजी ने प्राप्त करना 'दास' से स्फुट है।

अथवा—यद्यपि श्रीरामचरितमानस शिवजी ने प्रथमतः गाया है तथापि तुलसीजी शिवोपासक हो उन्होंने अन्तःस्थ कुण्डलिनीनाद के समान नाद प्राप्त करने में अधिकृत होना 'दास' से स्फुट है।

गायऊ : समुद्रदेवगुरु की शुद्धि व उनके उपदेश की ओर गवेषकों का ध्यान आकृष्ट कराने के विचार से 'गायऊ' कहा है; क्योंकि प्रकृतिरूप में गाया यह चरित्र समझ में आयेगा तो सभी गवेषक स्वयं गुरुभक्ति की ओर मुड़ेंगे ऐसा विश्वास 'गायऊ' से दर्शाया है।

सुख भवन ;: निगमागमान्यतरसेवी सभी उपधा शुद्ध होते हुए गुरुत्व की योग्यता

रखते हैं ऐसे गुरु के वचन को प्रमाण मानकर उसके आधार पर संपन्न हुए सभी श्रीरामचरित्र 'सुख भवन' हैं क्योंकि वैसे चरित्रों में असंदिग्धता, प्रमाणता, अप्रामाण्यज्ञानानास्कंदितता अनाहार्यता, सफलता आदि निर्णीत होती है। ऐसा होने से ही 'कलिमल हर' कहना उपपन्न होगा।

'गुनगना' से समन्वित 'सुख भवन' पक्ष में कहना यह है कि सुख का आश्रय नीतिपक्ष में प्रभु गुण मान गये हैं। एवंच गुणगान करते हुए सुखभवन में रहकर भव को पार करना छन्द के तृतीय पाद का आशय है।

ज्ञातव्य है कि छन्द के दो पूर्वचरणों में जलयानस्थानापन्न गुरूपदेश को आश्रय मानकर जिनके हृदय से विषाद व संशय आदि दोष निरस्त हो गये हैं उनको प्रभु का गुणगान करते हुए भव से पार होने की स्थिति प्राप्त हो जाती है यही तथ्य आगे दोहे में 'बिना जल जान' से स्पष्ट करेंगे। इसके उदाहरणस्वरूप नाविक, गोपियाँ, शुकदेव, प्रह्लाद आदि के चरित्र हैं।

संसय समन : 'संसय समन' का अन्वय 'गुनगना' के साथ है। संशय होना 'कलिमल' है। कलियुग में अनेक प्रकार के मल हैं। उनमें संशय और विषाद—ये दो प्रधान होने से कंठतः उक्त हैं। उनके अन्तर्गत प्रथमतः संशय कहना साभिप्राय है यह कि वेदों, इतिहासों, पुराणों व आचारों के प्रति रही अटूट श्रद्धा, पूर्वपक्ष के उत्थान से निगमागमसेवियों का हृदय शंका एवं संशय से भर गया तब तर्क का पूर्ण परिचय प्राप्त न होने से संशय दृढ़मूल होते चले गए यतः प्रत्येक संशय का निरसन करना शक्ति के बाहर है उसी के उत्तर में श्रीरामचरित प्रस्तुत है। जैसा कि श्रीरामजी का सीताविरह में वन में रोना देखकर सतीजी ने किया सन्देह, भरतसैन्य को देखकर गुहजी ने किया सन्देह, लक्ष्मणजी ने भरतसैन्य को देखकर उनके प्रति किया सन्देह आदि सन्देहों का शमन होना प्रसिद्ध है।

दवन बिषाद : विषादत्याग का उपाय 'तजि सकल आस भरोस' में उल्लिखित है। एकमात्र प्रभु के प्रति विश्वास रख कर भक्त उनके गुणगणों पर अडिग रहता है तो वह कामना पर अंकुश पाता है फलतः उसकी सीमित परम पूतकामना भक्त के हृदय में उदित होती है तो इसकी पूर्ति में रघुपति सहायक होते ही हैं ऐसी स्थिति में विषाद का दमन होना असंभव नहीं है।

रघुपति गुनगना : 'गुनगना' विशेषतया 'सुख़भवन', 'संसय समन', 'दवन विषाद' से अन्वित होकर वह 'गावहिं सुनहिं' क्रिया से कर्मतया संबद्ध है।

एक ही गुण गाने से अन्य गुणों के प्रति संशयशमन, विषादापगम हो नहीं सकता। अतः 'गुनगना' कहा है।

तजि सकल आस भरोस : समुद्र की लहरों के समान तृष्णा की परंपरा बनी रही तो उसके प्राबल्य में श्रीरामचरित्र उपयुक्त नहीं होगा। इसकी एकवाक्यता में 'नान्या स्पृहा हृदयेऽस्मदीये' यह मंगलाचरण से संबंद्ध वाक्य चिन्त्य है। स्पृहा की त्याज्यता 'तजि' से समझाई है। इसके उदाहरण में रघुकुलगुरु समुद्र ने उत्तरतीरवासियों के द्वारा प्रदत्त पीड़ा

को सहन करना मननीय है। फलतः दुष्टवध के पूर्वक्षण तक समुद्र व बिभीषणजी अपना रक्षण प्रभु के द्वारा होना देखते रहे यदि ऐसा समझ में आवे तो 'सकल आस' का वैयर्थ्य स्वयं सिद्ध होने से 'तजि' कहा है।

'सकल' से आशामल की त्याज्यता समझनी है; क्योंकि दास के लिए वह दासता का विरोधी है।

'तजि सकल' का अन्वय 'आस भरोस' से करते हुए सेवक, स्वहृदय में 'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति' को स्मरते हैं वे सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष के संकल्प को देखकर उसके अनुगामी हो नीति आदि शास्त्र की सेव्य भक्ति महारानी को छोड़कर अन्य परतन्त्रों का भरोसा त्यागते हैं।

गावहिं सुनहिं : रसप्रतीतिप्रतिबन्धकों की गणना करते हुए कार्यान्तरव्यापृति के अन्तर्गत आशा, व भरोस भी गिने गए है। यदि ये दोनों त्यागे जाएँ तो कार्यान्तरव्यापृति को अवसर प्राप्त नहीं होगा। फलतः गाने के लिए पर्याप्त समय होने से 'गावहिं' कहना योग्य है। इससे 'सुनहिं' भी व्याख्यात है। ये दोनों विध्यर्थक है।

संतत सठ मना : आलसियों को कार्यद्वेष रहता है। वह दोष न पनपने हेतु 'संतत' कहा है।

जीव को विषय की ओर मोड़कर सुखी बनाने वाला मनस् भविष्यत् में उसे अधोगति में ढकेलने वाला होने से अकल्याणकारित्वात् उसको 'सठ' कहा है।

'मना' सम्पूर्ण इन्द्रियों का उपलक्षक है। इन्द्रियों को स्व-स्व विषय के साथ संयुक्त होने में प्रधानकारणत्वात् इन्द्रिय की चर्चा न कर 'मना' से उसको संबोधित कर रहे हैं।

गुरु रूप जलयान के सहारे, उनके द्वारा प्राप्त उपदेश व तर्ककुशलता से निगमागमान्यतर प्राधान्य में तदभिमत वैधकर्म को समझकर मनस् यदि उनके अंकुश में रहना स्वीकार करे व प्रभु के गुणों को गाने में प्रवृत्त होता रहे तो वह मनस् शाठ्य से मुक्त हो सकता है अन्यथा शाठ्यदोष के प्रभाव में आया मनस् अन्त में दुष्ट ही ठहरेगा। इस प्रकार जलयान सापेक्षता व मनशाढयनिरसन के साथ उसके उपाय निरूपित हुए।

संगति—प्रस्तुत श्रीरामचरित्र का रहस्य गुरुरूप नौका के सहारे समझकर कृतार्थ व्यक्तियों के शंकादि का शमन होने से स्वतन्त्र हो सुखभवन श्रीरामगुण गाने हेतु श्रीरामगुण गाने की पर्याप्ति दर्शाते इस काण्ड की पूर्णता सुना रहे हैं।

दोहा— सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान॥ ६०॥

भावार्थ—शठत्वादिशून्य मनस्क जो भी जीव हो वे गुरुरूप जलयान के सान्निध्य से दूर होकर भी यदि रघुनायक के सुमंगलदायक गुणों गाते हैं, सुनते हैं तो वे भवसागर को पार करते हैं।

शास्त्रीय व्याख्या

सकल सुमंगल : हर्ष व तुष्टि होना 'सकल सुमंगल' है। यदि वे सबके लिये मान्यतया स्वीकृत या अनुभूत होते हैं तो सु--मंगल है। जैसे राजशरीर के अलंकार, विप्र

की विद्या, वैश्य का धन व शूद्र ने अपनायी सेवा सामाजिकों को शोभनीय लगती है तो मंगल है। यदि वे ही गुण परों के लिये प्रीतिविषय नहीं होते हैं तो मंगल नहीं हैं।

दायक : 'गुन' से 'दायक' अन्वित है। भाव यह कि श्रीरामजी भी लक्ष्मीजी के सेव्य बने हैं। उसकी कारणता श्रीरामत्वावच्छिन्न न होकर श्रीरामगत नैतिक गुणगणावच्छिन्न है।

रघुनायक : सर्वोच्च सत्वप्रकृति 'रघुनायक' से ध्वनित हैं।

गुनगान : सत्व की अत्यर्थता रहने पर ही गुणसंग्रह संभव है। उन्हें राजनीति में आत्मसंपत् से कहा गया है। ये सभी धर्म ज्ञान व वैराग्यशीलको सुलभ हैं। इस प्रकार वैराग्यशील ने गुणगान करना 'गुनगान' है।

सादर सुनहिं : पूर्वोक्त छन्द के अनुसार गुणगान में अधिकृत व्यक्ति ने गाये गान को श्रोता यदि एकाग्र होकर सुनते हैं तो वह श्रवण सादर माना जाता है।

तरहिं भवसिन्धु : तथाविध श्रोता का उदर्याग्नि चित्र-विचित्र विषयों के प्रति उत्कंठा से निवृत्त होता है। फलतः वह विषयों को जीभ के माध्यम से आहरण नहीं करता है न तो शास्त्रकथा के माध्यम से प्रमाणविरुद्ध तत्त्वों को श्रोत्र के माध्यम से आकृष्ट करता है। ऐसी आकृष्टि होते रहने का फल यही कि मृत्यु के समय में सहजतया प्रभुनामकीर्तन होना निर्णीत है। उस स्थिति में भव को पार करने में काठिन्य न होना 'तरहिं' का भाव है।

बिना जलजान : 'तरहिं' शीर्षकोक्त व्याख्या से 'बिनु जल जान' का निष्कर्ष यही कि महावाक्य के उपदेष्टा गुरु का सान्निध्य न प्राप्त होने पर भी शाठ्यविषादादिशून्य मनस् ने अन्तिम समय में किए नामस्मरण से ही आनन्दमय प्रभु को देखकर उस सुखानुभूति में पुण्य व पाप सब क्षीण होने के साथ भवकारणभूत मिथ्याज्ञान से भी वह निर्मुक्त होना चिन्त्य है।

॥ इति सव्याख्यं श्रीसुन्दरकाण्डम् समाप्तम् ॥

⁂

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR.
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 415

श्री विश्वनाथ शास्त्री दातारजी
द्वारा व्याख्यात

श्रीरामचरितमानस

के अन्तर्गत

अयोध्याकाण्डम्

उपलब्ध है